जैनेन्द्र
रचनावली

जैनेन्द्र रचनावली

जैनेन्द्र कुमार हिन्दी के एक ऐसे विरल एवं विदग्ध रचनाकार हैं, जिन्होंने भाषा और साहित्य को अपनी मौलिकता, सहजता व दार्शनिकता से समृद्ध किया। हिन्दी के विराट आकाश में जैनेन्द्र कुमार का रचनात्मक आलोक तेज पुंज के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। उन्होंने प्रेमचन्द के समय में ही समानान्तर कथा-परम्परा का प्रखर प्रस्थान निर्मित किया। अभिव्यक्ति की अनेक इकाइयों के प्रचलित स्वरूप में मौलिक परिवर्तन करते हुए जैनेन्द्र कुमार ने कथ्य, विचार, संवेदना व संरचना के नवीन पथ प्रशस्त किए। परतन्त्रता और जड़ता के अनेकानेक सामयिक व सनातन प्रश्नों से संवाद करते हुए उन्होंने उपन्यास, कहानी, निबन्ध, संस्मरण, ललित निबन्ध और चिन्तनपरक लेखन में युगान्तर किया। वस्तुतः जैनेन्द्र कुमार स्वयं एक कालजयी शब्द-साधना के प्रतीक बन चुके हैं। एक गूढ़ अर्थ में उनका साहित्य व्यक्ति व समाज की नई नैतिकता का उपनिषद है। उन्होंने धर्म, अध्यात्म, अस्तित्व, जीवन-मूल्य तथा सामाजिक सम्बन्ध आदि को अपनी क्रान्तिदर्शिता से पुनः व्याख्यायित किया। पराधीन भारत के क्रान्तिकारी अहिंसावादी से स्वतन्त्र भारत के मनीषी रचनाकार तक की उनकी यात्रा जीवन और साहित्य में अनेक प्रतिमान स्थापित करती है।

'जैनेन्द्र रचनावली' भारतीय ज्ञानपीठ का एक महत्त्वाकांक्षी आयोजन है। रचनावली के बारह खण्डों में जैनेन्द्र कुमार के विपुल लेखन को संयोजित किया गया है। प्रथम तीन खण्डों में उनके समस्त उपन्यास संग्रहीत हैं। खण्ड चार और पाँच में जैनेन्द्र कुमार के दस कहानी संग्रहों में प्रकाशित समग्र कहानियाँ प्रस्तुत की गई हैं। खण्ड छः, सात, आठ, नौ व दस में सैद्धान्तिक, वैचारिक व दार्शनिक निबन्ध संकलित हैं। खण्ड ग्यारह में ललित निबन्ध तथा संस्मरण और खण्ड बारह में साहित्यिक-सामाजिक-सांस्कृतिक निबन्ध उपस्थित हैं। जैनेन्द्र रचनावली के बारह खण्डों के 8100 पृष्ठों में सर्जना का एक स्वायत्त संसार जगमगा रहा है। प्रत्येक दृष्टि से विशिष्ट, महत्त्वपूर्ण और संग्रहणीय।

ISBN 978-81-263-1490-4 (Set)
978-81-263-1482-9 (Vol. 10)
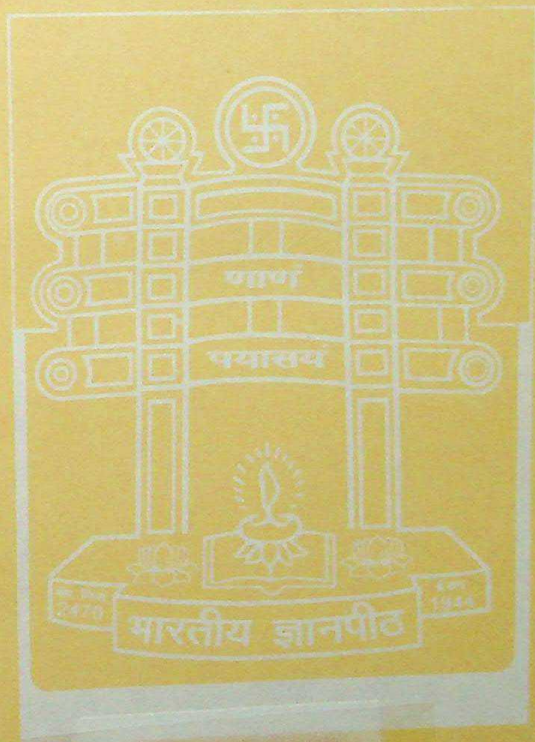
जैनेन्द्र रचनावली : खण्ड-10

(निबन्ध-संग्रह)

जैनेन्द्र रचनावली

खण्ड-10.

जैनेन्द्र कुमार

सम्पादक
निर्मला जैन
सहयोग
प्रदीप कुमार

भारतीय ज्ञानपीठ

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 916

ग्रन्थमाला सम्पादक

रवीन्द्र कालिया

सह-सम्पादक

गुलाबचन्द्र जैन

ISBN : 978-81-263-1490-4 (Set)
: 978-81-263-1482-9 (Vol. 10)

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110 003
ई-मेल : *jnanpith@satyam.net.in*, *sales@jnanpith.net*
वेब-साइट : *www.jnanpith.net*

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर ऐण्ड प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

आवरण-चित्र : राधेश्याम अग्रवाल
आवरण-सज्जा : चन्द्रकान्त शर्मा

पहला संस्करण : 2008
मूल्य : 750 रुपये (खंड : 10)
: 9000 रुपये (बारह खंडों का सेट)

JAINENDRA RACHNAVALI (Vol. 10)
(Essays)
by Jainendra Kumar
Edited by : Dr. Nirmala Jain

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003

First Edition : 2008
Price : Rs. 750 (Vol. 10)
: Rs. 9000 (One set of Twelve Vols)

अनुक्रम

वृत्त विहार-एक

वृत्त विहार-दो

वृत्त विहार-तीन

वृत्त विहार—एक

कसौटी

शब्द की अजब महिमा है। उसकी दुनिया अलग और बड़ी दिल-फरेब होती है। इतनी कि अपने सब सपनों को हम वहाँ बिठा लें और खुद खोये रह जाएँ। उनसे ही इज्म बनते हैं और आदमी अपनी आदमियत भूल जाते हैं।

देश में एकता की बड़ी चर्चा है, यानी अनैक्य पर बड़ी चिन्ता है। खास कर साम्प्रदायिक अनैक्य पर। बादशाह खान इस देश में आये हैं और बड़े दुखी हैं। आते ही उपवास किया और सबका इधर ध्यान खींचा। वे धर्म के आदमी हैं और धर्मनिरपेक्ष देश को आपसदारी का पैगाम दे रहे हैं। विरोधाभास लग सकता है और इसलिए गहरे सोचने की जरूरत है। ईश्वर और अल्लाह दो तो नहीं हैं, पर सम्प्रदाय दो हैं और स्वार्थ दो हो जाते हैं। सम्प्रदाय धर्म को नहीं राजनीति को लेकर भी बनते हैं और वे दल भी आपस में वैमनस्य रख सकते हैं। पर राजनीतिक स्तर पर बने मनमुटाव हमें अनिवार्य लगते हैं और हम सह लेते हैं। धार्मिक माने जानेवाले सम्प्रदायों के पीछे का राजनीतिक तर्क प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए वहाँ के तनाजे अधिक घोर और बर्बर मालूम होते हैं। पर भीतर उतरा जाए तो मालूम होगा कि राजनीति वहाँ भी उपस्थित थी, नहीं तो उपद्रव उतना फैलता नहीं।

मतवाद को लेकर जब-जब दल-सम्प्रदाय का गठन बनेगा और नागरिक व्यवस्था का वही आधार होगा, तभी देखेंगे कि हम उलझन में घिर गये हैं। कारण, तब मत ऊपर आ जाता है, मानव गौण बन जाता है। आदमी से अलग और बढ़कर एक स्वतन्त्र मत-मूल्य खड़ा हो जाता है। फिर तो उस वेदी पर मनुष्य को बलि देना पुण्य कृत्य समझ लिया जा सकता है। समझ में यह उलट-फेर व्यक्ति से विचार को अधिक महत्त्व देने के कारण हो जाया करता है।

बीस-बाईस वर्ष पहले देश को स्वराज्य मिला तो काँग्रेस मौजूद थी और उसने उसे सँभाल लिया। दूसरी संस्था लीग थी और अपने हिस्से का पाकिस्तान उसने हाथ में ले लिया। लीग के कायदे आजम जिन्ना साहब वहाँ के गवर्नर

जनरल बने और अपनी राष्ट्रीय काँग्रेस के नेता की हैसियत से जवाहरलाल नेहरू यहाँ के प्रधानमन्त्री बने। और वह गाँधी? महात्मा के महात्मा ही रह गये? बस, दोनों हुकूमतें चल निकलीं।

यहाँ उस इतिहास में नहीं जाना है। पर साम्प्रदायिक विष राजनीति की नसों के लिए जैसे तब से स्वीकृत ही हो गया। उस विष को धोना हो तो क्या करना होगा? मैं जानता हूँ, यह हिन्दुत्व और इस्लाम का प्रश्न नहीं है। यह प्रश्न है कि राजनीति क्या होगी और उसका क्या आधार होगा? अमुक मत या वाद होगा या वह आधार इंसान होगा? स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध धर्म से नहीं है। इसलिए इसका इलाज कही जानेवाली धर्मनिरपेक्षता में भी नहीं है।

ध्रुवीकरण की हवा है। पहले यह ध्रुवीकरण धर्मों को लेकर हुआ करता था। अब उसे धर्म के सहारे ही जरूरत नहीं है। काँग्रेस स्वराज्य के समय राष्ट्र की थी। अब यहाँ फूट और तनाव है और चाहा जाता है कि काँग्रेसी वह न रह जाए जो समाजवादी न हो। समाज और साम्य के वाद एकदम आधुनिक हैं। हिन्दुत्व और इस्लाम के वाद एकदम पुराने हो गये हैं। क्या इस आधार पर साम्प्रदायिकता से हम मुक्ति पा सकेंगे?

अगर धार्मिक और राजनीतिक संकीर्णताओं से हमें छुट्टी पानी हो तो सबसे पहले जीवन में नागरिक मूल्यों को उदय में लाना और प्रतिष्ठित करना होगा। नागरिकता कसौटी होगी हर किसी के लिए। हर मत, दल और व्यक्ति के लिए। कोई किसी नाम पर उस कसौटी से बच नहीं निकलेगा। सिविल कोड एक होगा और देश में कोई उससे बाहर न होगा। यह नागरिक मूल्य इतना केन्द्रस्थ होगा कि कोई दुहाई किसी को उससे निजात न दिला सकेगी। प्रश्न यह रह ही न जाएगा कि कौन क्या मानता है। बस, एक ही मान रहेगा कि कौन कैसे रहता और बरतता है। तब देश का चरित्र उठेगा, नागरिक स्वच्छता आएगी। मंचों और वक्तव्यों की गूँज तब कम होगी और लोग अपने काम-धाम में लगने की अधिक सुविधा पाएँगे।

[16.10.69]

साम्प्रदायिकता की जड़ें

जीवन में खण्ड नहीं हैं। राजनीतिक भूलते हैं अगर दलों और गुटों में भय-संशय और वैर-विद्वेष पाले रखकर मानते हैं कि सम्प्रदायों में से वे उस रोग को दूर कर सकेंगे। जैसे दल और गुट, वैसे ही सम्प्रदाय अपना निहित स्वार्थ बना लिया करते हैं। स्वार्थ का सम्बन्ध धर्म से नहीं होता, उसके पीछे लौकिक आकांक्षाएँ होती हैं। इसलिए केवल लौकिक यत्न से साम्प्रदायिकता का परिहार नहीं हो सकता। श्री जिन्ना की दृष्टि लौकिक थी कि सम्प्रदाय से उन्होंने सत्ता का निर्माण किया। श्री नेहरू की दृष्टि भी उस बारे में लौकिक ही थी कि वे सत्ता के जोर से साम्प्रदायिकता को मिटाने की बात सोचते थे। दोनों में समानता यह थी कि वे राजकरण से अलग इस प्रश्न को लेकर नहीं पाते थे। सवाल इस तरह राजनीति में उलझकर हार-जीत की शक्ल ले लेता था।

गाँधीजी की दृष्टि धार्मिक थी। धर्म में से ही स्वार्थ के विसर्जन की प्रेरणा आ सकती है। स्वार्थ गया तो संकीर्णता को कहाँ अवकाश रहता है, जब हर इंसान को सगा मानने और उसके दुःख-सुख में समभागी होने की वृत्ति जागती है। धर्म की दुहाई की फिर इसलिए जरूरत नहीं रहती कि वह जमीन में उतर आता है। सच्ची निःस्वार्थता का यह फल हर धर्म में से प्राप्त हो सकता है अगर सच्चाई से उसे पाला जाए। धर्म का आरम्भ ही स्व की आहुति से है।

याद रखने की जरूरत है कि जिन्ना साहब इतने नमाजी न थे; न जिन्ना महोदय ने गाँधीजी को उठा देना जरूरी समझा—वह इतने प्रार्थना के व्यक्ति थे। इसलिए तथाकथित धर्मनिरपेक्षता के बस की यह समस्या नहीं है, न सत्ता के जोर से साम्प्रदायिक विद्वेष के भाव से लड़ा जा सकता है। उस वैर-विद्वेष में से फट उठनेवाली हिंसा को उस तरह कुछ बचाया भी जा सके लेकिन उसकी जड़ें उससे बल्कि उलटे और मजबूत हो सकती हैं। उपचार के लिए चाहिए दूसरे के धर्म के प्रति गहरे आदर और मान का भाव। प्रशासन की धर्मनिरपेक्षता में वह चीज नहीं आती। अपने धर्म के सही पालने में से ही दूसरे के धर्म का साकार उपज सकता है।

हिन्दू और मुस्लिम अगर गिरोह है तो उनमें दोपन रहेगा। इस गैरियत में से एक-दूसरे का लिहाज वगैरह के कर्तव्य भले निकलें, लेकिन अगर वे धर्म हैं तो उस सहारे आपस में आत्मीयता पैदा हो सकती है। उस आत्मीयता के बल पर 'मेजोरिटी'-'माइनोरिटी' का सवाल नहीं रह जाएगा। यह सवाल खुद में कृत्रिम है और हिन्दुस्तान में शायद अंग्रेजी हुकूमत ने उपाजाया और ग्रहण किया। लोकतन्त्र में तो उसकी और भी जगह नहीं है। सच यह कि राजनीति उस भाई-चारे के विकास में बाधा बनी है, अन्यथा इतिहास उस सन्मिलिनता को सिद्ध और सम्पन्न करता ही आ रहा था।

'नेशनल इंटीग्रेशन काउंसिल' की बैठक में समान सिविल कोड की बात उठी और आयी-गयी हो गयी। इस सम्बन्ध में जरा धीरता से फिर विचार करने की आवश्यकता है। स्थितियाँ बिगड़ती जा रही हैं। खबर है कि ढाका से अल्प मत के लोगों को विधिवत् बाहर निकालने की योजना है। इधर भी कुछेक उस भाषा में सोचते रहते हैं। यह खतरनाक लक्षण है, पर गनीमत है कि ऐसे समय बादशाह खाँ की साझेदारी की आवाज उठी सुन पड़ती है। राजकीय दलों की आपसी या भीतरी बदाबदी उन्हें फुर्सत नहीं देती। लेकिन हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बँटवारे से इंसान दो नहीं हो गया है। उसी बुनियाद पर एकता आएगी। अगर राजनीति राज को ही सामने रखेगी, इंसानियत को भूली रहेगी तो वह डूबेगी और डुबाएगी। पर करोड़ों हैं जो सिर्फ मेहनत करते और मिल-जुलकर ही रह पाते हैं। भुगतना सदा उनको पड़ता है। वे चेतें, अपने इंसानी हक को पहचान लें तो स्वयं दलीय या साम्प्रदायिक राजनीति को अंकुश मिल सकता और एक नयी लोक शक्ति का निर्माण हो सकता है।

[23.10.69]

विचार की मर्यादा

विचार में सदा गति होती है। स्थिति में वह नहीं घिरता। चाहे मुड़कर इतिहास के अतीत की ओर बह जाए, या अनागत भविष्य की ओर सीधा बढ़े, पर स्थिति का समर्थन वहाँ से नहीं मिलेगा। इसलिए परिवर्तन या क्रान्ति लानेवाली वृत्ति विचार को महत्त्व देती है। स्थितिहीन साहित्यकार या दार्शनिक वहाँ स्थान पा सकता है और ऊँचे जा सकता है।

लेकिन गति को स्थिति में से ही निकलना है। सपने में उड़ने से असल में कोई अन्तर नहीं आता। इसलिए क्रान्ति के काम में भी कवि पिछड़ जाता और व्यवहारज्ञ राजनीतिक ऊपर आ जाता है।

व्यावहारिक राजनीति में विचार से प्रथम व्यक्ति है। गति विचार में से ही आती और होती है। स्थिति सदा व्यक्तियों से बनती है। व्यवहारज्ञ वह है जो व्यक्तियों को निभाता और सँभालता है।

विचार के आधार पर जनमानस में उभार लाया जाता है। राजनीति के लिए यह पहलू कम आवश्यक नहीं होता। वहाँ से ईंधन मिलता है जो गति के लिए अनिवार्य है। लेकिन राजनीतिज्ञ के निकट अधिक सार्थक हमेशा मानव व्यूह-रचना होती है। प्रस्ताव की भाषा से अधिक गठन के ढाँचे पर उसका ध्यान रहेगा। जिसको शक्ति की और अमल की राजनीति कहें, वहाँ विचार से पहले व्यक्ति-व्यूह के बारे में सचेत रहना होता है।

क्रान्तियों का इतिहास देखिए। क्रान्ति के समय जो अगली पंक्ति में रहे, बाद में उन्हें ही एक-एक को चुनकर अलग करना पड़ा। अन्त में व्यक्ति वह शीर्ष पर रहा जिसने विचार या आदर्श में अपने को व्यय नहीं किया। सारी निगाह दल संगठन पर केन्द्रित रखी।

विचार की ध्वजा उठाकर जब हम क्रान्ति और परिवर्तन की बात करते हैं तो महत्त्व रचना से हटकर चर्चा पर आ जाता है। नेता को वाक्शूर होना पड़ता है। कथनी से हटकर करनी पर उसे विशेष जाना नहीं होता। वाग्मिता का मूल्य

बढ़ता और चारित्र्य का घटने लगता है। अत्यन्ता की इसी परिस्थिति में माँग बढ़ती और ध्रुवीकरण सहज होता है।

आर्थिक विषमता दुस्सह है और उसे दूर करना है। सीधा उसका एक मार्ग सोशलिज्म बताया जाता है। गाँधीजी ने निपट गरीबी देखी तो कपड़े उनके छूट गये और एक लंगोटी रह गयी। तीसरे दर्जे के अलावा उनसे सफ़र न हो सका। बसने को झोपड़ी ही सम्भव बनी...पाया गया कि ऐसे दीन-हीन जनों के साथ उन्होंने अपनी आत्मा का योग साधा है और वह उनके हृदय में जा उतरे हैं। सोशलिज्म इस चीज को भावुक और अवैज्ञानिक मान सकता और कानूनी परिवर्तन का भरोसा थाम सकता है। कानून सत्ता के तल पर से बनता है। वहाँ आप दीन-हीन बनकर नहीं पहुँच या बैठ सकते। प्रशासन का सारा ढाँचा ही बिखर जाएगा, अगर प्रधानमन्त्री आम आदमी की तरह की रहने की सोचने लगेगा। इसलिए कालीनों और मीनारों पर से गरीबों के लिए योजनाएँ बनाना और उन्हें चलाना जरूरी होता है। खुद निर्धन होकर भला सोचिए कि निर्धन का क्या भला आप कर सकते हैं? और सत्ता के शीर्ष पर से ही आप ही बताइए कि उनका क्या उपकार नहीं किया जा सकता? चुनाँचे वह सब कुछ किया जा रहा है। सोशलिज्म के तकाजे को पूरा जो करना है! इस बड़े काम में व्यक्तिगत भावना और व्यक्तिगत चरित्र के प्रश्न को उलझाने की जरूरत नहीं है।

जी, नहीं है। किन्तु स्थिति विचार से नहीं बनती, व्यक्ति से बनती है। अन्त में सब प्रश्न इस बिन्दु पर आएगा कि दायित्व और अधिकार पर बैठा आदमी स्वयं में क्या है। बैंक का राष्ट्रीयकरण ठीक, लेकिन सरकारी या सरकार द्वारा नियुक्त आदमी स्वयं में बेठीक हो तो क्या होगा?

विचार के प्रवाह में बहकर या उत्कृष्टता में उड़कर व्यक्ति के इस निजी पक्ष के प्रति असावधान होने में बड़ा खतरा है। क्रान्ति तब नौकरशाही की गोद में गिर सकती है। भूलना नहीं चाहिए कि उन्नति के विचार के पीछे बेतहाशा भागने की कोशिश में ही हम आज भ्रष्टता और आपाधापी की दुरवस्था में आ पड़े हैं।

[30.10.69]

चेतावनी और चुनौती

काँग्रेस कार्यसमिति की बैठक हो गयी, बल्कि दो हुईं। भारत के सभी भाग्य-पुरुष इसी संस्था में से प्रगटे और इसी काँग्रेस ने स्वराज्य के बाद देश को एक शासन में जुटाए रखा। पर आगे वह टिकेगी, इसमें सन्देह है। फटाव ठीक अधबीच से हुआ है, तो अब क्या होगा?

राजनीति की जमीन संघर्ष की ही होती है। उस पर व्यूह बनते और बिगड़ते हैं। इसलिए हुआ वह कितना भी भद्दा हो, लेकिन कोई बड़ा अचरज तो नहीं है। बात यह है कि मानव नीति से अलग निरी सत्ता-नीति की बिछात पर यही कुछ उखाड़-पछाड़ चला करती है। पर इस निरंकुश प्रतिस्पर्धा में से जो तन्त्र बचेगा वह लोकतन्त्र न हो सकेगा। नंगी संख्या-शक्ति की होड़ में न्याय, सत्य पिछड़ेंगे। जोड़-जुगत की कीमत बढ़ेगी। उसके पीछे फिर संदिग्ध शक्तियाँ अपने खेल खेले बिना न रहेंगी।

मतों में कभी एकता नहीं हो सकती। बुद्धि सबकी अलग है। लेकिन एक-दूसरे को सहने और आदर देने की भूमिका पर अवश्य नागरिकता और सामाजिकता फल-फूल सकती है। संगठित मतावेशों के जोर पर जब इसी नागरिक मूल्य को राज कारण भूल जाता है तो बड़ी गड़बड़ होती है। आज कुछ हालत यही आ बनी है।

लोकतन्त्र के सिवा दूसरी शासन पद्धति भारतीय आस्था के अनुकूल नहीं होगी। हिंसा के वातावरण में हुआ ध्रुवीकरण उसे असम्भव कर देगा। भारत में गाँधी हुए और गाँधी शताब्दी के इस वर्ष में अधिकाधिक व्यक्त हुआ कि अपने नये निर्माण के बारे में दुनिया को उनसे बड़ी आशाएँ हैं। वे भारतीय आत्मा के प्रतीक रूप माने गये और अगर संगठित युद्ध से मानव जाति को त्राण पाना है तो गाँधी मार्ग के सिवा उसे दूसरी राह नहीं है। ऐसी अवस्था में भारत को दुहरा सचेत रचना है। उसके राजनीतिज्ञों को अपने-अपने मत के मद में इस देश की सम्भावनाओं और नागरिक-मूल्यों को बिसार नहीं देना चाहिए।

गम्भीर देश की हालत है। घोर आर्थिक वैषम्य है। बेकारी, गरीबी है। प्रान्त, भाषा, जाति, सम्प्रदायवाद है। दूसरे झमेले कम नहीं हैं उन पर राज-नेताओं का यह आपसी संकट और चढ़ जाएगा तो देश के तीन-तेरह होने में क्या कमी रह जाएगी? शायद यह आवाज आज नहीं है, जो वहाँ तक पहुँचे और परिणाम लाए। लेकिन उस आवाज को पैदा करने की जरूरत है।

युवजन और बुद्धिजीवी जन बहुत हैं जो राजनीति के रंग-ढंग से तुष्ट नहीं हैं। उनका समवेत स्वर बन नहीं पाता। लेकिन वे अपनी-अपनी जगह पर सक्रिय और सचेत हो गये हैं। आखिर वे जनमत के भाग हैं। जनमत ही लोकतन्त्र की मूल पूँजी है। उन्हें या किसी को ऐसे समय अपने को नगण्य समझने का हक नहीं रह जाता।

धर्म के और नीति के लोग कहाँ हैं और क्या कर रहे हैं? उनको चुनौती है और उनके लिए अवसर है। ये शक्तियाँ ऋणात्मक-सी बन गयी हैं। पर गाँधीजी ने दिखा दिया था कि लौकिक के लिए असली प्रेरणा का स्रोत वही है। सम्प्रदायवाद ने धर्म की शक्ति को डस रखा है। उससे मुक्त होकर धार्मिक को इस समय जाग जाना है। सत्ता और सम्पत्ति की चाह ने आदमी को भुला दिया है। वह अध्यात्म है जो उनके पार देखता है। उसी में अपरिग्रह और अकिंचनता को कृतार्थता के साथ अपनाया जा सकता है। वहाँ से उपार्जन से उलटे विसर्जन की स्फूर्ति प्राप्त हो सकती है। राजकीय क्षेत्रों में इन मूल्यों का दिवाला दिखाई देता है। देश को फिर उन्हीं मूल्यों पर आना है जिन्हें लेकर उसने स्वराज्य जीता था। उन्हीं के भरोसे आज स्वराज को सु-राज बनाया जा सकता है।

[6.11.69]

शब्द नहीं, अर्पण चाहिए

राजा और प्रजा में सदा अन्तर रहता आया है। अन्तर वह असह्य हुआ तो क्रान्तियाँ फूटीं और राजाओं के सिर कटे। धीरे-धीरे पता चला कि राजा और प्रजा इन दो पाटों में बँटा समाज सुख-शान्ति नहीं पा सकता। यों भी वह घाटे की व्यवस्था है। मानव क्षमता का पूरा फल उस प्रकार समाज को प्राप्त नहीं होता। यहाँ से प्रजातन्त्र के रूप की कल्पना हुई अर्थात् प्रजा स्वयं ही अपना राजतन्त्र खड़ा करे। प्रजा के चुनाव से तो हुआ, पर तन्त्र वह भी राज का ही रहा। उसी का एक रूप लोकतन्त्र है। आशय उसमें है कि राजतन्त्र का रूप वह न ले, अर्थात राज-दण्ड के बल से नहीं, लोकसत्ता की अपेक्षा से वह तन्त्र काम करे। आशय यह मान्य है, लेकिन अभी उसको सही तौर पर सिद्ध करनेवाले लोकतन्त्र के रूप का कहीं निर्माण हुआ नहीं है, जो है वह कम-अधिक मात्रा में राजतन्त्र ही है। लोकतन्त्रता की दिशा में विकास होगा तो उस तन्त्र का लवाजमा बढ़ेगा नहीं, घटता ही जाएगा। पर देखा जाता है कि डेमोक्रेसी कहे जानेवाले देशों के तन्त्र जाने-अनजाने राजकेन्द्रित हो रहे हैं और उनका परिवार बराबर फैलता ही जा रहा है।

लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि समाज संचालन के दायित्व पर भेजे गये लोक प्रतिनिधि लोक से कटे हुए न हों। रहन-सहन उनका सम-सामान्य रहे। हाकिमाना उनका मानस न बन पाए। तभी वे अफसर कहे जानेवाले सरकारी नौकरों पर सही अंकुश और प्रभाव रख सकेंगे।

पर ऐसा देखने में नहीं आता। दीखता है वह उलटा ही है। राजनीति का भी एक धन्धा बन गया है। कम-से-कम लागत और अधिक-से-अधिक लाभ। इस अवस्था में भ्रष्टाचार के फैलाव को रोका नहीं जा सकता और राज-नेतृत्व स्वयं उस भ्रष्टता का मूल स्रोत बन आता है।

कम्युनिस्ट का प्रचलित लोकतन्त्रता में अधिक विश्वास नहीं है। लेकिन शायद वही है जो इस सम्बन्ध में अपने आचरण से उदाहरण पेश करता कहा

जा सकता है। इसीलिए उसकी शक्ति बढ़ती भी दीखती है। राजनीतिक कार्यकर्त्ता अपने सम्बन्ध में जहाँ भी इस निःस्वार्थता और धन-लिप्सा के अभाव का प्रमाण प्रस्तुत करेगा वहाँ ही लोक-श्रद्धा झुकने को बाध्य होगी। उसके पीछे यदि सत्ता की चाह भी न हो तब तो कहना ही क्या है! गाँधी ने वह चीज पैदा की थी। सार्वजनिक जीवन में से उस मूल्य के हट जाने पर दूसरी अनावश्यक बातों ने दिमागों को भर दिया है और राजनीतिक वातावरण गन्दा और अँधेरा दीखता है।

दूसरे सब सिद्धान्त बाद के हैं, वे काफी सापेक्ष भी हैं। सोशलिज्म और नेशनलाइजेशन वगैरह-वगैरह। बुनियादी ईमानदारी उनके लिए भी जरूरी है। वैसे वे शब्द विदेशी आयात में आये हैं और दिमागी ज्यादा हैं। जीवन से उतने तदगत नहीं हैं। उनकी बन्दिश जब तक शहरियों को डसे रहेगी, तब तक प्रमुखता से भारत में बसनेवाले भारत का असल उद्धार न हो सकेगा।

सच यह है कि राजनीतिक सभ्यता टूट रही है। उसने युद्ध उपजाए हैं और अब युद्ध हो नहीं सकता। पहले एक-दो अणु बम काम आ गये तो आ गये, आगे उसके लिए मौका नहीं है। वे बड़ी शक्तियों को इतना डराए भर रखने को हैं कि वे प्रयोग पर न उतरें, इसलिए राजनीतिक शब्दावली के भरोसे लोगों को उकसाकर अपना काम बना ले जाना राजनीतिक दलों के लिए उत्तरोत्तर कठिन होता जा रहा है। शब्द-जाल में लोग अब कम फँसने को तैयार हैं। वचनों की जगह उनके कामों से, जिन्दगियों से वे उन्हें कसेंगे और परखेंगे। रूसी क्रान्ति का भुलावा खुल चुका है। चीनी क्रान्ति का नमूना भी ढाढ़स नहीं देता। ऐसे समय राजनेता को जनता से आगाह रहना चाहिए। शब्दों की डोर से हाँकना अब नहीं चलेगा। नेता को टटोलना है कि वह समर्पित है, या भीतर सत्ता के मनसूबे बाँध रहा है।

[13.11.69]

तू तो राम सुमर, जग लड़वा दे

कॉंग्रेस के महारथियों में जो आपसी यादवी मच उठी हैं, उसने लोगों के दिमाग चहका दिये हैं। हाथ अपने-अपने काम में ढीले हो गये हैं और मन से मूल्यों का ध्यान भूला जा रहा है, ऐसे समय फकीर कबीर की बानी दुहराने का जी होता है कि जो लड़ते हैं उन्हें लड़ने दो, तुम तो अपने राम को सुमरन में रखो।

कहनेवाले मिलेंगे कि क्या इन सन्तों और उनकी अटपटी सीखों ने ही भारत को गारत नहीं किया? हाँ, मैं जानता हूँ कि धरती पर मेहनत करके जीनेवाले लोग राजनीति की तरफ उतने जगे नहीं रहे, अधिकारों की तरफ अचेतन ही बने रहे। इसीलिए वे पसीना चुआते, अनाज उगाते और चीजें बनाते ही रह गये। ऊपर की लड़ाइयाँ वे झेलते और उनमें मरते भी रहे, अन्याय भी सहते रहे, पर श्रम उनसे बन्द नहीं हुआ और खेत अनाज देते रहे। शायद यह उनकी जड़ता रही, लेकिन इसी के बूते ऊपरवालों को शौक और बरबादी का अवसर मिलता चला गया। इसीलिए कहता हूँ कि नेताओं को नेतागीरी की लड़ाई में शौक से जूझने दिया जाए, पर जनता शान्त अपने हाथ के काम को न भूले, उत्पादन में तनिक शिथिलता न आए।

कॉंग्रेस में दो पक्ष आमने-सामने आ गये हैं। दोनों अपने-अपने किस सत्य के आग्रह पर यों अड़े और भिड़े हुए हैं, वे ही जानें। कुछ तो होगा जो उन्हें उस तरह मजबूर बना देता है। आखिर वे नेता हैं और हम-तुम से कहीं होशियार हैं। लेकिन देखनेवालों को लगता है कि सत्य हो न हो, झगड़े के लिए सत्ता बीच में जरूर है। वे जो इसमें गहरे सिद्धान्तों को देखते हैं, पचपन करोड़ के इस देश में मुट्ठी भर होंगे। वे अवश्य तप आये हैं और तत्पर हो उठे हैं। मानना होगा कि उन मुट्ठी भर में क्षमता है कि अपने शब्दों के शोर से और दूसरी तरह की धूमधाम से सारे देश के चैन को हराम कर दें। यहाँ तक कि रचना और उत्पादन के हो रहे कामधाम स्थगित से पड़ जाएँ। यह हुआ तो बड़े दुर्भाग्य का लक्षण होगा। जिसको ध्रुवीकरण कहते हैं उसमें अकसर यही हुआ करता है। दिमाग

बहक जाते हैं, हाथ काम से खाली हो जाते हैं, फिर गृह-युद्ध की अवस्था बहुत दूर नहीं रहती।

एक नंगा तथ्य सबको जान लेना चाहिए। वह यह कि व्यवस्था, निर्देश, योजनाएँ और विधियाँ देनेवाले लोग उगाते-बनाते नहीं हैं। खाते-गँवाते जरूर हैं। यह सुख-भोग में रहनेवाला चतुर वर्ग ही है जो राजनीति को चेताए रखता है। उनकी हितैषिता के नाते कर्मी और श्रमी से सब कुछ लेकर यही वर्ग अपने लिए सगर्वता और सम्पन्नता जुटाए रखता है। इज्मों और नक्शों को खुराक देकर यही करनेवालों से कराता-धराता और वोट पाता रहता है। उसे सोच लेना है कि इसमें कितनी असलियत है और यह कब तक चल सकता है।

काँग्रेस ने बाईस वर्षों तक के देश के राज को सँभाला, पर अब तक अगर ढर्रा चलता रहा था तो अब सचमुच एक नयी चीज आयी है। वह नयी चीज है श्रीमती इन्दिरा गाँधी का चुनौती-भरा आत्म विश्वास। उससे चाहे संकट बना, पर नयी जान-सी भी आ गयी। श्रीमती गाँधी को मालूम है कि उनके पास कुछ है जिससे ही देश का उद्धार होगा। इतना बड़ा आत्म विश्वास प्रशंसा ही पा सकता है, लेकिन साथ लगा, उससे बृहत्तर दायित्व भी आ जाता है। उसका आभास प्रधानमन्त्री को न हो, ऐसा नहीं हो सकता। इस अभियान में शुभाशुभ सभी सम्भावनाएँ हैं। अशुभ सम्भावनाओं के लिए ही अवकाश रह जाएगा अगर अनागरिक, अलोकतान्त्रिक और हिंस्र उपायों का अवलम्बन लिया जाएगा। आवश्यक है कि प्रधानमन्त्री में स्वयं इतना संयम हो, समर्थकों पर फिर इतना नियन्त्रण हो कि नागरिक मर्यादाओं का भंग न हो पाए, नहीं तो... ?

[20.11.69]

नेतृत्व रोजगार नहीं, सिर्फ आपद्धर्म है

गाँधी जन्म-शताब्दी का यह वर्ष क्या गाँधी की समाप्ति का गिना जाएगा? गाँधी-दर्शन का प्रदर्शन करोड़ के ऊपर की लागत से बनकर गाँधी समाधि, राजघाट के पास शोभा पा रहा है। देखकर रगों में स्फूर्ति आती है, लेकिन जान पड़ता है जैसे आज के भारत से उस गाँधी युग और गाँधी जयन्ती का कोई सम्बन्ध नहीं है। मानो गाँधी जीवन एक पुराण गाथा है, जिस पर विस्मय हो सकता है, अमल नहीं हो सकता। चुनाँचे आज के सार्वजनिक जीवन में से गाँधी के दर्शन का दर्शन एकदम गायब है।

अदालत ने पूछा तो गाँधीजी ने कहा, 'मैं किसान और जुलाहा हूँ।' वह बैरिस्टर थे। वह पेशा छोड़ा तो स्वत्व और सम्पत्ति के नाम पर सब कुछ ही छोड़ते चले गये। अन्त में वह ऐसे नेता बने कि भारत ने क्या, दुनिया ने वैसा नेता न देखा होगा। फिर था क्या कि उन्होंने अपने को बैरिस्टर नहीं कहा, न नेता वगैरह कुछ कहा, कहा तो किसान और जुलाहा कहा, इसकी खबर अब तक शायद किसी ने नहीं रखी है। भारत राष्ट्र पिता कहता है, दुनिया महात्मा कहती है, पर गाँधी स्वयं तुष्ट तब होते हैं जब अपने को किसी अंश में जुलाहा मान पाते हैं। कपड़ा उन्होंने बुना, जूते तक गाँठे, खेती भी की, सूत की कताई तो उनसे जीवन के अन्त तक किसी दिन नहीं छूटी, फिर भी उनकी नेतागिरी अनुपम रही और उसकी रक्षा में उनकी चिन्ता का एक भी क्षण नहीं लगा। नेतृत्व मानो उनके लिए आपत धर्म ही था। राजधानी दिल्ली है, तो वह बढ़ते हुए उस गाँव में पहुँचे जहाँ पगडण्डी के सहारे ही जाया जा सकता था।

ये सब सूचना महात्मा कहकर हम यों ही गटक जाते हैं, जरा भी अटकते नहीं हैं। पर रुकने और सोचने की जरूरत है, खास कर आज जब नेतृत्व का बाजार गर्म है, और काँग्रेस जैसी संस्था दो टूक होकर बिखर गयी है। इस पर ठिठकने और ध्यान देने की और भी आवश्यकता है।

आज पूछा जाए कि आप क्या करते हैं, तो नेता क्या कहेगा? वह एक

ही बात कह सकेगा कि मैं नेताई करता हूँ। सच पूछिए तो वह चौबीस पहर का काम है, सचमुच इसी का वह खाता भी है। पूरे अर्थों में वह उसका पेशा कहा जा सकता है। तिस पर सबसे ऊँचा पेशा।

गाँधी दर्शन का सार था कि परमेश्वर है और सत्य वही है। उसने मन में प्रेम दिया है, सिर में बुद्धि दी है, और तन को दो हाथ दिये हैं। आदमी वह है जो इनको काम में लेता है और सबकी सेवा में लगाता है। वह करता है, बनाता है पर पालनहार ईश्वर है और उसे कुछ नहीं चाहिए। जितना जो है, सबका है, इससे तू ले नहीं, छोड़ता जा और देता जा। इस अद्भुत सीख में से गाँधी ने मिट्टी में से वीर पैदा किये और लोगों के जीवन बदल दिये। मोतीलाल नेहरू का घर जो शाहाना था, मोटी खादी बदन पर लादकर अपने को धन्य मान उठा।

इसको क्या बहुत वर्ष हो गये हैं? क्या 30-40 वर्षों की भी कुछ गिनती है? अन्तर यही तो है कि स्वराज मिल गया है। तिलक के शब्दों में क्या वह जन्म सिद्ध अधिकार ही न था? इसमें अनोखा क्या था? फिर क्या हुआ कि सब उलट गया?

बात एक ही हुई है। अंग्रेज जो राज-योग को लेकर बावला बन उठा था, उस अंग्रेज को तो बावलेपन से हमने मुक्ति दी पर उस राज्य को लेकर हम खुद बावले बनकर खुशियाँ मना रहे हैं।

शायद गाँधी ने अगली आँधी का अन्देशा पहचाना था। उसने कहा था, प्रशासन का भरोसा मत लो, अनुशासन सीखो। आत्मा सब में है, आत्मानुशासन से ही शासक-शासित का भेद मिटेगा। जो शासक होना चाहता है, वह शासित रखना चाहता है। इसमें ही द्वेष और शोषण के बीज हैं। आर्थिक, सामाजिक, नैतिक शोषण दूर करना चाहते हो, तो नेता और शासक बनने की इच्छा से खुद दूर रहो, नहीं तो ऐसा न हो कि तुम देखो कि तुमसे शोषण दूर होने की जगह उलटे मजबूत हो रहा है। तब के पछतावे से बचना चाहते हो तो हाथों से काम लो, कुछ रचनात्मक करो और गरीबों के सिर पर न रहो, उन गरीबों के बीच उनके बराबर होकर रहना सीखो, पर...

[27.11.69]

गाँधी और नेहरू : गाँधी या नेहरू

गाँधी और नेहरू। इस सूत्र से भारत के स्वराज्य के 22 वर्ष निभ गये हैं, पर काँग्रेस का क्षय उस कारण बच नहीं सका है, बल्कि इस संस्था की क्षीणता का स्वयं वह एक प्रमुख कारण हो सकता है। नेहरू ने राज्य अपनी बल-बुद्धि से चलाया, रीति-नीति अपनी रखी पर गाँधी के नाम की दुहाई को कभी छोड़ा नहीं। परिणाम हुआ कि देश को अपनी प्रगति की दिशा का सही-सही पता ही नहीं चल सका। काँग्रेस की देह संस्था आकार-प्रकार में पृथुल बनी रही, पर भीतर उसके दुचित्तापन समाया रहा। अनमिल तत्त्व उसमें बने रहे और सभी काँग्रेस को अपने-अपने मत मुताबिक समझते-समझाते रहे।

भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा जन्म से नेहरू हैं, विवाह से गाँधी, वह 'गाँधी नेहरू' के सूत्र को स्वभावत: बनाए रखना चाहेंगी, पर हाल में उनकी बदौलत काँग्रेस में छटाव हुआ है और आशा की जाती है कि इस अलगाव से काँग्रेस को नयी स्वच्छता और शक्ति मिलेगी। सोशलिज्म का मार्ग सुगम होगा और पिछले पंचमेलपन के भार से मुक्ति मिल जाएगी।

दोनों ओर से सुनने को मिलता है कि काँग्रेस दो नहीं हुई, वह तो एक ही है। वह एक काँग्रेस कौन-सी है, तटस्थ देशवासी को पता नहीं चलता। दावा दोनों का अपने-अपने लिए है, कि सही और असल काँग्रेस हम हैं। बम्बई और अहमदाबाद में दोनों पक्षों के अधिवेशन में उपस्थित प्रतिनिधियों की संख्या के हिसाब से शायद कानूनन निर्णय हो जाए कि दो बैलों का चिह्न किसके हाथ आया है। वह विरासत किसी के भाग्य में पड़े, आजमाइश असली सन् '72 के चुनाव में ही हो पाएगी। असली और नकली दोनों में से किसी काँग्रेस का नव अभ्युदय हुआ दीखेगा, इसकी सम्भावना कम सुनी जाती है। अधिक अनुमान यह है कि काँग्रेस तब असंगत ही होगी।

हमें इस या उस दल के भाग्य की चिन्ता नहीं है। जो आता है, वह जाता है, जीता है सो एक दिन मरता है। पर देश तो रहेगा और प्रश्न उसके भविष्य का है।

उस भविष्य में विचार जाता है तो लगता है कि गाँधी और नेहरू के संयुक्त सूत्र की समाप्ति हो गयी, नहीं हुई तो कर देनी चाहिए और प्रश्न उठना चाहिए, गाँधी या नेहरू?

सच यह कि यह प्रश्न गाँधी के जीवनकाल में उठा था। नेहरू को अपना राजनीतिक वारिस बनाकर गाँधी ने उस प्रश्न को मानो राजनीति के स्तर से अलग खींच लिया। कुछ आशा थी कि आगे जाकर नेहरू उन्हें अधिक समझें और मानेंगे। वह समझ और अनुभूति नेहरू को हुई, पर तब जब अन्त समय आ ही लगा था।

नेहरू अपनी प्रकृति और संस्कृति पर चलते-चलते प्रधान मन्त्रित्व पर पहुँचे। उन्होंने पूरा जीवन पाया और मृत्यु मिली तो सब प्रकार की सम्पन्नता उनके आसपास थी। गाँधीजी का रास्ता उन्हें स्वराज्य की धूमधाम से उलटे नोआखाली ले गया। वहाँ की धरती लहू से गीली थी और आगजनी से वीरान। गाँधी को गोली खाकर मरना पड़ा। गनीमत हुई कि नेहरू थे और राजसी शव-यात्रा गाँधी को मिल सकी।

हम भारत को भूल नहीं पाते, लेकिन याद रखना है कि भारत अलग-थलग नहीं है। वह दुनिया का भाग है और उन समस्याओं से बरी नहीं है जिनसे दुनिया परेशान है। दो प्रतीक काफी हैं दुनिया की हालत को उजागर करने के लिए—एक उद्जन बम, दूसरे हिप्पी जन।

हम अपनी राजनीति में सराबोर हो सकते हैं, लेकिन हमारी बन्द दिमागी मानव जाति के भाग्य से तोड़कर हमें अलग नहीं कर सकती। क्या होगा उस सभ्यता का अन्त जिसमें अणु बम और हिप्पी गण उगते ही चले जा रहे हैं? उसी सन्दर्भ में है 'गाँधी या नेहरू' के प्रश्न में गहरी सार्थकता पड़ जाती है। नेहरू ने भारत देश को आधुनिक बना दिया, अविकसित आप उसे नहीं कह सकते। विकासमान देशों में उसे अग्रणी मानना होगा। इस राजनगरी दिल्ली की शिखरस्थ सभ्यता यहाँ तक आ गयी है कि अत्याधुनिक विदेशी को भी हर तरह का ऐश मुहैया कर सके। यहाँ आने के बाद किसी को भी हिम्मत नहीं हो सकती कि इस देश को पिछड़ा मान सके।

हाँ, एक चीज है जिसे पिछड़ेपन की निशानी माना जा सकता है—वह है गाँधी दर्शन और गाँधी संग्रहालय। लेकिन वे भी इस अर्थ में आधुनिक हैं कि उनसे गाँधी की समाधि पक्की हो जाती है। गाँधी इतिहास के बन जाते हैं, भविष्य के लिए शेष नहीं रहते।

पर प्रश्न है कि गाँधी अगर नहीं रहते तो क्या दुनिया के लिए बचे रहने का कोई विकल्प शेष रह पाता है? आपसी भय, संशय और द्वेष, मत्सर के वातावरण में शस्त्रास्त्र की बढ़ती हुई तैयारी को देखकर क्या माना जा सकता है कि गाँधी के अलावा कोई विकल्प है?

भारत के सामने सवाल यही नहीं है कि गद्दी पर कौन बैठे? कैबिनेट किस रंग की बने? पर यह भी है कि क्या भारत के पास दुनिया को देने के लिए गाँधी से बढ़कर कोई देन हो सकती है?

गाँधी या नेहरू? यह प्रश्न इस संकट-बिन्दु पर तात्कालिक बन जाता है। जवाहरलालजी तो गये, पर इन्दिराजी हैं। उनके लिए सोचने को हो सकता है कि क्या भारत के द्वारा जीवित गाँधी का उपहार जगत के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सकेगा? ऐसा हो सका तो उनका नाम नेहरू तक ही न रह जाएगा, गाँधी तक भी उठ सकेगा।

[4.12.69]

राजनीति रंगीनियों में ही न रहे

राज बनाने और चलाने की नीति है—राजनीति। इसका दायित्व कुछेक लोगों पर हो, लेकिन यह राज करोड़ों के हित में और उनकी अनुमति से चलाया जाता है। इस तरह करोड़ों की ताकत उन मुट्‌ठी-भर के पीछे होती है।

करोड़ों की ताकत का क्या पूछना! रुपये के रूप में वह अरबों-खरबों से भी ऊपर पहुँचती है। यह राज-व्यवस्था फौज और कानून के बल से चलायी जाती है।

लोकतन्त्र का आदर्श है राजा-प्रजा में कोई भेद हो ही नहीं। इस आदर्श की आंशिक पूर्ति चुनाव के जरिये हो भी जाती है। प्रजा में से ही चुनकर एक आदमी हुकूमत पर पहुँचता है और कुछ अवधि के बाद फिर उन्हीं अपने सम-सामान्य के बीच आ जाता है।

पर बात असल में उतनी आसान नहीं है। राजन्य बनने पर सामान्य जन वह नहीं रहता, कुछ-का-कुछ हो जाता है। सामान्य रूप में सैकड़ों की गिनती में अगर उसे सोचना पड़ता होगा तो राजनीति पर पहुँचकर उसका दिमाग करोड़ों में रहने का अवसर पाता है। ऐसी धरती से उठकर उसका दिमाग आसमानी रंगीनियों में उड़ने लग जाए तो कुछ अचरज नहीं है।

एक तरह से यह अच्छा ही है। उसे खुद के बारे में सोचने से छुट्‌टी दी जाती है और करोड़ों के भाग्य का उत्तरदाता बनने का कर्तव्य उस पर आ जाता है। तब वह हलकी छोटी बातें सोच भी कैसे सकता है?

पर मान लीजिए, भीतर खुदी से वह छूटा न हो। पारिवारिक जनों में अनुरक्त हो। जीवन में सुख-भोग की लालसा उसमें हो। तब क्या होगा?

होगा यह कि ऊपर बात करोड़ों के हित की होगी, पर उसके नीचे अपना हित प्रमुख होगा। ऐसा होने पर असम्भव हो जाएगा कि भ्रष्टाचार न फैले।

तो क्या राज-काज संन्यासी लोग करेंगे? वे कि जो सब नातों-रिश्तों से टूटे हैं और जिनके लिए अपना सगा कोई है भी नहीं? पर ऐसे लोग परमार्थ के

ध्यान से हटकर इस झमेले में पड़ने ही क्यों लगे? और पड़ें भी तो संसार की टेढ़-मेढ़ को समझें--सँभालेंगे कैसे?

इस तरह राज प्रपंच की यह समस्या शाश्वत ही बनी चली आ रही है। विचारक लोग सोचते हैं और किन्हीं के मौलिक विचारों पर क्रान्तियाँ भी हुई हैं। आज के सोशलिस्ट या डेमोक्रेटिक स्टेट उसी विकास के परिणाम हैं। मार्क्स ने हल देखा—एक राजमुक्त समाज में। लेकिन बीच में उन्होंने पड़ाव बता दिया एक आत्यन्तिक भाव से राज-केन्द्रित समाज का। गाँधी ने सुझाया कि राज्य का काम कम-से-कम होता चला जाए। उसकी 'सेक्शंस' सर्वथा नैतिक हो और स्वयं में वह अपरिग्रही और विकेन्द्रित होता जाए।

आदर्श के रूप में यह सर्वसम्मत माना जा सकता है कि समाज को अन्ततः आत्म-शासित होना है। उसमें प्रशासन के नाम पर कोई ढाँचा होगा भी तो वह मात्र व्यवस्था के प्रयोजन से बढ़ा-चढ़ा न होगा। ऐसे हर व्यक्ति का अभिक्रम जागेगा और अधिक लोगों को नीचे रखकर कुछ एक लोग ऊँचे बनने का भ्रम न पोस सकेंगे।

पर आदर्श तो दूर की चीज है। अभी उसे घटना में देखने का आग्रह नहीं रखा जा सकता। ऐसे स्वप्नवाले अन्त में अपने को व्यर्थ ही पाएँगे, लेकिन दिशा-दर्शन के लिए वह श्रद्धा परमावश्यक है। यह भी आवश्यक है कि हर कदम उसके अनुकूल हो। साधन साध्य से विलग न पड़ जाए।

राजनीतिक दिमाग रंगीनियों में रह सकता है। वहाँ से नाना कल्पनाएँ, योजनाएँ आ सकती हैं। पश्चिम के राजशास्त्र ने बहुत-से मनोरम शब्दों और वादों का निर्माण किया है। उनके सहारे चलकर वह अपने को शाबाशी दिये जा सकता है। लेकिन जरूरी है कि हम अपनी राजनीति की उसे अन्तिम कसौटी पर कसते और परखते रहें। अपने मानस को अरबों-खरबों की ऊँचाइयों पर और उन्मुक्त गगन में रखते हुए भी एक क्षण को न भूलें कि यह सब क्षमता उन करोड़ों की दी हुई ही मिली है जो धरती से जूझते और वहाँ अपना पसीना चुआते हुए जीते हैं। उनके लिए ही अगर नेता की राजनीति है तो उसके रहन-सहन में झलके बिना न रहेगा। ऐसा नहीं है तो दिमागी बातें कोरी बातें रह जानेवाली हैं। हिंसा की ज्वाला की सम्भावना को वे रोक न सकेंगी।

[11.12.69]

भारत का सोशलिज्म भारतीय होगा

आज का शब्द-ध्वज है सोशलिज्म। सब उसे अपनाना चाहते हैं और सभी उसमें अपने मन का अर्थ भरा देखना चाहते हैं। अपना अर्थ अन्त में होता है—स्वार्थ। इस तरह सोशलिज्म जाने-अनजाने सब प्रकार के स्वार्थों के लिए ढाल का काम लेने लगा है।

समाजवाद मैं नहीं कहना चाहता। हिन्दी होने से विलायती सोशलिज्म का जादू उसमें नहीं है। सोशलिज्म के अनेक रूप रहे। इसलिए आया साइंटिफिक सोशलिज्म। वह कम्युनिज्म का ही नाम है। कम्युनिज्म चीज साफ है। समाज आखिर तो अनिर्दिष्ट वस्तु है। राज्य में उसका रूप निर्दिष्ट हो जाता है। समाज के हित में सब कुछ हो, इसका प्रत्यक्ष अर्थ है कि राज्य के हाथ में सब अधिकार हो।

यह तत्त्व किसी-न-किसी ढंग से सोशलिज्म में अनिवार्य ही है। समाजीकरण अर्थात राष्ट्रीयकरण अर्थात सरकारीकरण। सरकारीकरण के अतिरिक्त समाजीकरण का कोई रूप बनता नहीं।

इसलिए सोशलिस्ट पार्टियाँ हैं पर दम-खम कम्युनिस्ट पार्टी में ही हो पाता है। सोशलिस्ट नाम पर लोहिया जैसा फक्कड़ और बेलाग आदमी निकल आए तो उसके निजी प्रभाव की बात दूसरी है। काँग्रेस का सोशलिज्म डेमोक्रेटिक माना जाता है। डेमोक्रेटिक और सोशलिज्म इन दोनों को मिलाने से क्या बनता है, ये मेरे नजदीक कभी साफ नहीं हो पाया। इसी वजह से डेमोक्रेटिक सोशलिज्म का लक्ष्य रखकर काँग्रेस में सभी प्रकार के अनमेल तत्त्व रहते चले आये। लगता है, अन्त में यह शब्द भावात्मक रह जाता है। उस दिशा में चलने और टिकने के लिए फिर क्या गाँधी का ट्रस्टीशिप ज्यादा सही और सार्थक नहीं है?

सिरे दो हैं—एक तो है समाज, जो स्वयं अमूर्त है और मूर्त राज्य में होता है। दूसरा है—व्यक्ति, जो सामने है और आत्मवान है। राज्य पर और उसके तन्त्र पर जोर दिया गया है पश्चिम में। भारत के दर्शन के मध्य में रहा आत्मवान मानव व्यक्ति।

उसका आग्रह रहा कि सत्य हो तो जीवन में झेल के जीने की विधि से अगल-अलग मानव के या समाज के लिए सत्य कोई हो न सकेगा।

प्रतीत होता है कि सोशलिज्म भारत को वह रुचेगा और पचेगा जो भारतीय होगा अर्थात जिसको जीवन में जिया भी जा सकेगा। निजी जीवन से निरपेक्ष होकर समाज या साम्य इत्यादि का कोई वाद भारत के मन को भर नहीं पाएगा और भारतीय समाजवाद जैसी चीज का उदय अभीष्ट और सम्भव हो, तो हमें तन्त्रवादी अपने इम्पोर्टेड दर्शन को ही बदलना होगा।

यहाँ एक चीज ध्यान में रखने की है। राष्ट्र-राज्य ही अगर समाज को मूर्त करने की इकाइयाँ रह जाती हैं तो मानव समाज के एकत्रित होने की कल्पना सदा के लिए समाप्त हो जाती है अर्थात राज्य को समाज की नियन्त्रक संस्था के रूप में नहीं बने रहना है, उसे उत्तरोत्तर स्वयं समाज द्वारा नियन्त्रित बनना है। डेमोक्रेसी का अर्थ है तो यह है।

प्रचलित सोशलिज्म में प्राइवेट सेक्टर को कसते-कसते हम खत्म भी कर सकते हैं लेकिन उसके द्वारा सरकारी अफसर की अफसरी या दफ्तर की लालफीताशाही को किसी तरह भी छुआ या काटा जा सकता है? क्या अधिक सम्भव यह नहीं है कि ये चीजें और पनपें और सामान्य मनुष्य अधिकाधिक असहाय होता जाए?

नौकरशाही के इस संकट को बचाने के लिए आवश्यक है कि सोशलिज्म वह आये जो तन्त्र से अधिक जीवन से प्रगटे। जो कथनी से अधिक करनी में दिखाई दे। हर आदमी देख सके कि सोशलिस्ट प्रशासक सचमुच सोशलिस्ट है, इण्डिविज्वलिस्ट नहीं है। इसका प्रमाण होगा यह यत्न कि वह अपने जीवनमान में औसत आदमी की बराबरी पर उतरता आ रहा है। वह अफसर या अफसरों का अफसर नहीं है, बल्कि सेवक है और जनता को हाँकता नहीं है बल्कि उनके मनों में उतरने की कोशिश करता है।

[8.12.70]

अभिशप्त है वह जनतन्त्र जहाँ राजा से अलग कोई नेता नहीं

अहमदाबाद अधिवेशन हो गया। बम्बई अधिवेशन अब हो रहा है। दोनों ही जगह प्रगतिशील आर्थिक कार्यक्रमों के संकल्प घोषित हुए हैं और होंगे। दोनों पक्षों में इस विषय में कोई किसी से कम न रहेगा, न ज्यादा आगे बढ़ा दीखना चाहेगा। कारण, निरे शब्दों पर जनता को अविश्वास हो चला है, लोग अमल चाहते हैं।

उपस्थित प्रतिनिधियों की दृष्टि से शायद दोनों तरफ दावे होंगे और गणित को तत्काल इतनी स्पष्टता न मिल सकेगी कि चुनाव-चिह्न का निपटारा हो जाए। उसकी स्पर्धा आगे भी चलेगी, सम्भावना नहीं दीखती कि दोनों पक्षों के बीच का फासला घटेगा। लगता है, दोनों जम गये हैं और उनकी पटरियों का फटाव बढ़ता ही जाएगा।

अहमदाबाद में लोग अप्रत्याशित संख्या में उमड़ आये। वही दृश्य बम्बई में दीखेगा; अर्थात काँग्रेस के इस राजनीतिक विग्रह ने देश की जनता को जड़ों तक हिला दिया है और सभी उद्विग्न हैं। इन परिस्थितियों में एक नाम एक ओर से आशाओं का तो दूसरी ओर से लांछनाओं का केन्द्र बनकर ऊपर उठ रहा है। वह नाम है—इन्दिरा गाँधी।

एक तरह से शुभ है कि भारत को एक शीर्ष बिन्दु प्राप्त हुआ, जहाँ निगाहें टिक सकें। प्रधान मन्त्री के रूप में इन्दिराजी पर सरकार का दायित्व है। पर वर्तमान स्थिति में सरकार से आगे उन पर राष्ट्र नेतृत्व का भी भार आ जाता है। चाहे तो वह सिंहासन से अधिनायकत्व चला सकती हैं या चाहे तो कोटि-कोटि जनता के हृदयासन से आदर्श सेवकत्व का प्रमाण दे सकती हैं।

इन्दिराजी बचपन में नेहरू थीं, अब गाँधी हैं। नेहरू-लक्ष्य समाजवादी है, गाँधी का लक्ष्य उससे आगे, बहुत आगे जाता है। क्या इन्दिराजी गाँधी होने के बाद भी समाजवाद तक रह जाएँगी, जो सिर्फ वाद है, और उससे आगे न देख पाएँगी?

वाद रहकर हिन्दू सम्प्रदाय बन जाता है। इस्लाम भी एक सम्प्रदाय रहता है। धर्म जितने आये, खोलने के लिए आये। 'वाद' में घिरकर ये सम्प्रदाय में सिमट गये और स्थापित स्वार्थों को ओट देने के काम आने लगे। साम्य और समाज के वादों के उदाहरण सामने हैं। समता और सामाजिकता को अपने निजी और सार्वजनिक जीवन में जीने का प्रण रखकर उसे एक सच्चे धर्म का रूप भी दिया जा सकता है। जनता में आशा और उत्साह का संचार उन वादों से न होगा जो विचार और उच्चार में गूँजते रह जाते हैं। होगा वाद के उस सघन रूप धर्म से, जो आचार में से झलकता और जगमगाता है।

जनतन्त्र की दृष्टि से यह कहना आवश्यक मालूम होता है कि राजा और नेता दोनों एक नहीं हो सकते। अभिशप्त होगा वह प्रजातन्त्र, जहाँ राजा से अलग कोई नेता न रह जाएगा। नेता का आसन प्रजा में है। राज प्रहरी के पीछे दुर्ग की रक्षा में रहता है। इन्दिराजी के समक्ष जब कि वह नेहरू नहीं रहीं, गाँधी बन सकी हैं, अवसर है कि दिखा दें कि राजत्व तुच्छ वस्तु है, प्रजा का प्रेम ही प्रमुख है।

उन पर आक्षेप है कि वह सत्ता-लोलुप हैं। सच यह कि काँग्रेस में कोई नहीं रह गया जिस पर भरोसा हो कि वह सत्ता का आकांक्षी नहीं है। पर इन्दिराजी को अपूर्व अवसर मिला है कि वह चाहें तो मन्त्रि मण्डल मनोनीत कर दें और स्वयंसेवक होकर प्रजाजन से आत्मसात हो जाएँ। यह यदि अधिनायकत्व भी हुआ तो मंगलमय ही होगा।

[25.12.70]

स्वत्वाधिकार इधर से छीने जाएँ उधर बख्शे किसे जाएँ?

लीजिए, बम्बई भी हो गया। अहमदाबाद से न वहाँ धूम कम रही, न हुजूम कम रहा। अर्थ-वितरण की विषमता, धन का एक तरफ अभाव और दूसरी तरफ अभाव आदि को दूर करने की अधीरता अहमदाबाद में कम न थी, उसके उपचार की घोषणाएँ भी वहाँ कम न हुईं। बम्बई इस विषय में पीछे रह ही नहीं सकता था। चुनाँचे वहाँ के शब्द कम ऊँचे और कम भरपूर नहीं रहे। मालूम होता है कि अगले चुनाव के लिए मतदाता का मन रखने और जीतने की बदाबदी दोनों पक्षों में जारी रहनेवाली है।

शासकीय काँग्रेस से यदि कुछ सुविधा है तो उतना ही उस पर दायित्व का भार भी है। अपने प्रस्तावों को पूरा कर दिखाने का काम स्वयं उस पर आता है। विरोधी पक्षीय काँग्रेस के पास यदि सत्ता नहीं है, तो यह सुविधा तो है कि शासकीय दल पर परिस्थिति की त्रुटियों का आक्षेप डालता रहे।

गरीबी को दूर करने की सब को चिन्ता है। यह भी अब सब लोगों को दीखने लगा है कि गरीबी का अमीरी से सीधा वास्ता है। बहुतों की गरीबी के बीच कुछ की अमीरी सब को खटकनी ही चाहिए। इसलिए सम्पत्ति के और स्वत्व के केन्द्रीयकरण को दूर करना है और अर्थ के अपेक्षाकृत समवितरण की व्यवस्था करनी है। काँग्रेस के दोनों पक्षों की ओर से इस विषय की व्यग्रता और तत्परता व्यक्त हुई है। सामान्य मतदाता की हैसियत से इस हितैषिता के लिए मैं स्वयं उन सब सदस्यों के प्रति कृतज्ञता अनुभव कर सकता हूँ।

यह बात तो मेरे निकट साफ है कि जहाँ स्वत्व और सम्पत्ति जुट और जम गयी है, उसे वहाँ से कुछ बँटना और बिखरना चाहिए। इसमें कानून की पूरी सहायता लेनी उचित है, यानी बेधड़क उस तरह के कानून बनें और दूसरे कदम उठाए जाएँ। इसमें कहीं किसी के प्राथमिक हक छीने जाते लगते हों तो भी

ठिठकना नहीं चाहिए। आवश्यक होने पर संविधान में यथानुकूल संशोधन करने में झिझक क्यों?

वह सब ठीक है और मुझे आपत्ति नहीं है, पर प्रश्न जो रह जाता है, और जिस प्रश्न को मैं बहुत-बहुत महत्त्वपूर्ण गिनता हूँ, वह यह कि अगर इधर से हक हिलता है, तो उधर जाकर हक मिलता किसको है? प्रॉपर्टी को प्राइवेट की जगह पब्लिक बना दिया गया, तो उसका मतलब यथार्थ में क्या हुआ? व्यावसायिक के हाथ में जब तक धन है तो वह प्राइवेट है और धनिक कैपिटलिस्ट है। व्यावसायिक के बजाय राजनीतिक या सत्ताधिकारी के पास हक के बतौर आ जाने मात्र से क्या धन पब्लिक और धनाधिकारी सोशलिस्ट हो गया?

नारों के हिसाब से तो अलबत्ता हो गया, पर दैनन्दिन जीवन की दृष्टि से क्या उससे सामान्य श्रमी या कृषक के हित-साधन की भी सुविधा हो गयी?

शासकीय कॉंग्रेस के अध्यक्ष का भाषण मनोहर और आदर्श-परायण है, पर उससे उनकी रईसी कम हो जाती है? या उनकी 'भूलने' की आदत धुल जाती है? राजनीतिक नेता या सरकारी अफसर ने अब तक कोई प्रमाण दिया है कि वह व्यवसायी से कम स्वार्थी और कम लोलुप है? क्या व्यवसायी लोग अपनी धनासक्ति के ऊपर धार्मिकता का बहाना आसानी से नहीं ओढ़ लिया करते हैं? इसी तरह क्या राजकीय स्वार्थाकांक्षा को भीतर रखकर बड़ी आसानी से समाजवादिता को ऊपर से नहीं ओढ़ लिया जा सकता है?

बम्बई का खुला कॉंग्रेस अधिवेशन साहिर लुधियानवी की इन पंक्तियों के जयगान से शुरू हुआ :

हम मजदूर के साथ हैं,
हम किसान के साथ हैं,
जो हमारे साथ नहीं हैं...।
धनवान के साथ हैं।

मगर मुझे बताया जाए कि साहिर साहब दो मोटर कार रखते हैं, एअर कण्डीशण्ड बँगले में रहते हैं, न उन्होंने मजदूरी जानी है, न कभी गरीबी भोगी है, तो बताइए, इससे मैं और आप क्या समझने लायक रह जाते हैं?

[1.1.70]

जीने, सोचने और करने की पद्धति विदेशी होगी, स्वदेशी नहीं?

भारत में रहकर अनुभव होता है कि कहीं हम भारत में घिरे से तो नहीं हैं? यह यहाँ की अस्वस्थ राजनीति का प्रमाण है। देश की व्यवस्था स्वस्थ हो, तो देशवासी को अनुभव आये बिना न रहेगा कि वह मानव परिवार का सदस्य है, और विश्व का नागरिक है। विज्ञान समर्थ है कि यह अनुभव सबको दे सके। पर यही आज अत्यन्त दुर्लभ है, अर्थात सारी विश्व-व्यवस्था ऐसी अस्वस्थ है, हर राष्ट्रवासी अपने राष्ट्रवाद से बाहर आकर इस अनुभूति तक पहुँच ही नहीं पाता कि वह मनुष्य है, और अन्तरिक्ष अब उसके सामने खुल गया है। हर कोई अपने अस्तित्व के लिए जूझ रहा है, जब कि अस्तित्व सबके लिए सर्वथा स्वीकृत और सहज होना चाहिए। जीवन को रख पाना ही इतना बड़ा सवाल बन गया है कि जीना उसी में बीत जाता है। उसको सभ्य और संस्कृत बनाने की सोचने का उसे अवकाश ही नहीं मिलता। सतह पर जिस सभ्यता का स्वाँग वह कर भी पाता है, उसके नीचे जान पड़ता है कि बुद्धि को प्रहार देने और प्रहार बचाने के लिए चौकन्ना रखना जरूरी है। सुरक्षित वह नहीं है इसलिए स्वरक्षात्मक भाव रखना उसके लिए हर पल जरूरी है।

दुनिया का यह आम हाल है और हिन्दुस्तान का तो खास। यहाँ की राजनीति अस्वस्थ से आगे रुग्ण है। स्वराज मिले 22 वर्ष हो गये, तब दुनिया को लगता था कि राजनीति का कोई स्वस्थ प्रकार भी है, और उसके उदाहरण का उदय भारत में हो रहा है। देश का बँटवारा हुआ, साम्प्रदायिक विद्वेष में लहू की नदियाँ बहीं। फिर भी दुनिया ने माना कि इसकी जड़ में ब्रिटिश कूटनीति हो सकती है। पर नये प्रकाश का उदय अवश्य भारत में होता उसे लगा। तब सन्नद्ध और सशस्त्र ब्रिटिश साम्राज्यवाद की दुर्दान्तता के समक्ष दीन-हीन और निहत्था भारत बलिदान और विश्वास के सामर्थ्य से सम्पन्न होकर सीधा खड़ा हो गया था, चेहरे

पर उसके क्रोध नहीं था, मुस्कराहट थी। फल में शत्रुता नहीं थी, मित्रता थी।

राष्ट्रों के इतिहास में 22 वर्षों की भी क्या कुछ गिनती है? लेकिन यह हुआ क्या? राष्ट्र जो नयी ज्योति से जगमगाता उठा था, वही उधार की बुद्धि और उधार की पूँजी से जीने को आज बेबस क्यों हुआ पड़ा है?

हम किसलिए जी रहे हैं? यह दिखाने के लिए कि हम उन्नत और सभ्य और विकसित किसी-से-कम नहीं हैं? होटल और क्लब और रेस्तराँ हमारे यहाँ भी आधुनिक से आधुनिक हैं। जिन्दगी क्या हमारी नुमाइश ही बनने के लिए रह गयी है? क्या विदेशी ही प्रकार जीने का है, स्वदेशी है ही नहीं?

हमारी विदेश नीति, व्यापार नीति, उत्पादन नीति, समूची राजनीति और अर्थ नीति क्या परमुखापेक्षी ही होकर चलेंगी? शहर जिएँगे दिखावट के लिए, और गाँव जी पाएँगे शहरी दिखावट को सम्भव बनाए रखने के लिए? क्या देश का ताजिया बनाने की तैयारी है? शब्द सख्त हो सकते हैं, पर कष्ट उससे गहरा है। हमारी निगाहें सच में उधर नहीं हैं, जहाँ काम नहीं है, सिर्फ भूख है। दुहाई उसकी है और दर्द उसका नहीं है। नतीजा यह है कि नेता की खुशहाली और जनता की बदहाली दोनों एकसाथ बहाल रह सकती हैं।

विदेश-नीति में हम तटस्थ हैं। इसलिए दोनों नहीं, सब तरफ से सहायता की अपेक्षा रख सकते हैं। पर क्या कोई सच्चाई के साथ स्वतन्त्र, स्वाधीन रह सका है, जब तक यह स्वावलम्बी न हो?

पचपन करोड़ के करीब भारत की जनसंख्या पहुँच गयी है। राजशास्त्री और अर्थशास्त्री डराते हैं कि 'हाय, क्या होगा?' जैसे आदमी स्वयं में धन न हो, ऋण हो। विश्वास और प्रण से भरे यह पचपन करोड़ मनुज और उनके अरब से ऊपर हाथ, बताइए, क्या चमत्कार नहीं कर सकते? अब उस राजदर्शन को क्या कहिए जो उनकी पेटों की चिन्ता का विलाप करता है, और उनके मनोबल और बाहुबल के उपयोग का उपाय नहीं सोच पाता? क्या उसे यह बताने की आवश्यकता है कि विज्ञान का कोई यन्त्र उस यन्त्र की बराबरी नहीं कर सकता, जिसे मनुष्य कहते हैं? देश में इस अपार पूँजी के रहते, अगर देश-नेता को बाहर हाथ फैलाने की सूझती है, तो बताइए दिवाला और किसे कहते हैं?

[8.1.70]

रक्त-क्रान्ति बचानी हो तो विचार के केन्द्र से राज को हटाइए, मनुष्य को लीजिए

क्या समाज के वाद पर प्रश्न न हो सकेगा? गोया वह बुत हो और बुत-शिकनी का डर हो!

इस विचार के आदि प्रवर्तक ईमानदार आदर्शवादी थे। वे सच्चाई के साथ स्व से समाज की भाषा में उठकर रहना चाहते थे। उन्होंने तय किया कि साँझे में जिया और भोगा जाएगा। किसी की कोई चीज खास न होगी, सबकी मिल-जुलकर रहेगी। स्त्री-पुरुष के बीच परस्पर एकाधिकार का अर्थात् पति-पत्नी का सम्बन्ध भी तर्कसिद्ध रूप से अनैतिक माना जाना चाहिए। इस ढंग के रहन-सहन के प्रयोग भी हुए, लेकिन आगे इस विचार ने भावुक से वैज्ञानिक रूप लेना शुरू किया। इसी में वह क्रमशः शास्त्रोक्त वाद बनने लगा। मालूम हुआ कि कुछ के प्रयोग से न चलेगा, समूचे समाज के ढाँचे में परिवर्तन लाना होगा। जो संस्थाएँ और प्रणालियाँ स्वार्थ के आधार पर बन गयी हैं, उन्हें बदलकर सामाजिक बुनियाद देनी होगी।

विचार यह मानविक और मानसिक विकास के अनुकूल था और उसने लोगों की कल्पना को पकड़ा। विचार-क्षेत्र में एक नया आन्दोलन मचा और अनेक दिशाओं में इसका पल्लवन हुआ। उसके शीर्ष पर उदय हुए कार्ल मार्क्स। उन्होंने अर्थ-मुद्रा की संस्था का गहरा विश्लेषण किया और बताया कि समाज में व्याप्त शोषण का प्रमुख उपकरण यह मुद्रा है। हस घातक रोग का नामकरण उन्होंने किया—'कैपिटलिज्म'।

इस पूँजी के निर्माण और विनियोग की पद्धतियों से समाज में विकास और वैषम्य बनता है। उस जगह क्रान्ति लानी होगी, जिससे श्रेणी-शोषण विमुक्त समाज का उदय हो। सम्पत्ति श्रम से बनती है। सम्पत्ति जमकर पूँजी बन जाती है और श्रम से स्वतन्त्र हो जाती है। यदि पूँजी का अधिकार अलग से हो ही नहीं, स्वयं

वह सर्वहारा और श्रमिक वर्ग के हाथ में हो तो विषमता का सवाल ही नहीं रहेगा। शुरू में तो वित्त-लोलुप अविशिष्ट वर्ग के नियन्त्रण की आवश्यकता हो भी सकती है, पर धीरे-धीरे राज्य नाम का वह नियन्त्रक केन्द्र अनावश्यक होकर झर जाएगा। समाज तब आत्म-नियन्त्रित होगा और मुक्त अनुभव करेगा।

यह था वैज्ञानिक समाजवाद अर्थात साम्यवाद। इस सिद्धान्त और स्वप्न ने बहुजन समाज की मन-बुद्धि को पकड़ा और एक जगह से शुरू होकर साम्यवादी क्रान्ति बड़े भू-भाग तक फैल गयी।

अब वह स्वप्न प्रत्यक्ष होकर स्वर्गोपम नहीं रह गया है, उसमें त्रुटियाँ दीखने लगी हैं।

कम्युनिज्म के उत्तर में संशोधित शब्द आया है—डेमोक्रेटिक सोशलिज्म। अर्थात सत्ता के बदल से नहीं बल्कि जनमानस के शिक्षण और अनुमोदन से आदर्श व्यवस्था को लाना है। राजतन्त्र की जगह इस रूप को कहा गया—जनतन्त्र।

बात तो ठीक है, लेकिन सिरे दो हैं—एक ओर है मानव, उस छोर पर है राज्य। आदमी के पास श्रम की शक्ति है तो राज्य के पास धन का बल। राज्य धन पैदा नहीं करता, सिक्के के चलन और शस्त्रास्त्र के बल से श्रम द्वारा पैदा हुए धन को अपने वश में कर लेता है। इसलिए समाज व्यवस्था के हर विचार के केन्द्र में अर्थ नीति और राजनीति आ जाती है। सारा समाजवादी विचार इसी भँवर में घूमता है।

मेरा आग्रह है कि तमाम वह विचार व्यर्थ होगा, उससे आगे अनर्थक भी हो सकता है जो स्थिति के उस मूल और आदि बिन्दु को ओझल कर जाएगा जिसे आदमी कहते हैं। उस आदमी के हाथ में सिर्फ श्रम है और मन में दर्द। मैं कहता हूँ कि इस श्रम और दर्द के मूल्य को प्रतिष्ठा देनी होगी। इसको नैतिक विचार कहेंगे। राजनेताओं की सारी लम्बी-चौड़ी बातों और योजनाओं को इस कसौटी पर परखा जाएगा। स्वयं उसको इस कसौटी पर खरा उतरना होगा। नेतागीरी का पेशा अधिक काल नहीं चलने दिया जाएगा। बहक और बहल कुछ दूर चल सकती है। उससे आगे हर नेता और हर राजा को श्रम और पसीने के बल पर रहना सीखना होगा, नहीं तो किसान-मजदूर देखता जा रहा है, कि वह दीन-हीन अपने दोष से नहीं है, व्यवस्थापकों के हथकण्डों के कारण ही उसकी यह दशा है। यह दर्शन उसे और स्पष्ट हो। इससे पूर्व ही नेता जन को चेत जाना चाहिए। नहीं तो... ?

[15.1.70]

भारतीयकरण पीछे, 'स्वदेशी पहले'

भारतीयकरण की आवाज उठी है और जनसंघ से उठी है। कुछ के लिए वह इसीलिए जहरीली हो सकती है। उसमें हिन्दूकरण को सूँघ लिया जा सकता है। दल-हठ के माहौल में सन्तुलित विचार मुश्किल ही हो जाता है।

लेकिन देश की एकता सब चाहते हैं। भावात्मक एकीकरण के लिए पं. नेहरू के वक्त से कितनी चेष्टाएँ चल रही हैं। अब तो एक बड़ा बजट इन प्रयत्नों के लिए सुरक्षित है।

भारत में भारत के सिवा कुछ भी एक नहीं है। धर्म एक नहीं, वर्ण एक नहीं, जाति-भाषा-प्रदेश कोई भी एक नहीं। इसलिए एकता का आधार यहाँ स्वयं भारत के और स्वरूप भारतीयता के सिवा दूसरा क्या हो सकता है?

संवैधानिक और सरकारी एकता तो एकता होती ही नहीं। वहाँ तो जबरदस्ती कानून की डोर से अनैक्य को बाँधे रखना पड़ता है। क्षण के लिए एकता की प्रतीति होती है तो तब, जब प्रहार बाहर से आ पड़ता है। चीन और पाकिस्तान की कृतज्ञ हो सरकार कि उधर के डर के नाम पर उसको समर्थन मिलता रहता है, अन्यथा नीचे से हम कटे-फटे जा रहे हैं। कोई महद भाव नहीं है जो हमें मिलाए और उठाए।

यों, हममें से कौन है जो मूल भारत का है? आदिवासी कुछ हों तो वे कोने-कुचरे में बसे होंगे। हम सबके पुरखा लोग तो आगे-पीछे यहाँ बाहर से ही आये थे। बड़ा अभिमान है हमें 'आर्य' देश होने का। पर लांछना का शब्द हमने बनाया है—अनार्य। पर आर्य कौन यहाँ ही से उपजे? तो फिर ये भारत देश किस प्रकिया से बन खड़ा हुआ? उस ऐतिहासिक प्रक्रिया का नाम है—भारतीयकरण। आर्य, शक, हूण, तातार, मुगल, पठान—सभी आते गये और रचते-पचते गये। दक्षिण की द्रविड़ जातियाँ थीं ही, सब में अपना-अपना निजत्व कुछ-न-कुछ अवशिष्ट बचा ही होगा। पर वह सब विविधता और विलक्षणता भारत के सौभाग्य और श्रृंगार से परिणत हो सकी तो इस भूमि की 'भारतीयकरण' की विशेषता के कारण।

एक अखंड समन्वय का मन्त्र और क्रम यहाँ प्रवर्तमान रहा और आज दुनिया में यही राष्ट्र है जिसकी संस्कृति सहस्र-सहस्र वर्षों से अविच्छिन्न चली आयी कही जा सकती है। आएँ, सब आएँ, अपनी स्वकीयता भी वे रखें, लेकिन कृपया सम्मिलित भारतीयता से छिटके न रहें।

मैं मानता हूँ कि यह भारत भूमि मानव जाति के इतिहास की ओर से समन्वय के विज्ञान की प्रयोगस्थली रही है। पश्चिम की सभ्यता ने जगत को युद्ध का विज्ञान दिया और शस्त्रास्त्र को चरम सांघातिकता पहना दी। यह सभ्यता जब श्रान्त और क्लान्त हो रहेगी, तब परम समन्वित भारतीयकरण का प्रयोग उसके काम आ सकेगा।

जनसंघ उतनी दूर न भी देखता हो, पर भारतीयकरण में समूचे मानव के एकीकरण के स्वर को सुना जा सकता है। मैं तो उसमें से वही स्वर फूटते सुनना चाहता हूँ।

क्या वह हिन्दूकरण है? लेकिन 'हिन्दू' शब्द तो यहाँ के लिए बाहरवालों ने दिया। वह कोई विशिष्ट मत, धर्म या वाद तो नहीं है। अगर हो तो मुझ जैन का क्या होगा?—यानी इस्लाम या किसी मत-धर्म का भय इस भूमि को नहीं हो सकता। बिना स्वयं मुस्लिम हुए क्या वहाँ के लोगों ने प्रेम से मस्जिद नहीं बनवायी हैं? भारत अगर अपनी प्रकृति और संस्कृति के प्रति सच्चा रहे तो यहाँ रचे-बसे मुस्लिम को या किसी को वह गैर नहीं समझ सकता। अंग्रेजी सरकार का तो स्वार्थ था कि वह हिन्दू और मुस्लिम को एक नागरिकता में मिलने न दे, पर स्वराजी सरकार तो उस राह नहीं जा सकती। मुसलमान यहाँ किसी लिहाज का मुहताज नहीं है, वह किसी से कम भारतीय नहीं है। उसका अलग से लिहाज रखना उसे खुद बुरा लग सकता है अर्थात् वह खुद आगे जाकर 'भारतीयकरण' की माँग करके उन भले हिन्दुओं को चेता सकता है जो मन-बुद्धि से विलायती बने जा रहे हैं।

भारतीयकरण पर जनसंघ की कोई बपौती नहीं है। क्या हम उसमें गाँधी की स्वदेशी के पूरे अर्थ को भी नहीं देख सकते हैं?

[22.1.70]

अनशन और आत्मोत्सर्ग संसार-लाभ के लिए?

चण्डीगढ़ का सवाल वहीं-का-वहीं है और सन्त फतहसिंह के प्रण के आरम्भ का दिन आ पहुँचा है। आत्मदाह क्या होगा ही? तो फिर क्या होगा?

शुभ तो कुछ होगा नहीं। पर श्रीमती इन्दिरा गाँधी फैसला दे देतीं तो ही क्या शुभ हो जानेवाला था?

सन्त राजनीतिक नहीं हैं, धार्मिक व्यक्ति हैं। शरीर का मोह उन्हें क्यों होने लगा? और शरीर की क्या सबसे बड़ी सार्थकता नहीं है कि किसी सत्-संकल्प में उसकी आहुति दे डाली जाए?

फिर भी प्रश्न है और बड़ा है! इन्दिरा में संशय उठा है कि सही काम धमकी के नीचे हो तो क्या वह सही रह भी जाता है? सही फिर क्या धमकी ही अपने में नहीं हो आती?

और इस तरह जो अब तक तनाव था, वह प्रथम कोटि का संकट खड़ा होकर आता दीखता है।

क्या होगा, और क्या हो सकता था—इसे राजनीति से अलग करके नैतिक भूमिका पर इस प्रश्न की मीमांसा अधिक विश्वसनीय होगी।

गाँधीजी को हम सभी मानते हैं, देश उन्हें राष्ट्रपिता कहता है। दुनिया उन्हें महात्मा स्वीकारती है। उनका दान क्या यही नहीं है कि उन्होंने राजनीति में नैतिक को दाखिल किया? दाखिल ही नहीं किया, नियामक तक बनाया। 'प्रेम और युद्ध में सब जायज है', यह मान्यता आदि से चली आ रही थी, शायद आगे भी उसे चलाया ही जाए। गाँधी ने उसको तोड़ा। युद्ध के और कूटनीति के जिन हथियारों को हम जानते थे, उन सबका उन्होंने वर्जन कर दिया। फिर भी जीवन-भर वह लड़ते रहे और उसी में जान निछावर की। उनकी लड़ाई अपनी लड़ाई थी और हथियार अपने थे। वे थे असहयोग, सत्याग्रह, कानून के आदेश की अवज्ञा और उसका भंग और उपवास—अनशन। उनके कारण ये सब आयुध मानव-जाति के कोष में आ गये हैं और उनका जब-तब जहाँ-तहाँ प्रयोग भी होता रहता है। अपनी अनोखी युद्ध-नीति और युद्धास्त्र के कारण शायद वह इतिहास-प्रवर्तक पुरुष माने जाएँ और भविष्य में उनकी ही युद्ध-नीति त्राण का एक मात्र उपाय रह जाए।

कारण, अणु शक्ति और अणु बम के आविष्कार के बाद हिंसक युद्ध नीति विचार और व्यवहार से बहिष्कृत होती जा रही है।

लेकिन, गाँधी के ये अस्त्र गाँधी की अहिंसा के बिना निरे पाखण्ड और आडम्बर बन जाते हैं। गाँधी ने अनेक उपवास किये, लेकिन किसी का प्रयोजन राजनीतिक न था। उपवास सर्वथा धार्मिक अनुष्ठान है। यही नहीं कि उस कारण यह लोक-व्यवहार से बाहर हो जाता है, किन्तु उसका अभीष्ट सदा और सर्वथा मानवीय और भावात्मक ही हो सकता है। पीछे उसके यदि सांसारिक माँग हो तो उपवास और बलिदान की महिमा और पवित्रता विकृत हो आती है।

गाँधी के आविष्कृत हथियारों का उपयोग गाँधी-भावना से अलग हटकर किया जाएगा तो उससे अन्त में हिंसा और अराजकता को बढ़ावा मिलेगा। नैतिक मूल्यों का अवमूल्यन होगा और यह खतरा मोल लेना भयंकर है। तत्काल सिद्धि-साधन उससे हो भी जाए, लेकिन वह मानव विकास के ह्रास का ही निमित्त हो सकेगा।

सामयिक प्रश्न के कुछ बहुत ही गम्भीर पहलू भी हैं। सिख शूरवीर जाति है। अकालियों की देश-सेवा और उनका आत्म विसर्जन उदाहरणीय रहा है। पंजाब भारत का सीमान्त प्रदेश है और सिखों के पराक्रम के भरोसे समूचा देश उस दिशा में आश्वस्त बना रहता है। उन्हीं के मन को और प्राणों को क्षति पहुँचे तो क्या देश के लिए ही खतरे का द्वार नहीं खुल जाता है?

किन्तु दूसरी ओर उससे भी गम्भीरतर प्रश्न है। वह प्रश्न यह है कि लोक जीवन में इस तरह के दबाव या हठवाद को राह दे देने से क्या यह पद्धति लोक नीति का अंग ही नहीं बन जाती है? उसके समक्ष क्या सत्य और न्याय के मूल्य फीके और दोयम ही नहीं हो जाएँगे? सत्य की प्रतिष्ठा अहिंसा के द्वार से ही हो सकती है। हिंसा का जहाँ वरण हो, वहाँ फिर सत्य और न्याय का निर्णय हिंसा के ही हाथ में आ जाता है।

मैं मानता हूँ कि राजनीति और मानव नीति के द्वन्द्व में मानव नीति को ही सर्वोपरि मान मिलना चाहिए। राजनीति की दृष्टि से चण्डीगढ़ का देश के सीमान्त भाग पंजाब के हिस्से में जाना उचित ही होगा। पर साथ ही मानव नीति की दृष्टि से सन्त फतहसिंह को अपने संकल्प और उत्सर्ग को किसी बड़े मानवीय आशय के लिए सुरक्षित कर लेना चाहिए। सन्त पन्थ का ही नहीं होता, सबका होता है। इस नाते दुनिया का उन पर दावा है। सब को उनसे आशा है, अपेक्षा है। अकालियों के, सिखों के या पंजाब के ही अपने को मानकर वह कैसे रह सकते हैं? सन्त तो ईश्वर का यानी सारे जहान का है। ईश्वर ही अपना दिया जीवन उनसे ले, उससे पहले और कहीं वह उसे कैसे दे सकते हैं?

[29.1.70]

क्या गाँधी आज और कल की दुनिया के लिए जरूरी है ?

गाँधी-जन्म का सौंवा यह वर्ष अब अन्त पर आ रहा है। गाँधीजी को इस वर्ष में सभी ने सराहना से याद किया और काफी गर्व-गौरव के साथ देश-विदेश में यह साल मनाया गया। अकेले दिल्ली के 'गाँधी दर्शन' के निर्माण में आसपास दो करोड़ रुपया खर्च हुआ बताया जाता है। चल-प्रदर्शनी रेल पर अलग भ्रमण कर रही है। प्रायः सभी देश के राजनेताओं ने गाँधी के व्यक्तित्व से आगे बढ़कर गाँधी नीति के गुण गाये हैं, और काँग्रेस के दोनों पक्षों के शीर्ष नेताओं ने खुलकर कहा है कि आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में गाँधी को पुनः प्रतिष्ठित करना आवश्यक है।

उस 'गाँधी-दर्शन' के उद्घाटन पर ही खान बादशाह यहाँ पहुँचे। फिर सारे भारत का उन्होंने भ्रमण किया। पहली यात्रा अहमदाबाद की हुई, जहाँ की धरती साम्प्रदायिक रक्त-पात से अभी गीली ही थी। हर जगह हर मंच से उन्होंने घोषणा की कि गाँधी इस देश में अब कहीं नहीं हैं। इस घोषणा की प्रतिध्वनि हर हृदय से निकली और लोगों ने अनुभव किया कि दूर परदेस के इस व्यक्ति की वाणी में सच्चाई का स्वर एकाएक जागा है। अन्यथा सोया क्या, वह समाप्त ही था? लेकिन पीछे मालूम हुआ कि अखबार राजनीति उछाल रहे हैं, खान का स्वर मध्यम पड़ गया है।

इधर एक अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी हो रही है। बाहर से लगभग चालीस प्रसिद्ध और परीक्षित तत्त्वज्ञ उसमें आये हैं और तनिक कुछ अधिक संख्या में भारतीय प्रतिनिधि हैं। सात दिन तक इन सबको विचार करना हुआ है कि आज के समय में गाँधी की क्या संगति है। संगति है और गहरी है, यह तो सब अनुभव करते हैं। यहाँ के दलीय नेता-जन भी यह मानते हैं। पर कैसे उस संगति को प्रत्यक्ष व्यवहार में सिद्ध किया जा सकता है, इस की कीमियाँ किसी के हाथ नहीं लग पाती हैं।

यह तो निःशंक कहा जा सकता है कि इस देश की राजनीति और राष्ट्र नीति में गाँधी के लिए कहीं स्थान नहीं है। फिर भी यह कहना भूल-भरा होगा कि गाँधी के प्रति यहाँ के राजनेताओं में भरपूर भक्ति भाव नहीं है। जिस तत्परता और हार्दिकता से यहाँ की सरकार ने गाँधी-वर्ष के महोत्सव में भाग लिया, इससे

उनकी कृतज्ञता प्रमाणित है। लेकिन उसको अतीत के प्रति श्रद्धा-भक्ति का अर्घ्य-दान मान लिया जा सकता है। इसके साथ तो फिर वर्तमान और भविष्य के प्रति उनका गाँधी को सर्वथा असंगत मानना भी निभ सकता है।

मैं समझता हूँ कि न भारत और न किसी और देश की वर्तमान राजनीति के लिए गाँधी संगत रह गये हैं। कारण, गाँधी स्वयं में खुद ही थे। गाँधी दूसरा हुआ नहीं, हो नहीं सकता। गाँधी वादी-वादी रहने-रहने में अपने में खुद या कुछ हो नहीं पाते हैं। गाँधी के उधार के साख से फिर व्यापार कितनी दूर तक चल सकता है? और यह अच्छा ही है। गाँधी का राजनीतिक रूप सामयिक था और समय बदल जाने पर वह अप्रयोजनीय और अव्यवहार्य लगे तो विस्मय नहीं है। सच यह कि भारत और भारत का स्वातन्त्र्य युद्ध उनके प्रयोग-पट ही रहे। जिस नीति और जिस सिद्धान्त का पय्रोग उनके माध्यम से हुआ, वह अपने में न क्षेत्रीय थे और न सामयिक थे। वे आत्मिक और जीवनव्यापी थे। इसलिए उनकी उपयोगिता किसी देश अथवा काल से जड़ित अमुक प्रश्नों के सन्दर्भ में संदिग्ध बन ही जाएगी। तात्कालिक प्रश्न परिस्थितियों की संगति से निर्माण पाते हैं। अधिकांश उनका समाधान हम अपने स्वार्थानुकूल हुआ देखना चाहते हैं। स्वार्थ जहाँ हो वहाँ सहज गाँधी असंगत हो आएँगे।

किन्तु आज विज्ञान के विकास के साथ राष्ट्रीय स्वार्थ अपने में असिद्ध हुए जा रहे हैं। अब लगता है कि प्रश्नों का विचार मानव सन्दर्भ में करना होगा। अमेरिका-रूस प्रबलतम राष्ट्र हैं और वे अणु शास्त्र बनाए ही जा रहे हैं, तो भी दोनों जानते हैं कि उनका उपयोग होनेवाला नहीं है। अणुबमों का बनाना जारी है तो यह राष्ट्रवाद का उपार्जित वेग है। किन्तु यह आज की विवशता है कि उनका उपयोग कभी हो ही नहीं पाएगा। इस तरह आज की विश्व-अवस्था जिच में पड़ी है। जिधर चलते आये हैं उधर कदम का बढ़ना हो नहीं सकता है, पर दूसरी गति का भी पता नहीं है।

ठीक यही जिच का बिन्दु है जहाँ वर्तमान सत्यता की सम्भावना का अन्त आ जाता है और गाँधी की संगतता और सार्थकता का आरम्भ होता है। जब राज और राष्ट्र की नीति विवश हो जाएगी कि वह मानव नीति से फटी न रह पाए, तब गाँधी उसे प्रकाश के ध्रुव केन्द्र का काम दे सकेंगे। भारत के पास यह गर्व विशेष नहीं बच पाएगा कि गाँधी उसके थे। वैसे तो बुद्ध भी उसके थे। ऐसे ही प्रतीत होता है कि अपने गाँधी को ही अपनाने में भारत अक्षम सिद्ध होगा। तब इस सभ्यता से अघाए दूसरे देश उधर मुड़ेंगे और शायद देखा जाएगा कि मनुष्य का भविष्य उसी एक ज्योति से जगमगा रहा है।

[5.2.70]

राजनीति क्या भूखे-बेकारों के नाम पर सम्पन्नों की होड़ का खेल-तमाशा ही है?

बादशाह खान की उपस्थिति का लाभ उठाकर राजधानी में एक राष्ट्र सम्मेलन किया गया। राष्ट्र सम्मेलन कहते झिझक होनी चाहिए, क्योंकि राष्ट्र में अधिकांश लोगों को उसका पता नहीं है। पर आशय में वह विशाल था। अन्त में तय हुआ कि इसे तो तैयारी की बैठक मानिए। असली वृहद राष्ट्र संगोष्ठी आगे बुलायी जाएगी और यह तदर्थ समिति उसके लिए सब प्रकार का आयोजन करेगी।

विचार नेक था और नेक-नीयती के लिए गाँधी निधि, गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान और सर्वोदय आदि का तत्त्वावधान सुलभ हो ही जाता है। गाँधी संस्थाओं के पास धन है और दूसरा कोई दायित्व नहीं है। श्री जयप्रकाश नारायण ने इस दिशा में पहले भी प्रयत्न किये थे। फल क्या-कितना निकला, उसका विवरण प्राप्त नहीं है। हर बार आशा रखी गयी थी कि सार्वजनिक जीवन में जो तत्त्व, दलगत या अन्य जाग्रत हैं, वे सब मिलकर एक न्यूनतम कार्यक्रम का निर्धारण कर लेंगे। फिर राष्ट्र का समूचा पुरुषार्थ उनकी साधना और सिद्धि में लग सकेगा। ऐसे राजनीतिक खींचतान के वातावरण का शमन होगा और एक आपसी 'कनसेंसस' (एकमतित्व) का निर्माण होगा।

'एक मति' हम कहाँ चाहते हैं? नीचे तो जनता है। क्या उसके लिए यह अपेक्षा है? अपनी दीनता, असहायता और बेरोजगारी के कष्ट में एक मत है ही। जिनके लिए सब कुछ किया-धरा जाता है, उनकी पीड़ा सम-सामान्य है। ऊपर वह वर्ग है जिससे अपेक्षा है और जिस पर दायित्व है। यह मुखर अपेक्षाकृत साधन-सम्पन्न वर्ग राजनीति में सक्रिय है। इसी वर्ग में से सब दलों का निर्माण होता है। ये लोग करते-धरते हैं और जनता के पास जाकर उनसे उस कर्मण्यता के लिए वोट माँगते हैं। वचन और आश्वासन देते हैं। और खुलकर अपने कन्धों पर जनता के दुःख-दर्द दूर करने की जिम्मेदारी लेते हैं। सभी दलों के चुनाव

घोषणा-पत्रों में प्रतिज्ञा यह की और दुहरायी जाती है। किसी तरह नहीं कहा जा सकता कि राजनीतिक दल या व्यक्ति उस बारे में मुस्तैद और ईमानदार नहीं हैं। उनकी दौड़-धूप और गरज-तड़प गवाह है कि देशवासियों के लिए वे सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार हैं।

समझा जाता होगा कि बस, यहीं कटाव आता है और दल अनेक बन जाते हैं। उनमें फिर आपस में ले-दे और उखाड़-पछाड़ चलती है, और सब बँट रहता है। बात बहुत गलत ही है। लेकिन जरा गहरे जाएँ तो दीख पड़ेगा कि उस समूची विविधता में एकता है और वहाँ एक मानस के निर्माण में विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। सब एक मत हैं कि देश के हित के लिए जीना और मरना है और सब एक मत हैं कि उसके लिए सत्ता प्राप्त करनी है। कृपया रायें हमको दीजिए और अधिक संख्या में आपने हमको असेम्बली और पार्लियामेण्ट में भेजा और हम सरकार बना सके, तो देखिएगा कि आपके सब दुख एवं कष्ट देखते-देखते निवारण हो जाते हैं। इस तरह जनता के पास से वोट से असेम्बली और पार्लियामेण्ट, वहाँ की जोड़-तोड़ से फिर सरकार को राजनीति की यात्रा का यह मार्ग सबके एक मत से निर्णीत है।

भला सोचिए, सत्ता के बिना किया क्या जा सकता है! वहाँ होता है अनगिनत अमला और अनगिनत धन। जहाँ से मनुष्यों और वर्गों के आपसी सम्बन्धों का नियमन होता है, वह कानून वहीं से बनता और अदालत, पुलिस, फौज के बल से उसी द्वारा पलवाया जाता है। उस ताकत के बिना भला क्या कुछ होनेवाला है? इस तर्क से जनता को पीछे करके सत्ता को सामने ले लिया जाता है। फिर तो सत्ता को पकड़ना, पकड़े रहना, आदि-आदि का काम इतना भरपूर बन जाता है कि शब्द में चाहे जनता बनी रह जाए, मन में तो उसके लिए कहीं गुंजाइश रह नहीं जाती। दिन-रात वही एक उधेड़-बुन। खास कर आजकल वह सब बताने की जरूरत नहीं है, जब कि जाने कितने राज्यों की मिनिस्ट्रियाँ पलड़ों पर झूल रही हैं और नेता को न दिन में आराम है और न रात में चैन।

पूछा जा सकता है कि यह सब होता कैसे है? खर्च के लिए रुपया कहाँ से आता है? मीटिंग, कॉन्फ्रेंस, प्रवास, दौरे, टेलीफोन, तार वगैरह-वगैरह। फिर यह सब खर्च देता किसको क्या और कितना है? मुझे लगता है कि इस चक्र-व्यूह को भेदा नहीं जा सकता। याद रखना चाहिए कि यह सब चक्र चलता इसलिए है कि भूखे की भूख मिटानी है, बेरोजगार को काम देना है और जहाँ अभाव है वहाँ खुशहाली पहुँचानी है। और वह भूखा, बेरोजगार और अभावग्रस्त प्राणी आँख फाड़कर इस तेजी से घूमते हुए चक्र को देखता रह जाता है, जो उसी के भले के लिए यों घुमाया जा रहा है। भला जब होगा, तब होगा। इस समय वह

चकित अवश्य है और प्रकार-प्रकार के सोशलिस्टिक और प्रगतिशील शब्दों की गूँज में से अपने को यथाकिंचित ढाढ़स भी देता रहता है।

लोग मेहनत करते हैं, उगाते और बनाते हैं। पर, सिक्का उनके पास नहीं हो पाता कि जिससे वे अपने तन के लिए जरूरी अनाज और कपड़ा खरीद सकें। वही सिक्का इन शहरियों के पास अकूत और अथाह है कि जिनके पास न मेहनत दिखती है और न कुछ उपजाने-बनाने का हुनर ही दिखाई देता है।

यह सब इन्द्रजाल का-सा खेल कैसे हो जाता है? जिससे हो पाता है, क्या उसे ही कहते हैं राजनीति?

[12.2.70]

साम्प्रदायिकता का उपचार क्या धर्म-निरपेक्षता में हो सकता है ?

चुनौती और समस्या के रूप में साम्प्रदायिकता का प्रश्न समक्ष पाकर उत्तर में भारतीय राज्य ने धर्म-निरपेक्षता की ढाल को सामने किया। खयाल था कि धर्म-निरपेक्षता ढाल ही साबित न होगी जो प्रहार को बचाए, स्वयं में अस्त्र भी बन सकेगी जो साम्प्रदायिकता को जड़ से ही काट दे। वैसा हुआ नहीं है।

यों तो उस दैत्य-सेना में और भी वाद हैं। भाषावाद, प्रदेशवाद, दलवाद, मतवाद आदि। इन वादों के नाम पर भी छुट-पुट सिर टूटे हैं और खून बहा है। लेकिन मानना होगा कि धर्म के आधार पर जो गठित सम्प्रदाय हैं उनकी कट्टरता का जहर इतिहास तक गहरा है और उसकी विषबेल ज्यादा फैली है। उसके उपचार के लिए बहुत कुछ किया जा रहा है। सब राजनीतिक दलों के सहयोग से नेशनल इंटिग्रेशन कांउसिल बनी है और सब क्षेत्रों में वह अपने काम को फैला रही है। पर लगता है कि व्याधि का फन ज्यों-का-त्यों हैं और अवसर पाते ही कब वो फूँकार और मार न कर बैठेगा, कहा नहीं जा सकाता।

धर्म-निरपेक्षता के जरिये हमने धर्मों को किनारे कर देना चाहा। एक विज्ञ बन्धु ने बताया कि जिन्होंने इस धर्म-निरपेक्षता की नीति की स्थापना की, वे गहरी धर्म-भावना के पुरुष थे। वह हो सकता है। लेकिन उस शब्द में जो ध्वनि है, उसके अनुसरण में जो हमारी योजनाओं और दूसरी व्यवस्थाओं का रुख रहा है, उस पर से कैसे कहा जा सकता है कि धर्मों के आदर से अनादर का भाव ही वहाँ प्रमुख रहा है। मानो लौकिक कुशलता और सफलता अपने आप में सबसे ऊँचा धर्म हो। संसार ही सब हो और उससे इधर-उधर निरी व्यर्थता हो।

परिणाम हुआ है कि दुनियासाजी का मूल्य बेहद बढ़-चढ़ गया है। नैतिक और नागरिक मर्यादाएँ उपहास की चीजें रह गयी हैं। यों तो सम्पत्ति और सत्ता की लालसा कब नहीं रही। सम्पदा की चाह में अनर्थ सदा होते रहे हैं। फिर

भी जैसे मन में अटक रह जाती थी और अन्त:करण कुरेदता था। अब गोया अटक हट गयी है और सारे मान-मूल्य ही दुनियादारी के बन गये हैं। जिस धर्म-निरपेक्षता से आशा थी कि धार्मिक जड़ता और विडंबना को तोड़ेगी, वह स्वयं धूर्तता और लम्पटता के लिए ओट बन गयी है। ऐसा तक लगता है कि इलाज मूल रोग से खुद बड़ा रोग बन गया है।

धर्म-निरपेक्षता क्या राज्य की श्रेष्ठता है? यानी वह राज्याधिकार की केवल मर्यादा है? मुझे भय है कि हमने उसे कहीं श्रेष्ठता का स्थान तो नहीं दे दिया। राज्य की सत्ता सीमित है और कर्तव्य भी मर्यादित है। उससे आगे वह जा नहीं सकता, जाने की स्पृहा रखकर पथ-भ्रष्ट ही हो सकता है। भौतिक व्यवस्था से आगे उसका वश नहीं है और अधिकार नहीं है। धर्म-निरपेक्षता को गुण की गरिमा देकर जैसे प्रशासक ने सारे जीवन पर छा जाना चाहा। किन्तु लौकिक से ऊपर नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के वे स्तर हैं जहाँ राज-शक्ति का दावा पहुँच नहीं सकता। मानव-चित्त के संस्कार का काम उसके बस का नहीं है, वहाँ के लिए सांस्कृतिक और नैतिक प्रेरणा ही उपयुक्त है। राज्य और राज्य की नीति संघर्ष और प्रतियोगिता के धरातल से निर्मित होती है। वहीं तक उसका उसका उपयोग है। जहाँ पार्थिव आवश्यकताओं और उनके हिस्सा बाँट का प्रश्न है, राजा ऋषि का स्थान नहीं ले सकता है। राजा यदि दुनियादारी के मूल्य को सर्वोपरि उठाकर ऋषि को व्यर्थ और हीन-मूल्य बना पाता है तो निश्चय रखिए कि परिणाम में सारा लोक-जीवन ही गिर जाता है। धर्म की अवज्ञावाली धर्म-निरपेक्षता की राजनीति से देश के जीवन में आज वही फलित हुआ दीखता है। अनाचार जैसे सामान्य आचार हो गया है और एक अन्धी मूल्यहीनता व्यापी जा रही है।

यहाँ जवाहरलाल नेहरू के मुकाबले गाँधीजी की धर्मप्राणता को याद किया जा सकता है। क्या वही न थे जिन्होंने कहा था कि धर्म के बिना राजनीति मौत का फन्दा है? कहा था कि धर्म को किनारा न दो, उसे मन के गहरे में लो। हिन्दू हो तो सच्चे हिन्दू, और इस्लाम मानते हो तो सच्चे मुसलमान बनो। इस कोशिश में से सब धर्मों के लिए आप ही समान इज्जत पैदा होगी। यही जमीन है जहाँ मत की भिन्नता में से मन की एकता फलेगी और जीवन को विविधताओं से भरपूर बनाएगी।

धर्म-प्रेरणा से बड़ी शक्ति मानव के इतिहास में दूसरी हुई नहीं है। ठीक है कि धर्मों की आग आगे चलकर ठण्डी पड़ी और उस पर काई-कीचड़ भी जमा हो गयी। लेकिन उस ऊपर की साम्प्रदायिकता से डरकर धर्म की अग्नि की अवज्ञा होने देना या उसकी क्षमता में अपने को वंचित कर लेना अदूरदर्शिता ही ही सकती है।

मनुष्य के अन्दर जब तक वह आग है, दुनियासाजी उसे कभी पूरी तरह भर नहीं सकती। बलिदान का आकर्षण उससे नहीं छूट सकता। न आदर्शों से वह विमुख हो सकता है। वैसी निरी सांसारिकता अन्त में, खुद में टूटेगी और हारेगी। त्राण का मार्ग यही है कि धर्म में, सभी धर्मों में, जो मर्मरूप है उससे अपने लोकजीवन को फिर से जोड़ें और अपनी प्रेरणाओं के मूल को स्वार्थ से परमार्थ में उजागर करें।

[22.2.70]

सम्प्रदायवाद का हल राज्यवाद में नहीं

साम्प्रदायिकता के सवाल का सम्प्रदायों से उतना सम्बन्ध नहीं है। समाज में अनेकानेक सम्प्रदाय हैं। वे कोई बड़ा सवाल पैदा नहीं करते हैं। प्रश्न, जो संकट का बना हुआ है और बना रहेगा, वह है हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न।

मेरा मानना है कि इतिहास इस सवाल का हल अपने ढंग से करता आ रहा था, पर सात समुन्दर पार से अंग्रेज जो यहाँ आया, उसका लगाव सिर्फ अपने देश से रहा, इस भूमि से बिलकुल न बन सका। मुसलमान के साथ यह बात नहीं थी। बाहर से तो मुसलमान मुट्ठी-भर ही आये होंगे पर वे यहीं के हो गये और फलते-बढ़ते रहे, भारत भूमि और यहाँ की समाज-संस्कृति की ओर से यहाँ के सभी भूवासियों का अनायास एक भारतीयकरण होता जाता था। पर अंग्रेज ने अपने आंग्लीकरण की कोशिश की और उससे भारतीयकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया टूट गयी। नयी अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा में पककर यहाँ के लोगों में राजनीतिक मानस उत्पन्न हुआ और जैसे-जैसे अंग्रेज के हटने की बात निकट आयी, वैसे-वैसे हिन्दू-मुसलमान में पृथकता की भावना बढ़ती गयी। मुस्लिम लीग और उसके नेता जिन्ना साहब धार्मिक भावना के व्यक्ति न थे। उसके सक्रिय लोग अंग्रेजीदां थे और यह राजनीतिक स्वार्थ था कि जिसने उन्हें नये तौर पर अपने इस्लाम धर्म की याद दिलायी।

खैर, अंग्रेज के हाथों बँटवारा हुआ और हिन्दुस्तान में से कटकर अलग पाकिस्तान बना। गाँधीजी उस समय काँग्रेस के अंग न थे, लेकिन काँग्रेस की ऊँची कमान ने बँटवारा मान लिया तो वे कहीं न रह गये। काँग्रेस की बात को उन्होंने गिरने तो न दिया, लेकिन मन में ठान लिया कि इन्तजाम की जमीन पर हुकूमतें चाहे दो बनी रहें, इतिहास में एक बनते हुए भारतीय-मन के फटाव पर वे खड़ी रहेंगी। दोनों तरफ हिन्दू-मुस्लिम रहेंगे और भाई-चारे की भावना के साथ रहेंगे, पर इसी बीच एक हिन्दूवासी ने गोलियाँ मारकर उन्हें यहाँ से हटा दिया। फिर कोई न रह गया जो इस बँटे हुए दोनों घरों को अपना मानता और

अधिकार के साथ कहता कि दोनों में से किसी की राष्ट्रीयता साम्प्रदायिक न हो पाएगी।

उस एक आवाज के चुप हो जाने के बाद सवाल उलझ गया है और कहीं उसका हल दिखाई नहीं देता। पाकिस्तान इस्लाम के नाम पर बना और मुस्लिम होमलैण्ड माना गया। खुलकर सिद्ध माना गया कि हिन्दू और मुस्लिम दो कौमें हैं और पाकिस्तान इस्लामी राष्ट्र है।

अगर इस्लामी राष्ट्रीयता हो सकती है तो क्या मुकाबले में वह एक हिन्दू राष्ट्रीयता को अपने-आप जन्म नहीं दे आएगी? वही हुआ है और हिन्दू शब्द ने जोर बाँधा है।

सच यह है कि हिन्दू नाम किसी ने अपने लिए रखा या अपनाया नहीं। सिन्धु नदी के उस पार वालों ने इस ओर के भूवासियों के समाज को अनायास हिन्दू संज्ञा दे दी। उस समाज में मत-सम्प्रदाय आदि के एक होने का प्रश्न ही न था। वह तो एक सभ्यता थी जो विविध धाराओं के आपसी समागम में से सहज भाव में विकसित होती आ रही थी। उसका रूप सुसंगठित आकार-प्रकार का न था। वह तो भावात्मक और सांस्कृतिक था। उसमें सभी प्रकार के मत-विचार और अर्चना-उपासना की विधियाँ समा जाती थीं। इस प्रकार भारत राष्ट्र की कल्पना अमुक मतवाद या राज्यवाद पर आधारित न थी। उसमें सबके लिए समावेश था। आक्रमणकारी मुस्लिम विजेता के प्रति प्रतिकार की भावना उस राष्ट्र में चाहे रही, लेकिन मुस्लिम सूफियों और सन्तों अथवा यहाँ रच-बस जानेवाले नागरिकों को उस राष्ट्र ने अपना लिया।

देश की प्रमुख राष्ट्रीयता और राजकीय संस्था काँग्रेस ने इस्लामी राष्ट्रवाद को स्वीकारिता की अपनी मोहर दे दी तो भारतीय आत्मा को गहरा आघात लगा। सच्चे हिन्दुत्व पर इससे बड़ी चोट लग नहीं सकती थी। काँग्रेस की इस दुर्बलता और सिद्धान्तहीनता की कीमत में गाँधी को बलि देनी पड़ी। उसी कीमत में वह काण्ड हुआ जिसकी याद करके भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। आगे इसकी क्या और कीमत चुकानी पड़ेगी, कहा नहीं जा सकता है।

और जो कभी नहीं हुआ, वह अब हुआ है। हिन्दुत्व ने अपने को संगठित करने की आवश्यकता अनुभव की है। गाँधी को दुनिया अपना मानती है और वह अपने को खुलकर हिन्दू ही नहीं, वैष्णव तक मानते थे। उनका यह मानना उन्हें उत्तरोत्तर मानवता में मुक्त करता गया। 'वैष्णव जन तो तेने कहिए, जो पीर-पराई जाणे रे' की गूँज से उनका वैष्णव जगव्यापी हो गया। हिन्दू शब्द में यह व्यापकता है, ऐसा मेरा विश्वास है।

उस हिन्दू शब्द का राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा बनाया गया आज का सन्नद्ध

रूप चाहे उतना व्यापक न हो, पर काँग्रेस द्वारा स्वीकृत मुस्लिम साम्प्रदायिकता और मुस्लिम राष्ट्रीयता ने उस रूप को अनिवार्य बना दिया है।

यह राजनीति की जमीन है जहाँ से सक्रिय साम्प्रदायिकताएँ राष्ट्रीयताओं का रूप-आकार ले सकी हैं। उस धरती पर इस प्रश्न का कोई हल नहीं है। जब तक उस जमीन पर हम इस सवाल से जूझेंगे, नये-नये और सक्रिय सम्प्रदायवादों का हमें सामना करना पड़ेगा। नफरत के मुँह को, माने गये सम्प्रदायों से हटाकर, अपने से विरोधी दलों की ओर मोड़ देने से नहीं चलेगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आदि पर क्रोध उतारने की तरकीब से नहीं चलेगा। सवाल के गहरे में जाना होगा। दलबन्दी के जोर पर हिन्दू और मुस्लिम दलों को कमजोर नहीं, उलटा मजबूत ही किया जा सकता है।

जरूरत है कि दलों से कोई ऊँची आवाज उठे। वही होगी जो साम्प्रदायिकता से ऊँची होगी। वह इंसानियत की आवाज होगी। सिर्फ हिन्दुस्तान के सन्दर्भ में रखकर साम्प्रदायिकता के सवाल के एक बाजू को छुआ जा सकता है, इसलिए पाकिस्तान के सन्दर्भ को उससे अलग नहीं किया जा सकता है।

गाँधी की आवाज गुम है लेकिन वे नैतिक, सांस्कृतिक और मानवीय तत्त्व दोनों देशों के पास से क्या खत्म हो गये हैं जो सियासत से ऊपर होकर इस सवाल पर निगाह डाल सकें और अपनी आवाज बुलन्द कर सकें? हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में चाहिए वे लोग, जो एक-दूसरे से डरें नहीं और दोनों को अपना ही मानकर विचार-बर्ताव कर सकें।

कश्मीर के शेख अब्दुल्ला ने मजबूती के साथ अपने को हिन्दुस्तान का कहा है, साथ ही पाकिस्तान को भी अपना माना है। शेख साहब के दिमाग में अगर सिर्फ कश्मीर नहीं है, उससे आगे दयानतदारी के साथ इंसानी बिरादरी भी है तो यह आवाज काम की हो सकती है। इंसानी बिरादरी की बात को विनोबा और जयप्रकाश ने भी अपना बल दिया है। क्या इसको एक मुहिम की शक्ल दी जा सकती है? यह हो सका तो बड़ी बात होगी। लेकिन इसके लिए कुर्बानी की दरकार है।

[1.3.70]

साम्यवाद और समाजवाद से समता और सामाजिकता आएगी?

क्या हम समाज में समता लाना चाहते हैं? मानव सम्बन्धों में हार्दिकता और सामाजिकता की प्रतिष्ठा चाहते हैं?

मालूम होता है, यह भावना आरम्भ से जन मानस में रही है। इतिहास यद्यपि युद्धों की परम्परा में गुजरता आया है तो भी यह आकांक्षा मन्द नहीं हुई। जान पड़ता है, युद्ध स्वयं उस माँग को तीव्र बनाते गये हैं।

साम्यवाद और समाजवाद शब्द उसी आकांक्षा को मूर्त करते हैं। ऊपर मालिक हो, नीचे गुलाम; ऊपर राजा, नीचे रंक; ऊपर हुजूर, नीचे मजूर—यह स्थिति मानव समाज के लिए शोभाजनक नहीं है। इसलिए इसे अधिक काल बर्दाश्त भी नहीं किया जाएगा।

इस चेष्टा में व्यवस्थापक मस्तिष्क लगा रहा है और निराकरण के लिए उसने साम्य के और समाज के वादों का आविष्कार किया है।

गुलाम, रंक और मजदूर के मन में यह सपना जाग आये कि मालिक राजा और हुजूर उसके सिर पर नहीं रहेंगे बल्कि वे खुद अपने मालिक और राजा होंगे, हुजूर की कुर्सी पर वे खुद बैठेंगे, तो इस सपने में उठाकर उनसे क्या कुछ नहीं कराया जा सकता? चुनाँचे क्रान्तियाँ हुई हैं। ऊपरवाले नीचे गिरे हैं और धरती पर से उठकर कुछ जन चोटी पर जा पहुँचे हैं। इस जीवित पीढ़ी के आँखों देखते-देखते यह हुआ है।

लेकिन उन्हीं आँखों यही पीढ़ी यह भी देख रही है कि उन वादों के नाम के सहारे मानी गयी जो जनक्रान्तियाँ हुई हैं, उनसे कोई स्वर्ग उतरकर नहीं आ गया है। अपने बीच उनसे साम्य नहीं फैला है, न सामाजिकता व्यापी है। सामाजिकता की जगह स्वार्थता और गुटबन्दी जन्मी है और समता की जगह चक्की के दो पाटों की तरह दो श्रेणियाँ जमकर कड़ी पड़ती जा रही हैं। एक श्रेणी सरकारी,

दूसरी गैरसरकारी। ऊपर राजन्यजन, नीचे सामान्यजन।

मैं किराये के छोटे-से मकान में रहता हूँ। मेरे मकान-मालिक ने पास में ही एक और चौमंजिला मकान खड़ा कर लिया है। मेरी आँख खोलनेवाला हितैषी ऊपर से आकर चेताता है कि देखो, तुम गरीब हो। यह अमीर है। सोचो कि यह फर्क ठीक है और उसको हक्र है कि वह अपनी अमीरी पर और अमीरी चिनता जाए? बात मन को छू जाती है और द्वेष मुझे उचित मालूम होने लगता है। तब सामाजिक न्याय के नाते लग आता है कि या तो मैं उस जैसा सम्पत्तिवाला हो जाऊँ या वह मुझ जैसा दीन हो आए। बस, मेरी न्याय की इच्छा-पूर्ति के निमित्त हितैषी अपने दल में शामिल होने का मुझे निमन्त्रण देते हैं और मुझे भी उनमें अपने त्राता के दर्शन होने लगते हैं।

ऐसे सार्वजनिक प्रवक्ता बनते और दल-स्फीर्ति और दल-स्फोट की बारूद तैयार होती रहती है। समझा जाता है कि यही बारूद है जिसके उपयोग से राज्य-क्रान्तियाँ करनी होंगी और समता और सामाजिकता को आदर्श से यथार्थ के तल पर उतारकर लाना होगा।

पर पड़ोस का चौमंजिला मकान मुझे चुभता है। पाँच-एक मील दूर का भवन और उससे बड़ी सेक्रेटरियट बिल्डिंग और उससे आलीशान राजभवन मुझे चौंकाते नहीं हैं, बल्कि उनमें मैं गर्व और गौरव भी अनुभव कर आता हूँ। मेरे किराये के मकान की दरिद्रता से राजभवन का विलास मुझे उतना उलटा और विसंगत नहीं लगता।

क्यों? क्योंकि राजभवन सरकारी और सार्वजनिक है, जब कि बराबर का चौमंजिला भवन चुभता इसलिए है कि वह पड़ोसी का है, प्राइवेट है।

साम्यवाद और समाजवाद से जो अन्तर मिट सकता है, वह इन दो पड़ोसी अमीर-गरीब का अन्तर मात्र है। लेकिन शायद वह अन्तर इसी शर्त पर मिटने दिया जा सकता है कि उससे कहीं बड़ा अन्तर चुपचाप बनने दिया जाए, अर्थात उस आँख खोलनेवाले पार्टी-नेता-हितैषी बन्धु के और मेरे बीच का अन्तर मेरे आँख ओझल चाहे कितना ही बढ़ता जाने दिया जाएगा।

वाद का यही करिश्मा है। साम्य की पुकार से वह शुरू हो सकता है, लेकिन फिर बाद को उस बैसाखी की कोई जरूरत नहीं रह जाती है। साम्य और समाज का झंडा काफी है और वादों के संगठनों को फिर सब कुछ होने और करने का अधिकार हाथ आ जाता है।

सच यह कि बताने और करानेवाले व्यवस्थापक—नेताजन की अलग श्रेणी अगर बन सकती है, उसी काम का उसको भरपूर वेतन-भत्ता मिलता रह सकता है, तो कोई कारण नहीं रह जाता कि गरीबी कटे और अमीरी हटे। विषमता के

दूर होने का आधार ही तब समाप्त हो जाता है। राजनीतिक कर्मण्यजनों का वर्ग कब यह सोचने को बाध्य होगा कि वह भी कुछ करे और उपजाए। खामख्वाह हिदायत और हुकूमत के नाम पर अपने लिए सुखोपभोग का संचय ही न करता जाए।

अंग्रेजी का एक शब्द है : पैरासाइट। क्या नेता—व्यवस्थापक जन से पूछा जा सकता है कि उसका क्या अर्थ होता है?

[8.3.70]

भूख और बेकारी के पीछे लड़ाई इज्मों की?

एक अजीज, जो कलकत्ता से अब दिल्ली बसने की सोच रहे हैं, बोले, ''कलकत्ता में जो हो रहा है, वह राज-काज-नीति नहीं है। एकदम 'हैव्स' और 'हैव नॉट्स' की लड़ाई है। मैं खुद कुछ लड़कों को जानता हूँ। पढ़-लिख गये हैं और हाथ में काम नहीं है। बाहर गली पर आकर जमा होते और देखते हैं कि मोटरें आ-जा रही हैं और पैसा बह रहा है। उन्हें बाहर भरपूरता दिखती है और अपने घर-भीतर निरी रिक्तता! अरे हमारा बंगाल! अरे, हम कि जो शिक्षा-कला में गुरु थे। परम्परा का यह अभिमान उनके रीतेपन को धार दे सकता है, कोई गहरी बात नहीं है। वे उठते हैं और कार को रोक लेते हैं कि हम भी सवारी करेंगे। खेल-खेल में आपकी घड़ी कलाई से उतार लेते हैं कि हम भी पहनेंगे। सिनेमा के टिकट छीन लेते हैं कि हम भी देखेंगे। आप सम्पन्न हैं, हम विपन्न हैं, लेकिन इंसान हम भी हैं। लाइए, कुछ तो मौज-शौक हमें भी कर लेने दीजिए। आपकी बहू-बेटियाँ सुघड़ हैं। जरा हमें भी देखने दीजिए कि स्वाद कैसा है...इत्यादि। जी नहीं, कुछ भी और नहीं है। जिन्दगी खाली है और घुटी है। वह फूटना चाहती है, आप उसमें कोई बड़ी राजनीति न देखिए।''

उन अजीज के साथ एक पीढ़ी से ज्यादा का अन्तर है। वह स्वयं विपन्न नहीं है, खासा चार अंकों का वेतन है और गाड़ी-वाड़ी सब है। सिद्धान्ततः वह व्यवस्था और शान्तिमयता के हामी हैं। खुद कलकत्ता की हालत से डरकर घर-बार वहाँ से हटा ले आने की तैयारी में हैं। पर सच सच है और उन लड़कों के लिए सहानुभूति होती है तो वे क्या करें?

मैं कहता हूँ कि वे फिर माओ-त्से-तुंग की तस्वीर और जगह-जगह मकानों-गलियों पर लिखे नारे?

बोले, ''सो कुछ नहीं। माओ उनके लिए नाम है जिसमें उन्हें अपना सपना दीख आता है।''

''तो सपना माओ में दीखने का आरम्भ कैसे हुआ?''

"आखिर तो वे पढ़े-लिखे हैं!"

"तो निरी भूख नहीं है, रीतापन नहीं है। जड़ में पढ़ाई-लिखाई भी है। नये विचार की भी बात है। क्यों, नहीं?"

"जी नहीं, विचार वगैरह उतना नहीं है। खाली पेट उबकाई-सी होती है न, कुछ वही समझिए। भीतर से खालीपन जिन्दगी को बाहर उलीचे दे रहा है।"

मैं अजीज की तरफ देखता हूँ, उन्हें अपना घर-बार प्यारा है। हजारों में पहुँचा वेतन और गाड़ी-वाड़ी सब प्रिय हैं। लेकिन जवान हैं, कलकत्ता की वायु में जीवन भर साँस लेते रहे हैं और नवजवानों के बलबले समझ सकते हैं।

मैं कहता हूँ, "क्यों भाई, ज्योति बसु तो कहीं तुम्हारे बहुत आसपास रहते थे न?"

"वहीं रहते हैं।"

"तो मार्क्सिस्ट पार्टी...!"

"जी नहीं, न मार्क्सिस्ट, न माओ-इस्ट। वे तो बस खाली-खूली लोग हैं। हाथ खाली, मन खाली, घर खाली। इज्म नहीं है जो उन्हें चलाता है। जिन्दगी जैसे उन्हें ठग गयी है। उन्हें छोड़कर पास से वह निकली चली जा रही है और अपनी उठती हुई उमर में वे नहीं जानते कि उनके साथ यह अन्याय क्यों घट रहा है। लपककर वे उस लहराती जिन्दगी का स्वाद ले लेना चाहते हों तो क्या यह कुछ अस्वाभाविक है?"

मैं अजीज को देखता हूँ। दफ्तर के लिए वह तैयार हो रहे हैं। नीचे से ड्राइवर ने हॉर्न दिया है। जल्दी-जल्दी टाई की नाट ठीक कर वह जीने उतर जाते हैं।

तो हाँ, यह चुनौती है। चुनौती जिन्दगी की है और उसको है जो व्यवस्था करता और राजनीति करता है।

लेकिन वह अजीज, जो अभी उतरकर अपने दफ्तर चला गया है और वहाँ से आकर फिर क्लब चला जाएगा और फिर सिनेमा और मुझे लगता है कि यह युवक अपने में कोई कम चुनौती नहीं।

माओ हो और मार्क्स, और इज्म न हो, तो यह कैसे हो सकता है? खाली जिन्दगी अपने को भरने की तरफ न जाकर उजाड़ने को चल पड़ती है, तो क्यों? काम न होने पर आसपास के काम ढूँढ़ लेने के बजाय सब काम-धाम को फूँक डालने का रंग-ढंग है, सो क्यों? यानी, हैं इज्म के तार उसके पीछे। और मैं कहता हूँ कि अगर भूख को, रीतेपन को, विपन्नता को इज्म के हाथों में पड़कर बारूद बनने दिया जाता है तो जिन्दगी की वह चुनौती शक्ति की राजनीति का रूप ले

लेती है। बंगाल का सवाल विक्षोभ और विपन्नता का ही नहीं है, वह खुलकर राजनीतिक है। इसलिए देश के राजनीतिकों के लिए वह एक बहुत बड़ी चेतावनी है।

उन्हें सोचना है कि कैसे इज्मों के हाथ पकड़कर यह घुटी और उमड़ती जीवन शक्ति अन्धी बारूद बनने से रुके, कैसे उसे सचेत और तेजोमय और सचमुच क्रान्तिकारी क्षमता का रूप दिया जा सके?

केन्द्र के नेता क्या इस चेतावनी से चेतेंगे? पर इस सामर्थ्य के लिए भोग नहीं, उन्हें तप का रास्ता लेना होगा।

[15.3.70]

उत्कट आर्थिक नहीं, दलीय प्रश्न?

अजय बाबू के इस्तीफे के साथ बंगाल में जनतन्त्र का रूप स्थगित है। आगे जो भी हो, इस बीच कलकत्ता बन्द हो गया और उपद्रव में खून भी थोड़ा-बहुत बहा। राजनीतिक प्रशासन के स्तर पर उसमें कुछ-न-कुछ बन्दोबस्त हो ही जाएगा, लेकिन एक प्रश्न जो सामने खड़ा हो गया है, जो आसानी से टलता नहीं दीखता। वह आर्थिक वर्गों से अलग, राजनीतिक दलों की आपसी विषमता, स्पर्धा और टकराहट का प्रश्न है।

राजनीति जोर बाँधती है, इस दावे पर कि आर्थिक वैषम्य के कारण समान विग्रह अनिवार्य हो जाता है और उसी में सन्तुलन लाने की आवश्यकता के कारण हम सब त्रिलोक चिन्तित और उद्यमशील हैं।

सब राजनीतिक दल इसी आधार पर अपने लिए बल प्राप्त करते हैं, लेकिन कलकत्ता बन्द में देखा यह गया कि मरनेवाले और मारनेवाले आपस में इस बात पर नहीं अड़ते और झगड़ते कि एक विपन्न है और दूसरा सम्पन्न, बल्कि वे एक-दूसरे के खून के प्यासे इसलिए हो जाते हैं कि एक मार्क्सिस्ट कम्युनिस्ट है और दूसरा सिर्फ कम्युनिस्ट या काँग्रेसी या फारवर्ड ब्लाकिस्ट; अर्थात् आर्थिक विषमता से वैचारिक परदलीय विषमता कहीं ज्यादा विकट और घातक हो जाती है।

लोकतन्त्र की दृष्टि से राजनीतिक आधार पर बना हुआ यह वैर-विद्वेष, आर्थिक विद्वेष से कहीं अधिक तीव्र समस्या उपस्थित करता है और इस विचार से आर्थिक प्रश्न राजनीतिक से बहुत गौण बन जाना चाहिए।

केन्द्र में श्रीमती इन्दिरा गाँधीवाली काँग्रेस की सत्ता है। उसके पीछे इस दावे का बल है कि वह सोशलिस्टिक प्रणाली पर समाज-रचना को लाने में सचेष्ट है। आशा है कि अर्थ वितरण के आधार पर जो सामाजिक विषमता अपने बीच में छायी हुई है, वह कम हो जाएगी और सभी वर्गों में अपेक्षाकृत समानता प्रतिष्ठित हो जाएगी। इस आवाज पर बायीं ओर झुका हुआ प्रगतिशील वर्ग हो जाता और अपने लिए एक बहुमत की व्यवस्था कर लेता है।

किन्तु इस प्रगतिशीलता की चादर के नीचे विभिन्न राजकीय दलों में आपसी मनोमालिन्य-कुत्सा का भाव कहाँ तक पहुँच सकता है, इसका प्रमाण जहाँ-तहाँ होती हुई घटनाओं से मिल जाता है।

विचारों को लेकर हम जितने प्रमत्त हो सकते हैं, शायद वह और किसी विधि से सम्भव नहीं है। तब निन्दा आवश्यक और हत्या उचित लगती है। परिस्थितिगत भेद भूल जाता है और वैचारिक भेद महत्त्व प्राप्त करता है। मत-वादों के आधार पर बने दल जिस हृदयहीनता तक पहुँच सकते हैं, वहाँ पहुँचना, मनुष्य के लिए और तरह से सम्भव नहीं है। इतिहास में यदि आधार धार्मिक मत-वादों का था, तो अब उनकी जगह राजनीतिक मतवाद ने ले ली है। उस मत और उन्माद को भीतर भर लेने पर मानो क्रूरता भी क्रूर नहीं रही।

भारत जनतन्त्र है, शायद जनतन्त्र बने रहना चाहता है। जनरल करिअप्पा के वक्तव्यों ने इसलिए देश के प्रबुद्ध जनों को जैसे थर्रा दिया है। यदि भारतीय जनतन्त्र कायम रखना है, तो अमीरी-गरीबी के अन्तर से भी पहले यह प्रश्न विचारणीय है कि राजकीय दल मत-वाद पर ही अड़े रहेंगे या मनुष्य की चिन्ता भी रखेंगे? जनता के नाम पर जन को स्वाह करने का अधिकार क्या राजनीति का अक्षुण्ण बना रहेगा?

प्रश्न यह शायद नैतिक क्षेत्र को छू लेता है, लेकिन हाँ, यही प्रश्न है और वह मूर्धस्थ और केन्द्रस्थ प्रश्न है कि क्या राजनीति को नैतिकता से मुक्त रहने दिया जाएगा? नहीं तो नीतिसत्ता का अवतरण कैसे और कहाँ से होगा? भीतर से नहीं हो सकेगा तो क्या केवल सैन्य सत्ता का ही विकल्प शेष न रह जाएगा?

[26.3.70]

ऊँचे रहिए, ऊँचा सोचिए, लेकिन...

ऊँचे रहिए, ऊँचा सोचिए, पर कृपया ध्यान रखिए कि कहीं नीचे आपके बोझ से लोग बिलख तो नहीं रहे हैं?

चौथी योजना खुल गयी है और अंक सामने है। यह कि सभी राज्यों के मुख्यमन्त्रियों में अधिक-से-अधिक अपनी ओर खींचने की खींचतान रही। राशि मानो स्वयं उनकी सफलता का माप बन रही—यह इस समय हमारे लिए अवान्तर है। कुछ राशि रोक ली गयी है और उसका बँटवारा पीछे प्रधानमन्त्री की मर्जी पर होगा। इसको राजनीतिक कुशलता की चाल माना गया है।

कुल मिलाकर यह शुभ लक्षण है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी की प्रतिस्पर्धा में अब कोई अन्य नेता नहीं दीखता है। प्रतिस्पर्धा उनसे उतरने पर ही दीखती है। राजनीतिक स्थिति में यह तनिक स्थिरता का सूचक है। लेकिन राजनीतिक पर्यवेक्षक इसको संयोग ही कहना चाहते हैं।

आँकड़े परिणाम का अनुमान देते हैं। इतना करोड़ अर्थात प्रस्तुत होनेवाली इतनी सामग्री। इसमें जड़-चेतन दोनों प्रकार के उपकरण आ जाते हैं। चीजों का दर-भाव महँगाई के कारण पाँच-एक प्रतिशत बढ़ गया हो तो उसको हिसाब में बिठा लिया जाता है। निर्माण काल में यदि दर और ऊँची जाए तो परिणाम में थोड़ा-बहुत हेर-फेर भी हो सकता है। हिसाब में उससे विशेष अन्तर नहीं आता। लेकिन आदमी अपने अधिकार और मुआवजे को लेकर प्रबुद्ध होता जा रहा है। जो आँकड़े उसको जड़-उपकरण के साथ ज्यों-का-त्यों हिसाब में बिठा लेते हैं, वे बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं रह जाते। आर्थिक योजनाएँ ठीक हैं लेकिन राजनीतिक परिस्थितियों के बीच उन्हें निभाना पड़ता है। राजनीति, आर्थिक, तेग की आश्रित नहीं रहती बल्कि उसपर हावी रहती है। यह केवल इस कारण कि आदमी अंक नहीं होता, आदमी होता है।

एक और एक दो भी हो सकते हैं, ग्यारह भी हो सकते हैं और अगर उनके बीच में ऋण हो तो उनका मतलब शून्य भी हो सकता है। आदमियों के आपसी

सम्बन्धों की स्थिति क्या है, यह प्रश्न हर योजना और हर हिसाब से तटस्थ होकर भी उनकी पूर्ति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लेकिन मालूम होता है कि योजना निर्माता इतने अर्थ-दृष्टिसम्पन्न हैं कि मानव तत्त्व की सम्भावना की अनिश्चितता पर वे बेखबर रह सकते हैं।

योजना अब यह चौथी है। तीन आयी हैं और बीत गयी हैं। उन तीनों में काफी कुछ किया-धरा गया है। लेकिन कुल मिलाकर उन सबसे देश की स्थिति सन्तोषप्रद बनी है, यह कहना कठिन है। क्यों? क्योंकि उस सब करने-धरने के परिणामस्वरूप वर्गों और व्यक्तियों में स्नेह और सहयोग नहीं बढ़ा है, एकता नहीं आयी है, बल्कि विषमता और विषाक्तता बढ़ी है। लगभग हर कहीं कानून और व्यवस्था-भंग का खतरा बढ़ता जा रहा है।

चीजें बनें और बढ़ें, साथ ही भूख और गरीबी और बेकारी भी बढ़ती जाए तो क्या होगा? हिसाब बताएगा कि उत्पादन बहुत होने पर फिर बस समान वितरण की ही तो समस्या रह जाती है। वह हम समाजवाद के एक झटके से कर लेंगे। इसलिए अभी तो चीजों की बढ़वारी से इधर-उधर ध्यान नहीं देना है। अर्थवादी विज्ञजन इस आशा और विश्वास में योजनाओं की क्रम-संख्या के साथ आगे ही बढ़ते जा रहे हैं।

एक कथा है कि हिसाब ज्यों-का-त्यों था पर कुनबा डूब गया था। कुनबा सचमुच अभी डूबा तो नहीं है, इसलिए हिसाब पर श्रद्धा को बनाए भी रखा जा सकता है। लेकिन यह हठ महँगी पड़ेगी। बंगाल की घटना चेतावनी है। चेतावनी की चिनगारियाँ थोड़ी-बहुत कहाँ नहीं हैं? उनकी माँग है कि व्यवस्थापकों को अपने चिन्तन को नये सिरे से मनुष्य की ओर मोड़ना होगा। नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि उनकी ही खैर-खबर कहीं न रह जाए।

वर्ग-विद्वेष का सिद्धान्त बना था। अब भी उसका चलन मन्द नहीं है। बर्दवान में राजनीतिक दलों के कुछ लोगों की हत्या हुई। इसलिए नहीं कि उनके वर्ग भिन्न थे बल्कि इसलिए कि दल भिन्न थे।

आज स्थिति यहाँ तक पहुँची है। नर हत्या को राजनीति के नाम पर पुण्य कर्म बना दिया गया है। धर्म के नाम पर हुई नृशंसता पर हम अब भी थर्रा आते हैं, लेकिन राजनीति के नाम पर वही नृशंसता आम बनी जा रही है।

यह है परिस्थिति जिसमें हम जी रहे हैं। खाली हाथ और खाली पेट रहकर आदमी समाज के लिए क्या खतरा ही नहीं बनेगा? खुशहाली की वे सारी योजनाएँ तो यन्त्र के सहारे बहुत उपजा जाती हैं, बीच में अगर एक बड़े वर्ग को अभावग्रस्त और बेरोजगार छोड़ जाती है तो क्या वे टालने की जगह उलटे संकट को लानेवाली ही न बन जाएँगी?

हम संकट में से गुजर रहे हैं। पैसा खर्च करने को हमारे पास कम नहीं है यद्यपि देश दीन और हीन है। ऊँचे उठते और जगमगाते शहर इसके प्रमाण हैं। हम प्रचुरता और विपुलता में रह सकते और सोच सकते हैं, पर ध्यान रखना होगा कि हम उनके नाम पर सोच रहे हैं जो खुद निर्धन और कंगाल हैं। ऐसा न हो कि हमारा रहना और सोचना उनका उपहास बन जाए और उनकी मर्मवेदना बौखलाई भर रह जाए।

[29.3.70]

राजनीतिक हत्या कम अपराध नहीं है

श्री ज्योति बसु पर गोली चली, पर खुशी की खबर है कि उन्हें चोट नहीं आयी। दूसरे एक साथी को बीच में मरना पड़ गया। सब ओर से कृत्य की निन्दा हुई है। और बच जाने पर ज्योति बाबू को बधाई दी गयी है।

यह सत् लक्षण है। जनतन्त्र में राजनीतिक हत्या के प्रति यही घृणा के भाव होने चाहिए।

पर घृणा का यह भाव जनमानस में गहरा गया हुआ होता तो घटना घट नहीं सकती थी। नेताओं की ओर से प्रकट में निन्दा आती तो है, पर मालूम होता है कि दल की ओर से भीड़-भाड़ और हो-हल्ले में सुरक्षा या प्रतिकार में ऐसा कुछ हो जाता है तो उसे देखा-अनदेखा भी कर दिया जाता है।

महाशय ज्योति बसु ने जो वक्तव्य दिया, उससे प्रकट है कि उनका दल कोई चुप बैठनेवाला नहीं है; अर्थात् सामने से प्रहार हो तो फिर क्या प्रति-प्रहार कर्तव्य ही नहीं हो जाना चाहिए? उसमें इस या उस ओर से कुछ जानें चली जाती हैं, तो क्या किया जाए?

राजनीति में इस विष-चक्र का चलन नया नहीं है। सत्ता चीज ही ऐसी है, वह खेल-खेल में हाथ नहीं आती है। उसके लिए जान का सौदा करने के लिए तैयार रहना पड़ता है। पहले तो सिंहासन तक लहू की नदी में से होकर ही पहुँचना हो पाता था। पर कहते हैं कि दुनिया आगे बढ़ी है, काल में विकास हुआ है, जनतन्त्र इसका प्रमाण है। अब राज तलवार से नहीं, वोट से मिलता है।

बात तो ठीक है। लेकिन वोट भी सीधी-सादी चीज नहीं है। आतंक से यदि लिया जाए तो वहाँ भी काम निकल आता है।

ज्योति बसु मार्क्सवादी कम्युनिस्ट दल के नेता हैं। कल तक वे उपमुख्यमन्त्री थे। उनका संयुक्त दल टूटा और राष्ट्रपति शासन हुआ। कारण, अजय मुखर्जी का यह उपालम्भ था कि उस शासन में कानून और व्यवस्था का भी भंग हो गया है, जान-माल की सुरक्षा नहीं रह गयी है। वह स्वयं मुख्यमन्त्री थे और उनका

यह कहना अजीब लग सकता है, पर उनका सीधा अभियोग मार्क्सवादी दल पर था, जिसके नेता की हैसियत से श्री बसु के हाथों में गृह विभाग सुपुर्द था।

मार्क्सवाद दल को चुनाव में बहुमत प्राप्त हुआ था। फिर भी मन्त्रिमण्डल की आवश्यकता के लिए दूसरे दलों से गठजोड़ आवश्यक था। उसमें से युनाइटेड फ्रंट सरकार बनी और पर्याप्त प्रयोग-परीक्षण के बाद टूटी।

मार्क्सवादी दल निर्वाचन द्वारा विधान सभाओं में बहुमत प्राप्त करके शासन व्यवस्था में सहयोगी होना स्वीकार करता है। यह भारतीय संविधान का उपयोग और सम्मान करना ही है। लेकिन साथ ही वह दल उस संविधान को तोड़ने का अपना संकल्प भी खुलकर घोषित कर चुका है।

संविधान को तोड़ने का क्या मतलब? मतलब अगर कुछ भी है तो वह अपने प्रयोजन के निमित्त नागरिक कानून को भंग करने के अधिकार का दावा जैसे हो जाता है; अर्थात् उसमें हिंसा और आतंक के त्याग का कोई अभी वचन नहीं है, बल्कि इनके पूरे-पूरे उपयोग की सम्भावना उसमें समा जाती है।

जनतन्त्र में निर्वाचित और निश्चित बहुमतवाले दल को अपने लिए क्या किसी भी जोर-जबरदस्ती के सहारे की आवश्यकता हो सकती है? अगर वैसी जरूरत होती है तो जनतन्त्र वह झूठा पड़ जाता है। इस प्रकार के उपायों की तरफ जो झुकता है, उसे फिर जनतन्त्र का पोषक किसी भी तरह नहीं माना जा सकता।

मार्क्सवादी दल के माथे कई हत्याएँ बतायी जाती हैं। उन हत्याओं के पीछे शायद पर्याप्त पूर्व उत्तेजना भी रहा हो सकता है। कहते हैं, स्वयं मार्क्सिस्ट दल के लोग अधिक संख्या में मरे हैं। यह तो माना जा सकता है कि उन हत्याओं के पीछे दल के नेताओं की सीधी प्रेरणा रही हो। पर सफाई और समर्थन की वृत्ति दल-नेतृत्व में रह गयी है तो यह भी जनतन्त्र के लिए बहुत बड़ा खतरा है।

या तो हम अपने राजनीतिक मत या दल प्रसार के लिए हिंसा का सहारा लेने में विश्वास रख लें या फिर जनतन्त्र में ही विश्वास रखें। दोनों साथ नहीं चल सकते और यह बिलकुल आवश्यक है कि छोटी-से-छोटी ऐसी घटना के प्रति उस दल के नेता की ओर से तत्काल भर्त्सना के भाव प्रकट किये जाएँ।

सच पूछिए तो जहर वहाँ है, जहाँ नर-हत्या जैसे कृत्य में पुण्य का भाव भर दिया जाता है। मतावेश की फूँक से ऐसा किया जाता है। इसमें क्रान्ति शब्द से चिनगारी का काम लिया जाता है। यही है, जिसके समर्थन को जड़ से काटना जरूरी है, अन्यथा घोर अराजकता में से गुजरने की नौबत आ सकती है।

पटना के स्टेशन पर जिसने भी गोली दागी, वह श्री ज्योति बसु का शत्रु तो क्या, परिचित तक न होगा। फिर भी उसने ऐसा किया तो राजनीतिक प्रेरणा

से, स्वयं ज्योति बसु को साफ कर देना चाहा होगा। अगर यह प्रेरणा राजनीतिक है तो अपराधी प्रेरणा फिर दूसरी कौन रह जाती है?

राजनीतिक दलों में बढ़ती हुई आपसी वैमनस्य की मात्रा के आगे ये घटनाएँ चेतावनी होनी चाहिए।

[5.4.70]

हिंसा, प्रगट और गर्भित

हत्या में प्रेरणा कुछ भी हो, है वह अपराध ही। धार्मिक, राजनीतिक आदि कह देने से कोई प्रेरणा अपराध को कम नहीं कर सकती। लेकिन, हत्या कानून में आ जाती है। इसलिए उसका इलाज सम्भव दीखता है। कानून के हाथ जितनी भी ताकत सौंप दी गयी है, वह सब उसके दमन में काम में लायी जा सकती है। राज्य को उससे समर्थन मिल जाता है और दण्ड-यन्त्र को फिर पूरी तौर पर काम में लेने में गुरेज नहीं रह जाता।

राज्य के पास दण्ड की और दमन की यह शक्ति है, तो जनता के पास क्या है? माना जाता है कि जनता के पास उत्पात, उपद्रव का उपाय है, ईंट-पत्थर है, लाठी, बल्लम और हथगोला है, खुली सेना नहीं तो गुरिल्ला छापामार दस्ता तो हो ही सकता है, इत्यादि। इस मान्यता के अधीन राजनीतिक कर्मण्यता अव्यवस्था उत्पन्न कर सकती और राज्य में अराजकता का डर बिठा सकती है।

प्रश्न है कि आखिर जनता क्या करे? वह पिसती ही जाए? भूखी, नंगी ही बनी रहे? अन्याय सहे और सहे, पर चूँ न करे? एक दल कह सकता है कि हम इस निपट जनता के साथ हैं और उन सब दलों को देख लेंगे जो शोषक वर्ग के पिट्ठू और दमदार हैं। अन्याय नहीं सहा जाएगा और हिंसा अगर ऊपर से आ सकती है तो नीचे से भी क्यों नहीं उभारी जा सकती? इसमें किसी बाधा-विघ्न को स्वीकार नहीं करना है और अन्याय को दूर करके ही रहना है।

इस संकल्प को अशुभ नहीं कहा जा सकता। इस पर बधाई भी दी जा सकती है। जो इस प्रकार जीवन को जनहित में आहुत करते हैं, वे निश्चय ही वरेण्य है। मानना होगा कि हर सामाजिक अन्याय में हिंसा गर्भित है। वह अलक्ष्य है। अदृश्य है और स्थापित है। वह हमारी समाज-रचना के तन्त्र में जमी बैठी है। उस हिंसा को उखाड़ना है कि नहीं? या उसको पदस्थ और सुरक्षित ही बने रहने देना है? हम उस हिंसा को सिर्फ इसलिए कि वह स्वीकृत और सूक्ष्म है, बर्दाश्त नहीं करने वाले हैं। यथास्थिति को माने रहना कायरता है। वह कानूनी हिंसा के नीचे झुके रहना है। वह नहीं होगा और हिंसा का अस्त्र अन्यायी के

ही हाथ में रह जाए, यह भी नहीं हो पाएगा। राजा यदि हिंसा की भाषा ही समझता है, तो जनता उस भाषा में बोलेगी और हम सेवक उसके माध्यम होंगे।

इस तर्क में कहीं कोई त्रुटि नहीं है। हत्या को हम अपराध कहते हैं तो सामाजिक अन्याय को भी अपराध ठहराने के लिए हमें तैयार रहना होगा। उस अन्याय के पोषण में राज्य की ओर से, ऊपर से, विहित हिंसा आए तो क्या उसे इसलिए चलने देना चाहिए?

और मार्क्सवादी और माओवादी अपनी जगह अपने को पूरा आत्म समर्पित मान आते हैं। उस आत्म समर्थन को कोई उनसे नहीं छीन सकता। राज्य दोष के लिए वे अराजकता के हामी हो सकते हैं और संविधान की मर्यादाओं को संकल्पपूर्वक तोड़ सकते हैं। हिंसा के नाम पर फिर उन्हें गलत ठहराया जाए तो क्यों?

मैं समझता हूँ, उस सभ्यंता और समाज में, जहाँ सामाजिक अन्याय में गर्भित सूक्ष्म हिंसा की मूल्य के तौर पर प्रतिष्ठा हो, वहाँ ऊपर के वादी दल और जन आकर्षण और अनुगमन का केन्द्र बने बिना नहीं रहेंगे। हिंसा-अहिंसा का तत्त्ववाद कुछ काम न आएगा। नैतिक उपदेश आदि व्यर्थ और अनर्थक होंगे। कोई उस लहर को रोक नहीं सकेगा। न्याय-बुद्धि आदमी की तीव्र हो आयी है और अन्याय किसी ओट में न टिक पाएगा।

लेकिन उस वादी को क्या चेताया जा सकता है कि सामाजिक अन्याय, मानवीय अन्याय के मार्ग से कभी भी दूर होनेवाला नहीं है? दूर होने के नाम पर वह पद्धति और गहरे अन्याय को बिठाकर रहेगी। इतिहास ही यह नहीं बताता, सहज बुद्धि भी बता सकती है।

पर हर अन्याय में अन्यायी के साथ समभागी वह भी है, जो अन्याय सहता है। सहना उस अन्याय में सहभागी होना है। यह सहभाग न रह जाए तो अन्यायी क्या अकेला और व्यर्थ न हो जाएगा? सहने से घबड़ाकर स्वयं अन्याय कर निकलना उपाय नहीं है, निरुपायता की घोषणा है। असंख्य जनता को निरुपाय नहीं माना जा सकता। यदि वह विपुल और असंख्य है तो जनतन्त्र में राज्य उसके वशाधीन है। उसके पास बैलट है। उस बैलट में से उपाय न हो तो असहयोग है, सत्याग्रह है। शस्त्र राज्य का बल है, तो आत्म बल जनता के पास है। उसका भरोसा जनता में जगाया जा सके, तो लाठी-गोले की कहीं आवश्यकता नहीं रह जाती।

जनता उस बल से जो राज्य का है, कभी राज-दोष से पार नहीं पा सकती। संख्या-शस्त्र के उस उपाय से अपने बीच और भी निरंकुश केन्द्रित सत्ता को ही बुलाया जा सकता है। जनता के मनोबल के विकास का वह मार्ग नहीं है।

पर, 'हाय' शब्द है, गाँधी नहीं है, नहीं तो क्यों अहिंसा में से कोई ज्वाला या ज्योति नहीं आ रही है!

[12.4.70]

केन्द्रीकृत सत्ता केवल नैतिक

श्री सी.सी. देसाई को स्वतन्त्र दल की केन्द्रीय समिति ने अलग कर दिया, पर उस दल की गुजरात समिति का उन्हें समर्थन बताया जाता है। दल की राष्ट्रीय नीति इन्दिरा गाँधी की सरकार को अपदस्थ करने की है। दल के गुजराती घटक की नीति इन्दिराजी की काँग्रेस की मदद से वहाँ की सरकार को अपदस्थ करने और सत्ता को स्वयं हाथ में लेने की थी। दोनों में विरोध हुआ और अपदस्थ श्री सी.सी. देसाई को होना पड़ा।

रूस के श्री ब्रेजनेव ने हंगरी के महोत्सव में कहा कि सोशलिज्म के अन्तर्गत राष्ट्रों को अपनी नीति अन्यों से निरपेक्ष बनाने का हक नहीं आता है। चेकोस्लोवाकिया को अपनी यही भूल माननी पड़ी है और परिणाम में पहले नेतृत्व को अपने स्थान और अधिकार से हाथ धोना पड़ा है।

यह समस्या वहीं तक सीमित नहीं है। वह काफी व्याप्त है। केन्द्र और राज्य के परस्पर सम्बन्धों के प्रश्नों ने भारत की राजनीति को भी अस्थिर बना रखा है। राज्य अपने ही हित और स्वार्थ की भाषा में क्यों न सोचे? पर सोचता है तो केन्द्र के लिए समस्या उत्पन्न होती है और भारत की एकता पर दबाव आता है। राज्य सब अपनी-अपनी ओर खींचने लगे तो भारत का हार्द क्या ऐसे विघटित ही न होगा? तब राष्ट्र कहाँ रहेगा? वह राज्यों में बिखर जाएगा और भारत यथार्थता से विलीन होकर कल्पना के लिए भी नहीं रह जाएगा।

यह समस्या बड़े राष्ट्रों ने इस तरह सुलझायी है कि अपने को उन्होंने संगम माना है। युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका, यूनियन ऑफ सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक्स की तरह भारत ने भी अपने को यूनियन का स्वरूप दिया है। इस पद्धति से सुलझन कुछ तो हुई है, लेकिन उलझन पूरी तरह कटी भी नहीं है।

सोवियत रूस तो एक व्यवस्था और एक प्रशासन के अन्तर्गत है, पर उसके आगे भी देशों का अपरिभाषित एक समागम बना है। जो उसका अंग बन गया है, वह देश अपने में पूरा स्वतन्त्र नहीं रह जाएगा। चेकोस्लोवाकिया उसका

उदाहरण है। उस देश के नेतृत्व को रूस की नीति के अनुकूल होना और बदलना पड़ा और जो केवल राष्ट्रीय था, उसे राह से हट जाना हुआ। मालूम होता है कि माने जानेवाले राष्ट्र आत्मनिर्भर होकर नहीं रह सकते हैं। अपनी सम्भावना और सुरक्षा के लिए अमुक बड़ी शक्ति के आसपास अपना गठजोड़ बिठाकर उन्हें टिकना पड़ता है।

ये दो वृत्तियाँ हैं : केन्द्रीयकरण और दूसरी, विकेन्द्रीकरण। इन दोनों वृत्तियों के सन्तुलन में से हमें चलना पड़ रहा है।

बड़ी राजनीति को छोड़िए। आसपास के किसी सम्मिलित घटक को ले लीजिए। परिवार को लीजिए या उद्योग व्यवसाय के अमुक कारखाने को ले लीजिए। सदस्य और कर्मचारी अनेक हैं, पर सत्ता का अधिष्ठान एक है। इस सदस्यता और सत्ता में खींचतान ही रहती है। सम्मिलित परिवार की संस्था तो इस दबाव के नीचे टूट-सी ही गयी है। उद्योग-व्यवसाय के ढाँचे में तेजी से बदलाव आ रहा है। कारखाने की व्यवस्था में पूँजी के साथ श्रम का भी प्रतिनिधित्व क्यों न हो? विश्वविद्यालय पर अध्यापक और व्यवस्थापक ही क्यों अधिकारी बनकर रहें? विद्यार्थियों का अधिकार क्यों न स्वीकृत हो? पढ़नेवाले का भी इस निर्णय में क्यों हाथ न हो कि वह क्या, कितना, कब और कैसे पढ़ेगा, इत्यादि?

पहले एक कर्त्तव्य की दृष्टि हुआ करती थी। उसके रहते सत्ता का केन्द्र सुरक्षित बन जाता था। अब दृष्टि अधिकार की बन गयी है। इसलिए सत्ता यदि केन्द्रस्थ है तो वह डगमगाई बनी रहती है।

मानव-व्यवस्था अपने एक भीतरी तर्क से केन्द्रीयकरण की ओर बढ़ी जा रही है। ज्ञान-विज्ञान इसमें सहायक है। संचरण द्रुत हो गया है। परस्पर का आतंक दूर होता जा रहा है। दीखने लगा है कि राजा भी वही आदमी है, जो रंक है। समानता की माँग उत्कट हो आयी है। पर व्यवस्था असमानता पैदा करके चलती है। संकट इस बात का है कि वह व्यवस्था केन्द्रीयकरण की ओर जाती है, तो दूसरी ओर यह ज्ञान भी आम बनता जा रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने में केन्द्र है। इसलिए वह अधीन न होगा, स्वतन्त्र होगा।

आदर्शवादी कुछ हैं, जो इसके समक्ष विकेन्द्रीकरण की आवाज उठाते हैं। गाँधीवादी उन्हीं में से हैं। पर ग्राम के वाद का जो भी कुछ बन रहा हो, आबाद शहर हो रहे हैं।

आदर्श अतियों में रहता है। उसे इस ओर या उस छोर पर बिठाया जा सकता है। पर जीवन मध्यवर्ती है और मार्ग कुछ वही हो सकता है कि जिसमें मानव व्यक्ति स्वयं में भी सत्ता अनुभव करे और विश्व में भी किसी व्याप्त सत्ता और व्यवस्था का अनुभव हो।

रूस और अमेरिका का प्रभाव राजसत्ता को ही पुष्ट करता है, मानव सत्ता को वह क्षीण बनाता जाता है। राजनीति सब-की-सब उस फेर से मुक्त नहीं है।

क्या इस अवस्था में गाँधी की व्यवस्था को याद किया जा सकता है? इसमें केन्द्रीयकरण है किन्तु नैतिक, विकेन्द्रीकरण और वह कार्मिक?

राजकीय केन्द्रीयकरण सामरिक और कार्मिक होगा तो मनुष्यता का उत्कर्ष इसमें है कि उसका अभिक्रम जगे। उस अभिक्रम और उत्कर्ष के साथ राज्य वही टिकेगा जिसका शरीर प्रागैतिहासिक प्राणियों जैसा भारी-भरकम न होकर मात्र यथावश्यक होगा और उसका अन्तिम बल शस्त्र-सैन्य न होकर लोक-विश्वास मात्र होगा। राज्यों के पास, यदि उन्हें टिकना है तो अपने को हलका और नैतिक बनाते जाने के सिवा दूसरा उपाय नहीं।

[19.4.70]

नक्सलवाद और गाँधी का भय

गाँधी जन्म शताब्दी की तिथि बीत गयी है और समारोहों की धूम कम है। उसमें देश-विदेश की सरकारों का सहयोग रहा है और राजनेताओं ने गाँधी के नाम को ऊँचा मान दिया। जाने कितना प्रचार और अभिनन्दन हुआ। किताबें बनीं, मूर्तियाँ बनीं, प्रदर्शनियाँ हुईं, संगोष्ठियाँ हुईं, और वह सब हुआ जो पैसे से और सत्ता के आसन से किया जा सकता था।

अब इधर कुछ शान्ति थी। गाँधी को सोने दिया जा रहा था। पर नक्सलवादी बन्धुओं ने उससे भी सच्चे समारोह के साथ उस सोये से नाम को जगा दिया है। गाँधी उनके ध्यान-केन्द्र थे और जहाँ उनसे हुआ, गाँधी केन्द्रों को उन्होंने उजाड़ डाला और साहित्य को फूँक डाला। मालूम होता है कि माओ-त्से-तुंग को मन में बिठाने के लिए गाँधी को वहाँ से उखाड़ना जरूरी है। माओ-त्से-तुंग क्रान्ति के प्रतीक हैं, गाँधी यथास्थितिवाद के पोषक हैं। देखिए न, गाँधी शताब्दी ने क्या सिद्ध करके दिखाया? यही तो कि शोषक को उनका आशीर्वाद प्राप्त है और उत्पीड़क उनका कृतज्ञ है। गाँधी की अहिंसा उनको संरक्षण देती है। इसलिए अहिंसा को और उस अहिंसावाद को हम जला डालेंगे। यह पहली और आवश्यक हत्या है, जो हमें करनी है। तभी अवरोध हटेगा और क्रान्ति का मार्ग खुलेगा।

22 वर्ष पहले एक और भाई ने गाँधी को देश के सौभाग्य के उदय के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा माना था और अपनी जान पर खेलकर उसने गाँधी को अपनी गोलियों से भूनकर रख दिया था। गोडसे ने देखा था कि यह आदमी गाँधी, मुस्लिम बिरादरी को राजी रखने में हिन्दू और हिन्दुस्तान का सत्यानाश कर रहा है। गोडसे शहीद हुआ, लेकिन गाँधी हत्या के पुन्य कृत्य को सम्पन्न करके ही रहा।

अब आरोप गम्भीरतर है। बिरादरी, मुस्लिम बिरादरी नहीं है। पूँजीपति बिरादरी है जिसको राजी और रक्षित रखने का अभियोग है। पहला आदमी दायें

से टेकता था, इसलिए गलत था। बायीं तरफ का है इसलिए सही ही हो सकता है।

परिणाम एक है। एक्स्ट्रीम राइट ने गाँधी को खत्म कर दिया। एक्स्ट्रीम लेफ्ट के लिए भी उतना ही जरूरी है कि गाँधी को फिर से खत्म किया जाए। बाईस वर्ष पहले जिसे मारा गया था, वह इन बाईस वर्षों के बाद और भी खतरनाक हो गया है। उसका मरना पहले से भी ज्यादा जरूरी है। पहले की तरह उसको तमंचे से नहीं मारा जा सकता है। इसलिए इस हत्या के लिए भी लगन, पुरुषार्थ, और आदर्शवाद की आवश्यकता है। आइए, माओ की विचार पुस्तक से हम इस आदर्शवाद को प्राप्त करें और गाँधी की हत्या को परिपूर्ण बना दें।

नक्सलवादी भाई के बारे में मैंने सुना है उसके मन में वंचित, शोषित और दलित के लिए गहरा दर्द है। वह जानकार है, और पढ़ा-लिखा है। वह निःस्वार्थ है और बलिदान की भावना से प्रेरित है। उसको देखकर प्यार होता है और प्रशंसा तक हो सकती है। उसकी उभरती वय है और दुनिया की सफलताओं की राह उसके आगे खुली पड़ी है। लेकिन उधर से मुँह मोड़कर क्रान्ति-पथ का वह पथिक बना है। अपना सब उसने स्वाहा कर दिया है। ऐसे व्यक्ति के लिए मन में सराहना न हो, तो क्या हो?

कठिनाई यही है कि गोडसे के लिए भी मन में मेरे सराहना के लिए अवकाश रह जाता है। उसने जिस गाँधी को मारा था, वह आदमी नहीं रह गया था। कल्पना से अपने निकट उसे राक्षस बना लिया गया था। यही कल्पना नक्सलवादी के मानस के साथ खेल-खेल रही हो, तो अचरज नहीं है। मुस्लिम की दुश्मनी गोडसे गाँधी में नहीं देख सके। पूँजीपति की दुश्मनी नक्सलवादी को गाँधी में नहीं दीखती। ये दुश्मनियाँ उनके लिए सच्चाई के सबूत के लिए जरूरी हैं। इसलिए अगर नक्सलवादी गाँधी को मारते हैं तो मनुष्य को नहीं, दानव को ही मारते हैं। एक भाई ने जो नक्सलाइट नहीं, पद्मश्री हैं, गाँधी को सूअर के बच्चे के रूप में देखा। अपनी-अपनी निगाह की बात ही कहिए।

मानता हूँ, गाँधी शताब्दी ने गाँधी में महात्मा को उबारा है, क्रान्तिकारी को दबाया है। शायद, यह कोरा महात्मा है, जिस पर नक्सलवादी को गुस्सा है। पर क्रान्ति अगर वह चीज है, जिसकी सदा आवश्यकता रहेगी, जो कभी सत्ता पर नहीं होगी, सदा उसके सम्मुख चेतावनी और चुनौती की भाँति रहेगी तो ऐसी सतत और अनवरत क्रान्ति का प्रतीक एक गाँधी ही मिल सकता है।

लेनिन तो कुछ दिन रह पाए। जल्दी शासनासन पर स्टालिन आ गये। क्या स्टालिन में किसी को अब क्रान्ति की आत्मा दीखती है? सिंहासनासीन माओ-त्से-तुंग में भी उसी प्रकार अनवरत क्रान्ति के लक्षण बहुत काल तक नहीं देखे जा सकेंगे।

शायद आदर्श क्रान्तिकारी है वह गाँधी, जिसके खतरे को माओ ने पहचाना है और माओवादी को जिसे दूर करना है।

बिड़ला जैसे अनेक साथी थे। नेहरू, पटेल जैसे अनेक अनुगत थे। फिर क्या था कि गाँधी को नोआखल के देहात में नंगे पाँव घूमना और कच्चे बाँस की झोंपड़ियों में रहना-बसना पड़ा? क्या था कि न सम्पदा, न सत्ता उसकी चाह को छू सकी? क्या था जिसने जिन्दगी-भर गाँधी को युद्ध में और जेल में रखा और जब जय आयी तो राज-पाट से विमुख ही रखा?

हिंसा अस्त्र है, सत्ताधीश का। उस अस्त्र के सहारे जो क्रान्ति चलती है, वह दुर्दान्त सत्ताधीश को ही बीच में बिठाकर शान्त हो सकती है। यह सत्य, जो राजनीतिक मानस को अप्राप्य रहता है, गाँधी को प्रत्यक्ष हो गया था। गाँधी की अहिंसा इसलिए निरे सन्त की नहीं थी, उस जननेता की थी, जो राजनीतिक क्रान्ति पर नहीं रुक सकता, जिसे समूची क्रान्ति से कम कुछ अभीष्ट नहीं है।

काँग्रेसी सत्ता ने उस गाँधी को हमसे ओझल कर दिया। जन्म शताब्दी ने एकदम उसे ऐश्वर्यशाली बना डाला है। क्रान्तिकारी वह गाँधी, जो धधकती आग था, अगर नक्सलवादी बन्धुओं के हत्या-प्रयत्नों से जाग आया और यह अवश्यम्भावी है, तो वे बन्धु हमारे धन्यवाद के पात्र होंगे।

[26.4.70]

क्या चाहिए : राज्य-क्रान्ति या जन-क्रान्ति?

जन-क्रान्ति और राज्य-क्रान्ति—क्या ये दोनों एक अब तक मानी जाती रही हैं? लेकिन एक वह है नहीं। अब जब कि संहार के शस्त्रास्त्र सर्वनाशक बन आये हैं, उन दोनों क्रान्तियों का भेद स्पष्ट हुए बिना नहीं रहनेवाला है।

राज्य-क्रान्ति को ही जन-क्रान्ति समझने की परम्परा चिरकाल से चली आ रही है। अन्तिम क्रान्ति वह हुई जिसे रूस देश ने घटित और सम्पन्न किया। उसके समक्ष माओ-त्से-तुंग के लिए अवसर है कि रूस की साम्यवादी क्रान्ति को निरी राजनीतिक और अपनी चीनी क्रान्ति को मौलिक क्रान्ति बता सकें।

उनका यह विचार और प्रचार फल भी ला रहा है। नक्सलवाद की लहर उसी का परिणाम है। उन बन्धुओं को पूरा विश्वास है कि उनकी है जो क्रान्ति, असली है और सबकी है। दूसरे लोग शास्ता और राजकीय हो सकते हैं। उनका विचार भी वहीं तक रह सकता है। लेकिन माओ-त्से-तुंग का विचार जीवनव्यापी है और वे स्वयं में सतत क्रान्ति तत्त्व के प्रतीक हैं।

चीन में अभी सांस्कृतिक उत्क्रान्ति होकर चुकी है। पहले जो हुआ, उसके परिणामस्वरूप एक वर्ग पार्टी के जरिये सत्ता के स्थानों पर पहुँचकर नरम बन आया था। उनका मानस बुर्जुआ बन गया था और वह आम जनता से टूटकर सुख-भोग की लिप्सा में पड़ गया था। इस धुन ने क्रान्ति को सड़ा दिया था और जरूरत थी कि क्रान्ति के शरीर में से सड़ान को निर्मूल किया जाए। सांस्कृतिक उत्क्रान्ति हुई। माना जाता है कि ये तत्त्व उस शरीर में से समाप्त हुए और वहाँ एक कायाकल्प हुआ।

अच्छे ही समाचार हैं कि चीन में माओ-त्से-तुंग के विचार छा गये हैं। उनको एकच्छत्र स्वीकृति मिली है। वे विचार चीन को ही नहीं सँभालेंगे, दूसरी जगह भी अभीष्ट क्रान्ति का बीजारोपण करेंगे। जहाँ सम्भव हो, वहाँ तो क्रान्ति का बिगुल ही फूँक देंगे।

मार्क्स और लेनिन की परम्परा में सीधे माओ-त्से-तुंग आ जाते हैं। उन्हें

रूस की मार्फत नहीं लेनी पड़ती। परम्परागत साम्यवादी इस पर तुष्ट नहीं हैं और वे अपना रूस से संकेत लेते हैं। किन्तु इधर के उत्साही जन मार्क्स-लेनिन से स्वतन्त्र भी माओ-त्से-तुंग को अपना त्राता मानने को तैयार हैं।

लेकिन यहाँ सावधानी की जरूरत है। यह जरूरत इसलिए है कि अण्वस्त्र बन गये हैं और प्रक्षेपणास्त्र उनसे भी आगे आ गये हैं। अमेरिका सन्नद्ध है, रूस सन्नद्ध है और चीन तेजी से बराबरी में आ रहा है। सबके पास अपना-अपना राष्ट्रवाद है, और उनके प्रभाव के अधीन होनेवाली कोई कार्रवाई, कोई आन्दोलन उन राष्ट्रीय आकांक्षाओं से असंपृक्त नहीं रहनेवाला है।

इसलिए जरूरी है कि जन-क्रान्ति और राज-क्रान्ति के भेद को समझा जाए, नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि जन-हित के नाम पर हम किसी के राज-हित के साधन बन रहे हों।

साधन और उपकरण राजसत्ता के पास हैं। अत्याधुनिक शस्त्रास्त्र और हिंसोपकरणों से सुसज्ज आज की महासत्ताएँ हैं। एक-दो मामूली-से अणु बमों से युद्ध का अन्त आ गया और जापान परास्त हो गया। हिंसा शक्ति, राज शक्ति है, जन शक्ति वह नहीं है। जन-जन के हाथ में बम, बन्दूक, तलवार, भाले, लाठी, कमान आदि पहुँचा दें, तो भी वह जन शक्ति नहीं बनेगी। इसलिए नहीं बनेगी कि सत्ता की ओर से ऊपर से डाला गया एक बम सब स्वाहा कर देगा। किन्तु निश्चित है कि जन शक्ति के ऊपर राज शक्ति नहीं आ सकती। सारी राज-सत्ताएँ जन-विश्वास, जनमत और सहयोग के आधार पर खड़ी हैं। जन पर राज टिका है। जन उतना राज्याश्रित नहीं है।

तो वह क्या शक्ति, है, जिससे जनता राज-सत्ता पर भारी हो आये, उससे प्रबलतर सिद्ध हो? बैलट उसके पास है, बुलेट राज के पास। बैलट को कृत्रिम उपायों से इधर-उधर किया जा सके तो भी उसके पास असहयोग है, सत्याग्रह है। लगता होगा कि वह मार्ग लम्बा है, बुलेट का रास्ता सीधा है। लेकिन बुलेट का रास्ता, रास्ता ही नहीं है। बुलेट को जहाँ से लाना पड़ता है वहाँ राज्याकांक्षा बैठी है। इसलिए उस राह से सधनेवाली क्रान्ति राज्य क्रान्ति ही बनकर रह जाएगी। जन क्रान्ति उसमें से कभी भी फलित न होगी।

क्या जन को अधीन ही रहना है? क्या उसको स्वाधीन, श्रमी और पुरुषार्थी नहीं बनना है? क्या युद्धों में जनता से बारूद का ही काम लिया जाएगा? क्या मनुष्य जाति स्वयं अपना भाग्य निर्णय करनेवाली न होगी? क्या राष्ट्रों के बीच होड़ और युद्ध ही रहेंगे? सहयोग और सद्भाव न होगा? यदि ऐसा होना आवश्यक है तो राज क्रान्ति की धारणा से जन-क्रान्ति को अलग करना और उसके लिए तदनुकूल उपायों का अवलम्बन करना आवश्यक होगा।

गाँधीवाले, अहिंसावाले, नपुंसक सिद्ध हुए हैं। इतने मात्र से जन-क्रान्ति को हिंस्र मार्ग पर ले जाने की कोशिश पराक्रम से ज्यादा भूल से भरी है, यह दीखने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

हिंस्र माने जानेवाले क्रान्तिकारी में त्याग है, बलिदान की भावना है। इसके साथ यदि अधैर्य है तो वह भी स्तुत्य है। लेकिन तनिक ठहरकर उसे विचार कर लेना है कि उसे राज क्रान्ति अपेक्षित है कि जन क्रान्ति?

[3.5.70]

शक्ति संघटना में या विचार में ?

दूसरे महायुद्ध के बाद से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हमारे बीच चुपचाप हुआ जा रहा है। दो विश्व युद्ध उत्तप्त और उत्त्कट राष्ट्रों के कारण हुए। दूसरा महायुद्ध विज्ञान के बल पर अधिक लड़ा गया और विज्ञान के अन्तिम आविष्कार से उसकी समाप्ति हुई। अण्वस्त्र आ गया और उसने आगे के लिए युद्ध पर रोक डाल दी। रोक यह अमोघ है और दुनिया को अब अपनी राह बदलनी होगी।

राष्ट्रवादों के नीचे आधार भौगोलिक या जातीय था। देश-प्रेम था। जाति-प्रेम के नाते हम उठते और कट मरने को तैयार हो जाते थे। पर विज्ञान से सीमाएँ टूटी हैं और संचरण खुल गया है। राष्ट्र अथवा जाति से किसी बड़े आधार की अब आवश्यकता हो आयी है जिसको लेकर समूह जुटे और जूझे।

जाति और राष्ट्र जो आधार देते थे, वह तो भी स्थूल था। उसमें उतना अवकाश न था। विकास स्थूल से सूक्ष्म की ओर है और राष्ट्र मानो विस्तृत होकर भौगोलिक से अब वैचारिक बना जा रहा है।

ब्रेजनेव महोदय ने जिस पर बल दिया और जिसकी घोषणा अभी की है, वह 'सोशलिस्ट यूनिटी' है। रूस या सोवियत पीछे रह गया है। 'सोशलिस्ट यूनिटी' प्रथम होकर सामने आ गया है।

रूस से दूसरी शक्ति है—चीन। लेकिन महाशक्ति के रूप में भौगोलिक चीन सामने नहीं आता, सामने आता है माओवाद। शक्ति जैसे चीन देश के विस्तृत भूखण्ड की नहीं, अपार जनसंख्या की भी नहीं, बल्कि माओ के विचार की है।

सोवियत शक्ति कम्युनिज्म, लेनिनिज्म; चीनी शक्ति माओइज्म; तीसरी शक्ति, जिसको अमेरिका कहा जाए, यदि आज के दिन कुछ उन्नीस सिद्ध हो रही है तो इसलिए कि उसे किसी इज्म के साथ जोड़ा नहीं जा सकता। कैपिटलिज्म अपने में कोई 'आइडियोलॉजी' नहीं है; अर्थात अमेरिकी शक्ति आज के जमाने में शक्ति से अधिक प्रति-शक्ति है, जैसे पहले उसके हाथ में नहीं रह गयी है। कम्बोडिया में जो उसने बड़ा मानकर कदम उठाया, उसने दुनिया में शोर बरपा

कर दिया है, मानो उस रवैये में शक्ति नहीं, जिद और खीज का ही प्रदर्शन हो! और शक्ति वास्तव में उस वीएतकांग के पास हो, जिसमें विचार की प्रेरणा और बलिदान की भावना है!

बंगाल में ही नहीं, नक्सलवादी प्रवृत्ति दूर-पास, इधर-उधर भी दीखती है। बंगाल के वे तरुण क्या बंगाली नहीं हैं? क्या वे भारतीय भी नहीं हैं? लेकिन उनके हाथ में माओ के विचार की पोथी है, बंगाल और भारत उनके नीचे रह गये हैं, ऊपर विचार आ गया है और कोई देश-प्रेम अथवा जाति-प्रेम उन्हें उनकी क्रान्ति से अब पीछे नहीं खींच सकता। दूसरे साम्यवादियों के पास अपने साम्यवाद है, और उस सहारे वह भी अनायास राष्ट्र और राष्ट्रीयता से मुक्ति पा जाते हैं।

देश में शासन आज काँग्रेस या नयी काँग्रेस का है। उसका मध्य पन्थ है और किसी विचार की पूँजी उसके पास नहीं है। समाज जैसा वाद, जो अन्त में भाववाद ही है, मान-न-मान उसका माना जा सकता है। यदि अगले चुनाव में काँग्रेस जीत गयी तो इसलिए जीती रह जाएगी कि वादों के तुमुल में भारत कुछ निश्चय नहीं कर पाया है। गाँधीवाद काँग्रेस से एकदम छूट गया है। अगर्चे दुहाई उसकी अब तक नहीं छोड़ी गयी है। उस वाद पर माओवादी का ध्यान गया है और सम्भव हो सकता है कि उस कारण गाँधीवाद की राख में बचा स्फुलिंग हो तो चेत आये।

जनसंघ राष्ट्र के राजनीतिक क्षेत्र में एक जीता-जागता दल है और उसे आर. एस. एस. का बल है। संघ का वाद शुद्ध राष्ट्रवाद बताया जाता है। उस राष्ट्रवाद के जोर पर ही माओ और मार्क्स-लेनिन के विचारवाद से मोर्चा लेने की उसने ठानी है।

पर आज के व्यूह में भारत को टिकना और जीना है तो जातीय अथवा भौगोलिक से गहरे और समग्र विचार की प्रेरणा उसके लिए आवश्यक है। उसके लिए स्वप्न चाहिए और भावी के स्वप्न में से उत्पन्न निर्माण की ओर बलिदान की भावना चाहिए। उसके अभाव में कोई राजनीतिक जोड़-तोड़ काम न आएगी। कोई बन्दूक, पुलिस, फौज विचार की लहर को रोक न पाएगी। राजनीति के चक्र-व्यूह में फँसे नेता लोग यह नहीं देख पाते तो उन्हें क्या कहा जाए! पर अत्यन्त स्पष्ट है कि देश के पास अपनी नीति और अपना विचार हो तभी पिछलग्गू होने से वह बचा रह सकता है।

गाँधी इस देश का था। उसके विचार की सम्भावना ने जगत के गम्भीर मनीषियों को चमत्कृत कर दिया। लगता है, माओ-त्से-तुंग भी उस पर हैरान है। माओवादियों की गतिविधि इसका प्रमाण है। गाँधीवाद राजनीति से बाहर है और विनोबा की शायद इसी में शोभा है। लेकिन उस विचार में ही सम्भावना है कि

देश को बल दे और आयातित विचारधारा को परावर्त कर दे। उन सम्भावनाओं को कौन जगाएगा? विनोबा को तो सन्त रहने देना चाहिए। तो क्या नयी काँग्रेस उसे जगाएगी? या पुरानी काँग्रेस? या जनसंघ? या एस. एस. पी.? या स्वतन्त्र?

जो हो, स्पष्ट है कि आज के जगत में वैचारिक पृष्ठबल के बिना अपनी चुनौती के समक्ष सब जोड़-तोड़ और कर-धर निरी व्यर्थ और निष्फल ही रह जानेवाली है।

[10.5.70]

आतंकवाद या कि जनवाद?

एक नक्सलवादी नेता ने बड़े पते की बात कहने में एक गहरा शब्द हमें दे दिया है। उन्होंने कहा है, 'सफेद सरकारी आतंक का हम मुकाबला करेंगे।'

तो आतंक एक सफेद भी है?

इस सफेद आतंक का मुकाबला जिससे होगा, वह शायद लाल आतंक है। आतंक का सामना आतंक से ही हो सकेगा। अगर ऊपर से आनेवाला अपने को वैध कहता और सफेद माना जाता है तो इतने से उस आतंक से दब नहीं जाना है, उसे सह नहीं लेना है, बल्कि उसका परदाफाश करके रख देना है। वैधता ओढ़कर आनेवाला अत्याचार सभ्य और शिष्ट माना जाता है। अन्यायी ही विभु और प्रभु है तो कापुरुषता है इस सबको भोगते और भुगतते जाना। सभ्य वर्ग के दम्भ को तोड़ देना होगा। बता देना होगा कि आज जो धन और धरती से हीन बना है, वही है जो अधिकारी है। धरती उसकी है जो जोतता-बोता है। धन उसका है जो मेहनत करता और पसीना बहाता है, बाकी जाल है। इस जाल को उधेड़ फेंकना है।

इस धुली, साफ, सफेद, संगठित शोषण, अन्याय और हिंसा ने अपने पक्षधर के रूप में गाँधी को खड़ा किया। गाँधी बेचारा भावुक था, आदर्शवादी भी रहा हो सकता है। लेकिन धनी वर्ग के हित के पोषण में उसकी अहिंसा काम आयी। उसका सन्तपन और महात्मापन ढाल बना, जिसने अन्याय और अन्यायी को रक्षण दिया। यह गाँधीवाद है, गाँधी की अहिंसा है, जो इस साफ-सफेद रंग पर रीझकर उस सशस्त्र वैधानिक हिंसा को उखड़ने नहीं देती है, इसलिए पहले हम इस गाँधीवाद के धोखे और जाल को उजाड़ेंगे। जी नहीं, बता देना होगा दर्पी और निरंकुश शासक को कि विधान और वैधानिकता के नाम पर पुलिस की लाठी और फौजी की गोली के आतंक से तरुण शक्ति चुप होकर बैठ जानेवाली नहीं है। अगर एक आतंक की भाषा ही उसे समझ आती है तो लीजिए, उस भाषा में हम तरुण बात करने को तैयार हैं। हमारे जवाब की भाषा है, यह लाल आतंक। लाल वह है इसलिए कि उस पर मुलम्मा नहीं है। उस पर सफेदी की कोई लीपा-

पोती नहीं है। होगा कोई तुम्हारा बनाया हुआ संविधान जिसका तुम्हें समर्थन हो। हमारे पास करोड़ों-करोड़ सर्वहारा जन की व्यथा और वेदना की प्रेरणा है। इस अर्थ में कि हम मरने से नहीं डरते हैं और इस अर्थ में भी कि मारने से नहीं डरते हैं। जीना तुमने महँगा और मोहाल कर दिया है। इसलिए और भी हर कोई उस बेकार जीने से चिपटा रहना चाहता है। यही डर का हथियार है, जिससे तुम्हारी बन रही है और तनखा देकर तुम लोगों से लोगों को मरवा पाते हो। पर डर आगे नहीं चलेगा। सफेद आतंक सावधान हो जाए कि लाल सामने को उद्यत है।

लाल आतंक के इस बलिदानी विश्वासी को शायद कुछ कहा नहीं जा सकता। वह अपने से इतना मरा हो सकता है कि सुनने तक के लिए खाली न हो। उसके पास आदेश है, और कार्यक्रम है और पोथी है। उसके सामने लक्ष्य है और गाँधी के चित्र से अब लक्ष्य और भी केन्द्रित हो गया है। मन में माओ और निशाने पर गाँधी।

मैं मानता हूँ, निशाना ठीक चुना गया है। जिसे अपना राज चाहना है, उसे गाँधी को आसपास भी नहीं रहने देना चाहिए। राज-क्रान्ति सचमुच गाँधी की नहीं है। क्रान्ति गाँधी की वह है जिसकी चुनौती हर राजा को रहेगी। राज-क्रान्ति की भाषा में जीने और सोचनेवालों के लिए गाँधी से बड़ा खतरा नहीं हो सकता। जन-क्रान्ति और जीवन-क्रान्ति से कम जो भी है, उससे गाँधी का वास्ता नहीं है। इससे हर राजवादी को गाँधी का भूत सता सकता है।

काँग्रेसी-राज और गाँधीवादी संस्थाओं से गाँधी दब भले ही गया हो, लेकिन आगाह रहना चाहिए कि अपने-अपने कामों से लगे करोड़ों-करोड़ जन निहत्थे हैं। वे जग आना चाहते हैं। उन्हें संकल्प चाहिए। उन्हें अपना भाग्य अपने हाथ में चाहिए। भारत उनका है, उन्हें उसको बनाना है। नाना मतवादों और आतंकवादों की चक्की में उन्हें पिसते ही नहीं रहना है। यह क्या है सफेद आतंक और लाल आतंक? और लाल में फिर कई लाल हैं। कोई गहरा लाल है, कोई कम गहरा। दोनों ये एक-दूसरे को अपने आतंक का शिकार बनाते सुने जाते हैं। साम्यवादी एम., साम्यवादी एम.एल. और बचे कोरे साम्यवादी। तीनों ही अपने आतंक के सिद्धान्त को एक-दूसरे के सिरों पर तोड़ते दीखें तो अन्त में उसका क्या होगा?

मानना होगा कि सिर पर सफेद आतंक है, पर हमारे मत समर्थन से और सहयोग से है। सहयोग नहीं रहता है तो आज वह ढह जाता है। जनतन्त्र की यही शक्ति है। अविश्वास इस शक्ति का वही करेगा जो जाने-अनजाने राजतन्त्र अपना चाहता होगा। इस राजलिप्सु, राजनीतिक और राजतन्त्रीय मानस की बरगलाहट से जनता को क्या कभी मुक्ति मिलेगी ही नहीं?

[17.5.70]

साम्प्रदायिक उपद्रव और अन्तरदेशीय सन्दर्भ

खबर है कि भिवण्डी और दूसरी जगह अब शान्ति है। धन्यवाद दीजिए पुलिस की कार्यवाही को। लेकिन अगर साम्प्रदायिक उपद्रव की लपटें जान-माल को स्वाहा करने के लिए ऊपर नहीं दीखती हैं तो यह न समझ लीजिए कि ज्वाला सतह के नीचे से समाप्त हो गयी है!

वह ज्वाला है और रहनेवाली है। उसके कई कारण गहरे हैं। इस गहराई पर भी व्याधि का उपचार करने की कोशिश की जा रही है और श्रीमती इन्दिरा गाँधी अपनी इण्टीग्रेशन कौंसिल की प्रवृत्तियों को चेताना चाहती हैं। अब वे आवश्यक नहीं समझतीं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में दबी जबान से बोलें। लेकिन राजनीति के तल से किया गया प्रयत्न क्या फल लाएगा, यह देखना है। मुझे नहीं लगता कि वह काफी गहरा जाता या जा सकता है।

वर्तमान राजनीतिक के पास उपाय धर्म-निरपेक्षता है। आधुनिकों का ऐसा काफी बड़ा वर्ग है जिसका हिन्दू-मुस्लिम जैसे शब्दों से कोई लगाव नहीं है। उसे न मस्जिद से लेना है और न मन्दिर को देना। वह सम्प्रदाय से अतीत है। उसे तरस आता है उस हिन्दू पर जो हिन्दू शब्द में कोई आन रखता है। उसी तरह वह उस मुस्लिम को जाहिल समझता है जो इस्लाम पर जान देता है। यह है वह धर्म-निरपेक्ष असाम्प्रदायिक आदमी जो साम्प्रदायिक आवेशों का इलाज अपने हाथ में मानता है। यह न हिन्दू है, न मुस्लिम है, सिर्फ आधुनिक और राजनीतिक है। मैं कहना चाहता हूँ कि इस आदमी के पास से समस्या का समाधान नहीं आएगा, यह तीसरा और असंगत आदमी है। इसकी जड़ें नहीं हैं और इसके पास अहम्मन्यता और उपदेशकता के अतिरिक्त कोई साधन नहीं है।

जिन्ना साहब शायद ऐसे ही मुसलमान थे। नमाज, कुरान से उन्हें कम वास्ता था। नेहरू 'पण्डित' थे, पर तटस्थ थे। गाँधी की तरह के हिन्दू बनने में विश्वास न था। मैं मानता हूँ कि जिन्ना-नेहरू के उपलक्ष्य से भारत में उतनी ही मात्रा में साम्प्रदायिकता पनपी जितनी मात्रा में उनके व्यक्तित्व राजनीतिक थे और धार्मिक

न थे; अर्थात् साम्प्रदायिकता का इलाज किसी मानी गयी राष्ट्रीयता में नहीं है। उसका सच्चा और गहरा इलाज मनुष्य की अन्तरंग धार्मिकता में से ही आ सकता है।

उस उपाय का अवसर नहीं मिला है। गाँधी ने कहा कि हिन्दू सच्चा हिन्दू बने, मुसलमान सच्चा मुसलमान। इसमें से दोनों सच्चे नागरिक और सच्चे इंसान बन निकलेंगे। उन्होंने किसी उदारता, राष्ट्रीयता, विश्व बन्धुत्व के नाम पर अपने हिन्दुत्व को नकारा नहीं, बल्कि बढ़कर उन्होंने अपने को वैष्णव सनातनी हिन्दू घोषित करने में संकोच नहीं किया। यह भूमिका थी जहाँ से सांस्कृतिक राष्ट्रीय एकात्मकता फलित हो सकती थी। पर गाँधी के सिर के ऊपर से नेहरू आदि ने जिन्ना के चाहे विभाजन को स्वीकार कर लिया और अमुक साम्प्रदायिकता पर राष्ट्रीयता की मुहर लग गयी। इस्लामी राष्ट्रीयता के नाम पर पाकिस्तान का निर्माण हुआ और हिन्दू-मुस्लिम समस्या अब इस घटना से कभी छुटकारा नहीं पा सकती।

काँग्रेस जनसंघ और आर. एस. एस. की ओर उँगली उठाकर अपनी धर्म-निरपेक्षता को सुरक्षित मान सकती है, पर इतिहास मरता नहीं है और ऐतिहासिक तथ्य है यह कि राजनीतिक लक्ष्य के उपलक्ष्य में काँग्रेस ने ही साम्प्रदायिकता को राष्ट्रीय तल पर स्वीकार्य और अनिवार्य बना दिया है। अब जब उसके मुँह में अल्पमत, बहुमत की भाषा है, तो मुस्लिम राष्ट्रीयता के उत्तर में हिन्दू राष्ट्रीयता को जन्म लेना ही नहीं पड़ जाएगा? वैसा हुआ है और होता है तो काँग्रेस के पास आरोप, अभियोग लगाने का कोई अवसर नहीं है।

हिन्दू शब्द के प्रति प्यार और मान जगाने में क्या आर. एस. एस. ने कोई पाप किया है? मैं समझता हूँ कि मुस्लिम शब्द उतना ही आदरणीय होना चाहिए जितना हिन्दू। हमारी नागरिकता इस आदर-भाव पर ही पनप सकती है। सम्प्रदायों के नाम पर इन दोनों शब्दों के प्रति अगर धर्म-निरपेक्षता अनादर उत्पन्न करती है तो वह कौड़ी काम की नहीं रह जाती।

साम्प्रदायिक प्रश्न इस तरह राजनीतिक नहीं है। वह अन्तरराष्ट्रीय है, इसलिए सांस्कृतिक और मानवीय है। केवल भारत के सन्दर्भ में उसका हल ढूँढ़ लेना असम्भव है। पाकिस्तान का सन्दर्भ उससे कटकर अलग नहीं जा सकता। राजनीति अधूरी और अपंग है और हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की राजनीतियाँ एक-दूसरे के सामने असमर्थ हैं। कोई वह आवाज और निगाह ही काम दे सकती है जो सियासत से ऊँची हो और हिन्दुस्तान के साथ पाकिस्तान को भी अपने हिसाब में ले सके। हिन्दुस्तान में मुस्लिम का स्थान उतना ही सुरक्षित और अनिवार्य होगा जितना पाकिस्तान में हिन्दू का। उस बड़े सन्दर्भ में लिये बिना इस प्रश्न

का स्थायी समाधान कहीं नहीं है। कारण, समस्या राजनीति की है, समाधन धर्म-नीति में है।

क्या राजनीति से निरपेक्ष लोक-नीति के तल पर दोनों देशों के मानव-तत्त्वों का ऐसा कोई सम्मेलन बुलाया जा सकता है जो इस प्रश्न को मानवीय तल पर ले और मार्गदर्शन करे? काश, कि राजनीति से ऊँचा कोई व्यक्तित्व होता, कोई आवाज होती...!

[24.5.70]

क्या ललकार में हल है?

काँग्रेस (नयी) के देश-भर के सब महारथी गण मिले और तय किया कि साम्प्रदायिकता को प्राणपण से लड़ना होगा, सरकार की मशीन पूरी काम में लायी जाएगी। उसके विष के दाँत को तोड़कर रहना होगा।

सुझाव आया कि जनसंघ को गैर-कूननी करार दे दिया जाए। गनीमत है कि वह नहीं हुआ और कहा गया कि ऐसे उसे खामख्वाह गौरव मिलेगा। निश्चय हुआ कि राजनीति के क्षेत्र में उससे भुगतना होगा और धर्म-निरपेक्षता के दृष्टिकोण को इस ढंग से प्रचारित और प्रतिष्ठित करना होगा कि सम्प्रदायवाद की जड़ें लोगों के मनों से खत्म हो जाएँ और राष्ट्र को सच्ची एकता प्राप्त हो।

प्रयोजन शुभ और नैतिक है। संकल्प की प्रेरणा और उसे पूरा करने की विधि राजनीतिक हो जाती है। राजनीति में से किस मात्रा में वह नैतिक परिणाम फलित होता है, यह देखना है। साधन और साध्य की एकता का सूत्र गाँधी ने दिया था और गाँधी के साथ शायद वह गायब भी हो गया है। साधनों पर अटके वह राजनीति ही क्या हुई?

अर्थात खुलकर उस काँग्रेस और जनसंघ में अब मुठभेड़ होगी। वामपक्ष का बल काँग्रेस के साथ होगा। प्रतिवाद में दूसरे पक्ष जनसंघ से गठजोड़ करें, यह असम्भव नहीं है। यों स्थिति ध्रुवीकरण की ओर बढ़ सकती है। उसमें से कुछ राजनीतिक स्पष्टता उभरे, यह सम्भव है। लेकिन क्या उसमें से साम्प्रदायिकता का उपचार आ सकेगा?

मैं मानता हूँ कि यह प्रश्न केवल राजनीतिक नहीं है। उसकी जड़ें गहरी जाती हैं। वह प्रश्न सांस्कृतिक है और विग्रह-संघर्ष के राजनीतिक उपायों से इसका हल सम्भव नहीं बन सकता है।

हिन्दू और मुस्लिम के बीच से हटाकर अगर शक और नफरत को हम दो राजनीतिक दलों के बीच में बो देते हैं तो इतने मात्र से हिन्दू-मुस्लिम नासमझी दूर हो जाती है, यह समझना मन को बहलाना है। हवा में से संशय और घृणा

को दूर करना है, यहाँ आपस की रवादारी पैदा करना है, एक-दूसरे को निबाहना सीखना है। वह जमीन है जहाँ से जनसंघ को वास्तविकता और क्षमता मिल सकती है। काँग्रेस का निर्णय का रुख इस ओर नहीं है। वह राजनीतिक मतावेशों को उद्दीप्त करके आपसी विरोध और विग्रह की भावना को तीव्र करने की दिशा में है। देश का राजनीतिक तापमान अभी ज्वर की अवस्था में है। काँग्रेसी इलाज उस तापमान को घटाएगा नहीं, और ऊँचा कर देगा। हिन्दू-मुस्लिम जनता का हित राजनीतिक दलों की आपसी लड़ाई से सधेगा नहीं और घपले में पड़ जाएगा।

दंगे का इलाज दण्ड है और प्रशासन पर वह कर्तव्य और दायित्व आता है। उस दायित्व की पूर्ति में प्रशासन अधिक तत्पर और चौकन्ना हो सकता है। साम्प्रदायिक के अतिरिक्त शासन के पास निबटने को दूसरा मोर्चा भी है। हिंसापन्थी क्रान्तिवाद माओ के झण्डे को लेकर पर्याप्त सचेष्ट है। प्रशासन को उसे भी भुगतना है। उसके काम को क्या राजनीतिक जन और बढ़ा देना चाहते हैं? दलीय युद्ध की भाषा सिवा इसके क्या करती है?

लेकिन शायद प्रश्न है—दलीय नहीं, वैचारिक युद्ध का। काँग्रेस उसी के लिए कटिबद्ध होती दीखती है। उस मोर्चे पर वह अब जगेगी और जूझेगी। इस प्रण में अपने-आपमें कोई दोष नहीं है। लेकिन अपने किये को अनकिया कैसे कर पाएगी—क्या पाकिस्तानी विभाजन उसका अपना किया-धरा नहीं है? क्या एक मुस्लिम विचार किये बिना रह सकता है कि वहाँ वह प्रथम नागरिक है? क्या वैसी प्रथमता मुस्लिम होने मात्र से किसी नागरिक को इस भारत में मिल सकती है? अल्प मत के दावे से क्या वह चीज हाथ आ सकती है?

अल्प मत के संरक्षण के नाम पर मुस्लिम बिरादरी को अगर सरकार की ओर ही देखना और ताकना सिखाया जाएगा तो क्या बहुमत के साथ उसकी एकात्मता बढ़ेगी?

साम्प्रदायिक प्रश्न अवसर दे सकता था कि जनसंघ से मालूम किया जाए कि हिन्दू भावनाएँ क्या हैं? हर जनसंघी नेता ने दंगे के दायित्व को अपने से नकारा है। इसी पर कीलित करके क्या जनसंघ को प्रश्न के हल में सहयोगी नहीं बनाया जा सकता था? 'हिन्दू' शब्द और भाव को यह मौका देकर कि वह 'मुस्लिम' शब्द और भाव से विरोधी है, क्या काँग्रेस अनजाने उनके बीच के पार्थक्य और दुर्भाव को बढ़ावा ही नहीं दे जाती?

दलीय युद्ध शुद्ध वैचारिक होगा ही नहीं, राजनीतिक होगा। अभी देश काफी क्षुब्ध है। शासनस्थ काँग्रेस के इन पैतरों से उत्ताप और बढ़ेगा। सन् '72 अभी दूर है। भारत को गरिमा मिली थी कि इतने बड़े तीन आम चुनाव देश में शान्तिपूर्वक हो गये। शक्ति के हस्तान्तरण में भी कुछ दुर्घट नहीं घटा। लेकिन '72 का क्या

ठिकाना? कौन जाने वहाँ तक पहुँचने में क्या न घट आये!

हिन्दू और मुस्लिम दोनों में से कोई शब्द कट नहीं सकता। दोनों को आमने-सामने मुकाबले में रखकर चलनेवाली राजनीति अंग्रेज की दी हुई है और झूठी है। अंग्रेज में उन दोनों के लिए मान न था। काँग्रेसी राजनीतिक, आशा है, उस अंग्रेजी मनोवृत्ति से बचेगा और अपने में मुस्लिम के साथ हिन्दू भावना की रक्षा के प्रति भी अपना दायित्व मानेगा। परस्पर के इस आदर-भाव में से ही अगर निकले तो सवाल का हल निकल सकता है। ललकार में कोई हल नहीं है।

[31.5.70]

क्रान्ति-प्रतीक कौन : सत्ताधीश माओ या फकीर गाँधी?

नयी काँग्रेस समाजवाद के नाम पर अलग हुई और मजबूत बनी। अब उसी शब्द पर उसमें दरार पड़ती मालूम होती है।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी को लताड़ देनी पड़ी उन्हीं को जिन पर पहले उन्होंने भरोसा बाँधा। एक ने कहा, "कहाँ है वह समाजवाद जिसका वचन और विश्वास हमने बम्बई में दिया था?"

दूसरे ने कहा, "काँग्रेस के पास स्पष्ट मन नहीं है, मत नहीं है, निश्चित कोई विचारधारा नहीं मालूम होती है। क्या है वह समाजवाद जो इस काँग्रेस का माना जाए?"

तीसरे ने कहा, "समाजवाद दो नहीं हैं, एक है और वही है जो अन्तरराष्ट्रीय है।"

"जी नहीं, हरगिज नहीं," एक अन्य बोले, "समाजवाद देशों के अलग हैं और अपने-अपने हैं। हमारा भी भारतीय समाजवाद होगा।"

मानो समाधान-सा देते हुए प्रधानमन्त्री के निकटस्थ माने जानेवाले एक महानुभाव ने कहा, "हमारा समाजवाद गाँधीवाद से संपृक्त होगा।"

काँग्रेस अध्यक्ष ने बताया कि गलत है यह कि हमारे पास स्पष्टता और निश्चितता नहीं है। एक नहीं, काँग्रेस के दो अधिवेशनों में समाजवाद को भरपूर व्याख्या और रूपरेखा दे दी गयी है, इत्यादि।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने रोष के लपेट में मानो अपने दल का बल व्यक्त करना चाहा और बताया कि अखबारों ने जो तस्वीर दी है, सही नहीं है। अपने आपस की खुली और मुक्त चर्चा प्रेस में नहीं जानी चाहिए थी, पर साफ है कि दल को लेकर उनका मन व्यग्र और खिन्न बना है।

लगता था कि इन्दिराजी का व्यक्तित्व प्रतिस्पर्धा के तल से ऊपर आ गया है। उनसे शनैः-शनैः भारतीय राज प्रकरण को कुछ स्थिरता मिलेगी। वह आशा अब मन्द पड़ रही है और भारत की राजकीय स्थिति चिन्ता पैदा करनेवाली है।

समाजवाद, मैं शुरू से मानता हूँ, वह शब्द नहीं है जो पायेदार हो। दुनिया

में विचारों का तुमुल है और वेग तीखा है। समाजवाद उनके समक्ष कुछ भावात्मक प्रतीत हो आता है। इस समय क्रान्तिवाद की लपटों का जोर है। सिर्फ भारत में ही नहीं, सभी देशों में। समाजवाद उस लहर में टिक नहीं पाएगा। समाजवाद को वैज्ञानिक होकर टिकने के लिए साम्यवाद बनना होगा। कारण, साम्यवाद अब खुलकर एक राज्यवाद बन गया है, राज्यवाद और क्रान्ति के नाम पर अराज्यवाद आमने-सामने आ गया है।

यह अ-राज्य या अराजकवाद पहले स्वप्नदर्शियों का हुआ करता था। वे राज्य नहीं, समाज के प्रति अपना दायित्व मानते थे। समाज में भी राष्ट्र-समाज नहीं, वरन मानव-समाज। इस प्रकार ये आदर्शवादी पुरुष हर राज्य से अनमिल हो जाते और कवि-मनीषी बनने को शेष रह जाते थे।

उलझन खड़ी हो गयी है माओ-त्से-तुंग के कारण। चीन में अभी सांस्कृतिक क्रान्ति हो चुकी है। इसलिए माओ-त्से-तुंग के नाम के लिए सुविधा है कि वह क्रान्ति का प्रतीक बन जाए। पर अन्त में उनको राज्य के प्रतीक के रूप में प्रकट होना ही होगा। तब क्या होगा?

क्रान्ति यदि मात्र राजनीतिक है तो राजतन्त्र को मजबूत बनाने में ही उसकी परिसमाप्ति होती देखी गयी है। क्रान्तियों का इतिहास यही बताता है। राज्य की धुरी पर ठहरा समाज व्यापक नहीं हो सकता, वह देश तक सीमित ही रहेगा। पर ऐतिहासिक विकास की आवश्यकता है कि समूचा मानव-समाज उत्तरोत्तर एक हो। इस साध्य के लिए निरन्तर क्रान्ति चाहिए।

दो प्रवृत्तियों में अब ध्रुवीकरण हो गया दीखता है। एक, जिसको राज्य केन्द्रित व्यवस्था में तृप्ति है। दूसरी, जिसको जीवन मुक्त चाहिए अर्थात् मानव-सम्बन्ध राज्य-संस्था से हित की अपेक्षा से नियमित न हों, वरन् वे हार्दिक और प्रकृत हो।

मैं मानता हूँ कि राजतन्त्र के अधीन मानव भाग्य नहीं आ सकता। उस भाग्य के उदय के लिए क्रान्तिवाद की आवश्यकता रहेगी। किन्तु वह क्रान्ति न हिंस्र हो सकेगी, न राजनीतिक। ऐसी क्रान्ति राज्य को ही कट्टर और जड़ बना जाती है। क्रान्ति असली और अभीष्ट वह होगी जो राज्य पर रुक नहीं जाती। माओ-त्से-तुंग भावी ही नहीं, वर्तमान सत्ताधीश हैं। इसलिए क्रान्ति के प्रतीक गाँधी रह जाते हैं जिनको सत्ता छू नहीं सकती।

समाजवाद काँग्रेस को ताकत दे नहीं सकेगा। गाँधी से ताकत आ सकती है, लेकिन उसमें खतरा है। खतरा यह कि गाँधी के नाम पर सत्ता लेनेवाले को सेवक बनकर दिखाना पड़ेगा। क्या अब भी प्रतीक्षा की जाए कि गाँधी को लेकर भारत दुनिया के सामने खड़ा होगा और एक नये क्रान्तिवाद की झलक दे सकेगा?
[7.6.70]

उपनिवेशवाद गया, पर प्रभाववाद?

कम्बोडिया अमेरिका के पास नहीं है, हजारों मील का फासला है। अमेरिका से सिपाही आये हैं कि वहाँ लड़ेंगे, मारेंगे और मरेंगे। अमेरिका के लिए यह खेल की बात तो नहीं हो सकती कि वह अपने नागरिकों की जानें यों झोंके। घर में इसका विरोध भी कम न था। बहुत कुछ उस विरोध के होते यह बना है कि फौजें शनैः-शनैः वापस जा रही हैं। लेकिन अमेरिका के लिए जरूरी है कि दूर जाकर वहाँ अपने आदमियों की बलि दे। ऐसा क्यों?

लोग कहेंगे और कहते हैं कि यह दखलंदाजी है। फिर भी कुछ है कि अमेरिका बच नहीं सकता। उसे यह कर्तव्य जान पड़ता है। वह मन में ले सकता है कि हम तो अपने जनों को दूसरे के लिए खतरे में डाल रहे हैं। यह तो पुण्य है। इसे पाप जो कहें, वे जानते नहीं हैं। हम शक्तिमान देश होकर अपने सुख-भोग में ही लिप्त कैसे रह सकते हैं? अमेरिका अलग है और दूर-दराज क्या हो रहा है, उस झमेले में न पड़े तो उसका क्या बिगड़ता है? बल्कि तब वह मजे में निश्चिन्त रह सकता है। लेकिन नहीं, हम पर दायित्व है, कर्तव्य है और किसी भय से हम उसके पालन में पीछे रह जाएँ तो हम पर धिक्कार है।

उधर दूसरा प्रबल राज्य रूस है, वह कह सकता है कि दुनिया पास आयी है और राष्ट्र अपने में और अपने लिए नहीं रह सकते। यही चेष्टा चेकोस्लोवाकिया ने की थी। हम उस मूर्खता से उसे बचाने दौड़े तो क्या यह हमारा कर्तव्य ही न था? चेकोस्लोवाकिया के प्रति हमारा दायित्व है। हर जोखिम उठाकर हमें उसे पूरा करना है।

वियतकांग कम्बोडिया में पहुँचा है और बढ़ रहा है और उसके पास चीन के शस्त्रास्त्र हैं। सिंहानूक माओ की शरण में पहुँचे हैं और माओ ने संरक्षण की घोषणा की है।

उपनिवेशवाद खत्म हुआ। फिर यह सब क्या है? यह उससे नयी चीज है। इसका नाम प्रभाववाद है। हम जाकर वहाँ बसते नहीं हैं, वैसी हड़प की कोई आकांक्षा नहीं है। पर व्यवस्था वहाँ चलेगी जो अनुकूल होगी। वह स्वयं

उस देश के हित के लिए आवश्यक है। देशवासी केवल अपने निज के हित को सोच सकते हैं। पर वे बड़े हित के अंग हैं और उस हित-रक्षा के धर्म में हम कैसे चूक सकते हैं?

अंग्रेज यहाँ आया और भारत का सम्राट बनकर रहा। यह उसे धर्मवश करना पड़ा। भारत जैसे पिछड़े हुए देश को सभ्य बनाने का उसका कर्तव्य था।

वह औपनिवेशिक कर्तव्य से अब हट गया है। नये और उससे ऊँचे धर्म की अब सृष्टि हुई है। यह बढ़ा हुआ तरीका है। इसमें खुद को जाकर नहीं बैठाना पड़ता। भेजा हुआ विचार और प्रभाव अपना काम करता रहता है। समय के लिए पीछे फौजी ताकत भी है। लेकिन साधारण तौर पर हमारी प्रभावाधीन व्यवस्था अनुकूल काम करती रहती है।

तो यह प्रभाव क्षेत्र बन रहे हैं और बँट रहे हैं। उनके हिस्सा बाँट में जो दिक्कत होती है, वही कम्बोडिया और वियतनाम के झमेलों में प्रगट होती है।

यह तथ्य नया-सा लगेगा कि कभी सारा कश्मीर कुछ पैसों के एवज में इस हाथ से उस हाथ चला गया था। लाखों-लाख कश्मीरी जीते-जागते आदमी हैं लेकिन ऊपर-ही-ऊपर उनके भाग्य का निबटारा हो गया और नकेल बिककर इससे उसके पास चली गयी।

लेकिन आज भी यह हो रहा है। दुनिया महाशक्तियों की राजनीति की बिसात बन गयी है। बाजी ऊपर खेली जा रही है और देशों के भाग्य उनके हाथ गोटों के मानिन्द हैं।

एक विचार और वाद मास्को से चलता है। माओ की लाल किताब सब कहीं के लिए पेकिंग से रवाना होती हैं। अमेरिका के पास, क्या किया जाए, जिल्द बँधा विचार नहीं है। एवज में डॉलर और सैनिक हैं। उसे उन्हीं से काम लेना पड़ता है। अगर्चे खर्च उसमें कहीं ज्यादा है। परिणाम थोड़ा दीखता है। कारण, विचार कराता है और दूसरों को सहज साधन बना देता है। कम्युनिज्म की सारी विधाओं को यह सुविधा है। अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में विचार के इस आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लाना कठिन है। इसके जरिये पहुँचा प्रभाव फिर स्वयं सक्रिय होता जाता है। डॉलर, टैंक उसके मुकाबले ठहर नहीं सकते। फिर वे सबकी निगाहों में किरकिरा आते हैं। प्रभाववाद की दुनिया में इसलिए सबसे विश्वसनीय शस्त्र किताब है।

माओ की किताब की धूम है, नक्सलवादियों की भी इसलिए धूम है। लेकिन क्या यह मालूम किया जा सकता है कि किताबी मतवादी प्रभाव के अधीन विश्व-व्यवस्था बँटवारे में आदमी का भाग्य कितना उसके अपने हाथ में रह जाएगा और कितना प्रतापी सत्ताधीश की मुट्ठी में जा पहुँचेगा?

[14.6.70]

जापान की उन्नति और धर्म की संगति

मैं जापान घूम रहा था, बहाना समझा जाना चाहिए। असल में मेरा सिर भी वहाँ घूमने लगा था। जापान देश ही विलक्षण है। इधर मिकेनिक्स, उधर मन्दिर। 'एक्सपो' की नुमाइश क्या, एक इन्द्रपुरी थी। कुछ समय पहले जहाँ जंगल था, वहाँ जादू का नगर खड़ा हो गया। जापान के अलावा दूसरा कोई देश ऐसा कर सकता है, इसमें सन्देह है।

इस समय जापान आर्थिक सम्पन्नता के शिखर पर है। उसके निर्यात की निरन्तर बढ़वारी ने अमेरिका तक को घबड़ा दिया है। कारीगरी के कौशल में कोई उसे मात नहीं कर सकता। तोक्यो दुनिया का सबसे बड़ा शहर है, सबसे बड़ा टावर है, जिसके आगे पेरिस का एफिल टावर, जिसे विस्मय माना जाता है, मानो बौना रह जाता है।

तोक्यो की करोड़ से कोई चौदह लाख ऊपर जनसंख्या है। फिर भी शोर नहीं है। गिच-पिच नहीं है। यातायात इतना द्रुत, चहुँमुखी और व्यवस्थित है कि रेल-पेल नहीं हो पाती। चार-पाँच उपरातल्ली मार्ग हैं, जहाँ रेलें और कारें दौड़ती रहती हैं। यह सब है और जापान को इसका गर्व भी हो सकता है। यान्त्रिकी पर उसने प्रभुता प्राप्त की है, पर मशीनी उत्पादन की विधि पश्चिम से इसकी कुछ भिन्न है। मशीन उसे प्रकृति से तोड़ नहीं सकती। न जापानी घर में कोई कृत्रिमता ला सकी है।

जापान का बाजार, तोक्यो का गिंजा आधुनिक-से-आधुनिक है। वैभव का वहाँ भरपूर प्रदर्शन देख लीजिए। बाजार पर पश्चिम की झलक कितनी भी हो, पर घर वही सादा है। जूते बाहर रह जाते हैं। भीतर चटाइयों पर नीचे बैठा जाता है। आडम्बर और टीम-टाम के लिए अवकाश नहीं है। यथावश्यक सुविधा है और यथावश्यक स्थान है। हर घर के साथ उद्यान अनिवार्य है। वहाँ अतिरिक्त और अनावश्यक कुछ नहीं है और बड़े-से-बड़ा आदमी भी मानो घर के कारण बड़ा नहीं दीखता है।

कर्म-कौशल में जापान प्रखर है। छोटा-सा देश, बड़ी शक्तियों में आज उसकी गणना की जा सकती है। वहाँ हर आदमी साक्षर और हर आदमी के पास काम है। तोक्यो में हर सात-आठ आदमी के पीछे एक कार होगी। यही हाल रहा तो जापान कहाँ पहुँचेगा, इसका डर अन्य देशों को होने लगा है।

पर सिर घुमानेवाली बात यह कि कर्म कितना ही हो, धर्म भी वहाँ है। मन्दिर हैं और बड़े-बड़े प्राचीर हैं। लेकिन कुछ हैं जो सजीव हैं और धर्म का प्रभाव लोक-जीवन में नगण्य नहीं है। एक अत्यन्त सम्भ्रान्त बन्धु ने बताया कि उनका पुत्र मार्क्स और लेनिन को पढ़ता है, लेकिन उनके ऊपर बौद्ध धर्म को जानता और मानता है। वामपक्षीय धर्म-विमुख युवक भी हो सकते हैं, लेकिन बहुलता उनकी नहीं है। नयी पीढ़ी में जीवन का ज्वार और उभरा है, लेकिन धर्म से टूटा नहीं है।

एक उच्च पदासीन सज्जन ने कहा कि जापानी अगर आपको इस भरपूरता से श्रमी और उद्यमी मालूम होता है तो सिर्फ भौतिक लाभ नहीं है जो उसे उकसाता है। काफी अंश में परलोक निष्ठा भी इसमें कारण है। यहाँ का ही जीवन उसे बस नहीं है। पुनर्जन्म भी उसके मन में है।

सोचता हूँ, जापान के पास धर्म का यह आधार रहा होता तो वैभव की विपुलता से क्या उसमें अन्य समृद्ध देशों की तरह कुछ उद्भ्रान्तता भी न आ जाती? जीवन वहाँ टूटने न लगता? बीटल और हिप्पी के नमूने उदय में न आ रहते? पर वैसा यदि नहीं हुआ है, जीवन मर्यादित और उद्यमशील है, दृढ़ता के साथ नम्रता भी है, घर की सादगी और व्यवहार की मृदुता है, तो इस कारण कि कर्म धर्म से स्वतन्त्र नहीं हुआ है। जेन मत की वहाँ अधिक मान्यता है। जेन में निराकार ध्यान पर बल है। दीवार से बाहर इंच की दूरी पर उस दीवार के निरे कोरेपन की ओर मुँह करके सैकड़ों जन एक हॉल में इस या उस आदर्श पर ध्यान केन्द्रित नहीं करते बल्कि वह ध्यान सब प्रकार के संकल्प-विकल्प, विचार-विवेक से अपने को रिक्त करने के लिए होता है।

निवृत्ति की यह साधना कैसे प्रवृत्ति की प्रचण्डता को जगाती होगी? मैं मानता था, यह सम्भव है। जापान से आकर मानता हूँ, शक्य से यह अधिक साध्य है। विशेषकर धर्मप्राण भारत के लिए वही उपयुक्त है, मात्र पदार्थवादी विचार और योजना नहीं।

[28.6.70]

समस्याओं की एक समस्या : हिंसा

कई-कई समस्याएँ हैं और काँग्रेसी सरकार उनसे प्राणपण से जूझ भी रही है। यह सच नहीं है कि नक्सलवादियों की तरफ वह रहमदिल है। गिरफ्तारियाँ हो रही हैं और जहाँ-तहाँ उन पर पुलिस की गोलियाँ भी चल रही हैं। खासकर साम्प्रदायिक प्रश्न पर वह बेहद सन्नद्ध है। राष्ट्रीय स्वयंसवेक संघ उसकी निगाह में है और जनसंघ से मानो लड़ाई खुल गयी है। भाषा और राज्यीय सीमाओं के झमेले अब उतने गर्म नहीं हैं। और राजनीति का तुमुल आर्थिक से भी अधिक इन राजनीतिक मामलों को लेकर चेता हुआ है।

पर उन समस्याओं का केन्द्र क्या है ? वह क्या यही नहीं है कि नागरिक जीवन की मर्यादाएँ जिस-तिस नाम पर भंग हो रही हैं और आपा-धापी छायी जा रही है ?

हिन्दू और इस्लाम के अलग धर्म और सम्प्रदाय तक होने से ही तो समस्या बन नहीं जाती ? समस्या बनती है तब, जब उनमें दंगा-फसाद होता है और जान-माल पर बन आती है। दंगे और उत्पात फूटते हैं वैर-विद्वेष की बारूद में रगड़-झगड़ की अमुक घटना से। उसी तरह अगर नक्सलवादी यह कहता है कि बेजमीनों को जमीन मिलनी और ले लेनी चाहिए, वर्तमान स्थिति में गर्भित अन्याय और अत्याचार को समाप्त होना चाहिए, तो इसमें और इतने में भी कोई समस्या का रूप नहीं बन जाता। समस्या बनती है तब जब यह नये आग्रही और क्रान्तिवादी बन्धु कानून को अपने हाथ में ले लेते हैं और मनमानी कर निकलते हैं।

हिन्दुत्व और इस्लाम में कोई दोष नहीं है बल्कि उनके सहारे लोग जीते हैं और आत्म संस्कार और आत्म शुद्धि प्राप्त करते हैं। इसी तरह क्रान्ति के अभिलाषियों की इस स्थापना में कोई दोष नहीं है कि अतिरिक्त और अतिशय जहाँ है, वहाँ नहीं रहना चाहिए। जहाँ न्यूनता और अभाव है, उसे वहाँ बँट जाना चाहिए। मुझे प्रतीत होता है कि हिन्दुत्व का या इस्लाम का या न्यायप्रियता का या समत्वाकांक्षी क्रान्ति का प्रेम अपने-आपमें श्रेयस्कर ही है। इन सबसे लड़ा नहीं जा सकता, उन्हें सराहा ही जा सकता है। और वही करना भी चाहिए। कारण, इन सब प्रेमों से स्वतः कोई समस्या नहीं बनती है, बल्कि सार्वजनिक जीवन में

उन सब समताओं से किंचित् समाधान भी प्राप्त किया जा सकता है।

ये समताएँ समाधान पहुँचाने की जगह समस्याएँ तब खड़ा करती हैं जब वे आपस में वैर-विद्वेष फैलाती हैं और उत्पात-अत्याचार का सहारा लेती हैं।

मुख्य प्रश्न यही है। नागरिक मूल्य की मर्यादा का भंग न कोई धर्म नीति कर सकती है, न कोई न्याय नीति, न ही राजनीति। धर्म के नाम पर या न्यायाकांक्षी-क्रान्ति के नाम पर वह भंग हो, तो उसके शमन और दमन के लिए समाज ने राज्य के पास दण्ड के साधन और उपकरण दिये हैं। सरकार पर ऐसी अवस्था में उन उपकरणों के उपयोग का दायित्व आता है।

पर स्थिति विचित्र है। राज का तन्त्र लोकतन्त्र है अर्थात दल-तन्त्र।

राज के तन्त्र का काम प्रशासन से चल सकता था। पर दल-तन्त्र के लिए अगले चुनाव का ध्यान भी आवश्यक होता है। यह दलगत राजनीति स्वच्छ शासन के आड़े आ जाती है। परिणाम, कि समस्या से जितना जूझा जाता है, उतनी ही वह विकट बनती है।

सरकार (नयी) काँग्रेस की है। अपने दल को चढ़ाना और दूसरे दलों को गिराना, आगामी चुनावों की दृष्टि से उसके लिए आवश्यक ही है। इसलिए साम्प्रदायिक समस्या है तो वह साधन हो सकती है कि जनसंघ को शिकार बनाया जाए और रा. स्व. संघ को लथेड़ डाला जाए। शासन में रहकर काँग्रेस यह मुहिम बड़े औचित्य की भावना के साथ चला सकती है और मान सकती है कि वह समस्या से निपट रही है। पर वास्तव में ऐसे वैर-विरोध का वातावरण उत्पन्न करके वह समस्या को यथार्थ में संकटपूर्ण ही बना रही है। हिन्दू-मुस्लिम या दीन और धनिक से हटकर वैर-विद्वेष को काँग्रेस और संघ के बीच बो देने से क्या समस्या का हल पास आ जाता है? ध्यान रखना कि समस्या धर्मभेद या मतभेद या उन पर खड़ी संस्थाओं, संगठनों की नहीं है। वह उनमें परस्पर वैर-विद्वेषात्मक हिंस्र भाव की है। शासनस्थ काँग्रेस को सोचना चाहिए कि दलीय राजनीति के नाम पर कहीं वह वातावरण में वैर और वैमनस्य को मात्र बढ़ावा ही तो नहीं दे रही है?

राजा पर बड़ी जिम्मेदारी आती है। यथा राजा तथा प्रजा। अगर राज्य स्तर पर वातावरण दलगत स्वार्थ से लिप्त हो तो कहीं कोई त्राण का मार्ग नहीं है। तब शेष सार्वजनिक जीवन में भी अन्धाधुन्ध छा जाता है। यही होता दीख रहा है।

ऐसे समय याद दिलाने की आवश्यकता है कि राजनीति निरंकुश नहीं हो पाएगी। उसको नागरिक जीवन की मान-मर्यादाओं को शिरोधार्य करना होगा। जनतन्त्र का वर्तमान और भविष्य अहिंसा के साथ है। और हर बार याद रखने की आवश्यकता है कि समस्याओं की समस्या है : हिंसा।

[5.7.70]

ध्रुवीकरण शुभ और अशुभ

लेफ्ट और राइट—इन दो शब्दों से राजनीति का बाजार गर्म रखा जाता है। इन्हीं के सहारे राजनीति का द्वन्द्व तीखा और नुकीला बनता है। एक शब्द चालू है—ध्रुवीकरण, यानी लेफ्ट और राइट अब कदम-कदम चलना मुश्किल पा रहे हैं। आगे एक बायीं तरफ चलेगा, दूसरा दायीं तरफ।

जो अब तक दायें-बायें पैरों के सहारे बढ़ता आया था, ध्रुवीकरण उपस्थित होने पर उस आदमी की क्या गति होगी? मेरी समझ में नहीं आता कि उस गति को क्या कहा जा सकता है? दीखता यह है कि दुर्गति होगी। अव्वल तो वह भी नहीं होगी। दायें-बायें के बराबर के खिंचाव में गति ही समाप्त हो जाएगी। इधर-उधर की रस्साकशी में बीच के आदमी को कुछ धक्के-झटके लग आएँ तो यह दूसरी बात है।

क्या आपको अपने दायें-बायें का ध्यान होता है? ध्यान होता है तभी जब कोई अंग अस्वस्थ हो जाता है। जान पड़ता है, राष्ट्र-शरीर में अस्वस्थ्य व्याप गया है। ज्वर का ताप चढ़ा है और उसके अंग-प्रत्यंग में तनाव और फटाव के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। वैधानिक स्तर पर गाली-गलौज और धक्का-मुक्की और विधान के बाहर हत्या-हमले उसी के चिह्न हैं।

डेमोक्रेसी वह चीज है जिस पर अपने सम्बन्ध में भारत गर्व रखता है। माना जाता है कि दुनिया में भारत सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश है। बालिग मताधिकार पर इतने बड़े देश में एक-पर-एक तीन चुनाव हुए और निर्विघ्न हो सके। सत्ताधिकार बदले और तनिक हो-हल्ला नहीं हुआ। इसलिए भारतवर्ष अपने लोकतन्त्र का गौरव मानता है और उसको किसी हाल खोना नहीं चाहता।

लोकतन्त्र का पार्लियामेण्टरी रूप भारत ने अनायास पाया है, और पार्टियाँ एक-दो नहीं, अनेक हैं। काँग्रेस का पिछले चुनाव तक मानो एकच्छत्र राज्य था। गत चुनाव में कई राज्य उसके हाथ से निकल गये और अब तो काँग्रेस खुद फटकर दो टूक हो गयी है। केन्द्र का काँग्रेसी राज अब अल्पमत का भी माना जा सकता

है। अल्प होने पर भी नयी काँग्रेस शासन पर इसलिए है कि उसे कुछ इतर तत्त्वों का सहारा है। वे तत्त्व प्रधानत: लेफ्ट कहे जाते हैं।

लेकिन चलनेवाला न दायें चल पाता है, न वह बायें ही चलता है। दायें-बायें पैरों के सहारे सदा सामने ही चला करता है। दूसरा कुछ सम्भव नहीं है। जिसको काम-से-काम है, वह मध्य में रहेगा और दायें-बायें दोनों अवयव सक्रिय रख सकेगा।

लेकिन राजनीति काम से अधिक बात की चीज हो जाती है। काम में दायें-बायें खत्म हैं क्योंकि दोनों वहाँ एक हैं लेकिन बाद को और विवाद हो तो राजनीतिक दलों को ये पाले पकड़ने ही पड़ते हैं।

यदि सरकार के पास शासन-प्रशासन का ही काम हो तो लेफ्ट-राइट शब्द फालतू हो आते हैं। सच पूछिए तो सरकार वही सच्ची है, जिसका काम इतना भर रहता है। लेकिन अगर उसके पास एकाधिपत्य नहीं है तो सरकार को 'वेलफेयर स्टेट' होने का शौक लग जाता है। इस तरह सरकार का अमला और आडम्बर बढ़ता और दावा फैल जाता है। तब 'आइडियालॉजियों' की उसे जरूरत होती है और लेफ्ट और राइट शब्दों में जान पड़ने लग जाती है।

आज के शब्द सचमुच व्यर्थ नहीं हैं। व्यर्थ इसलिए नहीं हैं कि बातों का, वक्तव्यों का, परस्पर आरोपों का दौर-दौरा है। अपदस्थ काँग्रेस के प्रस्ताव ने पदस्थ काँग्रेस के समक्ष विरोध को एक ओर एकत्रित हो जाने की पुकार उठायी है। सरकार के आगे कुछ हाथ भी इधर-उधर बढ़ाए गये हैं।

बहस-मुबाहसे वाली पार्लियामेण्टरी डेमोक्रेसी के लिए इस सूत्र से आरम्भ होनेवाला ध्रुवीकरण शुभ भी हो सकता था, और हो सकता है। यदि इस प्रकार दो या तीन स्पष्ट दल बन जाएँ तो कुछ काल पार्लियामेण्टरी पद्धति निभायी जा सकती है। पर पार्लियामेण्टरी न मानस बना है, न हवा वैसी है। और दूसरी छिट-पुट उत्पाती प्रवृत्तियों को पीछे छोड़कर भारत भूमि पर एक नक्सल पन्थ उझक आया है। इस हालत में पार्लियामेण्टेरियन दलों का ध्रुवीकरण घातक हो सकता है और देश को गृह युद्ध की दिशा में ढकेल सकता है।

अगर नेताओं में और दलों में जल्द ही राजनीतिक की जगह रचनात्मक मानस निर्माण नहीं हुआ, जिसके लक्षण नहीं हैं, तो आग फैलेगी और सन् '72 के चुनाव में देश टूटता-फूटता दिखाई देगा। उन्हें समय रहते चेतावनी लेनी है। वैधानिकों को अवैध और हिंस्र मार्ग पर चलनेवाले तत्त्वों के निराकरण के लिए समर्थ बने रहना है। यह न हो सका तो दलों की आज की फूट और अनबन जनतन्त्र को बिखेर डालेगी और गृह युद्ध की लपटें लहकती दीखेंगी।

[12.7.70]

राजनीतिक मानस और मानसिक असमंजस

प्रश्न जितने होते, मानवीय भूमिका से खड़े होते हैं, किन्तु उनका उपचार दलगत राजनीति के तल पर ढूँढ़ा जाता है। इसलिए अकसर एक समस्या के निबटाने में दूसरी समस्या अपने बीच पैदा कर ली जाती है।

मालूम होता है कि दूसरा उपाय भी नहीं है। दुनिया एक नहीं है, न मनुष्य एक है। व्यवस्था राष्ट्र-राज्यों में बँटी है और प्रत्येक राष्ट्र अपने पास सार्वभौम सत्ता रखता है। इस तरह कहीं भी कोई मानवीय समस्या खड़ी हो तो वह सत्तात्मक राजनीति के भँवर में जा पड़ती और अधिक ही उलझ आती दीखती है।

भारत में इस समय दो जलते हुए सवाल माने जाते हैं। एक, साम्प्रदायिक उत्पात और दूसरे, नक्सलवादी उपद्रव। नक्सलवादी की जगह माओवादी कहें तो अन्यथा न होगा। नक्सलवाड़ी स्थान तो भारत में है, लेकिन माओ चीन के हैं। इससे यह प्रश्न कुछ अतिरिक्त काँटेदार बन जाता है।

शासन इसलिए है कि किसी भाव पर समाज के वर्गों में हिंसा फूटने न दे और ऐसे अपराधों के दमन के लिए उसको पर्याप्त उपकरण भी विधि और विधान ने सौंपे हुए हैं। जान पड़ता है कि इस दमन के अधिकार को परिस्थिति की विवशता के तले अधिक व्यापक बनाया जाएगा। स्थिति सामान्य नहीं है और अधिकार भी असामान्य होंगे।

यहाँ तक तो बात ठीक है, लेकिन शासन काँग्रेसी है। उस पर भी नव-काँग्रेसी। इस काँगेस को कुछ दिन बाद आम चुनाव में उतरना है और अपनी जीत के लिए भरपूर यत्न करते रहना है। दूसरे दल भी चुनाव के अखाड़े में होंगे, जिनमें जनसंघ को अप्रमुख नहीं कहा जा सकता। सब जानते हैं कि जनसंघ की ताकत रा. स्व. संघ है। उत्पाती और उपद्रवी तत्त्वों को जब भरपूर शक्ति के साथ दबाया और कुचला जाता है तो उसका तर्क समझने में कठिनाई नहीं होती, पर काँग्रेस दल अपनी विचार गोष्ठी में रा. स्व. से. संघ को ही कानूनन अवैध ठहराने

का आदेश अपने शासनाधिकारियों को देता है तो उसमें दलवाद की गन्ध आए बिना नहीं रहती। मुझे नहीं लगता कि इस ढंग से स्थिति सँभलेगी।

बल्कि प्रतीत यह होता है कि सन् '72 के चुनाव कटाकटी के होंगे और जनसंघ उसमें सही-सलामत निकल आए तो बहुत मानिए।

नक्सल पन्थ को वैधानिक दलों में से किसी ओर से प्रश्रय नहीं मिल रहा है, तो भी वह बढ़वारी पर है। सरकारी दमन हुताशन में घी का काम ही देता लगता है। अब तो देखादेखी दक्षिण कम्युनिस्ट और संयुक्त सोशलिस्ट भी बलात् जमीन छीन लेने के पक्ष में अभियान पर उतरे आ रहे हैं।

शासन तो दमन ही जानता है। दमन से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ उड़ जाएगा, नक्सल पन्थ मिट जाएगा, ऐसी आशा वृथा मानी जा सकती है। कारण यह नहीं कि सरकार के पास दमन के साधन कम हैं। पर कारण यह है कि इन दोनों ही वर्गों के पास कुछ है जो बलिदान की प्रेरणा देता है। जहाँ से यह प्रेरणा आती है, वह धरती ही यदि नहीं खिसकेगी तब तक वह वर्ग दमन से शायद और पुष्ट ही होते जाएँगे। नक्सल पन्थ तो ऊपर सतह पर है ही नहीं। हो सकता है कि रा. स्व. संघ भी दमन से सतह के नीचे चला जाए और यदि उसमें कुछ रचनात्मकता हो तो वह भी ध्वंसात्मक बन जाए।

कल की-सी बात मालूम होती है कि हिन्दुस्तान एक था। अब हिन्दुस्तान अलग है और इस्लाम के नाम पर कटकर हिन्दुस्तान के दोनों तरफ पाकिस्तान खड़ा हो गया है। हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न को रा. स्व. संघ के माथे फोड़ना इतिहास से मुकरना होगा। हिन्दू पाकिस्तान में भी है, यद्यपि बराबर कम हो रहा है। मुस्लिम भारत में कितने भी हों, अल्प मत में हैं। मुस्लिम लीग यहाँ हैं और कोई यह नहीं कह सकता कि हिन्दू महासभा जैसी कोई चीज पाकिस्तान में है। सुना जाता है कि पूर्व पाकिस्तान से निर्वासित हिन्दू लगातार यहाँ भागा आ रहा है। भारत के पास इसके सिवा कुछ नहीं है कि इन लोगों को जगह दे और संघ के लिए कहीं जगह न रहने दे।

परिस्थिति की विडम्बना यही है। मानवीय प्रश्न को लेकर राजनीतिक और राजकीय भारत अपनी भौगोलिक और कूटनीतिक सीमा से बाहर नहीं जा सकता। पर जनमानस और जनजीवन उस बन्दिश में नहीं रहता। इसलिए मानव समस्याओं के समाधान के लिए राजकीय मानस अपर्याप्त और ओछा रह जाता है।

विदित है कि विभाजन के बाद वर्धा की समस्त रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं की संगोष्ठी से निबटते ही गाँधी विस्थापितों के प्रश्न को लेकर पाँव पैदल पाकिस्तान में बढ़ जानेवाले थे, पर एक हिन्दू ने वह न होने दिया। हो पाता तो मैं मानता हूँ कि हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न और उसके आगे के अनेक राजनीतिक सवाल

हल हो चुके होते। गाँधी यह इसलिए कर सकते थे कि अपनी इंसानी हैसियत राजनीति की वेदी पर इन्होंने खो नहीं दी थी।

यह कब होगा कि मानवीय समस्याओं को हम मानवीय तल पर लें और राजनीतिक मानस की संकीर्णता से उन्हें घपले में न डालें?

[19.7.70]

लोकतन्त्र का स्थिति मन्त्र : अहिंसा
गति यन्त्र : सत्याग्रह

लोकतन्त्र शब्द आज सभी राजनीतिक दलों के लिए तकियाकलाम बना हुआ है। हर मुँह से उसी की सौगन्ध सुन लीजिए। शायद उसमें गहरा मूल्य हो। पर फिर उन दलों में जानी दुश्मनी क्यों उभारी जा रही है? दाहिने माने जानेवाले दल उसकी ओर देश की रक्षा के लिए विविध होने पर भी एक बनने पर तुले आ रहे हैं। इधर बायें वाले भी इस शर्त पर एकजुट होने का यत्न कर चुके और कर रहे हैं। दायें-बायें पक्षों का होता दिखता यह ध्रुवीकरण जिस लोकतन्त्र की रक्षा, सुरक्षा और प्रतिरक्षा के लिए होगा, वह क्या है? स्वयं उसका ध्रुव क्या है?

चुनाव क्या लोकतन्त्र की ध्रुवता के लिए पर्याप्त है? क्या एक दल के पास दूसरों की अपेक्षा इक्यावन प्रतिशत वोटें ज्यों-त्यों हो गयीं तो लोकतन्त्र हो गया? उसके अभाव में मिल-जुलकर कुछ दलों ने संविद बनाकर वह प्रतिशत बटोर लिया तो उस तन्त्र की सिद्धि हो गयी? इक्यावन के सामने उनन्चास जो बचा रहा, उसके प्रति भी क्या लोकतन्त्र का दायित्व है? क्या उनन्चास रहने के कारण 'व्हिप' की मदद से हाथ उठनेवाले सदन में उसे सदा इक्यावन के आगे पराभूत रहना है? क्या उसे दल बदलुओं को सदा लोभ-लालच देते रहना है?

आवश्यक प्रतीत होता है कि हम उस लक्षण को निर्धारित करें, जिससे तन्त्र को सही तौर पर लोकतन्त्र कहा जा सके। मात्र निर्वाचन को संविधान के शब्दों में रख लेने से उसके आशय की पूर्ति मान लेना अपने को बहका लेना होगा। निर्वाचन के लबादे के भीतर भी छत्रतन्त्रता दुबककर बैठ सकती है और क्रमशः अपने को पुष्ट करती जा सकती है। हम जानते हैं कि आज के जमाने में अर्थ और पद में क्या क्षमता है। उस अर्थ और पद के तुरुप के पत्तों से चुनाव की बाजी को भी क्या आसानी से जीत नहीं लिया जा सकता है?

भारत में निश्चय ही लोकतन्त्र है। उसको विश्व का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक

देश मान लिया जा सकता है। गाँधी का देश लोकतान्त्रिक हो तो यह ठीक ही है। पर हर राजनीतिक दल और व्यक्ति को अपने से पूछना है कि क्या यहाँ लोकतन्त्रता है ? चुनाव है और दल है, सदन है और विधानसभाएँ हैं। और-और भी सब अटरम-सटरम हैं, पर क्या हवा में लोकतन्त्रता है ? क्या यह है कि सत्य अनन्त होने से दूसरे का मत भी मेरी तरह अपनी जगह उतना ही सच हो सकता है ? क्या अर्थ और पद पर जा बैठा व्यक्ति सर्वसहाय और दूसरा असहाय नहीं है ?

अच्छी खासी राजनीतिक शब्दावली है, जिससे राजनीतिक जन अपने को शाबाशी देते और देश के उद्धार का काम करते रहते हैं। नेशनेलाइजेशन, सोशलाइजेशन, डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, इक्वीटी और सोशल जस्टिस वगैरह-वगैरह शब्दों की गूँज से राजनीतिक वातावरण को गरम बनाए रखने में जनता को लगा दिया जाता है कि जरूर बहुत कुछ हो रहा है। इस आशा से चार चुनाव हो गये हैं और सब दल पाँचवें की तैयारियों में हैं। लेकिन इसी बीच नक्सल पन्थ जाने कहाँ से दरार तोड़कर फूट बैठा है! लोग दंग हो सकते हैं इस बात पर कि खुल्लमखुल्ला हत्या और उत्पातवाले इस दल में ऊँचे पढ़े-लिखे लोगों की संख्या ही अधिक है यानी तीन चुनावों की वाहवाही लेने के बाद भारतीय लोकतन्त्र में से ये करिश्मा फूटा है।

दक्षिण में राजाजी और कामराज ने आवाज उठायी है कि उठो और बचाओ। खतरा सामने नहीं, सिर पर है और अपने राष्ट्र की और जनतन्त्र की उससे रक्षा करनी है। मोरारजी कम लगन के आदमी नहीं हैं और गुजरात तक में समर्थन न हो तो भी महामेल का यत्न शायद छोड़ेंगे नहीं। जनसंघ बहस की गहमा-गहमी को पार कर सर्वसम्मत निर्णय की घोषणा कर चुका है कि वह मिलेगा और लोकतन्त्र की प्राणपण से रक्षा करेगा।

कल्पना की जा सकती है कि सन् 1972 के आने तक वातावरण क्या स्वरूप लेगा। क्या वह घात-प्रतिघात और वैर-विद्वेष से लबालब भर ही न जाएगा?

यह कहना अप्रासंगिक होगा कि यह राजनीतिक बदाबदी और पटबाजी लोकतन्त्र की स्वस्थता की सूचक नहीं है? और जो मूल्य लक्षण के तौर पर लोकतन्त्र को और सब तन्त्रों से अलग और विशिष्ट बनाता है, वह है परस्पर नागरिक उदारता का भाव अर्थात अहिंसा। इस अहिंसा से जब स्थिति की रक्षा होगी, तब इसमें गाँधी के सत्याग्रह को जोड़ देने में उस स्थिति में गति की माँग भी पूरी समा जाएगी, अर्थात नागरिक अहिंसा के साथ लोकतन्त्र की स्थिति है और गाँधी के सत्याग्रही आचरण में उसकी उत्कृष्टि और उत्क्रान्ति है।

[26.7.71]

हिंसा का प्रसार और दायित्व

नेता-प्रणेता के प्रति क्या कुछ कहा जा सकता है? यह धनुर्धर है, लक्ष्य बेध की उससे अपेक्षा है। इसलिए अर्जुन के बारे में सुनी कहानी उनको सुनाने जैसी है।

महाभारत के युद्ध ने भारत को उसका साथी बड़ा धर्म-ग्रन्थ दिया। वह युद्ध कृष्ण की नीति और अर्जुन के गाण्डीव के भरोसे मुख्यता से समाप्त हुआ।

पेड़ की ऊँची शाखा पर मिट्टी की चिड़िया बिठा दी गयी और तीर को उस चिड़िया के आँख के निशाने पर लगना था। अर्जुन ने कमान तानी और तीर बिठाया।

गुरु द्रोण ने कहा, ''अर्जुन, तैयार हो? शर-संधान में चिड़िया की आँख है, समझे?''

''जी हाँ।''

''अच्छा, तो बताओ, क्या दीख रहा है?''

''पेड़ है, पेड़ की शाखा है, उस पर चिड़िया है और संधान उसकी आँख का करना है।''

गुरु बोले, ''पेड़ दीखता है? शाखा-चिड़िया भी दीखती है?''

''जी हाँ।''

गुरु ने कहा, ''तो कमान छोड़ दो। तुमसे संधान नहीं होगा।''

अर्जुन ने विस्मय से गुरु को देखा। गुरु ने ताड़ना के भाव से कहा, ''संधान आँख का करना है, तो फिर क्यों और कुछ दीखना चाहिए? पेड़ भी नहीं है, शाखा और चिड़िया भी नहीं है। सिर्फ निगाह में यदि आँख है, तो ही संधान सही होगा। अब देखो, क्या दीखता है?

''कुछ नहीं रह गया है। सिर्फ आँख-ही-आँख दीखती है।''

''हाँ, अब तीर छोड़ो।''

नेता-प्रणेता के सामने समस्याओं का जंगल है। धनुष तना है। तरकश में तीरों की कमी नहीं है। इधर-उधर वे ताने और छोड़े भी जा रहे हैं, पर लक्ष्य

भेद होता नहीं दीखता है, तो क्यों?

कारण कि शायद लक्ष्य नहीं है, शिकायतें हैं। शिकायतें एक-दूसरे से हैं और बहुतेरी हैं। कुछ तरकश के तीर उन्हीं पर छोड़े जाते हैं। कुछ घाव भी वे इधर-उधर करते होंगे। पर वे क्या समस्या और संकट के हार्द्र को वेध पाते हैं?

साम्प्रदायिकता है, जातीयता है, क्षेत्रीयता है, भाव-वादिता है, रूसी और चीनी ठप्पे की साम्यवादिताएँ हैं। समाजवाद के अनेकानेक प्रकार और गठन हैं और इन सबकी चिकित्सा के लिए इस-उस दल के दलीय चिकित्सकों की ले-दे है और भीड़-भभ्भड़ है। इसमें यह नहीं कि चिकित्सा नहीं हो रही है। चिकित्सा से पूर्व उसकी विधि पर कुछ बहस-मुबाहिसा हो तो इसमें क्या अनुचित है? पर परिणाम यह दीखता है कि रोगी मिट रहा है, रोग बढ़ रहा है।

किसी को अल्प मत होने का भान है और उसे अपना विशेष हक चाहिए। बहुमत के पास बहुमत है और प्रभुता का अधिकार तर्कशः उसका ही होगा। उसी तरह अपनी-अपनी जाति, क्षेत्र और भाषा का आग्रह हो सकता है। उससे भी उचित मतवादों का अपना हठ है। फिर सबसे बढ़कर जो चीज है क्रान्ति, उस पर अपनी जान लगा देने से हमें कौन रोक सकता है? स्थापित सामाजिक अन्यायों को उखाड़ने में हम अगर जान की बाजी लगा देंगे तो अन्यायी की जान लेने से भी बाज नहीं आएँगे, आदि-आदि आग्रह और हठ और संकल्प अपनी-अपनी जगह लोगों को ठीक मालूम हो सकते हैं। उन पर अड़कर अपना मनमाना करने का समर्थन शायद इन-उन के मन में है और उस कारण साम्प्रदायिक, जातीय, क्षेत्रीय, पन्थीय, वादीय आदि अलग-अलग समस्याएँ खड़ी होती दीखती हैं। हमारा नेता और प्रणेता चारों ओर चकराकर उनसे जूझ रहा है और संकट को विकट ही कर रहा है।

पर समस्याओं की समस्या है, माना हुआ हिंसा का हक। किसी बहाने वह हक किसी को नहीं पहुँचता। वह हक पुलिस फौज के रूप में राज्य को सौंप दिया गया है। और कोई अगर उसे अपने हाथ में लेता है तो राजदण्ड को आमन्त्रण देता है। वह लॉ एण्ड ऑर्डर का ही प्रश्न पैदा करता है, जो किसी तरह राजनीतिक प्रश्न नहीं है, शुद्ध अपराधवाद का प्रश्न है।

हिंसा को कहीं जगह नहीं मिलने देनी है। पर सार्वजनिकता में वह व्यापती ही जा रही है। आग्रह कहीं भी उत्पन्न हो जाता है और वहीं हिंसा को हाथ में ले लिया जाता है। नेता-प्रणेता सोचे कि यह स्थिति लाने में क्या उसका योग नहीं है? ऊपर जो हिंसा है, भीतर वह नफरत है—क्या इस भीतरी वैर-विद्वेष से, घात-प्रतिघात से, गाली-गलौज से वह स्वयं काम नहीं ले रहा है? तब वही चीज हिंसा के रूप में फूटकर राष्ट्रव्यापी समस्या पैदा करती है, वह क्यों नहीं

समझ पाता?

अन्याय का प्रतिकार हत्या से ही हो सकता हो तो दाग भी कीचड़ से धुल सकता है। क्रान्तिवादी का यह भ्रम अब नहीं तो आगे टूटेगा। अन्याय अन्याय से नहीं कट सकता। इसी तरह यद्यपि सरकार का कर्तव्य है कि लॉ एण्ड ऑर्डर पर संकट हो, तो वह अपने पूरे बल का उपयोग करे। लेकिन नेता और प्रणेता को सोचना है कि लोक-जीवन में व्यक्त हिंसा को क्या सरकार तन्त्र की हिंसा बुझा सकेगी? या हिंसा की इस लोक व्याप्ति का दोष-दायित्व स्वयं उसका अपना है? दलीय लोकतन्त्र में स्वच्छता और सद्भाविता नहीं आती तब तक सब ओर से हिंसा की लपटें फूटेंगी ही। उपाय अपने से शुरू करना है। जिस गति से चीजें चल रही हैं उसमें से अन्यथा अव्यवस्था, अराजकता और गृह युद्ध की सम्भावनाएँ ही उभरती दीखती हैं।

[2.8.70]

दमन और दण्ड : तप और बलिदान

आज के अखबार में जान की हत्या और माल की लूट की कई खबरें हैं। इस जान-माल की रक्षा का सरकार का खास दायित्व होता है। इसलिए इन खबरों के साथ पुलिस की कार्यवाही की रपट भी हुआ करती है। उधर उत्पात और अपराध, इधर दमन और दण्ड।

हिंसा को कोई अच्छा तो नहीं कहता है पर वक्त पर जरूरी उसे सब कोई मान उठता है। उस जरूरत को देख-जानकर समाज ने विधि का निर्माण किया और उस विधि की मर्यादा के पालन के लिए सरकार के हाथों में दमन और दण्ड के उपकरण दिये। इस प्रकार सरकार की ओर से आनेवाली हिंसा उचित और वैध और वैधानिक मानेंगे।

उस वैधता के नीचे भी अन्याय तो रह ही सकता है; बल्कि यह कहना ठीक होगा कि समाज की हर स्थिति में यत्किंचित शोषण और अन्याय गर्भित रहता है। तात्कालिक शासन और व्यवस्थापन का उसे प्रश्रय और समर्थन भी रहता है। इसलिए हर व्यवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता होती है। कभी तो वह आवश्यकीय परिवर्तन इतना मूलगामी होता है कि उसे क्रान्ति से कम नहीं कहा जा सकता।

इस परिवर्तन के लिए हर समाज में कुछ वैधानिक प्रणालियाँ रची हुई होती हैं। विधानसभाएँ और संसद समाज के प्रतिनिधियों द्वारा लगभग यही काम किया करती हैं। अनुभव यह है कि उन प्रणालियों से अभीष्ट परिवर्तन अभीष्ट वेग से नहीं आ पाता। इसलिए समाज में ही ऐसे तत्त्व होते हैं जो विधान की राह नहीं देखते और दायित्व अपने हाथ में ले लेते हैं। वे समाज की हितैषिता के नाते ही 'डायरेक्ट एक्शन' पर उतरते और अपने लिए मानो सरकारी दमन को आमन्त्रित कर लेते हैं।

गाँधीजी ने सत्याग्रह नाम देकर इस 'डायरेक्ट एक्शन' की प्रक्रिया को धर्म नीति के स्थान तक पहुँचा दिया। राजतन्त्र का स्वधर्म दमन और दण्ड हो, किन्तु

गाँधीजी ने बताया और दिखाया कि उससे ऊँचा भी धर्म है, उससे ऊँची भी कोई सत्ता है। उस लोकसत्ता का धर्म मूल्य है—श्रम, तप और बलिदान। उन मूल्यों के सहारे उन्होंने एक ऐसी शक्ति और लोकसत्ता को जगा दिया कि इतिहास के सबसे बलशाली साम्राज्य को उसके समक्ष डिगना और गिरना हो गया। सन्त और महात्मा तो सदा सब कहीं होते आये हैं। लेकिन गाँधी का महात्मापन इस नयी युद्ध-नीति में से ऐसे चमका और प्रतिष्ठित हुआ कि अब भी दुनिया उस पर चकित है।

पर गाँधी गये और तप और बलिदान के उनके मार्ग से जिस काँग्रेस ने देश की ओर से उनके आशीर्वाद से स्वराज्य को अपने हाथ में लिया था, उसने सरकार बनकर दमन और दण्ड के धर्म से अपने को दण्डित कर लिया। आज की शासक काँग्रेस हाथ में वैध हिंसा के इन उपकरणों को उठाकर आग की तरह फैलती अवैध हिंसा की लपटों से निपट लेना चाहती है। वहीं उसका बस है और भगवान करे, सरकार अपने स्वधर्म में सफल हो।

पर काम कठिन है। कठिन इसलिए कि दमन और दण्ड के अस्त्र हाथ में लेकर अन्याय का उन्मूलन करने का दावा रखनेवाला एक क्रान्तिवादी दल उठ खड़ा हुआ है। उसके हाथ में माओ की लाल किताब है जो बताती है कि अन्याय हरगिज न सहो और व्यक्ति के विचार पर न रुककर अन्यायियों की समूची श्रेणी अथवा श्रेणियों का ही सफाया कर डालो। इस शास्त्र से शिक्षा लेकर क्रान्तिवादी माल को मालिक से नहीं लूटता बल्कि चोर और उसके हाथों से निकालकर उसके सही हकदारों के पास पहुँचाता है। न वह आदमी को मारता है बल्कि सिर्फ अन्याय की जड़ काटता है। आज उसे चोरी-छिपके काम इसलिए करना पड़ता है कि माओ शास्त्र का शिक्षण अभी काफी फैला नहीं है। फैलने पर फिर खुली खूनी जनक्रान्ति होगी और अन्यायी के समाप्त होने पर अन्याय समाप्त हो जाएगा।

चम्बल के बीहड़ों में एक जमात है जो रोज गोली से भूनी जाती है और हर रोज बढ़ती भी सुनी जाती है। अखबार उसे डकैत कहते हैं, जमात खुद अपने को बागी मानती है। उस इलाके में जाने पर मैंने पूछा कि सब राज्यों की मिली-जुली ताकतों के मुकाबले यह डाकू टिक कैसे पा रहे हैं? निवृत्त न्यायाधीश ने बताया कि गाँव के लोग अधिक उन्हें रक्षक और पुलिस को भक्षक मानते हैं अर्थात लोक-आतंक से भी अधिक आश्रय इन्हें अपनी लोकप्रियता का है।

इस अवस्था में पुलिस और लाठी और गोली क्या इन चम्बली अपढ़ बागियों और उन नक्सली सपढ़ क्रान्तिवादियों से उनका तर्क और आत्मसमर्थन छीन सकती है? वे लोग दमन और दण्ड का सरकार से भी अधिक अपना अधिकार मानते और सकरार को मानो अपराधी के रूप में देखते हैं।

हवा ऐसी है कि हर कोई खुद जज है और दोषी और दुष्ट सदा दूसरे को

मानता है। ऐसे दोषी और दुष्ट का दलन उसका अपना काम हो जाता है और बस, फिर हमले और हत्या का काम चल पड़ता है। यह जमींदार है, लखपति है, कुलपति बना बैठा है। अफसर है, इसलिए दुष्ट है। मुसलमान है, इसलिए म्लेच्छ है। हिन्दू है, इसलिए काफिर है। इत्यादि बहानों पर चढ़कर लोग कत्ल और खून तक उतर आते हैं, ऐसे सब लोगों को आज नहीं तो कल जानना होगा कि जिसको मार रहे थे वह दुश्मन उनके अपने भीतर था। इसलिए उनकी मारधाड़ सिर्फ उस अन्याय-अत्याचार को बढ़ा ही गयी है जिसको वे काटना चाह रहे थे।

इस वाद में उस आदमी को आना और उठना है जो दोष अपना माने, सबके लिए प्रायश्चित्त करे और बलिदान अपना दे। ईसा ने यह किया था। क्रॉस को अपने कन्धों लिया था और अपने मरने में से घोषणा की थी कि मृत्यु नहीं है। न आदमी दुष्ट है, वह सिर्फ भूला है। उस ईसा से इतिहास ने जो घटना देखी, क्या कोई राज्य-क्रान्ति उसके सामने ठहर सकती है? इसको दो हजार वर्ष हो गये होंगे लेकिन गाँधी का यज्ञ तो अभी कल का है। उसने भी एक आश्चर्य सम्पन्न किया था कि दण्ड और दमन से कहीं बड़ी शक्ति तप और बलिदान में है। यही है जो लोक-शक्ति हो सकती है। हिंसा की ताकत अत्याचार में से आती है और अत्याचार उपजाती है।

[9.8.70]

हर जबरदस्ती ललकार है अहिंसक कृतित्व को

नक्सल पन्थ ने हिंसा उकसायी हो सकती है और उसका जवाब भी सरकार की ओर से मिल रहा है। पर इतना अवश्य हुआ है कि जमीन की समस्या पर सबका ध्यान गया है। कई दल तुल पड़े हैं कि वैध-अवैध के सवाल पर बिना झटके खाली जमीन को वे लेंगे और भूमिहीनों में बाँट देंगे। यह तो साफ है कि जमीन खाली क्यों पड़ी रहे, जब कि आदमी इतने खाली हैं इसलिए उस जमीन पर आदमियों को लग जाना और उसमें ले आना चाहिए। यह इतना सीधा तर्क है कि मानो सोच-विचार की आवश्यकता नहीं रहती और वह कार्यक्रम एकदम उचित और आवश्यक बन जाता है।

स्वयं सरकार जमीन के उपयोग में जाने की बात से मुँह नहीं मोड़ सकती। लेकिन कानून है और सरकार उसकी रक्षा नहीं कर पाती तो उसकी साख टूटती है। अब तक कानूनन जो जिसका है, सरकार पर आयद है कि वह उसी का बना हरे। सम्पत्ति के स्वत्व-स्वामित्व में इधर-उधर कुछ हो तो वह कानून के जरिये ही हो, अन्यथा न हो पाए।

कुछ दल वैधानिक संस्थाओं का इसलिए उपयोग करना माँगते हैं कि वे उसी जरिये संविधान को तोड़ सकें। नक्सल पन्थ शुरू से ही भारतीय संविधान को इसलिए नहीं मानता कि उसे शोषकों के वर्ग ने अपने शोषण को कायम रखने की दृष्टि से बनाया है; न इसलिए वह जमात चालू कानून को ही मानने की कोई बाध्यता स्वीकार करती है; न ही वह सरकार के इस कानून के अस्त्र से, न उसके दंड के उपकरण—जैसे लाठी, जेल, गोली, फाँसी आदि—से डरने को तैयार हैं। वे अपनी जान से खेल सकते हैं और उस कीमत पर शत्रु श्रेणी की जान भी ले सकते हैं। वे इसलिए तोड़-फोड़, आग, लूट और हत्या, हल्ले को पूरे औचित्य भाव के साथ अपना सकते हैं। उनके नेता अध्यक्ष माओ है और भारतीय शासन पर बैठे नेता अन्यायी और दुश्मन हैं।

उनकी बात क्या की जाए? लेकिन एस. एस. पी. और सी. पी. आई. उस

तरह भारतीय लोकतन्त्र और उसकी व्यवस्था को सीधा अँगूठा नहीं दिखा देना चाहते। उनके समक्ष अवश्य यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि जबरदस्ती जमीन हथियाकर भूमिहीनों में बाँट देने से क्या भूमि उपज देने लग जाएगी या जमीन जिनके हाथ आयी है, उन्हें काम और धन्धा मिल जाएगा?

राजनीति की बात तो ठीक है। दलों को उससे सुर्खरू ही हासिल होगी और चुनाव में उससे मदद मिलेगी; पर प्रश्न राजनीति से अलग मानव हित का हो, रोजगार देने और पैदावार बढ़ाने का हो, तो जोर-जबरदस्ती का ढंग क्या उतना विश्वसनीय सिद्ध हो सकता है? क्या यह अनिवार्य नहीं है कि सरकार, कोई भी सरकार, जोर-जबरदस्ती का अपने पूरे बलबूते से मुकाबला करे? न जमीन बाँटनेवालों, न बँटकर उस जमीन पर बैठनेवालों को चैन से साँस लेने दे? क्या परिणाम इसका यही न होगा कि बदअमनी बढ़ेगी और कानूनी अदालतबाज़ी में काम से भरे हाथ भी खाली हो जाएँगे?

सर्वोदय की ओर से उधर जयप्रकाशजी भी इस मसले से जूझ रहे हैं। हवा अनुकूल बनी है और कुछ काम भी हो रहा है। ग्राम-दान की भूमिका पहले से कुछ बनी है। कागजी सही, पर पूरा बिहार दान हुआ है। प्रखंड जिला-दानों की गिनती नहीं है। आँकड़े उसके प्रभावशाली हैं, पर जमीन पर सवाल उछलकर सबकी चिन्ता का विषय बना है, तो सर्वोदयी अहिंसा से नहीं, नक्सली हिंसा से ही बन सका है। परिणाम की दृष्टि से अब भी लगता है कि सर्वोदयी से दलीय कार्यवाही अधिक प्रभावी हो रही है। मानना होगा कि यद्यपि सर्वोदयी प्रणाली से जितना भी होगा, फल रचनात्मक ही होगा, फिर भी वह प्रणाली धीमी और शिथिल रही है। सत्याग्रही तेज और त्वरा का वहाँ अभाव रहा।

क्या पूछा जा सकता है कि जो चिन्तन और चैतन्य कुछेक सप्ताहों में भूमि के प्रश्न के सम्बन्ध में देश में हिंसक कृतित्व से आगे आया, उसके समक्ष वर्षों-वर्ष चलनेवाला अहिंसक कृतित्व क्यों निष्फल और निस्तेज रहा? कहीं यह तो नहीं कि शोषक कानून की अवज्ञा का सविनय रूप नहीं आ सका, उसकी जगह भरने के लिए उस कानून की उद्धत अवज्ञावाले लोग उठ खड़े हुए और बाजी जीत ले गये?

परिस्थिति की चुनौती है कि अहिंसा की क्षमता का दम भरने और विश्वास रखनेवाले गाँधी-पन्थी चेतें और जगें, फिर शासकीय कानून टूटे तो ऐसे टूटे कि उसकी जगह नैतिक कानून के जमने की सम्भावनाएँ हों, नहीं तो वह अराजकता सामने है जिसमें अहिंसा पाप और कायरता बन आयी दीखेगी।

[16.8.70]

हिंसा का खतरा और अहिंसा के आगे चुनौती

कानू सान्याल पकड़े गये। नक्सल पन्थ के मन्त्रदाता चारु मजूमदार हैं तो ब्यूह-नेता कानू। हिंसा के विरोध में अहिंसा के प्रबल समर्थकों में से कइयों में कानू सान्याल के प्रति गहरी प्रशंसा के भाव हैं। उनकी नि:स्वार्थता में शंका नहीं हो सकती। उत्सर्ग भाव उनमें सदा दीप्त रहता है। अपनी उन्हें तनिक सुध या चिन्ता न थी। हर घड़ी क्रान्ति की ही लगन जली रहती है।

पर वे जानते होंगे कि उनकी क्रान्तिवादी हिंसा को कानून की स्थितिवादी हिंसा से मोर्चा लेना होगा। कानूनी हिंसा में थोड़ी-बहुत कानूनी दाँव-पेच के कारण क्षमा, दया की बचत निकल सकती है। नक्सली क्रान्ति-पथ में उसकी गुंजाइश नहीं है। वहाँ न्याय एकदम निर्मम नाश है।

हमारे बहुत-से आदर्शवादी युवक उधर मुड़ रहे हैं। स्थिति इतनी असह्य है; उसमें गर्भित अन्याय इतना उत्कट है; अन्धेर इतना भीषण है कि धैर्य युवक के वश का रहता नहीं, अपने अधिकारों से वह अनजान होता तो चल भी सकता था, पर वह पढ़-लिख गया है और जानता है। ऐसी हालत में अपनी जान पर वह खेल जाएगा। वह ममता में नहीं पड़ेगा, धन-शासन और दु:शासन को अपनी क्रान्ति से ढाहकर जन-शासन लाकर रहेगा।

इस ऊपर और नीचे की हिंसाओं की मुठभेड़ में क्यों कोई टूटे या झुके? इसलिए सरकारी और नक्सली दोनों ही पक्ष कटिबद्ध हैं और एक-दूसरे पर दया करने को मजबूर नहीं हैं।

सरकार पर अभियोग है कि वह नक्सलियों की तरफ कहीं अधिक सदय तो नहीं है? मार्क्सवादी कम्युनिस्ट नेतृत्व की मिली-जुली सरकार को क्या बंगाल में केन्द्र की ओर से काफी ढील ही नहीं दी गयी थी? आज की उग्रता क्या उसी में से नहीं फली है? पर प्रशासन की शाख टूटे, यह किसी सरकार को मंजूर नहीं हो सकता है। यह सही नहीं है कि वर्तमान सरकार नक्सल पन्थ के दमन में अब कोताही कर रही या कर सकती है।

लेकिन जो चीज साफ है, वह यह कि हिंसाओं के द्वन्द्व में से जो फलित होगा, वह दलहित भले हो, जनहित नहीं हो सकता। जनहित पड़ोस से शुरू हो जाता है। उसके लिए माओ या माओ के साहित्य की जरूरत नहीं होती। उसके पीछे द्रव्यास्त्र या शस्त्रास्त्र का आयात भी होता हो तो अतर्क्य न होगा। चारु मजूमदार के वक्तव्य में गृह युद्ध का घोष खुल आया है। उसमें से जो क्रान्ति फलित होगी, वह क्या राज्य क्रान्ति ही न होगी?

राज्य क्रान्ति का स्वप्न कम चित्ताकर्षक नहीं। उस स्वप्न में से, युवक में से, जितना चाहें बलिदान प्राप्त किया जा सकता है। माओ का साहित्य उसी स्वप्न को जवानों में जगा देता है।

पर उन जवानों को जान लेना है, समय रहते नहीं तो समय बीत जाने पर कि राज्य क्रान्ति, जन क्रान्ति नहीं होती। हिंस्र क्रान्ति की राह से आया हुआ राज्य तनाशाही बनने को विवश रहता है। हिंसा में समाज जी नहीं सकता। इसलिए हिंस्र राज्य क्रान्ति के सफल हो जाने पर फिर हिंसा के पन्थ को निर्दय भाव से कुचलना ही नये राजा के लिए शेष रह जाता है। सब क्रान्तियों का इतिहास यही बताता और सिखाता है।

तो क्रान्तिकारी युवक पूछ सकता है कि महाशय, कृपया बताइए कि आपकी अहिंसा क्या कर रही है? किताब में गाँधी हुए, सुनते हैं, लेकिन गाँधी की ही यह काँग्रेस न है जो राज के नाम पर अन्याय पर बैठी है और मगन है? गाँधी की दुहाई इसीलिए न उसके मुँह पर है कि गाँधी के आशीर्वाद के नीचे उसका पूँजीवाद या सत्तावाद फला और फल रहा है? इसलिए गाँधी को जिलाना नहीं, हमें तोड़ना है। आग लगाकर उसकी अहिंसा को फूँक डालना है।

उस युवक को यदि जवाब सिर्फ शास्त्र से, वाद से या उपदेश से मिलता तो वह आग में घी का ही काम कर सकता है। नक्सली युवक के, विशेषकर चारु भाई की निगाह में गाँधी इसीलिए दुश्मन नम्बर एक हो आते हैं कि गाँधीपन्थी के पास क्रान्ति नहीं आती है, बस शान्ति आती है। शान्ति वह, जो सरकारी 'लॉ एण्ड ऑर्डर' की चेरी है।

गाँधी के अनुयायी हैं। सरकार में हैं और बाहर भी हैं। सभी जीते-जागते हैं। सरकारवाले सरकारी शुगल में मशगूल हैं तो सर्वोदयी ग्रामदान में कोई कम व्यस्त नहीं हैं। अहिंसा लुप्त नहीं हो गयी है। काँग्रेस के पास वह शासनोचित है, विनोबा के पास सन्तोचित और जे.पी. आदि के पास शिष्ट-जनोचित, पर अहिंसा का धर्म इन वर्गों में शेष नहीं हो जाता। इन स्तरों पर तो अहिंसा सदा रही है और अपर्याप्त सिद्ध होती रही है। गाँधी की विशेषता थी तो यह कि उन्होंने अपने जीवन से बताया कि अहिंसा उनकी नहीं, सबकी है। सब समस्याओं

के लिए है। उन राजनीतिक समस्याओं के लिए तो वह सविशेष सार्थक और संगत है कि जहाँ हिंसा को ही उपाय माना जाता है। उन्होंने नये क्षितिज खोले और अहिंसा में नये आयाम प्रकट किये। बताया कि उन ऊपर के सम्भ्रान्त वर्गों में रुक जानेवाली अहिंसा सहिष्णु और सन्तुष्ट होकर बैठ सकती होगी, पर जिसे सर्वव्यापक होना है, वह अहिंसा सहेगी नहीं और सुख-सुविधा भी नहीं अपना सकेगी। उसके लिए तो बस जेल, गोली है और फाँसी है। वहाँ जान लेने की मनाही है तो इसके एवज में जान झोंकने की दुगुनी तैयारी है। यह अहिंसा थी, जो युद्धोचित भी हो सकी और युवक-मन को जिसने जीत लिया।

अब एक-एक को और सबको अकेले या मिलकर सोचना है कि राज्यवादी माओ के समक्ष क्या उस क्रान्तिकारी गाँधी को जगाया जा सकता है?

इसमें दो राय नहीं होगी कि आतंक माओ कितना भी हो, भविष्य मानवता का गाँधी के ही साथ है।

[23.8.70]

हिंसा का वार और अहिंसा का सामर्थ्य

कुमारी निर्मला देशपाण्डे पर मौत की सजा बोल दी गयी है। माओ के लाल सलाम के साथ यह सूचना एक खत से मिली है। अपराध यह है कि निर्मला देशपाण्डे ने चेयरमैन माओ के प्रभाव को कम करने का साहस किया है।

माओवादी का अधिकार से भी अधिक कर्तव्य है कि वह गाँधी और दूसरे राष्ट्र-नेताओं के चित्रों, मूर्तियों को तोड़ दें, पर यह किसी का अधिकार नहीं होने दिया जाएगा कि चेयरमैन माओ की समीक्षा भी कर सकें। इस कट्टरता और संकीर्णता से माओ महोदय की गरिमा-महिमा बढ़ती नहीं है। अपने ऐसे पन्थियों पर निश्चय ही उन्हें गर्व न होगा।

पर जो बात खुशी की है, वह यह कि कुमारी निर्मला सर्वोदय कार्यकर्त्री हैं। वह महाराष्ट्र की एक विदुषी, साहित्यिक महिला हैं और कॉलेज की प्राध्यापकी छोड़ आरम्भ से ही भूदान-ग्रामदान के काम में खप गयी हैं। अहिंसा उनका व्रत है और भाषा उनकी सुस्पष्ट से आगे कठोर नहीं हो सकती। चिंगलिंग नामक उनका उपन्यास है, जो हिन्दी-मराठी से अतिरिक्त भाषाओं में भी छपा हो सकता है। चिंगलिंग एक चीनी महिला हैं और उनकी चरित्र की उज्ज्वलता और मृदुलता मानो पाठक के समक्ष सारे चीन को उज्ज्वल और मृदु बना देती है। मेरा दावा है कि उन्हें मौत की सजा देनेवाले नक्सल पन्थी मुंसिफ से कहीं अधिक निर्मला के मन में चीनवासियों के लिए ममता और श्रद्धा है। वह अपने जन्म-स्थान नागपुर से दूर-दराज बिहार के मुजफ्फरपुर की सीमा में दत्तचित्त होकर काम कर रही हैं। विनोबा के साथ पूरा भारत देश उन्होंने पाँव-पाँव घूम डाला। चिंगलिंग पुस्तक पर दो शब्द लिखते समय मुझे अनुभव हुआ था कि पुस्तक मीठी अधिक है। उन्हीं को मौत दण्ड सुनाया गया है, यह अहिंसा के लिए बधाई की बात है। सर्वोदय और ग्राम-दान अर्से से मैदान में हैं। लेकिन इस घटना को उस आन्दोलन की मैं पहली विजय कह सकता हूँ।

अहिंसा कोई भारत-भूमि का ही आविष्कार नहीं, सब धर्मों में उसके लिए

स्थान है। तितीक्षा और तपस्या में जीवन बितानेवाले ऋषि सब काल और सब देशों में होते रहे हैं। पर भारत ने उस अहिंसा को तर्कान्त तक पहुँचाया है। अब भी जैन हैं, जो उस व्रत के कारण कन्द-मूल नहीं खाते हैं और हरी शाक-भाजी का भी अमुक तिथियों त्याग रखते हैं। अनेक भारतवासियों के लिए वह व्यवहार व्यंग्य का विषय भी रहा है। आक्षेप हुआ है कि अहिंसा ने देश को और मनुष्य को दुर्बल बनाया है।

कि इधर गाँधी प्रगट हुए। अहिंसा उनके लिए जीवन का मन्त्र बनी। यहाँ तक कि अपनी सरकार को भी अपनी जान की रखवाली का उन्होंने अवसर नहीं दिया और मानो इच्छापूर्वक अपनी छाती पर तीन गोली खाकर हत्यारे के हाथ मरना स्वीकार किया। यह शहादत उन्हें मौत से ही नहीं मिली, जो हर किसी को मिल सकती है। उनका जीवन ही पूरा शहादत का रहा। बलिदान की ज्वाला की तरह जला और उजला। और लोगों ने देखा कि सत्याग्रही अहिंसा से ऊँचा दूसरा पराक्रम हो नहीं सकता। इसमें शत्रु से डरा नहीं जाता है, उसके आगे झुका नहीं जाता है, उसको प्यार किया जाता है। शत्रुता में से आनेवाली हर क्रूरता को हँसते-हँसते सहकर मौका दिया जाता है कि शत्रु अपनी शत्रुता के नशे से उबरे और वह आदमी हो आए, जो कि वह है।

पर गाँधी के बाद लगा कि अहिंसा कहीं वहीं अपनी पहली जगह तो नहीं सिमट आयी है? उसका पराक्रम सौम्य होते-होते सर्वथा शान्त तो नहीं हो गया है?

इसलिए मानना होगा कि निर्मला को मिली मौत की धमकी प्रमाण है कि नहीं, सर्वथा ऐसा नहीं है। कहीं चिनगारी अब भी शेष है, जिसकी चहक हिंसा पन्थी को भी थोड़ी झुलसा गयी है।

याद आता है कि मास्को में एक बड़े साहित्यकार ने अहिंसा की बात पर चेतावनी देते हुए कहा था कि शक्ति का स्रोत घृणा है, इसलिए अहिंसा अशक्त है। उत्तर तो तभी मैंने कुछ-न-कुछ दे दिया था, लेकिन वह भेंट भूलती नहीं है।

अभी कल एक बन्धु आये, जिनका जीवन सर्वोदय आदि के काम में ही गलता रहा है। बोले, पॉजिटिव के साथ निगेटिव भी अनिवार्य है। वह निगेटिव शायद हमारे यहाँ रहा नहीं है। अब चारों तरफ खुली हिंसा का वाद लपटें देकर जो फैल रहा है सो उसके प्रकाश में अपने को पुनर्विचार करना होगा। कुछ होगा, जिसका इनकार करना होगा; जिसे तोड़ना-ढाहना, गिराना होगा; जिससे किसी भी हालत में समझौता नहीं ही करना होगा। अगर वह नहीं है तो पुरुषार्थ सो जाएगा और कापुरुषता हम सबको ढक लेगी। तब अन्याय से टक्कर लेनेवाले

पराक्रम के लिए हिंसा का आश्रय ही शेष रह जाएगा।

यह महाशय और वह रूसी लेखक महोदय मुझसे टल नहीं पाते हैं। सोचना पड़ता है कि मनुष्य में बहुत कुछ नकारात्मक है। क्या वह नकार वृथा ही है? क्या उसका कहीं उपयोग नहीं है? तो फिर वह है ही क्यों? और मैं गाँधी को याद करता हूँ कि जिसने प्रेम के दावे के साथ भारत पर ब्रिटिश राज को शैतानी कहा और इस कहने के साथ सारा देश हुंकार भर उठा। रचनात्मक कार्यक्रम रहा और उसको चलाने के लिए प्राणों की पूँजी उस जगे हुए इनकार और हुंकार में से आती रही है।

उस खुले इनकार-प्रतिकार की ध्वनि अहिंसा के क्षेत्र में से उठ सकेगी तो चोरी-छिपके; हत्या हमले के रूप का गुरिल्ला पराक्रम अधूरा और ओछा दीख आएगा और मालूम होगा कि प्रबलतम पराक्रमवाली जन क्रान्ति तो उस अहिंसा के मार्ग सिद्ध हो सकती है, जो किसी भी हिंसा से डरने को नहीं बल्कि उसके वार को छाती पर झेलने को तैयार है।

[30.8.70]

शिखर सम्मेलन और भारत का दायित्व

श्रीमती इन्दिरा गाँधी को प्रिवी पर्स के प्रश्न पर जीत प्राप्त हुई है। सदन में मिले अप्रत्याशित बहुमत को नयी काँग्रेस से अधिक इन्दिराजी की ही सफलता माननी चाहिए। इससे उनका आन्तरिक बल बढ़ेगा। यदि आगामी राजनीतिक सम्भावनाएँ भी उससे कोई निश्चित दिशा प्राप्त कर ले जाएँ, तो यह बहुत ही शुभ लक्षण होगा।

स्थिति अस्थिर है और सन् '72 का चुनाव दूर नहीं है। इसमें इन्दिराजी का मान-सम्भ्रम बढ़कर यदि किसी ध्रुव बिन्दु की सृष्टि कर आता है तो भारत के भविष्य के सम्बन्ध में कुछ आशा बनती है।

इन्दिराजी लुसाका शिखर सम्मेलन में जा रही हैं। पश्चिम एशिया की युद्ध-विराम और सन्धि-वार्ता की नाजुक स्थिति के कारण नासिर वहाँ नहीं पहुँच सकेंगे। पक्षनिरपेक्ष राष्ट्रों का यह सम्मेलन महत्त्वपूर्ण होगा। यद्यपि श्री मार्शल टीटो और प्रधान मन्त्री इन्दिरा का चित्र अब उतना मध्यस्थ नहीं रह गया है, फिर दृढ़ता और साहस से उस सम्मेलन ने काम लिया तो विश्व-मंच पर एक नयी शक्ति का आविर्भाव हो सकता है।

परिस्थिति स्पष्ट है। दो महाशक्ति जिनमें समूचा प्रभाव क्षेत्र बँटा था, अब उतने आमने-सामने नहीं हैं। गिनती में चीन है और उसके पास अणुबम भी हो गया। उस कारण शक्ति-सन्तुलन के पट का चित्र पहले से बदल गया है और पश्चिम एशिया की सन्धि-वार्ता में पहले की दोनों महासत्ताएँ किंचित सहकार में पास-पास आ रही हैं। यून.एन.ओ. की ओर से आये श्री जारिंग के रहते भी, अमेरिका से जो प्रस्ताव आया है, उससे राजनीति के नक्शे में और भी चक्र पैदा हो गया है। अगर उस प्रस्ताव के आधार पर वार्ता सफल हो जाती है तो इजरायल और संयुक्त अरब गणराज्य दोनों की प्रभुसत्ता पहले के समान परिपूर्ण नहीं रह जाती, कुछ अंश में खण्डित हो जाती है।

यह स्थिति लुसाका में एकत्र होनेवाले देशों के लिए चेतावनी होनी चाहिए।

भारत छोटा देश नहीं है। पर वह विकास की प्रक्रिया में है और अपने को अर्द्ध-विकसित मानता है। अफ्रीका के दूसरे देश अपने पाँव पर अभी सँभल नहीं पाए हैं। अन्यान्य देशों के सामने भी अपने अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न है। सबको

अपने भविष्य के बारे में सोचना और एक निर्णय लेना है।

वर्तमान परिस्थिति में लुसाका में सम्मिलित होनेवाले सभी राष्ट्रों के लिए पक्षनिरपेक्षता की नीति फलप्रद हो सकती है, अगर कि...।

पर अगर यह बड़ा है। उसका पूरा होना कम सम्भव दीखता है। राष्ट्र कभी आत्म-रक्षा के बारे में चिन्तित होकर हथियार पाने की होड़ में इस या उस महासत्ता के पास दौड़ते और उसके मुखापेक्षी होते हैं, तो मान लेना चाहिए कि वे अपनी प्रभुसत्ता पर आँच भी मोल ले लेते हैं।

ऐसे छोटे अर्द्ध-विकसित या अविकसित माने जानेवाले राष्ट्रों की ही संख्या आज अधिक है। यू.एन.ओ. में यदि अपने बहुमत के बारे में वे जग आते हैं और सम्मिलित मोर्चा बना ले जाते हैं तो अणु-आयुधों के ढेर के आधार पर आश्वस्त उन महासत्ताओं की मुट्ठी में ही मानव जाति का भविष्य बन्द नहीं रह जाता। तब यह स्थिति भी टूट जा सकती है कि मनुष्य शून्य बन जाए और यन्त्र और शस्त्र का दर्प ही सर्वोपरि तना चढ़ा रहे।

अत्याधुनिक शस्त्र-संसार और यन्त्र-उद्योग के सहारे कुछेक सत्ताएँ पिछड़े माने जानेवाले समस्त भूभाग को आक्रान्त और आतंकित रखें तो मानव भाग्य के लिए यह शुभ लक्षण नहीं है। मानव जाति के पास अब भी संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्था है। उसकी रचना पूरी समाधानकारक न हो और वहाँ उन कुछेक सत्ताओं का बोलबाला हो, तो भी उसके द्वारा मानव सत्ता को अभीष्ट उभार दिया जा सकता है। क्या लुसाका सम्मेलन उस परिप्रेक्ष्य में अपने भवितव्य और दायित्व को देखकर किसी नये निर्णय पर आ सकेगा?

विशेषकर भारत को इस बारे में चेतना है। इन्दिराजी की बढ़ती मान्यता पर भारत के अन्तरंग प्रश्न को किंचित कम कठिन मान लिया जा सकता है, लेकिन उसकी वैदेशिक नीति को मजबूत पाये पर खड़ा करना होगा। सोशलिज्म जैसे शब्दों के सहारे उठकर किसी ऊँची सोच पर नहीं पहुँचा जा सकता है कि भारत की आज कोई ऊँची साख है। जिस ढंग से नीतियाँ चल रही हैं, उससे वह गिरी साख सँभलती नहीं दीखती। शस्त्रास्त्र के आयात और निर्माण में भरोसा रखकर हम अपने पड़ोसी चीन और पाकिस्तान के उलझाव से पार देखने में असमर्थ रह जाते हैं। भारत अपने अधिकार से महान देश है। हाल तक उससे दुनिया को नयी आशाएँ रही हैं। विडम्बना ही होगी अगर उसकी दृष्टि अपने इन पड़ोसियों के छोटे-मोटे तनाव से घिरी रह जाएगी, उन्नत आस्था का निर्माण नहीं कर पाएगी।

लुसाका में देखना है कि क्या होता है? भारत वहाँ क्या करता है? स्वयं इन्दिराजी का आगामी भाग्य उस पर अवलम्बित होगा।

[3.9.70]

परिवर्तन की अधीरता और लोकतन्त्र की मर्यादा

राजे गये, पर गये फरमान के जरिये। यह तो पहले भी हो सकता था और कानून मन्त्री की वैसी सलाह थी, लेकिन गृह मन्त्री और मन्त्रालय का विचार संविधान के संशोधन और सदन के द्वारा उस कर्तव्य को पूरा करने के पक्ष में रहा। सरकार ने भी अधिक लोकतान्त्रिक मार्ग अपनाया और लोक सभा में राजाओं के विशेषाधिकार आदि सम्बन्धी विधेयक पर दो-तिहाई से कुछ अधिक ही बहुमत प्राप्त किया, पर राज्य सभा में वह बाल बराबर कसर रह जाने के कारण पास नहीं हो सका।

यह सरकार की कोई पराजय न थी। नैतिक समर्थन और विजय तो सरकार को मिल ही गयी मानी जा सकती है। एक से भी कम मत का अन्तर संयोग के कारण ही रहा। फिर भी संविधान के उपचार की बात तो शेष रह ही जाती है। आशा थी और प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी के तत्काल के वक्तव्य से वह आशा पक्की बन गयी कि छः महीने बाद दूसरे नये विधेयक के द्वारा यह त्रुटि सँभाली जाएगी और तब तक राजाओं को उनकी सामान्य नागरिक से विशिष्ट स्थिति को सह लिया जाएगा।

पर वैसा हुआ नहीं। देर जरा नहीं होने दी गयी। और फरमान इधर तैयार हुआ, उधर राष्ट्रपति के दस्तखत से जारी हो गया।

इसे क्या माना जाए? अधीरता? संकल्प की दृढ़ता? जनमानस का आदर? राज्य सभा की अवज्ञा? लोकतन्त्र के संविधान की उपेक्षा? या उस तन्त्र के सच्चे आशय का सम्मान?

जो भी हो, कृत्य इन्दिराजी के पूर्व से अनमिल हुआ। इस बीच क्या उन पर प्रभाव पड़े या कि उनमें ही किसी नयी दृढ़ता या वेग का उदय हुआ, कहा नहीं जा सकता है। लगता ऐसा है कि सत्ता को विधान की औपचारिकता की बाधा पसन्द आयी और वह उसके शब्द पर अटकने को तैयार नहीं है। शायद सत्ता-पति में इस पर कुछ खीज हो आयी और वह अटकने की बजाय अधिक कटिबद्ध हो उठा।

स्थिति में क्या परिवर्तन लाना नहीं है ? ये राजे लोग क्या अतीत के अवशिष्ट मात्र नहीं हैं ? क्या समाजवादी समाज में इनका कोई भी स्थान हो सकता है ? क्या समय बहुत आगे नहीं बढ़ आया और क्या अनेक वर्ष पूर्व किये गये अहद पर रुककर अपनी समाज-क्रान्ति के कूच को रोक दिया जा सकता है ? क्या व्यापक लोकमत स्पष्ट नहीं है कि इन राजों को अब हट और मिट जाना चाहिए ?

इन तर्कों के सहारे सत्ता अपने में निःशंक हो गयी और राजे लोग एक आलम से रद्द कर दिये गये।

समाज दूषित है, भ्रष्ट है। बासी परम्पराओं और सही रूढ़ियों से जकड़ा पड़ा है। अनिवार्य समाजवादी परिवर्तन उसमें लाना है कि नहीं ? लोकतन्त्र का आशय यह तो नहीं है कि समाज-क्रान्ति रुक जाए ? आखिर सदन और उसके सदस्य लोक-संकल्प की अभिव्यक्ति और पूर्ति के निमित्त ही हो सकते हैं, बाधक तो नहीं बन सकते हैं। इसलिए सदन के अमुक अंग के साथ नहीं तो उसके बावजूद हमें आगे बढ़ चलना है और इन राजाओं की विशेषता के दाग को साफ कर डालना है।

और वह सफाई हो गयी है।

लेकिन यहीं सवाल पैदा होता है। सर्व-सत्ता अधिकारी सरकार, जैसे कि कम्युनिस्ट सरकार, समाज में यथेष्ट परिवर्तन यथेष्ट वेग से ला सकती है। दूसरे दलों का उसके पास विचार नहीं है, और न प्रतिनिधियों के किसी अलग मत का प्रश्न है। एक्जीक्यूटिव के पास नीति का निर्णय भी है और उसको आयद करने के समस्त साधन भी हैं। सामान्य भाषा में इस प्रकार के तन्त्र को लोकतन्त्र नहीं माना जाता है। सामान्य समझ का निर्णय तो अधूरा ही हो सकता है न। क्योंकि वहाँ 51 प्रतिशत नहीं, 99 से ऊपर प्रतिशत रायों से सरकार बनती है। फिर क्यों न दावा हो कि वह अधिक लोकतान्त्रिक है ? लेकिन फिर भी हम लोग सोशलिस्ट सत्तात्मक और लोकसत्तात्मक इस प्रकार के दो तन्त्र-भेद किया करते हैं, और इसमें भारतवर्ष ने अपने लिए लोकसत्तात्मक तन्त्र चुना है।

इस चुनाव को चाहें तो हम बदल डाल सकते हैं। एक विप्लव के साथ सर्वसत्तात्मक राज्य का निर्माण कर ले सकते हैं। तब सुधार और परिवर्तन में भरपूर सुविधा हो सकेगी और शासक की मनमानी होने में कहीं बाधा न रह जाएगी। केवल उन्नति और क्रान्ति निगाह में हो तो प्रगतिवादियों के लिए वही पद्धति अनुकूल बैठती है।

पर वह पद्धति भारत ने नहीं अपनायी और न अपनाना चाहता है। लोकतन्त्र से शायद वह डिगना नहीं चाहता है। तब आवश्यक है कि शासक और शास्ता अपनी भीतर की अग्रता और अधीरता को तन्त्र की मर्यादाओं में रखना सीखें,

जिसकी अपनी सद्इच्छाओं को पूरा करने की इतनी अग्रता है कि वह किसी भी मर्यादा पर नहीं रुकना चाहता तो उसका स्थान प्रजा के बीच में ही हो सकता है, राजपथ पर नहीं।

इन्दिराजी में आत्म-विश्वास मालूम होता है। वह कुछ कर गुजरना चाहती हैं। लोगों को अच्छा लगता है, अगर ऊपर उन्हें मजबूत इरादा नजर आता है। यह सब इन्दिराजी की खूबियाँ हो सकती हैं। इधर राजनीति के खेल में उन्होंने अद्भुत प्रवीणता दिखायी है। लेकिन उन्हें शान्त होकर सोचना है कि आखिर भारत को किधर जाना है : एक ओर हर मनुष्य का अधिकार है जिसकी रक्षा लोकतन्त्र करता है; दूसरी ओर सब सत्ता का केन्द्र सरकार है, वहाँ आदमी का अधिकार पाँच बरस बाद अपनी एक राय डालने से आगे नहीं जाता है।

यह प्रश्न यक्ष प्रश्न है और देश को सावधान होना है।

[13.9.70]

पुराने गये, नये राजा तो न बनेंगे ?

थैली गयी, विशेषाधिकार भी गये। पुराने राजाओं से लगभग वे छीन लिये गये। एवज में क्या कुछ मिलेगा, यह तय होना है। कुछ कानूनी चाराजोई की भी कोशिश है। पर हुआ सो हो गया दिखता है।

उन राजाओं के पास से यह सब छीना सरकारी हुक्मरानों के हुक्मनामे ने। सरकार हमारी चुनाव से बनी है, और लोकतन्त्री है। वह मनमानी नहीं है, न पैतृक है। संविधान के तहत बालिग मताधिकार के आधार पर बाकायदा निर्वाचित हुई है।

आशा होती है कि कुछेक पुरुषों के पास स्वराज्य के पहले राजत्व के नाम पर जो रुवा और जमा रह गया, वह धन और अधिकार अब सबमें बँट जाएगा। विशिष्टता मिटकर समानता आएगी और ऊँच-नीच के भाव के लिए बुनियाद नहीं रह जाएगी।

बात उचित मालूम होती है। लेकिन जाँच-परख की गुंजाइश है कि क्या सचमुच वह जो गिनती की मुट्ठियों में संचित रह गया था, सबमें समान रूप से वितरित हो भी जाता है?

दिखता तो ऐसा नहीं है। श्रेणी-भेद गहरा है। नीचे और ऊपर के स्तरों में सैकड़ों गुना अन्तर है। धन के विषय में यह हाल है, विशेषाधिकार के विषयों में तो हालत और भी गयी-बीती है। छोटे-से-छोटे अफसर की ड्योढ़ी पर भी कतार इतनी लम्बी है कि कई-कई दिन तक नम्बर नहीं आता है। हाकिम इतना-इतना ऊँचा है कि उसके चरणों तक पहुँच पाना आम आदमी के बस का नहीं होता। द्वार कई-कई बीच में हैं। और हर चौखट पर पूजा-भेंट चढ़ाना जरूरी होता है।

मन्त्रियों तक हम क्या बन जाएँ। किसी ने हिसाब लगाकर बताया है कि चार लाख से कहीं ऊपर सालाना एक मन्त्री पर लग जाता है। उन पर तो तरह-तरह के बोझ हैं। नीचे तरह-तरह के अफसर हैं जिन पर रोब रखने की जरूरत है। पर संसद के सामान्य सदस्य तो शुद्ध और नितान्त प्रतिनिधि हैं। सब शासक

दल के नहीं है। अन्यान्य विरोधी दल के भी हैं। ये जन प्रतिनिधि, जन से इतने ऊँचे बन जाते हैं कि जन उनकी ओर डाह और अचरज से मुँह बाया देखता ही रह जाए? अपने पास की सुविधाएँ बढ़ाता ही गया है। भत्ते बढ़े हैं। घूमने-फिरने के तमाम सुभीते बन गये हैं। इस सबसे जिनका प्रतिनिधित्व उसे करना है, वे बेहद पीछे और नीचे छूटे रह गये हैं। एम. पी. अत्यन्त विशिष्ट बन आता है।

लोकतन्त्र का क्या अभिप्राय है, यही न कि राजा-प्रजा में फासला न रह जाए। राजा प्रजा में से ही न हो, बल्कि हर कोई अपनी जगह राजा अनुभव कर सके। यह स्थिति आदर्श है और इसलिए सहज प्राप्य भी नहीं है। लेकिन उस दिशा में गति हमारी ही होती है तो लोकतन्त्र का शब्द हमारे मुँह में झूठा पड़ जाता है। वह आडम्बर बनता है और नीचे विडम्बना की सृष्टि होती है।

भारत की स्थिति अलग है और देशों के लिए यह बात इतनी लागू नहीं है। सम्पन्न देशों में नागरिक और राजनीतिक की स्थितियों में उतना अन्तर नहीं है, बल्कि अकसर विधायक होकर आदमी आर्थिक घाटे में रहता है। वहाँ जीवन-मान के स्तर का भेद शायद इतनी जलन पैदा नहीं करता है। वह भेद उतना है भी नहीं। धन्धे के तौर पर राजनीति उतनी लाभकारी वहाँ नहीं है। सम्पन्नता और ढंगों से शायद अधिक प्राप्त की जा सकती है। इसलिए संसदीय विधायक का अस्तित्व लोकजीवन पर उतना दबाव और तनाव नहीं डालता है।

यहाँ विपन्नों का बहुभाग है। बहुत बड़ी तादाद बेकारों की है। चुनाव द्वारा बड़े बन गये एम.पी.। समाज जीवन पर अजब खिंचाव अनुभव हो आता है। उस व्यवसाय का लाभ देखकर चतुर जन मेहनत का सब काम छोड़कर राजनीति में लग पड़ते हैं। प्रचलित लोकतन्त्र का देश के जीवन पर यह विषमय प्रभाव बढ़ता जा रहा है। समझा जाता होगा कि इस आम निर्वाचन की पद्धति से जन-सामान्य को राजनीतिक उद्‌बोध और शिक्षण प्राप्त होता है। सच यह है कि जो कुछ प्राप्त हो रहा है, वह दन्द-फन्द की दलनीति ही है। जीवन टूट रहा है और गाँव तक में धड़ेबन्दी हो रही है। जाति, सम्प्रदायों, धर्मों, मतों के दायरे मजबूत बनते जा रहे हैं। रचने-बनाने की ओर ध्यान देने के लिए वे रह जाते हैं जिनमें जोड़, जुगत और तिकड़म की सूझ-बूझ नहीं है। चालाकी जिनके पास है, वे मजे में अपना काम बना ले जाते हैं। यह खुली बात है कि राजनीति के धन्धे में लागत कम और लाभ बेहद है।

इस परिस्थिति में हमारे सामाजिक मूल्य तीन-तेरह हो गये हैं। परिणाम यह है कि विद्रोह का मूल्य बढ़ गया है, मर्यादाओं का धूल में मिल गया है। एक अराजकता का भाव उभरता आ रहा है।

तिस पर इस देश में गाँधी हो गये हैं। अपने समय में यहाँ की राजनीति

के वे सिरमौर नायक रहे। पर रहते-सहते वे कुटिया में थे। कपड़े का टुकड़ा उनको आधा भी नहीं ढँक पाता था। तीसरे दर्जे से ऊपर कभी चले नहीं। उनके कारण यहाँ का आदमी अपने नेता को उसी मान से नापना चाहता है। अगर उस मान में वह ओछा तुलता है, तो भारतवासी उस नेता का आतंक तो मान सकता है, श्रद्धा नहीं दे सकता।

फिर यह देश धर्मप्राण रहा। यहाँ अकिंचन का आदर रहा है। राजा-नवाबों को उतना पूछा नहीं गया है। वे मूल्य अब भी भारत के हृदय से लुप्त नहीं हुए हैं। गाँधी ने उन्हें फिर से ताजा कर दिया है। देश-नेता को इसकी याद रखनी है। अगर देखा गया कि पुराने राजाओं के जाने पर नये राजा लोग और भी बड़ी तादाद में बन गये हैं तो इस लोकतन्त्र का क्या होगा?

गाँधी खुद फकीर बनकर रहा। लेकिन उसकी सलाह थी कि जो जहाँ है वहाँ उसको उपयोगी बनाओ, छीनो-छानो मत। राजा से, जमींदार से, धनाढ्य से डरने की जरूरत नहीं है। उनको काट गिराने के बाद कहीं इस डर में से ही पैदा न हुआ हो? निगाह उनपर नहीं डालनी है जो ऊँचे माने जाते हैं। ध्यान नीचों पर और छोटों पर देना है। अगर कोई नीचा नहीं हो, छोटा नहीं हो, श्रम की प्रतिष्ठा हो आये और उत्पादक अपनी जगह स्वाधीन नेता बन सके तो बड़ा माने जानेवाला आप ही अपने को व्यर्थ-सा अनुभव करने लगेगा। वह अपने मान से उतरेगा और सेवा में अपनी सार्थकता देख आएगा। सम्पदा और सत्ता में सत्य नहीं होता है। सत्य हर मन में बसा प्रेम और तन में रचा श्रम है। इस सत्य की श्रद्धा जगा दीजिए तो सत्ता-सम्पत्ति की माया का आतंक और आकर्षण आपो-आप फीका हो आएगा।

राजाओं को मौका मिला है और जनसाधारण के समकक्ष अपने को मान सके तो यह उनके लिए शुभ ही है। लेकिन समाजवाद, सुधारवाद, क्रान्तिवाद के जोम में जिन्होंने यह मार्का जीता माना है, उन पर दोहरी जिम्मेदारी हो आती है। जिम्मेदारी यह कि वे हुकूमत के गरूर में तो नहीं चढ़ते, जनता की सेवा में अभिमुख रहते हैं न।

इस दायित्व के निर्वाह में अगर वे पूरे नहीं उतरते हैं तो जनता उन्हें माफ करनेवाली नहीं है। वे प्रतिनिधि हैं और जनता उन पर अपना अधिकार मानेगी। कानून उसके हाथ में नहीं है, न वह कोर्ट-कचहरी है जो उल्लंघन पर निर्णय तथा दण्ड देती है। पर वोट उसके पास है और समय पर आग्रह भी हो सकता है। उसके पास में यह अधिकार छोटे नहीं हैं और शासक को अपने सम्बन्ध में सावधान रहना है।

[20.9.70]

केरल का फल, भावी के संकेत और इन्दिराजी की परीक्षा

केरल का फल आ गया। फतह मानी जाएगी शासनस्थ काँग्रेस की, हार पड़ी मार्क्सवादी कम्युनिस्ट दल पर। चुनाव में कई दल जड़ से ही नदारद हो गये, पर उनका पहले भी कोई विशेष स्थान न था।

इस चुनाव से दलों का बलाबल कुछ साफ हुआ है। पर असली चीज घपले में पड़ गयी है। बताया जाता है कि असल चीज है, समाजवाद और असम्प्रदायवाद। उन असल मामलों का क्या हाल है? काँग्रेस दल का समाजवाद, कम्युनिस्ट का साम्यवाद और मुस्लिम लीग का इस्लामवाद : मालूम होता है, ये तीनों वाद एक हैं। कम-से-कम आड़े वक्त हो ही सकते हैं। रहे अन्यान्य दल, जिनमें मार्क्सवादी कम्युनिस्ट प्रमुख हैं। पहले दलों में सबसे उसी का बहुमत था, पर अब भी वह केवल काँग्रेस से ही दोयम है। उसके पास क्या बचा रह जाता है? समाजवाद नयी काँग्रेस के, साम्यवाद कम्युनिस्ट पार्टी के, असम्प्रदायवाद मुस्लिम लीग के हवाले हो गया। काम के और नाम के आज यही तीन वाद हैं। बाकियों के पास फिर शायद मिथ्या का वाद ही रह जाता होगा।

लगता है कि मामला सचमुच वादों और विचारों से आगे पहुँच गया है। किसी असाम्प्रदायकिता से उसका कुछ वास्ता रह गया है। साफ है कि शक्ति नयी काँग्रेस की बढ़ रही है। उत्तर प्रदेश में सम्भावना उसी के उभरने की है। हवा के रुख से कहना होगा कि वहाँ चुनाव में वोट अगर आये तो इसी काँग्रेस के अधिक आएँगे। उत्तर प्रदेश से अलग और बाहर की हवा का रुख वही लगता है।

जनता जिसे कहा जाता है, उसके मन को एक नयी चीज मिली है। अभी तक गूँज थी वादों की और प्रतिवादों की। दल अपने नारे के साथ थे। हर दल का दावा था कि नारा सिर्फ मुँह का नहीं, उसके मन का है, नीयत का है।

इसलिए सोशलिज्म, सेक्यूलरिज्म, कम्यूनिज्म, लैफ्टिज्म आदि शब्दों में कुछ सत्त्व और आशय समझा जाता था। इन चीजों के बारे में वाद-विवाद, मत और विमत इतने हो चले थे कि जनता विभ्रान्त थी। उसे कुछ समझ ही न आता था। इसमें जाति-बिरादरी का बोलबाला होता था और पैसों का खुलकर खेल चलता था। जब सब घपला-ही-घपला हो तो विश्वसनीय पैसा हो जाता है या सगी जाति-बिरादरी।

अब शायद एक नया तत्त्व उभरा है। नयी काँग्रेस, नयी हो कि न हो, इन्दिरा-काँग्रेस अवश्य है। इन्दिराजी प्रधान मन्त्री बनीं तो किसी कोने में विश्वास था कि वह उनके चलाए चलेगी। पर हुआ कुछ और ही। एक-पर-एक पासा उनके हक में पड़ता गया। महारथीगण टूटते या बुझते गये। कुल काल की गुत्थम-गुत्थी के बाद दिखाई दिया कि व्यक्तित्व इन्दिराजी का धीरे-धीरे अप्रतिद्वन्द्वी हो गया है। सब मानो अपनी-अपनी जगह यथा नियुक्त बैठ गये हैं और सारे में जिनका प्रभाव छाया है, वह मात्र इन्दिरा गाँधी है।

क्या है उनकी नीति? वाद? कार्यक्रम? समाजवादी है, तो क्या है उनका कार्यक्रम? अपने कथनानुसार साम्यवादी तो है ही नहीं, उनके साथ भी नहीं है। वह सन्नद्ध, सेक्यूलरिस्ट और असम्प्रदायवादी है, पर इस खूबी से कि लीग का गठबन्धन उसमें खप सकता है। यह सब किसी की समझ में बैठ नहीं सकता। बस, अकाट्य तौर पर साफ मत हो जाता है कि शक्ति के शतरंज की चालें अपनी होती हैं और वहाँ अन्तिम कुछ नहीं होता। अन्तिम कुछ मूल्य वहाँ है तो स्वयं शक्ति और सत्ता ही है।

इस शक्ति तत्त्व के उत्थान को मैं आज की परिस्थिति में अशुभ नहीं कह सकता । शायद शक्ति मूल्य लोकतान्त्रिक नहीं है। उसमें मानव की सत्ता मिटे इसी कीमत पर राज्य की सत्ता बन पाती है। यह सब जानते हुए भी सच यह है कि आदमी को मजबूती अच्छी लगती है। इन्दिराजी जिस तरीके से उठती चली जा रही हैं, उसमें इरादे की मजबूती मालूम होती है। बस, इतने पर वह आदमी रीझ सकता है, जो ढुल-मुल ढंग को भोगता आया है।

शक्ति है, सिद्धान्त नहीं है, उसमें निरपेक्ष नीति भी कोई नहीं है। शक्ति स्वयं में ही सब है। सिद्धान्त भी है, नीति भी है, इसमें राज बल पर आगे शायद सुविधा होगी। चुनाव किसी कदर साफ होंगे। शक्ति यन्त्र एक व्यक्तित्व में अपना चरम-शिखर पाकर अपेक्षाकृत बिना रगड़-झगड़ के चल सकेगा और यह कोई नयी बात न होगी।

राजों, नवाबों, सम्राटों और अधिपतियों को इतिहास ने जाना है। लोकतन्त्र का प्रयोग तुलना में अभी नया-ही-नया है। इस पर खेद मानने की आवश्यकता

नहीं है कि वह तन्त्र स्वयं ही अपने में से एक केन्द्रित सत्ता को उदय में ला रहा है। मुझे किसी क्रेसी से लगाव नहीं है। देखना बस इतना है कि उस बेचारे, श्रमी, दीन-हीन जन के हित का क्या होता है, जो अन्तिम है और वोट के सिवा जिसके पास एक दम कुछ नहीं है। वही कसौटी है जिसपर राजाधिपति टिकेगा या टूटेगा।

[27.9.70]

लोकदलीय शासन को स्वयं अनुशासित होना है

उत्तर प्रदेश में अजब झमेला चला। मुख्य मन्त्री ने राज्यपाल से कहा कि काँग्रेसी मन्त्रियों को हटा दिया जाए। यह उनके अधिकार के अन्दर आता था। पर वे मन्त्री बने रहे। हाँ, उनके विभाग राज्यपाल की अनुमति से छिन गये। इस अनुमति-पत्र की स्याही भी न सूख पायी होगी कि राज्यपाल की ओर से लिखा गया कि मुख्य मन्त्री शाम तक अपना इस्तीफा दे दें। राज्यपाल ने हवाला दिया अटार्नी जनरल के अभिमत का।

चौधरी चरणसिंह थे मुख्यमन्त्री। चौधरी होकर वे कच्चे क्यों होने लगे? उन्होंने वापस लिख दिया कि बहुमत-अल्प मत का फैसला अन्दाज से नहीं हो सकता है। अधिवेशन 6 अक्टूबर को बुलाया गया और तब तक उनके पद से उतरने का प्रश्न नहीं होता था। इसके समर्थन में कानूनी हवाला दिया उन्होंने प्रदेश के एडवोकेट जनरल का। इसी झड़प में केन्द्र ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया।

सामान्यजन एकाएक जानना चाहेगा कि इस बारे में कानून क्या कहता है? वह क्या कहता है, यह ऊपर से स्पष्ट है; अर्थात् इसके हाथ में होकर यह कहता है और उसके हाथ में होकर वह भी कह देता है। दोनों ओर जनरल, फर्क इतना कि एक अटर्नी और दूसरा एडवोकेट। दोनों की कानूनी विज्ञाताओं के बीच आम आदमी हक्का-बक्का ही रह सकता है। वह सोच सकता है कि कानून क्या मोम की मूरत है, चाहे उसकी नाक इधर कर दो, चाहे उधर फेर दो।

यह स्थिति राज्य व्यवस्था के लिए शुभ नहीं है। संविधान ही है जो स्थिति को मर्यादा में रखता है। आइन-कानून उसी की चौहद्दी में काम करते हैं। सामान्यतया विश्वास रहता है कि उनके द्वारा रेखांकित मर्यादाएँ प्रशासन पर लागू होती हैं और न्याय की सत्ता सरकार को अनुशासित रखती हैं। यह विश्वास डिगता है तो मानना चाहिए कि शासन के पास नैतिक समर्थन नहीं रह गया है। मत का संख्या बल, नीति बल का स्थान नहीं ले सकता।

उत्तर प्रदेश की राजनीतिक स्थिति के पीछे दलों की जोड़-तोड़ के पेंच-दर-पेंच हैं। इन्दिरा काँग्रेस का इस प्रदेश में गहरा 'स्टेक' है। उस प्रदेश में मुख्य मन्त्रित्व का आसन्न इतिहास उसको उजागर कर देता है। इन्दिराजी का वह अपना प्रदेश है। जिस पर स्वराज्य काल से भारत के प्रधान मन्त्री सब वहीं से आते रहे हैं। भारत का वह सबसे बड़ा राज्य है। राष्ट्रीय महत्त्व के बड़े-बड़े प्रश्न वहीं उपजे और वहीं निपटे हैं। इसलिए इन्दिराजी की वहाँ की दिलचस्पी कोई अनोखी घटना नहीं है।

लेकिन शासक का दायित्व बड़ा होता है। मर्यादाएँ हर पद की हैं और प्रधान मन्त्रित्व के पद से उनके पालन की अपेक्षा और भी अधिकार भाव के साथ प्रजा में रह सकती है। दलीय बहुमत के आधार पर ही चाहे वह पद प्राप्त होता हो, तो भी हक यह है कि प्रशासक उस पद के द्वारा दल-हित साधने की तदबीर में न पड़ सकेगा। प्रशासक को पद पर निष्पक्ष रहना ही नहीं है, निष्पक्ष देखना भी है।

गाँधीजी राम राज्य की बात वृथा ही नहीं कहते थे। सीता पर शंका राम में हो ही नहीं सकती थी। पर वह राजा थे। राजा क्या कुछ नहीं कर सके। एक धोबी की बात चल गयी और राजा राम की आज्ञा से सीताजी को बनवास लेना पड़ा।

भारत में राजे लोग खत्म हो गये हैं। राजा राम दशरथ के पुत्र होने के कारण थे। इसलिए वह युग भी पिछड़ गया है। जमाना अब लोकतन्त्र का आया है। लोकतन्त्र कि जिसमें शासक नहीं होता, सेवक होता है। लाल किले पर श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने जनता को सम्बोधन करते हुए कहा कि इस दिन हम उसके सेवक जनता से मिलते हैं। भारत के लिए इससे बड़े भाग्य की बात क्या है कि शासक को अपने सेवक होने का ध्यान हो।

पर है ध्यान? अगर प्रजा को लगे कि ध्यान सिर्फ शासन को अपना पद बनाए रखने का है, तो भाषा का भाग्य यथार्थ का उपहास ही न बन जाएगा?

और उत्तर प्रदेश में कुछ सप्ताहों के राष्ट्रपति शासन से इस आम आक्षेप पर निरसन नहीं होगा कि इसमें इन्दिराजी के मन की दहशत का भी हाथ है।

वह हाथ न हो, पर फैला खयाल ऐसा ही है और शासक को उससे अनजान नहीं बने रहना है।

[4.10.70]

हथियार का पन्थ अनागरिक

कम्युनिस्ट एम.एल. दल के प्रमुख चारू मजूमदार का अपने हस्ताक्षर से 'लिबरेशन' के ताजा अंक में वक्तव्य निकला बताया जाता है। दल के कर्मियों को उसमें कहा गया है कि गाँवों में ही ध्वंस और नाश के कार्यक्रम को तीव्र नहीं बनाना है, बल्कि पुलिस के भी छक्के छुड़ा देने हैं। इस प्रतिगामी सरकार की ताकत के हाथ से बन्दूकों और दूसरे आधुनिक हथियार झपटकर छीन लेने हैं। हमारे छोटे-छोटे गुरिल्ला दल जब कि एक तरफ श्रेणी शत्रु का सफाया करेंगे तब दूसरी तरफ पुलिस को भी खैरियत से नहीं छोड़ेंगे। इस सफाये की लड़ाई में लाल आतंक कलकत्ता में ही नहीं, सारे बंगाल में छा जाएगा। अभी हमारे क्रान्तिकारी युवकों और विद्यार्थियों ने गाँधी और दूसरे बुर्जुआ नेताओं के खिलाफ युद्ध छेड़ रखा है और मूर्ति-भंजन का वे बाकायदा महोत्सव मना रहे हैं।

उससे जरा उतरकर कम्युनिस्ट (मार्क्सिस्ट) दल के नेता श्री रणदिवे का विवेचन है। उनका संघ बंगाल में बिखरा और नये चुनाव में केरल में से बुरी तरह उखड़ गया। कारण, कहीं युद्धीय मानस के तापमान में कमी थी, हमारे लोग नक्सलपंथ की ओर बहक रहे हैं। इसलिए अपनी रणनीति को उत्कट करना है। सैन्यमान (मिलीटेन्सी) को और भड़काना है।

लोग हैं जो कम्युनिस्ट दलों के भेद को ऊपरी मानते हैं। मानते हैं कि अन्दर से वे सब एक हैं। ध्रुवीकरण हुआ तो ऐसा ही हो जाएगा। लेकिन उससे पहले न केवल वे दल भिन्न हैं, बल्कि उनके बीच सद्भाव का कोई सेतु भी नजर नहीं आता है।

ऊपर दो उग्र-दलीय नेताओं के उद्धरण से हवा का रुख मिल जाना चाहिए। केवल मार्क्सिस्ट दल की रणनीति संविधान के उपयोग को इस अर्थ में मानती थी कि संविधान से ही संविधान को तोड़ा जाएगा। शासन यन्त्र और तन्त्र को हाथ में लेकर वह तोड़-फोड़ आसान हो सकती है। इसमें हिंसा के कार्यक्रम के साथ दूसरे कुछ व्यवस्थात्मक पक्ष के योग को भी स्वीकार किया जाता था, पर

नक्सल पंथ के उभार से मालूम हुआ कि विक्षुब्ध युवामन को जीतने के लिए हिंसा के साथ कोई मेल नहीं चाहिए। शुद्ध नंगी और विकराल हिंसा ही चाहिए। किसी भी शिष्टता और वैधानिकता से उसे ढकना हिंसा-नीति में अविश्वास जतलाने के बराबर है। इस पंथ का उठना था कि दूसरे कम्युनिस्ट और उग्रवादी तत्त्व फीके- से पड़ने लगे और नक्सलवाद आग की तरह देखते-देखते फैल उठा। बताया जाता है कि उसके अधिकांश प्रमुख नेता घेर लिये गये हैं, कुछेक ही बाहर शेष रह गये हैं। पर उस आन्दोलन की लपटें बुझी नहीं हैं। उसके मनोभाव दूसरे दलों के क्षेत्रों में भी दाखिल हो रहे हैं।

यह घटना टाल देने की नहीं है। पुलिस वगैरह की ताकत पर भी उस प्रश्न को सौंपकर निश्चिन्त नहीं हुआ जा सकता है। कारण, वे निरे असामाजिक अपराधी तत्त्व नहीं हैं जो सिर्फ बदअमनी फैलाकर अपना काम बना ले जाना चाहते हों। प्रत्युत उनके मन में सुचिन्तित विप्लव है और उसके पीछे एक तत्त्व-दर्शन का आधार है। अब तक भी शासन ने उन पर अपनी कम बारूद नहीं खर्च की है। गिरफ्तारियों की अच्छी-खासी तादाद है। नयी घोषणा ने पुलिस के हाथ और भी ताकत दे दी है। पर इस सबसे वह समर्थन विप्लवियों के दिल-दिमाग से दूर नहीं हो सकता, जो प्रेरणा बनकर उन्हें उस ध्वंस के मार्ग पर बढ़ाये ले जा रहे हैं।

प्रशासन के माथे समाज ने अपनी सुरक्षा का दायित्व डाला है और उसके लिए पुलिस फौज की पर्याप्त ताकत भी उसे सौंपी है। लोकतान्त्रिक पद्धति से यह किया गया है जिसका मतलब होता है कि फौज बाहरी शत्रुओं और पुलिस भीतरी अपराधियों के दमन के काम आएगी। भरसक दूसरा राजनीतिक उपयोग इसका न होगा।

पर लोकतन्त्रीय प्रशासक कह सकता है कि बताइए, हिंसक आतंक को दर-गुजर कैसे किया जाए? आप कहते हैं कि प्रेरणा में अपराध का भाव नहीं है। क्रान्ति का वाद है, तो इससे क्या भूमिहीन को जोतदार की हत्या का हक हो जाता है?

ठीक है कि हत्या बीच में आएगी, तो कानून का डण्डा ऊपर से जरूर उतरेगा। पर क्रान्तिकारी कहेगा कि क्या यह कानून है कि लाखों भूखे-नंगे रहें, बेरोजगार रहें और कानूनदाताओं को हर तरह का ऐश मुहैया होता रहे?

कानून और क्रान्ति की हिंसाओं की मुठभेड़ जारी है। आरोपण-प्रत्यारोपण भी सामने है। लेकिन रोजमर्रा की जरूरतें कानूनियों और क्रान्तिकारियों की एक-सी हैं। दोनों को दोनों वक्त खाना चाहिए। दोनों ओर के लोगों को हिंसा में प्रवृत्त रखने के लिए उनकी दरकार है जो नाज उगाए और चीज बनाए, सत्ता राजनीतिज्ञों

की यही रट है। विप्लवियों की भी वही निगाह है पर क्या उस खेल के खिलाड़ियों को चेताया जा सकता है कि उनका और उनके खेल का बोझ कौन सँभाल रहा है?

सँभाल वे रहे हैं जिनके पास बारूद या बन्दूक नहीं हैं, जिनके पास हल हैं, हँसिया है, हथौड़ा है। क्या राजनीतिकों का अन्तिम भरोसा हथियार ही नहीं है? पर हथियार से आदमी मरता है, जीता औजारों की सहायता से है जिनकी सहायता से वह फिर श्रमपूर्वक उपजा और बना पाता है।

हथियार का सहारा राजनीतिक को चाहिए। नागरिक का सब सहारा उसके अपने हाथ का औजार है। इसलिए हथियार-पन्थ अनागरिक और असामाजिक ही हो सकता है। उस राह जन क्रान्ति और जन शान्ति न हो पाएगी।

[11.10.70]

एक काण्ड और कानून के लिए सावधानी

कभी सीताजी की अग्नि परीक्षा हुई थी। अब उसी पर तुलसीजी की अग्नि परीक्षा हो रही है। आग की लपटों का इन्तजाम हुआ और तुलसीजी रायपुर से बाहर जाने का निर्णय करते-करते भी कई ओर के आग्रहों से रोक लिये गये हैं। सुना जाता है, अब लपटें कुछ शान्त हैं और 'अग्नि परीक्षा' नाम की पुस्तक मध्य प्रदेश सरकार द्वारा जब्त हो चुकी है।

तुलसीजी जैन तेरापंथी सम्प्रदाय के आचार्य हैं। अनेक वर्षों से अणुव्रत के आन्दोलन को लेकर समूचे भारत की पद-प्रदक्षिणा कर चुके हैं। आन्दोलन नैतिक उत्थान के निमित्त है, और इस दिशा में काफी काम भी हुआ है। तेरापन्थ सम्प्रदाय के तो पूज्य वे हैं ही, शेष जन-सामान्य के लिए भी सम्मान्य बने हैं। तेरापन्थ संघ का संगठन विलक्षण हैं। उस जैसा गठित समुदाय मेरे ज्ञान में दूसरा नहीं है। विलक्षणता यह कि उस सम्प्रदाय में अनेकानेक धनाढ्य हैं। लेकिन सत्ता उस आचार्य के हाथ है, जिसके पास स्वत्व के नाम पर कुछ भी नहीं हो सकता। मन्दिर तो उस पन्थ में होता ही नहीं। साधुओं के लिए उपाश्रय भी नहीं हो सकता। शब्द के सच्चे व पूरे अर्थ में तेरापन्थी साधु को जनाधारित कहना होता है।

तुलसीजी की कर्मण्यता को मैंने देखा है। उनकी नेतृत्व की क्षमता को परखा है। तेरापन्थ समाज उनके पहले जैनों तक में सबसे रूढ़िग्रस्त माना जाता था। अब शायद वही सबसे अग्रगण्य है। यह केवल तुलसीजी की प्रतिभा, प्रभाव और प्रताप के कारण। आचार्य तुलसी का व्यक्तित्व सम्प्रदाय के दायरे से उठकर क्रमशः लोकजीवन के क्षेत्र में आ रहा था। वहाँ उनसे प्रत्याशाएँ थीं और हैं।

उन्हीं को और उनकी कृति को लेकर चातुर्मास्य के बीच रायपुर में एक काण्ड खड़ा हो गया। यह बड़ी लज्जा और विडम्बना की बात है। आज के दिन जैन और हिन्दू का प्रश्न उठ सकता है और उठाया जा सकता है, यह अकल्पनीय था। अकल्पनीय यह भी है कि आचार्य तुलसी के मन में राम और सीता के चरितों के प्रति वरेण्य भाव न हो। फिर भी आग लहकी और कानून को और पुलिस

को बीच में आना पड़ा। स्थिति उत्कट हुई और शान्ति-भंग की आशंका हो आयी। यह सब अत्यन्त शोचनीय घटना हुई। घटना वह हो सकी, इसके निदान में जाना आवश्यक है। क्योंकि यह आवश्यक है कि ऐसे ग्लानिकर दृश्य आगे बचाए जाएँ।

शायद आग बुझ गयी है और प्रदेश के मुख्यमन्त्री को कहना पड़ा है कि पुस्तक के जब्ती के बाद फिर कुछ रह नहीं जाना चाहिए। जैसे कि पुस्तक की जब्ती ऊपर से आयी ठण्डी वर्षा हो!

जब्ती के हुक्म में है कि जान-बूझकर, इरादतन, शरारतन दुर्भाव भड़काने की कोशिश की गयी है। यह अभियोग संगीन है और इसकी जाँच की जानी चाहिए। इसमें शक नहीं कि रायपुर की स्थिति में शान्ति भंग की आशंका को बचाने के लिए ही यह कदम उठाया गया। पर यह विवेचनीय है कि राजनीतिक कारणों से किस मर्यादा तक बढ़ा जा सकता है?

राम और सीता के प्रति युग-युगों से भारतीय श्रद्धा का अर्पण दिया जाता रहा है। वे अब व्यक्ति चरित नहीं रह गये हैं, पुराण पुरुष हो गये हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने उन्हें मान व सन्दर्भ से भी मुक्त करके अवतारी दिव्यत्व से युक्त कर दिया है। उनको अब किसी दायित्वहीन समीक्षा का पात्र बनाना भारतीय मानस पर आघात देने के समान होगा। इस प्रकार की शंका-कुशंका यदि आचार्य तुलसी की पुस्तक से अमुक समुदाय में जगी तो रोष और आक्रोश के भावों का फट पड़ना स्वाभाविक था।

किन्तु ऐसे समय ही लोक-नेताओं की परीक्षा होती है। जनसामान्य में उठे आक्रोश के मूल को देखने-परखने का धैर्य लोक-नेता में आवश्यक है। रायपुर में उस प्रभावी नेतृत्व के दर्शन नहीं हुए, यह खेद का विषय रहेगा।

कुछ जैन मैं भी हूँ। पर भारतीय जिसको हिन्दू भी कह सकते हैं, भावना मैं अपने को किसी से पीछे नहीं मान सकता। राम जैन परम्परा में तद्भव मोक्षगामी सलाका पुरुष हैं। किन्तु भारत के राम समय-क्षेत्र या वृत्त की सीमा में नहीं घिर सकते। अनेकानेक रूपों में उनको व्याप्ति मिली है। उनकी कथा-गाथाओं में तनिक हेरे-फेर आ जाना अनिवार्य ही है। जैनों के महावीर खुद जैनों के निकट दो रूप ले उठे हैं : एक ब्रह्मचारी हैं, दूसरे विवाहित हैं। इस कारण दिगम्बर, श्वेताम्बर आम नामों में क्या दुर्भाव संगत या सही हो सकता है?

राम के माहात्म्य को हम याद करें। अग्नि-परीक्षा का दण्ड यदि उन्होंने सीता को दिया तो कल्पना कीजिए कि इससे भी कितना कठिन दण्ड उन्होंने खुद स्वीकार किया। यह महोत्सर्ग ही था जिसने श्री राम को सबका प्रणम्य बना दिया।

राम राजा थे। राजा स्वयं नहीं रह जाता। राम वह थे जो शास्ता से अधिक प्रजा के अधीन थे। लोकतन्त्रीय मानस के समक्ष उन्हें एक आदर्श प्रतिष्ठित कर

जाना था। अग्नि-परीक्षा के दण्ड से क्या माना जा सकता है कि सीता पर आये अपवाद को, लांछन को उन्होंने उचित ठहरा दिया? हिन्दू-मानस इतना हीन नहीं है कि वह घटनाओं की अन्तरंगता में न उतरे।

किन्तु रायपुर के एक धर्मभक्त महन्त समय पर उतने गहरे नहीं उतर सके। लांछन और अभियोग और दण्ड जितने ग्रहणीय थे, 'अग्नि परीक्षा' के परिणाम को उन्होंने उतना ही चमका दिया। पुस्तक में जनापवाद का वही सन्दर्भ था। अतः आवश्यक है कि साहित्य-कृतियों को जरा सावधानी से पढ़ा जाए।

[18.10.70]

नोबेल पुरस्कार मिला, पर मिलेगा ?

सोल्त्सनित्सिन के लिए नोबेल पुरस्कार की घोषणा हुई है। कहना चाहिए था कि नोबेल पुरस्कार उन्हें मिला है। पर इससे पूर्व पास्तरनाक को यह पुरस्कार मिलकर भी नहीं मिल पाया था। सोल्त्सनित्सिन ने कहा कि पुरस्कार लेने के लिए स्वीडन जाने की कोशिश करेंगे। कोशिश ही कर सकते हैं, उससे आगे दूसरी परिस्थितियाँ हैं ?

सामान्यतया यह देश के लिए गौरव का विषय होना चाहिए था। पर राजनीति स्थितियों को सामान्य नहीं रहने देती। वहाँ तो साफ ही था कि आमने-सामने दो छावनियों की हालत है दुनिया की। पर साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में मानने को जी होता था कि हालत उतनी बिगड़ी न होगी। गनीमत है कि खेल के ओलम्पिक में सब शामिल होते हैं और वहाँ वैसा विवाद नहीं होता। पर नोबेल पुरस्कार के बारे में रूस का विचार है कि उस निर्णय के पीछे राजनीतिक हेतु था। लेखक को पुरस्कार जान-बूझकर इसलिए दिया गया है कि वह रूसी शासन और संगठन के लिए अमान्य हो चुका है।

सोल्त्सनित्सिन आरम्भ से समर्थक नहीं, समीक्षक लेखक रहे हैं। मुझे लगता है कि लेखन में समीक्षा का तत्त्व आये बिना नहीं रह सकता। आसपास से, चालू नीति-नियम से जो तुष्ट हो, वह और सब धन्धे कर सकता है। लेकिन लेखन की प्रेरणा उस अन्तर में से आती है, जो वर्तमान को भावी की ओर खींचता है। सर्जनात्मक लेखन वर्तमान और भविष्य के इस अन्तराल में फला करता है। इसलिए ऐसे लेखक को थोड़ा उखड़ा-उखड़ा और तिरस्कृत-सा रहना पड़ता है।

सोल्त्सनित्सिन के बारे में जो सुना है, उससे मालूम होता है कि वह अपने इस भाग्य से अपरिचित नहीं हैं। अमान्यता को अपनी आस्था के भरोसे झेल सकते हैं। यह कीमत देने को राजी हैं, उसके अस्तित्व को कैसे इनकार किया जा सकता है ?

सोल्त्सनित्सिन चाहें भी तो स्वीडन कैसे जाएँगे ? जाने में पार-पत्र दरकार है और दूसरी भी अड़चनें हैं। वे बाधाएँ पड़ सकती या दूर हो सकती हैं, सरकार

के इशारे पर। सरकारें सब कहीं राष्ट्रीय हैं, अपने-अपने राष्ट्र के हित में वे आबद्ध हैं। आबद्ध इसलिए कहना होता है कि वे हित आपस में टकराते हैं और युद्ध नहीं तो तनाव का वातावरण पैदा किये जा रहे हैं।

ऐसे जिच की हालत बन गयी है। विज्ञान ने बढ़कर दूरी को बीच से खत्म कर दिया है, पर दूरी अगर मन की हो तो विज्ञान क्या करे? इस तरह विज्ञान के विकास के प्रतिरोध में मनुष्य की दूसरी वृत्ति उतनी ही बढ़-चढ़ गयी है। विज्ञान मानो उस सामूहिक स्वार्थ-वृत्ति के हाथ में आकर खुद बन्दी बन गया है। शक्ति के नये-नये स्रोत और उत्स विज्ञान आविष्कृत करता है, लेकिन वे सब अद्‌भुत शक्तियाँ चंगुल में पड़ जाती हैं युद्धपरक मानसिकता के।

एक रूस की बात नहीं है। डेमोक्रेटिक माने जानेवाले देशों में भी अपने राष्ट्र-हित की चेतना इतनी जाग्रत है कि समीक्षा से सुरक्षा के उपाय वहाँ भी करने पड़ते हैं।

राष्ट्रीय और शासकीय स्वार्थों के आर-पार होकर ही मानव जाति एक बन सकती है। आदमी दो नहीं हैं और ऊपरी जो भेद हैं, उनको एक-एक कर गिरना है। भेद मिटेंगे नहीं, पर उनके बीच दुर्भाव मिटे बिना न रहेगा। दुर्भाव की जगह सद्‌भाव आएगा और वे तत्त्व जो इस मानव सद्‌भाव के संवाहक होंगे, उनको इस प्रगति की राह में काम आना होगा। काम आना अर्थात् हर कष्ट और त्याग के लिए तैयार होना होगा।

जापान के एक लेखक हैं जिनका नयी पीढ़ी पर विशेष प्रभाव है। विस्मय हुआ, यद्यपि उसकी आवश्यकता न थी कि वे भी इस समस्या से जूझ रहे हैं। यह समस्या सब देशों के सब लेखकों के मन की है। वे तो बरी हैं, जो अपने देश की शासन-नीति में या अमुक राजनीतिक मतवाद में त्राण पा गये हैं। उनका भाग्य खिल चलता है और उस प्रतिष्ठा में पर्याप्त तृप्ति भी उन्हें मिल जाती है। लेकिन सांत्वना है कि सब या अधिक ऐसे नहीं हो पाते हैं। शायद वे ही हैं, जो शान्ति की क्रान्ति के काम आएँगे। वह क्रान्ति हल्ले की ही नहीं, रचना की होगी। वह उस जनता की होगी, जो करने में व्यस्त है इसलिए बोल ज्यादा नहीं पाती है।

रूस में लेखक संघ है। संघ लेखक को शक्ति देता है और उसकी हित-रक्षा और हित-संवर्धन करता है। सोल्त्सनित्सिन जैसे लेखकों को वह संरक्षण प्राप्त नहीं है, तो भी सम्भव हो सकता है कि संघ और संगठन से बाहर अनगिनत जनों का प्रेम उन जैसे एकाकी लोगों को प्राप्त हो जाता हो। आशा करनी चाहिए कि उन जनों का आशीर्वाद पास्तरनाक की हुई गति से सोल्त्सनित्सिन को बचा सकेगा।

[25.10.70]

धर्म और राजनीति

धर्म और शान्ति के विषय को लेकर गत 16 से 21 अक्तूबर तक तोक्यो में एक विश्व-सम्मेलन हुआ। तोक्यो जापान की पहले राजधानी थी और अब भी धर्म-दृष्टि से उसको जापान की राजनगरी कहा जा सकता है। जापान आर्थिक सम्पन्नता की राह से एक बड़ी शक्ति बनने पर आ गया है और अन्तरराष्ट्रीय चित्रपट पर वह अपने लिए खासे महत्त्व का स्थान बना लेना चाहता है। यह विश्व-सम्मेलन जापान में हुआ तो उसका एक कारण यह भी हो सकता है। इससे कुछ ही पहले 'एक्सपो' ने जापान की गरिमा को काफी ऊँचा उठा ही दिया था।

सम्मेलन हुआ और अपनी दृष्टि से सफल भी हुआ। किन्तु युद्ध का प्रश्न राजनीति का है, इसलिए शान्ति का प्रश्न भी राजनीति से अछूता नहीं रह जाता। राजनेता वहाँ कोई था नहीं। राजनेता होता है वह जो किसी प्रान्त, प्रदेश, देश या भूखण्ड की सत्ता का प्रतिनिधि हो। सम्मेलन में देशों के प्रतिनिधि थे तो वे धर्म प्रतिनिधि ही थे। उस देश का बल उनके पीछे रहा हो, ऐसी बात न थी। इसलिए सम्मेलन का प्रभाव भावनात्मकता से आगे नहीं जा सकता था। जनभावना कोई छोटी चीज नहीं है। लेकिन असर के लिए आवश्यक है कि उसको गठन में नियोजित करके कार्यकारी आयुध बना दिया जाए। सम्मेलन में ऐसा कुछ हो सका, इसमें संशय है। कार्यकारी समिति बनी है, बजट भी हुआ है, लेकिन विश्व-शान्ति की दृष्टि से यह गठन किसी समुचित शस्त्र का काम नहीं दे सकेगा।

यह कि भारत का भाग उस धर्म के विश्व समायोजन में क्या रहा, यहाँ अप्रासंगिक है। वह योग तनिक भी महिमायुक्त नहीं हो सका। भारत को वहाँ केन्द्रीय वृत्त में स्थान मिला तो ईसाइयत की राह से। आर्क विशप फर्नांडीज ने निश्चय ही प्रकट किया कि वह ईसाई हैं तो भारतीय भी हैं।

अजब द्वन्द्व

धर्म पर भूगोल की सीमा नहीं होती। राज्य भौतिक और भौगोलिक है। यह स्थिति

अजब द्वन्द्व पैदा करती है। हिन्दू के लिए अपेक्षाकृत यह समस्या कम है। पर शेष को दोहरी वफादारियों के बीच रहना पड़ता है। राष्ट्रीयता एक कर्तव्य सुझाए और धार्मिकता दूसरी राह बताए तो आदमी क्या करे? इस प्रश्न का हल उतना आसान नहीं जितना समझा जाता है। धर्म अहिंसक हो सकता है पर आक्रमण होने पर राष्ट्र धर्म हिंसक हुए बिना कैसे रहे?

और यह विरोधाभास उस धर्म-सम्मेलन में भी उपस्थित था। वह विरोध आसानी से कटता नहीं दीखता। कटने का उपाय हो सकता है तो यह कि हिंसक शस्त्रों के मुकाबले अहिंसा अपने को प्रबलतर अस्त्र सिद्ध करके दिखा सके।

क्या यह सम्भव है? प्रसन्नता की बात है कि यह सम्भवता उस विश्व सम्मेलन में अनुपस्थित न थी। वियतनाम के बौद्ध भिक्षु और नीग्रो-अमेरिका के हुतात्मा श्री किंग के उत्तराधिकारी नेता के स्वरों में वह गूँज वर्तमान थी। उन्होंने मानो समूचे सभा भवन में एक बार यह विश्वास जगा दिया कि शत्रु-हत्या से आत्म-बलिदान कहीं प्रबलतर है। अणु आयुधों की विभीषिका से त्रस्त संसार के लिए बलिदान में ही त्राण हो सकता है।

राजनीतिक समीकरण

पर यह श्रद्धा समूचे सम्मेलन की नहीं हो सकी। एक मसविदे में गाँधीजी का नाम आया था। प्रसंग वह धर्मानुकूल था। पर एक दिशा में सुझाव आया कि साथ लेनिन का भी उल्लेख हो। यह राजनीतिक समीकरण की दृष्टि थी। इससे सम्मेलन के निष्कर्ष के लिए गाँधीमय होने की सुविधा नहीं रह गयी।

धर्म नीति और राजनीति के द्वैत को समझने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। काँग्रेस जो भारत के राज्य पर है, राष्ट्रीय थी। गाँधी धार्मिक थे। द्वैत तब भयंकर रूप से प्रत्यक्ष हो गया जब भारत कटा और नेहरू ने एक ओर, तो जिन्ना ने दूसरी ओर हुकूमत की रास सँभाली। गाँधी तब दुखियों के आँसू पोंछने के काम में ही रह गये।

शान्ति निश्चय ही राजनीति के वश की चीज नहीं है। युद्ध उसके हाथ है और इसलिए राजनीति का वश यहीं तक जा सकता है कि युद्ध स्थगित रहे। इस स्थागन को शान्ति नहीं मान लेना होगा। शान्ति आएगी तो उस धर्म के मार्ग से ही जो भूगोल की सीमा-रेखाओं को व्यवस्था की रेखा से आगे महत्त्व नहीं देगा जो सब आदमियों को प्रभु की सन्तान मानकर आदरणीय समझेगा।

सेवा मार्ग

यह मार्ग बन्द नहीं है। गिरजे हैं, मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे हैं, उन सबसे प्राणी

को इसी मार्ग की प्रेरणा मिलती है। कठिनाई बस इतनी है कि यही प्राणी स्वार्थ के नाम पर राजनीति के हाथों खेल जाता और अन्त:करण के आदेश को भुला बैठता है।

काश, कि आदमी हों जिनकी पहली वफादारी खुद आदमी और जो मारनेवाले के सामने निडर होकर मरने को तैयार हों! प्रेम में वे जान दें तो क्या अचरज है जो घट नहीं सकता?

इस बलिदान से ठिठककर धर्म अगर इधर ही रह जाता है तो फिर उससे भला क्या आशा की जा सकती है?

[1.11.70]

हम कहाँ हैं, कहाँ जा रहे हैं?

इस बार विदेश गया तो एक बात मन पर गहरी खुदकर रह गयी। एहसास पहले भी होता था, लेकिन अब तो जैसे उसका अनुभव असह्य ही हो आया।

सिक्का देश की साख की पहचान है। हाँगकाँग में देखा कि एक हिन्दुस्तानी चालीस स्थानीय डॉलर के लिए सौ रुपये चुका रहे हैं। हिसाब से सौ के अस्सी डॉलर मिलने चाहिए थे। भारत के सिक्के का वह अवमूल्यन उस समय मन को धक्का दे गया था। लेकिन सोचा कि यह तो आर्थिक क्षेत्र की बात है। नैतिक क्षेत्र में भारत का मान अब भी ऊँचा हो सकता है। ऐसे मन को सांत्वना तो मिल गयी लेकिन कष्ट दूर नहीं हुआ। नैतिक साख जैसी चीज अवश्य हो सकती है, बल्कि उसकी क्षमता ज्यादा है। लेकिन वह साख आर्थिक तल पर भी कच्ची और ओछी साबित नहीं हो सकती।

याद कर सकता हूँ कि सन् 1956 में भी भारत से पूर्व के देशों में जाना हुआ था। हाँगकाँग भी गया था। तब देश कोई आर्थिक दृष्टि से बहुत समृद्ध नहीं बन गया था। लेकिन भारत का रुपया मजबूत ही नहीं था बल्कि सरकारी से ज्यादा ही उसका मूल्य उठता था।

भारत के और भारतीय के प्रति सब कहीं एक सभ्रम का भाव था। आर्थिक पहलू जाने बीच में कहाँ खो जाता था और नैतिक साख देश को सबके मनों में ऊँचा उठाए रखती थी।

सौ रुपये के एवज में अस्सी के चालीस डॉलर मिलने पर भी मैंने मन को समझा लिया था कि हाँगकाँग सिर्फ बाजार है और यहाँ असलियत की पहचान का सवाल नहीं है। लेकिन इसके कुछ ही बाद देखा कि भ्रम टिकना मुश्किल है। नैतिक और धार्मिक क्षेत्र में भी विश्व की सभा में आज भारत कहीं नहीं है। राजनीति में भारत राष्ट्र की अवगणना हो तो यह एक बार सह्य भी हो सकता था, लेकिन नीति और अध्यात्म का उसे गर्व रहा है। हम अपने राजनीतिक और आर्थिक दैन्य को नैतिक और आत्मिक सामर्थ्य के दावे के नाम पर सह लेते रहे

हैं। लेकिन इस विश्व समागम में वह गर्व खर्ब हो गया। मालूम हुआ कि वह सिर्फ थोथा है। वह उलटे उपहास का कारण भी बनता है।

गाँधी? हाँ, गाँधी को दुनिया स्वीकार करती है। लेकिन उस गाँधी के सन्दर्भ से आज के भारत को स्वीकार करने को कोई तैयार नहीं है। गाँधी को एक मौलिक धर्म पुरुष के नाते सब मान लेंगे। लेकिन भारतीयता के सूचक राष्ट्र पुरुष के रूप में उन्हें कोई नहीं लेना चाहता है।

और गाँधी आधुनिक भारत के प्रतीक हैं भी नहीं। क्या आज का भारत धुरीहीन और दिशाहीन ही नहीं है? क्या उसके पास कोई भी अपनी निष्ठा है? क्या वह स्वयं अपने पर आश्रित है? क्या उसके पास अपना अपनत्व है? आत्म-निर्भरता है? अपनी भाषा और अपना भरोसा है?

हम गुटनिरपेक्ष राष्ट्र हैं, पर क्या सचमुच निरपेक्ष हैं? पाकिस्तान ने रूस से अस्त्र पाए तो उधर अमेरिका से भी अस्त्र हासिल कर लिये। क्या इस निरपेक्षता का प्रमाण है कि हम इससे शिकायत करते हैं और उससे भी करते हैं? लेकिन कोई नहीं सुनता। शस्त्रास्त्र पाने की क्या हम भी दोनों से अपेक्षा नहीं रखते हैं?

हम आज कहाँ हैं? दुनिया दो ताकतों के बीच बँटी है और एक ओर से तीसरी परमाणु बम सम्पन्न शक्ति को भी उभरता माना जा सकता है। जापान गिनती में आ गया है। अफ्रीका के देश अपनी अदम्यता सिद्ध कर रहे हैं और लेटिन अमेरिका के लोग भी व्यक्तित्व पाते जा रहे हैं। भारत ऐसे समय बिखरा है और अपनी अन्दरूनी राजनीति में ग्रस्त है। छोटे-छोटे प्रश्नों को लेकर असामाजिक तत्त्व उभरते हैं और बहुत हद तक अपनी मनमानी करवा भी लेते हैं। पास-दूर के हमारे वैदेशिक सम्बन्ध सन्तोषप्रद नहीं हैं। नेपाल हिन्दू है, पर हिन्दुस्तान से सरकता दीखता है। क्या प्रश्न नहीं होता कि हम कहाँ हैं? अपने में कहाँ हैं?

पचपन करोड़ हमारी जनसंख्या है। यह संख्या कुछ अर्थ रख सकती थी, पर हमारी ऐसी औंधी नीतियाँ हैं कि यही संख्या हमारे लिए अनर्थक और भयावह बन गयी है। आदमी की कीमत सिफर से भी आगे घृणात्मक हो गयी है। बस, एक चीज है यहाँ बेशकीमत। और वह फॉरेन एक्सचेंज है।

हम किसलिए, किसके लिए रह रहे हैं? मालूम होता है कि उत्तर है, सिर्फ 'फॉरेन एक्सचेंज' के लिए। शहरों में दिखावा बढ़ रहा है और होटल-पर-होटल खड़े हो रहे हैं। एक-से-एक आलीशान होटल! क्यों? क्योंकि विदेशी मेहमान आएँगे और वे 'फॉरेन एक्सचेंज' लाएँगे। मेहमानबाजी के लिए लीजिए नाइट-लाइफ भी हैं। मेहमान खुश रहेंगे और खुश लौटेंगे तो 'फॉरेन एक्सचेंज' का हमारा कोष बढ़ेगा।

यह तस्वीर है हमारे निरपेक्ष राष्ट्र की। हम मालामाल होना चाहते हैं, पर आत्मत्व की भाषा में क्या यह कंगाल होने की राह ही नहीं है?

समय है कि देश सोचे, हम कहाँ हैं, कहाँ जा रहे हैं?

देश सोचे, राजनीतिकों पर न छोड़ें।

[8.11.70]

धर्माचार्य और धर्म-रक्षा

चातुर्मास के बीच में ही आचार्य तुलसी ने रायपुर छोड़ दिया। जैन मुनि के लिए यह अभूतपूर्व व्यवहार था। लेकिन उन्होंने शास्त्रवचन को गौण किया, नागरिकों की सुख-सुविधा को प्रथम स्थान दिया। कर्फ्यू की सख्ती के कारण लोगों को बड़ी परेशानी का सामना करना होता था और गिरफ्तारियों की संख्या अपरिमित होती जा रही थी। ऐसे हमें एक जैनाचार्य का चातुर्मास के भंग का निर्णय बधाई के योग्य हो सकता है।

आशा हो सकती थी कि अब हुड़दंग शान्त होगा। पर लक्षण उलटे दिखते हैं। श्री करपात्रीजी और जगत् गुरु श्री शंकराचार्यजी के प्रवेश से रायपुर की लपटों के दूर-दूर फैल जाने का डर हो रहा है। इन महानुभावों के व्यक्तित्व स्थानीय नहीं है और यदि इस कारण जैन और सनातन मनोभावों के बीच संशय और विभ्रम बढ़े तो यह बहुत ही खतरनाक बात होगी। हिन्दू धर्म की अद्वितीय महिमा यह है कि उसमें अनेकानेक मत, दर्शन और देवी-देवता सह-अस्तित्व में समावेश पा जाते हैं। वह किसी एक पुस्तक, एक नाम, एक सिद्धान्त से बँधा नहीं है। उसका आचरण पर बल है और उसमें नागरिक मूल्य की प्रतिष्ठा है। परस्पर सहिष्णुता और समादर हिन्दू-धर्म का ध्रुव रहा है।

दावा तो यह था और उचित था, कि हिन्दुत्व समूची भारतीयता का सूचक है। इस भारत भूमि को प्रेम करने और उस भूमि में अपनी सेवा, स्वेद डालनेवाला हर हिन्दुस्तानी हिन्दू, हिन्द और हिन्दी में आ जाता है। ऐसे समय अगर विघटन की वृत्ति धर्म क्षेत्र में भी फैली तो त्राण की फिर किधर से आशा रह जाएगी।

राजनीति अपना दिवाला खोलती दिखती है। वहाँ हिंसा का ताण्डव हो ही निकला है। संविधान को माननेवाले दलों की भी फूट चिन्ता पैदा करती है। ऐसे समय एक आशा धर्म से हो सकती थी। पर धर्म के क्षेत्र में धर्माध्यक्ष हैं, धर्मध्वजी हैं, धर्माधिपति हैं। आडम्बर सब है, नहीं है तो धर्म ही स्वयं नहीं है।

धर्म को जाने हमने क्या माना है? उसकी रक्षा के लिए संघों और सेनाओं का निर्माण होता है, जैसे धर्म रुग्ण, अशक्त और अपंग तत्त्व हो! सच यह है कि तमाम चिन्मय ऊर्जा के स्रोत और स्फुरण, गति और उत्कर्ष का नियम ही धर्म है। शक्ति है तो धर्म में है। धर्म में सुरक्षा है, धर्म को किसी बाहरी सुरक्षा की आवश्यकता नहीं है। धर्म व्याप्त है। उसका आधिपत्य नहीं हो सकता है। धर्म का दर्प और दावा कर सकते हैं तो केवल वे, जिनके पास धर्म की साधना और उपासना की लगन कम है।

जैन धर्म और सनातन धर्म। किन्तु धर्म न जैन में बन्द है, न सनातन में समाप्त है। धर्म की सत्ता सर्वव्याप्त है और उस निर्विशेष्य के साथ लगे सब विशेषण धर्मपूर्वक ही सच्चे हो सकते हैं, अन्यथा वे सब थोथे हो जाते हैं। यही कारण है कि नाना धर्म-सम्प्रदायों के और उनके मठाधीशों के रहते भी आधी से ज्यादा दुनिया धर्म-विद्रोही हो गयी है। धर्म की अनास्था फैलती ही जा रही है। जैन, सनातन अथवा इतर शब्दों के सहारे जो अब तक अपनी आस्था धर्म में बनाए रखना चाहते हैं, उनपर भारी जिम्मेदारी आती है। हिंसा, उत्पात और उपद्रव से सम्पत्ति का नाश अथवा सम्पत्ति की ही रक्षा हो सकती है। जो उन उपायों पर उतरते और टूटते हैं, वे नहीं जानते हैं कि वे ही धर्म को जड़ीभूत करने के कारण होते हैं।

आचार्य तुलसी की काव्य कृति 'अग्नि परीक्षा' को लेकर जो काण्ड मचा, और जो वहाँ से तुलसी के प्रयाण के बाद भी रुकता, थमता नहीं दिखता है— उसके प्रणेताओं ने क्या वह पुस्तक पढ़ी है? निर्मम भाव से मैं कह सकता हूँ कि नहीं पढ़ी है और यदि किसी ने सचमुच पढ़ी है, फिर भी उस काण्ड में उसका योग रहा है तो कहना होगा कि उसकी साहित्यिक समझ कच्ची है। मैंने पुस्तक पढ़ी है। साहित्य से मुझे सर्वथा अनजान भी नहीं माना जा सकता है। समीक्षा के रूप में यदि मुझे इस पुस्तक के सम्बन्ध में कहना हो तो त्रुटि यही कह सकूँगा कि राम और सीता के प्रति उस कृति में स्तुति गान का किंचित अतिरेक हुआ है। रामचरितमानस के तुलसी ने राम को लोकोत्तर सन्दर्भ प्रदान किया है। इसलिए यह काव्य के रूप में रामचरितमानस ग्रन्थ-शिरोमणि का स्थान पा जाता है। उसको धर्मागम की कोटि मिल जाती है। श्री राम के चरित्र की दूसरी गाथाओं की स्थिति ऐसी नहीं है। वाल्मीकि रामायण के राम मानवीय और ऐतिहासिक हैं। मानव की महिमामयता एक सीमा तक ही जा सकती है। इसलिए अवतारी राम के साथ जो न्याय तुलसी की रामायण में हो सका है, अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकेगा।

लेकिन राम का विराट आशय है। उनकी गाथा अनुपम है। उनका चरित्र

मर्यादा पुरुषोत्तम है। वह अमुक युग और क्षेत्र में सीमित रह नहीं सकता था। भारत भी उस पर अपना स्वत्वाधिकार नहीं जता सकता है, न कोई एक भाषा, धर्म या जाति उसपर अपना एकाधिकार बना सकती है। वह गाथा युग-युग से असंख्य नर-नारियों के मन में गहरे उतरकर अपना स्थान बनाती गयी है। इसलिए उस गाथा ने नाना रूप ग्रहण किये हैं। इस अनिवार्यता को रोका नहीं जा सकता। वे भूलते हैं जो उसे किसी एक साँचे में समेट डालना चाहते हैं।

जैन होने से सीता-राम के प्रति अपनी पूजा का अर्घ्य अर्पित करने से कोई वर्जित नहीं हो जाता। इसी आराधना में राम कथा यदि नाना वर्णित छटाओं से विभूषित हो गयी है तो यह उपयुक्त ही है। पुस्तक के प्रमाण से पता चलता है कि जैनाचार्य तुलसी ने राम के प्रति अपनी श्रद्धा भक्ति के अर्पण के अधिकार और कर्तव्य का निर्वाह किया है, जब कि अपनी काव्य कृति 'अग्नि परीक्षा' की उन्होंने रचना की।

इसके पहले कि कोई भ्रान्त हो, आशा है, वह 'अग्नि परीक्षा' को एक बार पढ़ लेगा। हो-हल्ले में जो पड़े हैं, उनसे और भी सानुरोध निवेदन है कि वे एक साहित्यिक कृति के रूप में उस पुस्तक को पढ़ जाएँ। तब मालूम होगा कि राम भक्ति में एक जैन किसी सनातनी से पीछे नहीं रहा है।

[15.11.70]

साहित्य की आँच, राजनीति की हाँडी

दिल्ली में होनेवाला अफ्रेशियायी सम्मेलन लेखकों का ही है। यह इससे भी सिद्ध है कि श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने आदेश-उपदेश लेखकों को ही दिये। उन्होंने बताया, लेखकों की क्या जिम्मेदारी है, क्या कर्तव्य हैं। आज के जमाने में इससे कोई बेजा बात भी नहीं देखी जा सकती कि राजनीतिज्ञ साहित्यकारों को उनका स्वधर्म बताएँ। हर राजनीतिज्ञ जब यह करता और कर सकता है तो श्रीमती गाँधी तो भारत देश की प्रधान मन्त्री हैं।

सम्मेलन में लेखक थे और उनकी बातें भी आयीं। लेकिन कुल मिलाकर सम्मेलन की चिन्ता कुछ और ही थी। 'साहित्य और साहित्यकार : उनकी दशा और दिशा' आदि की बातें सम्मेलन के लिए आनुषंगिक ही रहीं। प्रधान चिन्ता उन विषयों की थी जो शीत युद्ध के निमित्त माने जाते हैं। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की तीखी भर्त्सना से वातावरण छाया रहा। उपनिवेशवाद शब्द शायद पुराना हो चला है। नया शायद प्रभाववाद है। लेकिन उस शब्द को बचाया गया और 'साम्राज्यवाद' का ही बोलबाला रहा। प्रभाव वह चीज है जिसके चस्के से आज कोई बड़ी शक्ति बरी नहीं है। पहले की साम्राज्यशाही गैरजरूरी हो गयी है। आज विचार-प्रभाव, सिक्का और व्यवसाय इनके जरिये ही साम्राज्य-लाभ जैसा परिणाम प्राप्त किया जा सकता है।

उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद जैसे शब्दों की छाया में जुड़नेवाला सम्मेलन अगर लेखकों का था भी तो वह उनके आत्म-मन्थन के लिए नहीं था, बल्कि उनमें से अपना प्रयोजन निकाल-भर लेने के लिए था। कहीं ऐसा तो नहीं कि लेखक मानो हाँके में बटोरे गये हों और इस समायोजन के पीछे निरे अधकचरे धन्धेवान साहित्यिक ही हों! फिर उनके पीछे कौन रहा, यह वे ही जानते होंगे।

सोवियत रूस को एक सुविधा है, जो किसी के पास नहीं है। वह पूर्व और पश्चिम भी है। मास्को अधिकारतः अफ्रेशियायी सम्मेलन का निर्देशन कर सकता है। इसमें राजनीतिक आकांक्षा भी हो तो इसे अनुचित नहीं माना जाएगा।

सोवियत-तन्त्र अपने को विचार धारा के आधार पर निर्मित मानता है और इस विचार धारा में ही मानव जाति के त्राण का एक मार्ग देखता है। इसलिए साहित्य को उस दिशा से प्रेरित रखने का दायित्व प्रमुख मानकर वह अपना अन्तरराष्ट्रीय एक सांस्कृतिक मोर्चा जगाए रखे तो यह समझ में आने की बात है। सोवियत रूस की यह खुली नीति है। इसको यदि कोई राजनीति मानता हो, तो उसके लिए भी यह मानने का खुला अवसर है।

किन्तु साहित्यकार को अपने काम को समझना है। देश से पहले मानव व्यक्ति है और देश के बाद मानव जाति है। साहित्य इनके प्रति वफादारी खो नहीं सकता। उस वफादारी को किसी दल या मतवाद के अधीन भी नहीं कर सकता। लोग हैं जो राष्ट्र को और राष्ट्र राज्य को अपने लिए प्रथम और अन्तिम मान सकते हैं। ऐसे ही लोग हैं जिनके हाथ में आज ताकत है। वे युद्ध छेड़ सकते हैं या छिड़ने से उसे रोके रख सकते हैं। उनके पास साधन हैं और सारी व्यवस्था उन्हीं राजनेताओं के हाथ में है। मानव जाति इन राजनेताओं और राष्ट्रनेताओं के ताबे हैं। वह समस्याओं से घिरे हैं और तनावों से परेशान हैं। सब जगह उद्यम और उद्योग बढ़ रहा है और हथियारों का उत्पादन और लेन-देन भी उसी तेजी से बढ़ता जा रहा है। अपने-अपने आवेश हैं और आपसी प्रतिस्पर्धा में सब खिंचे रहने को मजबूर हैं। ऐसी अवस्था में शक्तियों के संगठन ही गिनती के लिए रह जाते हैं। मनुष्य इस तुमुल में भूला-बिसरा हो जाता है।

लेकिन उसकी भी आवाज है। साहित्य उसी को कहते हैं। वह दबी हो सकती है, धीमी हो सकती है, वह वक्त पर अकेली भी पड़ सकती है, लेकिन वह है और अपनी जगह अमोघ है।

वैचारिक मोर्च पर आधुनिक क्रान्ति के अग्रदूत रूस को बहुत कुछ कहना और करना हो सकता है। मार्क्स ही क्या समाज के क्रान्तदर्शी विचारक नहीं हैं? क्या लेनिन ने ही उस विचार क्रान्ति को रूस में स्वरूप नहीं दिया है? और इसलिए वह देश, उसके कार्यकर्ता प्रगति की मशाल एशिया और अफ्रीका के कोने-कोन में ले जाएँगे।

ठीक है, लेकिन उनके देश में सोल्त्सेनित्सिन हैं। उनको नोबेल पुरस्कार मिला है। अपने देश में वह बहिष्कृत के समान हैं और उनके कई साथी नजर में या जेल में बन्द हैं। पास्तरनाक को नोबेल पुरस्कार मिला और नहीं मिला। इन सब लोगों की जीवन-कथा सही और पूरी दुनिया के सामने नहीं आ सकती है तो क्यों? या किसी विचार को अपने प्रति-विचार के प्रति इतना भयभीत, इतना असहिष्णु होना चाहिए? क्या वह विचार है, जो डरता है? किन्तु कहीं यह तो नहीं कि व्यवस्था बनकर विचार बीच में खो गया है और उस व्यवस्था-तन्त्र की

आवश्यकता के लिए साहित्य की मुक्तता को बन्द रखना अनिवार्य हो जाता है।

राजनीति आज कहीं पर्याप्त सिद्ध नहीं हो पाती है। दोनों खेमे एक-दूसरे को बुरा कहकर अपने को कितना भी जमाना चाहें, उनका विश्वास लोगों के दिलों से उखड़ रहा है। नयी पीढ़ी समग्र विद्रोह पर उतारू दीखती है। सिर्फ राजनीति में नहीं—समूची समाज नीति में विद्रोह, पूरी जीवन नीति, धर्म नीति प्रश्न के नीचे आ गयी है। बना-बनाया आज कुछ भी मंजूर नहीं है।

इस हालत में राजनेता को चेतावनी लेनी चाहिए। सब कुछ को हाँकने की आदत छोड़ने का उसके लिए अब समय आ गया है। मानव जाति अपने भाग्य को अपने हाथ में लेगी। हाँकना स्वीकार नहीं करेगी।

साहित्यकार को समझ लेना है कि राजनीति को अगर कहीं से संशोधन प्राप्त हो सकता है तो वह साहित्य से ही हो सकता है। दूसरी और कोई क्षमता ऐसी शेष नहीं रह गयी है। क्या वे भी राजनीति की छड़ी के नीचे चलेंगे?

हर आँच से अपनी हाँडी गरमाने की राजनीति की कुशलता को भी सावधान रहना चाहिए। साहित्य की आँच पर उनकी हाँडी एक हद तक ही पक सकती है। उन्हें आगाह रहना है कि यह आँच कहीं उनके सारे खेल को ही न फूँककर रख दे।

[22.11.70]

क्या गाँधी-नेहरू रास्ता एक है ?

समाचार है कि श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने युवकों से अपील करते हुए कहा कि देश की समस्या को हल करने का सही रास्ता वह है जो महात्मा गाँधी और पण्डित नेहरू ने सुझाया था।

श्रीमती गाँधी नयी काँग्रेस के स्थानीय कार्यकर्त्ताओं के बीच भाषण कर रही थीं। जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयंसवेक संघ की कटु आलोचना उनके वक्तव्य में प्रधान रही।

क्या जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को बताने के लिए प्रधान मन्त्री ने गाँधी-नेहरू का नाम साथ लिया? या कि वह सचमुच मानती हैं कि देश की समस्याओं को हल करने का रास्ता गाँधी और नेहरू का एक ही था, या है?

राजनीति और देश-नीति के बारे में महात्मा गाँधी की दृष्टि वही थी जो स्वराज्य के बाद भारत के प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू की रही—इससे बड़ा भ्रम और मिथ्यावाद हो नहीं सकता। श्रीमती इन्दिरा गाँधी इस भ्रम को पोस सकती हैं और उसको फैलाना भी चाह सकती हैं। नेहरू-गाँधी विरोधी भी अनेक ऐसे हैं जो इस विभ्रम के प्रचार में अपना लाभ देखते होंगे। लेकिन आज के संकट में और भी आवश्यक है कि इस झूठ को जड़ से काट दिया जाए।

क्या दोनों का रास्ता सच ही एक था? लेकिन गाँधी को वह सेवाग्राम की झोंपड़ी में ले गया तो नेहरू को राजमहल तक ले आया। नेहरू जब अंग्रेजी लार्डों के लिए बने राजभवन में जश्न मना रहे थे, तब यदि नोआखली की लहू से भीगी धरती पर गाँधी भयत्रस्त दुखियों के आँसू पोंछते हुए पाँव-पैदल घूम रहे थे, तो क्या यह सब एक ही रास्ते पर चलकर?

हाँ, नेहरू का नाम गाँधी के साथ लिया जाता था। काफी अर्से तक वह साथ लिया जाता रहा। वह जमाना था, जब नेहरू को गाँधी के रास्ते चलना पड़ रहा था। वह जमाना स्वराज्य की लड़ाई का था। खुद राज्य का नहीं था। तब प्रजा को दुःख-त्रास से बचाने के लिए स्वयं ढाल बनकर वार को अपने ऊपर

झेलना होता था। जेल जाना और कष्ट सहना होता था। प्रजा पर वे कष्ट कहाँ से आते थे? कष्ट आते थे राज्य और राजा की तरफ से। राज्य परदेशी था और राजा परदेशी थे और भारतवासी इस परातन्त्रता के पाप को समझ गये थे। वे किसी कीमत पर उस तन्त्र को सहना नहीं चाहते थे और एक दिन आया कि परदेशी अपने देश चला गया, राज्य अपना बन गया और राजा भी अपने देश के बन गये।

इसको स्वराज्य कहते हैं। नेहरू ने उसको अपना स्वराज्य कहा और विजय की भावना के साथ वह प्रधान मन्त्री के पद पर जा पहुँचे और गाँधी ने नेहरू को आशीर्वाद दिया और उदास मुँह फेरकर वह स्वयं दूसरी ओर चल दिये।

दोनों का क्या यह एक रास्ता था? उनको क्या कहा जाए कि जो फिर भी ऐसा कहते हैं?

प्रजा के मन में उस नेहरू का स्थान गहरा बन गया था जो मोतीलाल नेहरू का लाडला था, कपड़े जिसके पेरिस से धुलकर आते थे। फिर भी जो गाँधी के हुक्म पर ऐश-आराम से बाहर निकला। मोटे टाट-से खद्दर का बाना धारा और जेल यात्रा के लिए तैयार हो गया। वह नेहरू प्रजा का सेवक और सिपाही था। उसकी लड़ाई में गाँधी अहिंसा के अधीन होकर लड़नेवाला योद्धा था, पर लड़ाई खत्म हुई तो क्या हुआ?

गाँधी ने कहा कि सेवक, सेवक रहें राजा न बनें। नेहरू की काँग्रेस को यह क्यों मंजूर होता? इसलिए काँग्रेस की हाई कमाण्ड राजा बनी और नेहरू राजाओं के राजा बनने के लिए विवश हुए। विवश इसलिए कहना पड़ता है कि तब भी भाषा गाँधी की अपनायी गयी थी। नहीं तो कोई कह सकता है कि नेहरू ने इस घटना पर भारत की ओर से अद्‌भुत गौरव और गर्व का अनुभव नहीं किया।

यह राजा नेहरू हमारा प्यारा नेहरू ही है। स्वराज्य के आरम्भ के कुछ वर्षों तक इस आश्वासन को प्रजा पौसती ही रही। पर कब तक यह कोशिश चल सकती थी। झूठ को आखिर टूटना था। और प्रजा को अनुभव हुआ कि वो स्वयं लूट रही है और देश साथ-ही-साथ विदेशी कर्ज के दल पर मालामाल हो रहा है। दिल्ली की दौलत बढ़ रही है। भारत कंगाल हुआ जा रहा है।

देश की प्रजा इसलिए आज भौचक है। उसे कुछ समझ नहीं आ रहा है। कल-कारखाने चल रहे हैं और चढ़ रहे हैं। आँकड़े बताते हैं कि पैदावार खूब बढ़ रही है। राजनीति का कारोबार धूम पर है। एक-एक सीट के चुनाव में लाखों-लाख का वारा-न्यारा हो जाता है। शहरों में वह रौनक है कि देखते रह जाइए। राजा इधर खत्म हो रहे हैं, उधर उनकी नयी पौद लहलहा रही है। सोशलिज्म हो रहा है और लोगों की आशाएँ पनपायी जा रही हैं। लेकिन रहने-सहने की मुसीबतों के मारे आम आदमी का मन बैठा जा रहा है। चोरी, डाके, ठगी की

वारदातें बढ़ रही हैं। घूसखोरी की बात ही क्या कीजिए? सुधार और परिवर्तन चाहनेवाले राजनीतिक मानस के युवक भी खुलकर हत्या पर उत्साह हो आये हैं। कुछ सूझता नहीं है। इसलिए जिसको जो सूझा है, वह कर रहा है।

पक्ष लगता है, पहले की तरह दो ही रहे जा रहे हैं, इस्टेब्लिशमेण्ट और एण्टी-इस्टेब्लिशमेण्ट। एक वर्ग व्यवस्था-भोग का और दूसरा व्यवस्था-भंग का।

ऐसे समय प्रधान मन्त्री के पद पर बैठकर श्रीमती इन्दिरा गाँधी नेहरू के रास्ते को गाँधी से जोड़ने का साहस करती हैं, तो यह दुःसाहस है। नेहरू ने माना था गाँधी को। और त्याग और बलिदान के फलस्वरूप राजपद की कुर्सी सामने आयी, तब गाँधी को धता बता दी गयी। गाँधी की पीठ-पीछे अंग्रेज के साथ और अंग्रेज के हाथ देश का विभाजन स्वीकार कर लिया गया। गाँधी ने जो विश्वास नेहरू में रखा था, उसका घात हो जाने दिया गया। इस विश्वासघात की कथा को दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

लेकिन अब भी कुछ किया जा सकता है। गाँधी के उस रास्ते को याद किया जा सकता है, जो नेहरू का नहीं रहा और अब भी जो सरकार का नहीं है। वह है देश को सबसे स्वावलम्बी बनाने का। फॉरेन एक्सचेंज की आमद और इण्डस्ट्रीयलाइजेशन के फैलाने के चक्कर के भरोसे नहीं बल्कि देश की जनशक्ति और श्रमशक्ति के बल-बूते पर। देश को जल्दी-जल्दी मालामाल बनने की तृष्णा से मुक्त करना और उसको चरित्र बल और नीति बल में दृढ़ करना है। राष्ट्र की खूबसूरत और जगमगाहट और चकाचौंध बढ़ानी नहीं है बल्कि उसका नैतिक, मानसिक, शारीरिक-स्वास्थ्य और स्वच्छता बढ़ानी है। दूसरे की आँखों के लिए जीना है, अपनी आत्मा की रक्षा, प्रतिष्ठा और प्रभावना के अनुकूल रहना सिखाना है।

यह है जो गाँधी का रास्ता था और नेहरू ने जिसको ओझल कर दिया। इन्दिराजी यदि गाँधी के नाम को अपने मुँह पर रखना चाहती हैं तो जगें और सोचें कि क्या वह सोशिल्ज्मि कोई हो सकता है, जो कानून से पहले अपने से शुरू किया जा सके। गाँधी नीति कुछ भी है तो वह है जिसकी शुरुआत अपने से ही हो जाती है।

[18.10.70]

दो प्रख्यात लेखक और उनका 'अपना-अपना भाग्य'

दो लेखकों के नाम इधर अन्तरराष्ट्रीय समाचारों के शीर्ष पर प्रकाशित हो गये हैं। सोल्त्सनित्सिन रूस के लेखक हैं, पर देश के राज्य-स्वीकृत लेखक समाज में बहिष्कृत के समान हैं। उनके लिए नोबेल पुरस्कार की घोषणा हुई है। घोषणा इसलिए कहना होता है कि उनके पास पुरस्कार पहुँच पाएगा, यह संदिग्ध है।

अभी हाल में दिल्ली में अफ्रेशियायी लेखक सम्मेलन हुआ। उसमें साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद के विनाश के प्रति लेखकों को आह्वान और उद्बोधन मिला। ये निन्दात्मक शब्द काफी आम हैं और शीत युद्ध के वातावरण के एक के पक्ष और दूसरे के विपक्ष के काम आते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तनाव में दोनों पक्ष अपनी-अपनी राजनीतिक प्रभावाकांक्षा से मुक्त नहीं है। और तीसरी शक्ति जो प्रभाव-विस्तार की इस दशा की होड़ में आ गयी है, उसके प्रति सजग और सावधान है।

इस प्रकार इस सम्मेलन में लेखकों का जो वर्ग एकत्र हुआ, वह एकपक्षीय भाषा से ऊपर नहीं आ सका। यदि मानव पक्ष जैसा भी कुछ हो तो उससे हटकर लेखक किसी एक राजनीतिक पक्ष को अपनाकर कैसे रह सकता है?

कुछ बन्धुओं ने मिलकर सम्मेलन के विरोध में शोर किया। स्पष्ट था कि वे सोवियत नहीं माओ-नीति के पक्ष में हैं, अर्थात सम्मेलन सोल्त्सनित्सिन के देश की राष्ट्र-नीति के अनुमोदन में हुआ और रहा।

सोल्त्सनित्सिन को लेकर लेखन और लेखक के सम्बन्ध में क्या कोई प्रश्न प्रस्तुत नहीं होता? किन्तु किसी ओर से इस प्रश्न की भनक नहीं उठी। ऐसा सुझाने पर भारत विषयक रूसी विद्वान चेलिशेख ने अकेले में मुझसे कहा कि सोल्त्सनित्सिन छोटा आदमी है, बहुत छोटा आदमी है। सम्मेलन उसके नाम के उल्लेख तक नीचे नहीं आ सकता था और आप जैसे 'बड़े' लेखक के मुँह पर उस क्षुद्र का नाम बिलकुल नहीं आना चाहिए।

मैं अनुभव कर सका कि सोल्त्सनित्सिन की क्षुद्रता के निश्चय के लिए ही

मुझे बड़ा बनना पड़ रहा है।

किन्तु प्रश्न जो उस नाम के निमित्त से समक्ष आता है, वह साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद का नहीं है। स्वयं राज्यवाद का ही है। इस प्रश्न से किनारा लेना साहित्य के दायित्व की चुनौती से बचना होगा।

दूसरा नाम, जिनके समाचार ने दुनिया को थर्रा दिया, जापान के मिशिया का है। वह शायद उस देश के सबसे लोकप्रिय लेखक थे। प्रकाशकों की माँग से इतने घिरे कि दो बार की जापान यात्राओं में उनसे मिलना मुझे नसीब न हुआ। कोई चार वर्ष पहले वह यहाँ मिले थे। आये तो देखकर कुछ अजीब लगा था। तब शायद आम रिवाज न था, पर उनकी कनपटी का खत काफी नीचे तक आ गया था। छोटे खुले कॉलर का कोट बेहद चुस्त, पतलून उतनी ही तंग। कोई एक घण्टे बैठे होंगे। अंग्रेजी खासी बोल लेते थे। बदन दुहरा न था, पुष्ट और कसा था। बातें दृढ़ और निश्चयात्मकमालूम हुईं। मैंने बल्कि जिक्र आने पर परिचितों से कहा कि श्री मिशिया लेखक से काफी कुछ ज्यादा भी मालूम हुए।

हाराकिरी जापान की एक प्राचीन प्रथा है। सामन्ती परम्परा में उसकी ऊँची प्रतिष्ठा रही है। लेकिन वह प्रथा पुरानी पड़ गयी समझी जाती थी, पर मिशिया ने अपने नाम के गौरव से उसे फिर गौरवान्वित कर दिया है। यहाँ तक कि अपने प्रिय लेखक के उदाहरण से हाराकिरी का सिलसिला ही कहीं आरम्भ न हो जाए।

मिशिया अपनी राष्ट्र नीति से सन्तुष्ट नहीं थे। अपने देश की संस्कृति के पतन से सन्तप्त थे। शायद केवल शब्द के पुरुष वह न थे। समाचार के अनुसार उन्होंने अपने सौ के लगभग अनुगतों की कमान खड़ी की और पाँच शिष्यों के साथ सैनिक विद्रोह उभारने की आशा में कूच पर बढ़ गये। जनरल को हिरासत में देकर सैनिकों को सम्बोधित किया लगता है, भाषण का पर्याप्त प्रभाव न हुआ। जनरल के सामने लौटकर खंजर से इधर-से-उधर तक उन्होंने अपना पेट चीर लिया और (शायद पूर्वादेशानुसार) बराबर खड़े शिष्य ने एक बार में उनके सिर को धड़ से अलग कर दिया।

क्या कहा जाए इसे! महोत्सर्ग की घटना कहा जाए या नाटकीय सनक मानी जाए!

लेकिन मिशिया लेखक थे और कहीं गहरे में लेखन से उस लोमहर्षक घटना के योग का सूत्र भी देखा जा सकता है। लेखक प्राप्त में उतना नहीं रहता जितना चाह में रहता है। वस्तुओं में नहीं, जितना विचार में। आज में नहीं, जितना कल में। यहीं से वह वर्तमान को आगे की प्रेरणा दे पाता है। इसी कारण 'है' से उसकी लड़ाई रहती है और चाहिए में मन रहता है। लेखन का काम ही इस तरह खतरे

से भरा है। सुख-सुविधा के इस किनारे से दूर हटकर वह क्रान्ति और बलिदान के उस छोर तक जैसे जा बढ़ने का काम है। वहाँ सामान्य बुद्धि पर सनक सवारी गाँठ सकती और असाधारणता का मोह उसे अपने से तोड़ दे सकता है।

खैर, ये दो प्रख्यात लेखक हैं और सोचना पड़ता है कि अपना-अपना भाग्य।

[6.12.70]

साहित्य को अंकुश से बचाइए

बन्धु आये और आज्ञा दी कि आपको चलना है। यह तिथि, यह समय। साहित्य का सम्मेलन है और प्रदेशव्यापी है।

मैंने कहा, "एकदम वारंट!"

बोले, "जी, नहीं। कल भी हम आये थे। आप मिले नहीं। उनको जाना था और अब उनकी ओर का आग्रह भी मैं ही लाया हूँ।"

यह बन्धु साहित्यिक से कुछ अधिक थे। उनकी चिन्ता साहित्य में न थी। वह लोक-चिन्ता थी। इसलिए अनिवार्य था कि उस तिथि और समय पर मैं यथास्थान पहुँचूँ और उनकी योजना यथाविधि कार्यान्वित हो।

प्रधान वस्तु योजना है। आदमी का काम उसमें फिट-भर हो जाना है। योजना वे बनाते हैं जिनपर लोक-चिन्ता का दायित्व रहता है। इसलिए जो संगठनाओं में जीते और जँचते हैं, फिर जो भिन्न-भिन्न प्रकार के अपना-अपना काम करनेवाले जन हैं, उनके निमित्त इतना ही रह जाता है कि उन-उनको अपनी उपयुक्त जगह बिठाकर उनमें से यथावश्यक प्रयोजन प्राप्त कर लिया जाए।

अब ये लोक-चिन्ताएँ प्रधानतः दो वर्ण की हैं : एक वाम, दूसरा दक्षिण। ये दिशाएँ ही नहीं हैं, इनके अपने रंग भी होते हैं।

मेरा दुर्भाग्य कि कुछ भी मुझे नहीं आ पाया है। इसलिए अपने कोने में बैठा कुछ शब्द गढ़ लिया करता हूँ। उन शब्दों का योग मेरे मन में रहता है। लेकिन शब्द का उपयोग मंच पर भी हुआ करता है। हम जैसों के हाथ में शब्द ज्यादा-से-ज्यादा औजार हो सकता है। लेकिन व्यवस्थापक राजनीतिज्ञ भी मंच पर खड़ा कर लेता है। शब्द वहाँ से आयुध का काम देने लायक बन जाता है। इसलिए जैनेन्द्र, निकलो कोने से और मंच पर आओ।

उनकी आज्ञा में आमन्त्रण है। कोने का शब्द शायद मौन तक भंग न कर पाए। मंच से उसकी ध्वनि-प्रतिध्वनि दिग्दिगन्त तक जा सकती है। शब्द, विचार, व्यथा का रहकर क्या भाड़ फोड़ लेगा? सैकड़ों-हजारों को उभारकर और अखबारों

के जरिये लाखों-लाख द्वारा पढ़ा जाकर वही शब्द जगमगा आएगा और आग और चाबुक का काम कर सकेगा।

अशक्त साहित्यिक के सामने सशक्त वाग्मी बनने का निमन्त्रण बन्धु ने ऐसे बिछाया है, जैसे सामने सब्जा बिछा हो, और कालीन उसका बेहद गुदगुदा हो! लेकिन कूपमण्डूक बाहर आये तो कैसे आये?

बाहर आना बड़ा भी हो सकता है। यह तो चलिए, सो-दो सौ मील की बात होगी। लेकिन हजारों मील दूर मास्को वगैरह का मामला भी हो सकता है और यह न्योते कम लाभ या लोभ के नहीं होते। मतिमन्द और अभागा है वह जो उन्हें नहीं पाता या नहीं अपनाता है। शब्द इसी विस्तृत बाजार में पहुँचकर गरमा-गरम बनता है, अन्यथा वह ठण्डा ही बना रह सकता है।

मैंने कहा, ''जी नहीं, माफ कीजिए।''

बोले, ''यह कैसे हो सकता है? वहाँ सब तैयारी हो चुकी है।''

मैंने कहा, ''देखिए, आप दायीं तरफ कुछेक मील ले जाएँगे। बायीं तरफ की बात क्यों न सोची जाए कि सैर हजारों मील हो!''

बन्धु ने मेरी ओर देखा। बोले, ''जी नहीं, यह विशुद्ध साहित्य का सम्मेलन है।''

मैं समझ गया कि विशुद्ध है, क्योंकि सब तय है। नाम तय है, जगह तय है। नाम को उस जगह में भर देना भर शेष है। इससे आगे विशुद्धता क्या कर सकती है!

मैंने कहा, ''देखिए, आप उदार हैं। माफ कर सकते हैं।''

बोले, ''साहित्य से ही देश का अभिमान ऊँचा होता है। हम तो सेवक मात्र हैं। दिशा साहित्य को आप जैसे लेखक न देंगे तो कौन देगा?''

आगे भी वह कहते गये। मैं सिर खुजलाता रहा। क्या मुझे अपनी भी दिशा मालूम है? और क्या बन्धु दिशा भूलकर मुझ तक आ गये हैं? लेकिन मालूम होता है कि व्यवस्था सब हो गयी है और जो सिर्फ साहित्यिक है, वह निरुपाय ही हो सकता है।

मैं 'हाँ' नहीं कह पाया हूँ। किन्तु बन्धु ने अवश्य वहाँ 'हाँ' लिख दिया होगा और देखा जाएगा कि पक्की पूरी व्यवस्था में यथानियुक्त स्थान और समय पर मैं पहुँचा और बिठा दिया गया हूँ और यथानियुक्त रोल अदा कर रहा हूँ।

ठीक है, वह सब ठीक है। अक्षम के साथ सक्षम यही करता आया है। अक्षम होने के लिए साहित्य इसलिए है कि सक्षम राजनीति है। वाम पक्ष की राजनीति और प्रतिपक्ष में दक्षिण की राजनीति। उनके अपने-अपने साहित्यिक और सांस्कृतिक मोर्चे क्यों न हों, वैसी पातें और संस्थाएँ क्यों न बनें? वह राजनीति

क्या, जो किसी कोने को ध्यान से छोड़े! क्या व्यवस्थापक शासक को आधिपत्य न चाहिए? क्या वह आधिपत्य है जो सम्पूर्ण न हो? उस आधिपत्य के हाथ अंकुश होगा और उस अंकुश से सब कुछ को चलाया या रोका जाएगा।

फिर भी मैं कहता हूँ कि कृपया साहित्य को अंकुश से बचाइए। बचाइए इसलिए कि यदि आपको स्वयं अपने लिए अंकुश की आवश्यकता प्रतीत हो आये तो वह अंकुश आपको वहाँ के सिवा कहीं अन्यत्र से नहीं प्राप्त हो पाएगा।

[13.12.70]

तीन तिनके और हवा का रुख

तूफान में उड़ते तिनकों की क्या गिनती! ऐसी ही घटनाओं की भरमार में छिटपुट समाचार खोए रह सकते हैं। पर तिनके हवा का रुख बताते हैं और समाचार की गहरी सूचना दे सकते हैं।

मास्को से आया यह समाचार शुभ मालूम हुआ कि नोबेल पुरस्कार पानेवाले सोल्त्सनित्सिन एक संस्था के सदस्य बनाए गये हैं। संस्था को अर्द्ध-भूमिगत कहना चाहिए, अर्थात् वह सीक्रेट तो नहीं है, स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र सरकार से और स्वतन्त्र पार्टी से। इन दोनों के प्रति वह संस्था अनुगत नहीं होगी, समीक्षक रहेगी। इतना अवश्य है कि वह समीक्षा ध्वंसात्मक की जगह रचनात्मक रहा करेगी। इस संस्था में विज्ञान के नोबेल लारियेट बड़े वैज्ञानिक हैं जिन्होंने रूस देश को हाइड्रोजन बम के आविष्कार से सम्पन्न किया और इसी श्रेणी के दो और वैज्ञानिक भी हैं। उसने दण्डित और अब तक मानो बहिष्कृत लेखक सोल्त्सनित्सिन का मनोनयन किया और अपना सदस्य अंगीकृत किया।

खुद मास्को से यह खबर आयी, इसलिए और अधिक सूचक मानी जा सकती है। सोवियत समाज के चारों ओर प्राचीर रहती है, यह उसकी प्रतिष्ठा है। वह एकदम नियोजित समाज है और दलीय व्यवस्था का एक ऐसा चौखटा वहाँ माना जाता है जिसके भीतर ही व्यक्ति के अभिक्रम का अवकाश मिल सकता है। नियन्त्रण की वह चहारदीवारी अन्तिम है और व्यक्ति के लिए दूसरी गति नहीं है। सोल्त्सनित्सिन की किताब 'फर्स्ट सर्किल' स्टालिन के जमाने के दस अति नियन्त्रित समाज-व्यवस्था का एक भयानक चित्र उपस्थित करती है। पर वैज्ञानिकों की इस नयी संस्था की सूचना जिसमें घोर समीक्षक, साहित्यिक सोल्त्सनित्सिन को भी सम्मिलित किया गया है, एक नयी हवा का रुख जतलाती है। सांत्वना का विषय है कि यन्त्रीकरण के साथ बढ़ रहे इस नियन्त्रीकरण का विश्वास ढीला पड़ रहा है और समीक्षा के लिए उसी ओर से आमन्त्रण आने लगा है।

दूसरी खबर भारत की है। वह गाँधी का और अहिंसा का देश है। पर अहिंसा सोयी लगती थी और उसपर क्रुद्ध होकर इधर नक्सलपन्थियों ने खून-खराबा का मिशन उठा लिया था। विनोबा सन्त हैं और सर्वोदयी भी उस सन्त मार्ग पर हैं। लोगों ने शायद अनुभव किया कि गाँधी के मार्ग में तो युद्ध भी आता था। बताया गया कि गाँधी के समय राज परदेशी था। अब राज अपना है इसलिए धर्म, सहयोग है। कुछ ऐसा भाव बना कि स्वराज्य में सत्याग्रह अधर्म हो गया हो। इससे सत्याग्रह से बिछुड़ी अहिंसा बस निष्प्राण दिख आयी थी। समाचार है कि महाराष्ट्र से पचास सर्वोदयी कलकत्ता के लिए निकले हैं जहाँ नक्सलियों की मारकाट का फाग खिलता है, यह सर्वोदयी निडर होकर निडरता सिखाएँगे और दिखाएँगे कि मारनेवाले कायर हैं, उनसे डरने की जरूरत बिलकुल नहीं है। अहिंसा निर्भीकतापूर्वक हिंसा के प्रहार का सामना करने पहुँची है। यह समाचार भारतीय लोकतन्त्र को आश्वस्त कर सकता है। यह अत्यन्त शुभ है और उस अहिंसा में जान डालता और सम्भावना जगाता है जिसकी ओर से लोक जीवन में निराशा व्याप चली थी।

ताजा खबर है कि केन्द्रीय उपमन्त्री की पत्नी और पुत्र का घर में घुसकर खून कर डाला गया। अनुमान है कि नक्सल पन्थ का ही काम होगा। उसके नेता चारू मजूमदार अब भी नेता हैं और यह खूनी मार्ग उन्हीं का बताया जाता है। लेकिन कुछ दिन पहले वक्तव्य आया था कि भारी बहुमत ने चारू के इस व्यर्थ रक्त-पन्थ से किनारा किया है और वे कृषक क्रान्ति की दिशा की ओर अब आन्दोलन को ले जाएँगे। हत्या का आतंक अभीष्ट फल नहीं ला सकता, न शिक्षण संस्थाओं पर के प्रहारों में ही कोई सार्थकता है। अगर यह चीज रक्त क्रान्ति के समर्थकों को नजर आने लगी है तो यह सद्‌लक्षण है। स्वीकार करना होगा कि अपने लोकतन्त्र के साथ सब कुछ ठीक नहीं है। अगर जो है, वही लोकतन्त्र है तो उसी को सुरक्षित बनाए रखना कोई अन्तिम साध्य भी नहीं हो सकता। उसी को सच्चा लोकतन्त्र बनाने के लिए जनता की ओर से सीधी कार्यवाही (डाइरेक्ट एक्शन) का हक मान लिया जाना चाहिए। अगर इस हक के साथ खूरेजी का हक बिलकुल नहीं रह जाता है तो लोकतन्त्र को तोड़ने के बजाय जनशक्ति की ओर से जानेवाली यह सीधी कार्यवाही उस लोकतन्त्र को और प्रशस्त ही कर सकती है।

बड़े-बड़े व्यापारों के बीच ये समाचारों के तीन तिनके ही हैं, लेकिन हवा के जिस रुख को बताते हैं, वह विचारणीय हो सकता है।

[20.12.70]

चेतावनी, चुनौती और मध्यावधि चुनाव

देश क्या टूट रहा है? आसार सचमुच खराब हैं। उनसे गहरी चेतावनी लेनी है और बड़ी सावधानी बरतनी है। आज का अखबार कर्नाटक के उत्पात-उपद्रवों की खबरों की सुर्खियों से भरा पड़ा है। कल आया था कि नक्सलवादी राह बदलते दीखते हैं और चारू मजूमदार अपने हत्यावाद में अकेले पड़ गये हैं। पर हत्या की घटनाएँ घटने की जगह बढ़ती दिखाई दे रही हैं।

कुछ ही दिन हुए, मुस्लिम राजनीतिक सम्मेलन हुआ। उसके निर्णयों से भूत सामने आ जाता है। देश के विभाजन की घटनाएँ अभी भूली नहीं हैं। जो तब हुआ उसकी जरा याद थर्रा देती है। इतिहास का होकर वह हुआ और चूक गया, यह मान लिया जाता था। बात ऐसी नहीं है। इसका प्रमाण इस सम्मेलन के फैसलों से मिल जाता है।

गनीमत है कि एक-आध कोने से दूसरी आवाज भी निकली है। इन मुस्लिम भाइयों की गिनती कितनी होगी, कहना मुश्किल है। पर नक्कारखाने में वह आवाज तूती की ही लगती है।

नौबत यहाँ तक कैसे आ पहुँची? कुछ पहले तक तो इसकी सम्भावना हो न सकती थी। आवाज हिन्दुस्तान में अपने जज्ब कर देने की सुनी जाती थी। यह उसी हिन्दुस्तान के अन्दर जैसे एक मुस्लिम हिन्दुस्तान खड़ा करने का मंसूबा कहाँ से उठ आया? सम्मेलन के फैसलों की छानबीन करने की जरूरत नहीं है। साफ है कि सम्मेलन एक ही हिन्दुस्तान में दो शहरियतें माँगता है। क्या इण्डियन नेशनलटी एक के सिवा दो हो सकती है? पहले हुई थी और टू नेशन थियरी ने हिन्दुस्तान को पाकिस्तान से जुदा कर दिया था। वह थियरी विभाजन से क्या अपना सर्वस्व नहीं पा गयी थी? पर लगता है कि अब भी उसमें दमखम है और चिनगारी को लहकने-दहकने दिया गया तो हिन्दुस्तान में फिर आग लगेगी और देश को सँभालना मुश्किल होगा।

पाकिस्तान में धन्य भाग्य कि चुनाव हुआ है और उस पश्चिमी पाक में,

जो दिल्ली से दूर नहीं है, श्री जुल्फीकार अली भुट्टो फतहयाब हुए हैं। उनकी गर्जनाओं की गूँज से कोई बेखबर नहीं है। कश्मीर का मामला फिर से कड़ाहे पर चढ़ाया जा सकता है। उनके इरादों के पीछे हथियार की खड़खड़ाहट भी हो सकती है। अगर मामला पाकिस्तान-हिन्दुस्तान का नहीं, बल्कि हिन्दू-मुस्लिम की टू नेशन थियरी का फिर हो आता है तो क्या होगा? जो होगा, उसकी कल्पना से भी दिल काँपता है।

पर नेशनल इण्टीग्रेशन के इतने बजट, इतनी धूमधाम और जाने कारगुजारी का क्या हो रहा है? पर होना क्या था? राजनीतिक व्याख्यान और प्रोपेगण्डा के तल पर ही यह न आवश्यक था? राजनीति स्वयं तो उससे साँठ-गाँठ कर सकती थी? इस प्रकार राजनीति में यदि एक ओर साम्प्रदायिकता का संहार था तो दूसरी ओर उसी से मित्रता की सन्धि थी। कारण, सिद्धान्त एक बात है, वोट पाना दूसरी बात है।

इस तरह भारत की राजनीति का चित्रपट चिन्ताजनक हो आया है। बाहर उसकी साख की जो हालत है, सब जानते हैं। वह किसी गिरोह में नहीं है इसलिए खुले और पक्के तौर पर गिरोह क्या, कोई मुल्क भी उसके साथ नहीं दीखता है। ऐसे समय अन्दरूनी यह टूट और विघटन देश के लिए बड़ी महँगी पड़ सकती है।

पर कहाँ है वह देश? सेण्ट्रल एक गवर्नमेण्ट है, बस यही तो देश है? बाकी, अपने-अपने दल हैं, अपने-अपने प्रदेश हैं, धर्म हैं, सेनाएँ हैं और अपनी-अपनी मनमानी है। विद्यार्थी हैं तो बनाम अध्यापक हैं, कर्मचारी बनाम व्यवस्थापक, स्ट्राइकर्स बनाम मैनेजमेण्ट्स। और तो और, कम्युनिस्ट मार्क्सिस्ट बनाम कम्युनिस्ट लेनिनिस्ट। यही काँग्रेस में, पी.एस.पी. बनाम एस.एस.पी. आदि का तमाशा है। मानो हर दो के बीच यह बनाम का सम्बन्ध बन आया है।

दल हैं और सबके मुँह पर देश है, पर उन सबके ही पेट में दल की चिन्ता और सत्ता है। कहाँ है वह, जिसके हार्द्र की वेदी पर राष्ट्र है और जिसका सर्वस्व उस पर अर्पित है?

हवा है कि मध्यावधि चुनाव आ रहा है। बहुत अच्छा है,आये। घोषणाओं का जोर होगा और मंच कोलाहल से गूँज उठेंगे। वह धूम-धड़ाक होगा कि क्या कहिए? लेकिन फिर भी राष्ट्र के लिए अवसर होगा कि वह टटोल और अपने को पाए। उस राष्ट्र के और राष्ट्रवासियों के हाथ में होगा कि अपना मैनडेट दे और उसकी चाबी किसके हाथ सौंपे?

राजनीति दलों के मौखर्य के बीच आशा है, ऐसे जन भी होंगे जो मौन होकर सोचेंगे और देश की आत्मा की धड़कन को सुनेंगे।

[27.12.70]

आगामी समाज और चुनाव से अपेक्षा

चुनाव फिर देश के सामने है। यह सीमित और मध्यावधि चुनाव है, इसलिए अधिक काँटे का होगा। तिथियाँ तय-सी हैं और मार्च के पहले सप्ताह तक सब चुनाव इसलिए पूरे हो जाने चाहिए कि अगले आर्थिक वर्ष के लिए मार्च के महीने में ही बजट का आज्ञा-पत्र लेना है।

हवा काफी काल से थी, पर लगता है कि शासनस्थ काँग्रेस का लेखा-जोखा पूरा नहीं हो पाया था। अनुमान यही है कि सम्भावनाओं की जाँच-परख अपने पक्ष में हो चुकी, तभी प्रधान मन्त्री ने सदन भंग की सिफारिश की और राष्ट्रपति ने तत्क्षण फरमान जारी किया।

हो सकता है कि विरोधी दल अभी अपनी पूरी तैयारी नहीं कर पाए हों पर वे झटपट सन्नद्ध हो गये हैं और आपसी चर्चा-वार्त्ता कर निकले हैं। साँठ-गाँठ की बातें सब तरफ होने की सम्भावना है और अनुमान लगाए जा रहे हैं। पर जिसका अनुमान कठिन है, वह जनता है। पिछले चुनाव में उस ओर से क्या विस्मय नहीं घटित हो गया था, उसने दिखा दिया था। जनता अपनी मनमानी भी कर सकती है। देश की जनता के लिए फिर अवसर है कि वह वही करे जो उसका मन मानता है।

पर मन आजाद नहीं होता। सामने के लाभ-लालच का ही एक प्रश्न नहीं है, बल्कि अर्थ और हित-सम्बन्ध भी हर एक के उस तरह जुड़े और जकड़े रहते हैं कि वह वोट के विषय में अपने को आजाद अनुभव नहीं करता। पैसा इस मौके पर क्या कैसा खेल खेलता है, सब जानते हैं। सदन के चुनाव में पैसा कम नहीं लगता है। इस नाते शासनस्थ दल अधिक सुविधा में रहता है, इसमें सन्देह नहीं है। इसलिए अन्य दलों का अनुरोध है कि इस अन्तरिम काल में राष्ट्रपति दलीय और अल्पमतीय की जगह एक राष्ट्रीय सरकार मनोनीत कर दें। पर राष्ट्रपति की कृपा उस दिशा में जाती नहीं दीखती।

निर्वाचन में से दलों की आगामी स्थिति किस विधि बँट सकती है, इसके

बारे में हमें किसी अनुमान में नहीं जाना है। देश का भाग्य है तो देश के हाथ में है। दलों की गिनती या मुट्ठी में उसे मान लेना भ्रम ही पोसना है।

और देश के लिए भारी विपत्ति की बात होगी। अगर उसके लोकतन्त्र में तन्त्र फूल आता है और लोक दुबला रह जाता है। ऊपर प्रतिनिधि नेताजन बहुतेरे हो जाएँ, उनके अधीन सरकार का लवाजमा बढ़ता-फैलता ही चला जाए और नीचे प्रशासित प्रजा सिमटती, सिकुड़ती, जी-तोड़ मेहनत-भर के लिए रह जाए तो चुनाव के नाम पर उस व्यवस्था को लोकतन्त्र कहते जाना भारी विडम्बना ही होगी।

चुनाव केन्द्रीय सदन के होने हैं। बंगाल में राजकीय असेम्बली के भी होंगे। बंगाल की स्थिति सब जानते हैं। लेफ्ट से अलग राजनीति क्षेत्र में लगभग किसी की स्थिति नहीं है। काँग्रेस ही अगर कुछ जगह ले तो सिर्फ उसकी, जिसका झुकाव बायीं तरफ है।

इस बायें पक्ष का रुख समाज को आजादी देने से अधिक व्यवस्था देने का रहता है। इसमें व्यवस्थापक वर्ग अपने ऊपर दायित्व अनुभव करता और समाज के हित में मानकर नाना प्रकार के नियन्त्रण, निर्देश जारी किया करता है। योजनाएँ बनाता है और कानून की सख्ती से काम लेता है। उसके दिमाग में निश्चय कार्यक्रम होता है और उस दिशा में व्यवस्था को तेजी से बढ़ा ले जाने की अधीरता भी हो सकती है।

श्रीमती गाँधी ने इस सम्बन्ध में राष्ट्र को विश्वास में लिया है। वह सोशलिज्म की दिशा में देश को ले जाने में तीव्रता चाहती हैं, पर राह में रुकावट अनुभव करती हैं। इसलिए उस राह पर चलने और तेज कदमों से चलने की इजाजत पाने के लिए यह निर्वाचन माँग लिया है।

श्रीमती गाँधी का यह कदम साफ और ईमानदारी का है। शनैः-शनैः उनका व्यक्तित्व राष्ट्र के राजप्रकरण में अद्वितीय बन आया है। वह है कि जिनको लेकर स्थिति में किंचित स्थिरता आ सकती है। इस वास्तविकता से देश को बड़ा लाभ मिल सकता है। धीरे-धीरे सम्भव हो सकता है कि दल की बहुलता मिट जाए और उनकी संख्या दो या तीन रह जाए। ऐसा हो सका तो बहुत शुभ बात होगी।

लेकिन चेतावनी एक रखनी है। दुनिया में सब कहीं एक नये साम्मुख्य और नये संघर्ष के लक्षण फूट रहे हैं। वह संघर्ष है इस्टेबलिशमेण्ट और एण्टी-इस्टेबलिशमेण्ट का, हाकिम पर महकूम का, नेता और जनता का।

अर्थात नियन्त्रण का सिद्धान्त अपनी क्षमता खो रहा है। साक्षरता के सर्व-सुलभ हो जाने से हर आदमी हक के बारे में जाग आया है और अपने ऊपर किसी को हावी और हाकिम नहीं देखना चाहता।

इस तरह समूचा वाम-विचार परीक्षा में पड़ गया है। इन्दिरा काँग्रेस इन्दिराजी के व्यक्तित्व के कारण इस नये निर्वाचन से बहुमत में आ जाए तो यह श्रेयस्कर तभी होगा जब वामपक्षीय नियन्त्रण-नीति के भरोसे से वह काँग्रेस मुक्त हो जाए।

[3.1.71]

निर्वाचन का फल : दायित्व या अधिकार?

चुनाव-चर्चा चल रही है और अखबारों में दूसरी खबर नहीं है। भारत में तो अगले दो महीने किसी और बात की सुध-बुध रहेगी नहीं, यहाँ राजनीति का दौर-दौरा है और सारे जीवन पर वही छायी मालूम होती है। चुनाव को तो विशेष अवसर कह लीजिए। लेकिन यूँ भी राजनीति की गहमागहमी से किसी समझदार का मानस बरी नहीं रह पाता है। अस्तित्व कठिन और जटिल है और सरलता से जीना हो नहीं पाता। यहाँ हेतु भी राजनीति है, फल भी राजनीतिक है।

चुनाव होंगे और अधिक अनुमान है कि सरकार बनने में दलों के योग-संयोग की आवश्यकता होगी। कुछ को आशा यह भी है कि इन्दिराजी के दल को अपने में बहुमत प्राप्त हो जाएगा और उनका प्रधान मन्त्रित्व अखण्ड होगा। वैसे भी निगाह में वही हैं और भावी प्रधान मन्त्रित्व के लिए कोई दूसरा मन में जमता नहीं है।

लेकिन यह भारत की बात है। दुनिया उससे बड़ी है और देशों के ऊपर मानव जाति का भविष्य है। वह भविष्य अलग-अलग देशों की अलग-अलग राजनीति के अलग-अलग नेता लोग नहीं बनाते हैं। वह तो समूची मानव जाति राजनीतिक क्रिया-कलाप के भीतर से स्वयं अपने हाथों निर्माण करती है। राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता की लहरें सब कुछ नहीं होतीं। राजनीति तात्कालिक हुआ करती है और उसमें से मानव विकास का क्रम चुपचाप अपने साध्य को साध लिया करता है।

ऊपर दलों का चुनाव हो रहा है, लेकिन भीतर जो चुनाव चल रहा है, उसमें पोलिटिकल पार्टीज का ही नहीं, स्वयं डेमोक्रेसी का ही भाग्य निर्णय होनेवाला है। हम इस कल्पना में जी रहे हैं कि शासक और शासित क्रमशः दो नहीं रहेंगे, जनतन्त्र का कुछ अर्थ है तो यही अर्थ है। तन्त्र जो होगा, उनके प्रतिनिधियों द्वारा बना होगा। यह प्रतिनिधिवाद सब जगह चल रहा है। राजा जहाँ अवशिष्ट है वहाँ भी प्रतिनिधि सदन है। सोशलिस्ट, कैपिटलिस्ट, कम्युनिस्ट, वेलफेयरिस्ट

सभी तरह के विधानों में प्रतिनिधि की यह प्रथा काम आ रही है।

पर अनुभव कुछ ऐसा है कि प्रतिनिधि होकर व्यक्ति जन नहीं रहता; अर्थात प्रतिनिधि तन्त्र सही और सच्चे अर्थ में जनता का काम नहीं निभा पाता। ऐसे डेमोक्रेसी इलेक्टिव होकर भी पार्टीसिपेटिव जो नहीं होती सो शिकायत का मौका देती रहती है। शासित अनुभव करता है कि उसका काम सिर्फ काम करना है। राज करना उनका काम है जो उसके पास से वोट लेकर ऊपर पहुँच गये हैं। वोट उसके हाथ में है जरूर, पर हाथ से निकलकर कैसे शास्ता के पास पहुँच आता है, वह नहीं जान पाता। इतना अवश्य सुनता रहता है कि यह सब कुछ उसके हित में हो रहा है।

जरूर हित में हो रहा होगा। चारों तरफ कल-कारखाने वोटर देखता है और स्कूल, अस्पताल, बैंक, कोऑपरेटिव उन्नति के प्रमाण नित-नये चारों तरफ खड़े होते जाते हैं और वह इनकार नहीं कर सकता। लेकिन भीतर उसे कुछ खोखला-सा लगता है, बेबसी अनुभव होती है और देखता है कि चाहता है वैसा वह जी नहीं पाता। मजबूरी उसे जिलाती और उससे कराती है। और यह मजबूरियाँ कहाँ ऊपर से उस पर लदती ही चली जाती हैं।

जनतन्त्रता से सर्वथा मुक्त इस समय संसार में कोई सरकार नहीं है। पर कोई जनता इस अनुभव से मुक्त नहीं है कि सरकारी कुछ है जो उसके ऊपर है, हावी है। हाकिम है और वह स्वयं नीचे बेबस और बेहाल रहने के लिए है।

जनतन्त्र है, पर वहाँ तन्त्र सब कुछ है और जन मानो जाले में फँसी मक्खी के समान है। तन्त्र के तन्तु सूक्ष्म हैं। लिपट और लपेट के तार समझ में नहीं आते हैं। लेकिन कुछ उस पर कसता जाता है और बेबसी उसकी बढ़ती जाती है। यह प्रश्न भारत का नहीं है, सबका है। दल की नीति का नहीं, स्वयं राज की नीति का है।

क्या हर कोई अपना राजा नहीं हो सकता? क्या हर गाँव स्वाधीन और स्वतन्त्र नहीं हो सकता? क्या जनतन्त्रता और स्वतन्त्रता का साध्य वोट से सध जाता है? कहीं ऐसा तो नहीं कि वोट की परची से पाँच साल तक उसकी स्वतन्त्रता छिन रहती और परतन्त्रता बन आती है?

वे जो प्रतिनिधि होते और शासक बनते हैं, उन्हें सोचना होगा कि शासन दायित्व है या अधिकार?

[10.1.71]

मानव को क्या चलाएगा राजनेतृत्व ?

चीन को यदि छोड़ दें तो दुनिया की विसात पर दो महाशक्तियों के पैंतरे चल रहे हैं। हिन्द महासागर पर दोनों की निगाह हैं और तैयारियाँ भी हैं।

इन दोनों ही के शक्ति-सामर्थ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। उनकी सत्ताएँ असंदिग्ध हैं और योजनाएँ अपरिसीम। आकाश की दिशा में जो उन्होंने किया है, सर्वविदित है। लेकिन धरती के मानव-जगत में उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ जो कर रही हैं, वह कम चिन्तनीय नहीं हैं।

किन्तु मानव जगत निरी गणना के हिसाब से बस में नहीं आता। उसका हिसाब जुदा है। पदार्थ की और मनुष्य की दुनिया दो जान पड़ती हैं। पहली यदि भौतिक तो दूसरी चैतसिक। इस चेतन-जगत पर आंकिक विधाएँ उसे सहजता से काबू नहीं पा सकेंगी।

मार्क्स के आधार और लेनिन के नेतृत्व पर रूस देश में जार का खात्मा हुआ और स्टालिन के अधीन क्रान्ति-राज्य कायम हुआ। स्टालिन का विराट रूप हर रूसवासी के चित्त में जम आया था, पर एक पार्टी-अधिवेशन में ख्रुश्चेव ने उस रूप को उधेड़ डाला, यहाँ तक कि कब्र में से निकालकर स्टालिन के शव का निष्कासन जरूरी पड़ गया। व्यक्ति-नेतृत्व की जगह सम्मिलित नेतृत्व की प्रथा बनी। लेकिन ख्रुश्चेव का व्यक्तित्व कुछ ही समय बाद असुविधाजनक हुआ तो सम्मिलित नेतृत्व के नाम पर चुपचाप उन्हें अलग सरका दिया गया। अब खबर है कि हाल में जो फिर वहाँ बड़ी काँग्रेस उभरने वाली है, उसमें पुनः स्टालिनीकरण का निर्णय लिया जाएगा। ख्रुश्चेव से व्यवस्था ढीली पड़ी थी, अब उसे फिर से कसना होगा।

यह खबर काफी सूचक है। चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड में जो हुआ, वह भी उसी दिशा का कम सूचक संकेत नहीं है। इन घटनाओं के भीतर से जो सूचना मिलती है, वह यह कि नीचे सब ठीक-ठाक नहीं है। गहरी गड़बड़ है और ऊपर से ढँकने को जोर से कसे रखना होगा। ढकना राजनेतृत्व का है और नीचे से उसी का इनकार आता मालूम होता है।

अमेरिका के बारे में अभी एक लेख पढ़ने को मिला। वर्णन था कि वहाँ

अपराध और भ्रष्टाचार का कितना गहरा फैलाव है। इस वर्णन में हिप्पी जगत का शुमार नहीं था। इस्टेबलिशमेण्ट के भीतर जो सड़ाँध है, उसी का जिक्र था। हिप्पी दुनिया के बारे में खबर थी कि हजार की संख्या के आसपास उनके जाने-माने केन्द्र हैं। छोटे-मोटे बहुतेरे भी होंगे; अर्थात् ऊपर के सतही और शिष्ट समाज के नीचे की यथार्थता में उतरें तो मालूम होगा कि वहाँ बड़ी गहरी धधक है। व्यवस्था का सर्वथा अस्वीकार है और जो उसके ऊपर बैठा राजनेतृत्व है, उस पर भीषण अभियोग है।

इन दोनों देशों के पास राजसत्ताएँ हैं और संघटित जनसामर्थ्य भी हैं। उसको शस्त्रास्त्र के पहाड़-के-पहाड़ का पृष्ठ-बल है। अणु-आयुधों का भी ढेर-का-ढेर है।

यह है और दुनिया-भर में अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों के फैलाने की उनमें होड़ है। पर साफ है कि उन व्यवस्थाओं की जड़ में घुन लग गया है। ऊपर युद्ध और खतरे की ललकार ही है जो वहाँ लोकमानस को टिकाए रख रही है। अन्यथा चूलें हिलती जा रही हैं, राज-नेतृत्व की अश्रद्धा बढ़ रही है। मानो नेतृत्व की प्रथा ही अमान्य हुई जा रही है। नयी पीढ़ी सोचती है कि नेतृत्व का यह ढकोसला क्या है? अपने को हम अपने हाथ में लेंगे, ऊपर का सब ढा देंगे।

मानव-सागर की ऊपरली राजकीय सतह पर फेन फेंकती लहरें कुछ भी कहती हों लेकिन उनके नीचे की अण्डर करेण्ट्स गम्भीर हैं, उनकी वास्तविकता राजकीय नहीं, मानवीय है।

भारत इन अगले दो महीने तो चुनाव में खोया रहेगा। किसी को कोई सुध न होगी और सबको आगामी मिनिस्ट्री की चिन्ता सताती रहेगी। वयस्क मताधिकार है और किसी के लिए मौका न रहेगा कि वह अपने काम का विचार करे, राज के विचार से परेशान न हो।

पर सागर के नीचे का आलोड़न व्यर्थ न जाएगा, वह अपना रंग दिखाए बिना न रहेगा। हर कोई सीख गया है कि उसे नीचा नहीं रहना है। इसलिए ही वह नेतृत्व गिरेगा जो अपने लिए सुख-सुविधा की विशेषता चाहेगा। राज-नेतृत्व यही कहाता है। दल कोई हो लेकिन नेतृत्व का यही मतलब रहा तो दल को मुँह की खानी होगी। राजनीति की हर शब्दावली घिस चुकी है और उसका सहारा अभी चल जाए तो चल जाए, आगे दिवाला खुला रखा है।

मालूम होता है कि नेतृत्व के दिन गये, खासकर राज-नेतृत्व के। नेतृत्व अब चलेगा तो वह जिसमें नेता जनता से अधिक नहीं, कम रहना सीखेगा। गाँधी ने उसी का प्रसाद देना चाहा था। पर वही सेवा-नेतृत्व काँग्रेस को फल सकता तो...।

[17.1.71]

सत्याग्रह बन्द और लीजिए हत्याग्रह शुरू

सदन के चुनावों से पहले मालूम हुआ, बैलों का चुनाव जरूरी है। वह झगड़ा निबट गया है और बैलों की जोड़ी बड़ी अदालत ने अपने पास रख ली है। नयी काँग्रेस और पुरानी काँग्रेस इस तरह निश्चिन्त हैं और दोनों की कल्पना सुना जाता है कि चरखे के चिह्न पर जा अटकी है।

अचरज है कि चरखा कहाँ से चलकर बीच में आ गया? क्या यह मर ही नहीं गया था? हम तो समझते थे कि उसकी दाह-क्रिया हो गयी है। खादी कमीशन के जिम्मे अस्थि-संग्रह का ही काम छूट रहा है। चरखे को मिटाकर जिसने मैदान मार लिया है, वह है सोशलिज्म। नयी काँग्रेस के पास उसका पेटेण्ट ही है। पुरानी के श्री मोरारजी देसाई भी कह निकले हैं कि इन्दिराजी के पूरे सोशलिज्म के वे हामी हैं लेकिन...

लेकिन सोशलिज्म में यह दकियानूस चरखा कैसे याद में आ कूदा है? चीज है इण्डस्ट्रीयलाइजेशन और नेशनेलाइजेशन। सोशलिज्म के साथ ये दोनों लाइजेशन सुर-ताल में बँधे मालूम होते हैं। चरखा एकदम बेसुरा जान पड़ता है। लेकिन लगता है कि शायद चुनाव के जमाने में उसमें भी गहरी तुक पड़ गयी है।

चरखे के साथ गाँधी याद आ जाते हैं। उनका महात्मा रूप भारत के जी में अब तक बसा है। इसलिए न, गाँधी को तोड़ना माओवादियों की पहली जरूरत मालूम होती है। इसलिए राष्ट्र पिता गाँधी के चरखे का चिह्न शायद है कि चुनाव में गहरे काम आ जाए।

पर राजनीति को चेतावनी लेनी चाहिए कि गाँधी में अगर लाभ है तो खतरा भी है। चरखा तो भोली-भाली चीज है और उसके लिए आसानी से सरकारी सहायता की जा सकती है। पर चरखे का जमाना असहयोग, सत्याग्रह का भी था। सामान्य भाषा के ये शब्द गाँधी के हाथ में प्रसर शस्त्र बन आये थे। उनसे निहत्थी जनता हुंकार भर आयी और उसकी ललकार के आगे गोराशाही तक काँप आयी। चरखा चला और एक बार तो वहाँ तक छा गया। कारण, उसके नीचे

सत्याग्रही बगावत की ताकत थी। पर स्वराज्य आ गया और गाँधी को पहले राजनीति से और फिर जिन्दगी से ही बर्खास्त कर दिया गया। स्वराज्य संविधान के द्वारा लोकतन्त्र बना और मालूम हुआ कि लोकतन्त्र में सत्याग्रह को सौम्यतम होते-होते असंगत हो जाना चाहिए। अतः खुले क्षेत्र में वैधानिक उपाय निर्वाचन और तदनन्तर निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा सदनों आदि में भाषण-प्रतिभाषण का ही रह गया।

सौ बहसें चलती हैं, योजनाएँ बनती हैं और क्रमशः उद्धार होता रहता है। लेकिन फौज-की-फौज है जो साक्षर है और बेकार है। उससे बड़ी फौज है जो पसीना डालती और अन्न को तरसती है। इस विधि इस हाथ सम्पन्नता बढ़ती और उस हाथ विपन्नता छाती जाती है।

जनता को पाँच साल बाद एक दिन निर्वाचन का अवसर आएगा और फिर पाँच साल तक उसे ताकना ही रह जाएगा।

क्या कुछ सीधे किया नहीं जा सकता? जनता को क्या बेबस ही रहना है? पर नहीं किया जा सकता। अहिंसा धर्म है और अपने भाई-बन्धु राज पर हैं, उनको असुविधा में नहीं डाला जा सकता। अहिंसा के कारण, अतः सीधी कार्यवाही बन्द। सत्याग्रह—एकदम बन्द।

पर सत्याग्रह बन्द तो लीजिए, हमारा यह हत्याग्रह शुरू होता है। उसी हत्याग्रह का खेल कलकत्ता और आसपास दिखाई देता है। उसकी बेलें दूर-पास और भी फैल रही हैं। याद रखिए कि यह केवल आवेश में होनेवाली हत्याएँ नहीं हैं। उनके पीछे सुचिन्तित सैद्धान्तिक आग्रह है।

देख लिया गया वैधानिकता को। वहाँ दलों की सत्ताशक्ति की पैंतरेबाजी है। और देख लिया गया अहिंसा को। वहाँ कोरमकोर शिक्षण-प्रशिक्षण है, निर्देश-उपदेश है। उस बगावत का कण भी नहीं है कि इस घोरता में जिसकी माँग है।

नहीं, सामाजिक न्याय का आग्रह छोड़ा नहीं जा सकता। और राह माओ-त्से-तुंग ने दिखा दी है कि ताकत तोप में से निकलेगी। आग्रह होगा और हत्या का होगा। इस निर्वैर श्रेणीगत हत्या की लपटों से एक बार देश को उजाला देना होगा। ऐ युवको, उठो और चलो।

ऊपर लोकतान्त्रिक निर्वाचन हो रहा है, नीचे इस हत्याग्रह दर्शन की आग सुलग रही है।

इसी से कहना होता है कि चरखे को कहीं याद न करने लगिए, क्योंकि उसके साथ असहयोग और सत्याग्रह की भी याद आ जाती है।

[24.1.71]

उपाधि : अलंकरण या व्याधि?

26 जनवरी का समाचार है कि यह लेखक पद्मभूषण हो गया। यह समझना बाकी है कि ऐसा होकर क्या हो गया? लगता है कि इसमें न कुछ-से-कुछ तो जरूर आदमी बन जाता होगा। यह उपाधि अलंकरण है तो सामान्य से अलंकृत तो हो ही जाता होगा।

मैं 26 तारीख को जयपुर में अटका रह गया था। आने पर औरों के बीच तीन तार देखने में आये। प्रधान मन्त्री, स्वराष्ट्र मन्त्री और स्वराष्ट्र सचिव के पदों का उल्लेख नहीं था, बधाई के नीचे उनके निजी नाम थे। यह सौजन्य चित्त को प्रमुदित कर गया। ये प्रभुजन ही तो हैं, जिनके पास से निर्णय आता है। अपने ही निर्णय पर फिर उचित सत्कार के लिए बधाई देना एक अतिरिक्त सहृदयता का प्रमाण ही माना जाएगा। औपचारिक ही सही, पर औपचारिकता का व्यंग्य नहीं, शायद यह सदुपयोग ही है।

पर जो बात अजब लग रही है, वह शब्द की है। इस बात की कि एक ही शब्द अपने अर्थ में किस ओर-छोर की यात्रा कर ले जाता है। आम तौर पर उन भावार्थों के बीच तुक मिलना मुश्किल होता है। पर अगर शब्द वही है तो उन प्रतिकूल लगनेवाले अभिप्रायों में कहीं-न-कहीं तो समानता और एकता का सूत्र होता ही होगा। बहुत दिन की बात है कि नागपुर से एक पत्र आया। मेरे अभिभावक आन्दोलन में वहाँ गिरफ्तार हुए थे। कार्ड ने खबर दी कि उनको एक साल की 'शिक्षा' हो गयी है। उस एक साल की 'शिक्षा' को लेकर दिल्ली का मैं लड़का झमेले में पड़ गया। मालूम हुआ कि अगर दिल्ली की नहीं तो नागपुर की 'शिक्षा' सजा होती है। मराठी कदाचित इसलिए मुझे नहीं आ पायी कि मराठी 'शिक्षा' अपने में पहले दण्ड जो बन जाती है।

कहाँ 'शिक्षा', कहाँ सजा! लेकिन शिक्षण गलत आज का है। पहले सही था, कारण, वह कमची के साथ होता था। भारत न समझे कि यह उसी की विशेषता थी। शायद अनुकरण भारत का भी रहा हो, विलायत ने भी सीख लिया : 'स्पेयर

दि राड एण्ड स्पायल दि चाइल्ड'। अगर शिक्षण का बेंत के साथ अभिन्न सम्बन्ध हो तो शिक्षा शब्द में ही दण्ड का अर्थ चुपचाप क्यों न घुस आएगा?

पर दिल्ली में रहकर जीवन की इन विपरीतताओं का पूरा पता चल नहीं पाता। इसी से राजधानी का दिल्ली में होना उपयुक्त रहता आया है। विरोधाभास यहाँ सहज निभ जाते हैं, कठिनाई पैदा नहीं करते।

उपाधि अलंकरण का अर्थ सीधा है। उनसे व्यक्ति सज आता है, शोभा हो तो और विभूषित हो आती है। उपाधि पाकर व्यक्ति का मान बढ़ता है। पहले 'आम' हो, उपाधि से एकदम 'खास' हो जाता है।

कृपलानीजी कहते हैं, भारत 'डेमोक्रेसी' है। उपाधि यहाँ क्यों? पर वे आचार्य हैं, अपनी आचार्यता को जानते हैं, इसलिए कहते भी हैं। फिर कहा, तब एम.पी. थे यानी खासों में खास थे, इसलिए सामान्य बनने का शौक जतला सकते हैं।

नहीं तो साहब, खास कौन नहीं होना चाहता? जिन्दगी का मजा क्या कि जब तक दूसरा अपने से उन्नीस न रह जाए और हम इक्कीस न बन जाएँ। लोग समता की बात कहते हैं। लेकिन सच मानिए वह बात अन्त तक बात ही रहेगी। या ऐसा भी हो सकता है कि उस बात-ही-बात में बात बनानेवाला अपना काम भी बना ले जाए, यानी बात-की-बात में खासोखास हो जाए।

लीजिए, मैं बहक गया, आखिर उपाधि जो मिली है। इतना भी असर न हो तो हुआ क्या! कह यह रहा था कि एक है अलंकरण उपाधि, दूसरी है व्याधि उपाधि। उपाधि दोनों जगह एक ही है। पर इसमें क्या किया जाए कि एक जगह वह अलंकृत है और दूसरी जगह विकृति, और व्याधि हो जाती है!

रात की ही बात लीजिए। घर की घण्टी जरा तीखी है। वह बजी तो कान ने कुछ खबर तो दी। फिर बजी और थोड़ा तेज बजी। झींक हुई, पर झोंक न टूटी। अब तो पूरी डेढ़-दो मिनट तक वह चीखती रही। जी ने कहा कि ऐसी-तैसी, पर सिर पर घण्टी फिर बजी और रजाई से सिर को ही नहीं, पूरा-का-पूरा अपने को निकालना पड़ा। 'बेड-स्वीच' से चाँदनी हो गयी थी और देखा, दो ए.एम. का टाइम था। जीने पर मुस्कराते हुए जनाब तारवाले साहब खड़े थे।

बस, मेरा हाल पूछिए नहीं।

मुस्कराहट उनकी फैलती गयी और पेन्सिल के साथ दस्तखत के लिए उन्होंने कागज आगे किया।

मैंने वह जोर के दस्तखत किये कि कागज तभी नहीं फटा, आगे भी याद करेगा।

"हुजूर, इनाम।"

मन-ही-मन कहा, ऐसी की तैसी! लेकिन मुँह की मिठास से कहा, ''भई, वह दिन में।''

वह समझ आया कि उपाधि, उपाधि क्यों है? पर शुरुआत है। आगे देखना है, क्या-क्या उपाधियाँ आती हैं!

[31.1.71]

राष्ट्रवाद प्राकृतिक, समाजवाद बौद्धिक?

मतदान के दिन पास आ रहे हैं और दलों के प्रचार का तापमान बुखार के बिन्दु तक पहुँच गया लगता है। जहाँ-तहाँ घटनाएँ हुई हैं, सिर फूटे हैं और कत्ल हुए हैं। अभी समय है और आगे देखें, क्या होता है!

इस चुनाव में से भारत के भाग्य की दिशा निकलनेवाली है। अब तक उस काँग्रेस के नाम पर चीजें चली जा रही थीं जिसने स्वतन्त्रता की लड़ाई में बलिदान दिया था, पर स्वराज्य आया और बलिमार्ग अनावश्यक हो गया। भोग मार्ग खुल गया। उस पूर्वार्जित पुण्य के बल पर 20 साल सीधे तौर पर निकल गये, पर पुण्य चुक गया और अनेक राज्यों पर से काँग्रेस अपदस्थ हो गयी। केन्द्र में उनका राज्य ज्यों-त्यों बना रह गया, पर वहाँ भीतरी फूट खुल पड़ी और देश मध्यावधि चुनाव के बीच में है।

यह चुनाव इसलिए औरों से अलग है। इस बार पार्टियों की गिनती नहीं है और शब्द और शोर की भी सीमा नहीं रह गयी है। एक जंजाल-सा है और सामान्य मतदाता की अकल गुम है। इस विकट व्यूह में देश के पास से दिशा बोध छूट गया है और जान पड़ता है कि लोग अपने तात्कालिक स्वार्थ के अनुबन्ध के हिसाब से ही मत देंगे। दूसरा कोई मूल्य जैसे कहीं रह नहीं गया है। नकद लाभ ही एक है जिससे निर्णय तुरत-फुरत हो सकता है और निश्चय ही पैसा अपना पूरा खेल खेलेगा।

लेकिन आदमी स्वार्थ से चलता हो, दल का भी अपना स्वार्थ होता हो। लेकिन हम सबके द्वारा इतिहास का क्रम अपने को सिद्ध कर रहा है और उसमें हेर-फेर नहीं आ सकता।

चुनाव के युद्ध की गूँज में दो शब्द हैं जिनसे सहारा लिया जा रहा है। वे हैं—दक्षिण और वाम, राइट और लेफ्ट। मालूम होता है कि लेफ्ट की ओर से हठात ध्रुवीकरण की नौबत लायी जाएगी और उस ताप से अन्तर्युद्ध की स्थिति का परिपाक होगा। कलकत्ता में पूर्व-सूचना रूप कुछ लक्षण प्रकट हो रहे हैं। डेमोक्रेसी में माना जाता है कि दल एक-दूसरे को सह-अस्तित्व में सहेंगे। लेकिन सहना कायरता का काम बना जा रहा है और दूसरे के अस्तित्व का लोप सीधा

उपाय दीख रहा है। हिंसा इसी तत्त्ववाद में से जन्म पाती है। और जनतन्त्र के साथ उसका मेल नहीं बैठता है।

किन्तु राजनीति अध्यात्म नहीं है। राजनीति का मूल्य संघर्ष है। युद्ध का काम प्रेम से नहीं चलता। सन्धि के लिए वहाँ भेद, विग्रह में से गुजरना पड़ता है। इसलिए सन्त-महात्मा, शिष्ट-सज्जन, चुनाव के समय नगण्य रह जाते हैं। यथार्थ की धरती पर अधिकारों के विभाजन की रेखाएँ आवश्यक हैं और वन खण्डों की प्रतिस्पर्धा में से ही निर्णय निकालना है।

इसलिए भाव काव्य में जब कि समूचा मानव परिवार एक है तब वस्तु यथार्थ में देश अलग-अलग हैं और उनमें आपस में सदा से मुठभेड़ होती आयी है। यह मानव जाति का क्षेत्रीय विभाजन सनातन से चला आया है। वह स्वाभाविक और अनिवार्य भी मालूम होता है।

पर दूसरा विभाजन मनुष्य की चिन्ताशीलता में से हाल में हमको प्राप्त हुआ है। क्षेत्रीय के समक्ष उसे वर्गीय विभाजन कहना चाहिए। खड़ी वर्टिकल रेखाओं से यदि क्षेत्रीय बनता है तो पड़ी हारिजोण्टल से वर्गीय।

पहला विभाजन है जिसमें से राष्ट्रवाद मिलता है, दूसरे से समाजवाद आदि सूझते हैं। कल्पना थी कि साम्यवाद आकर राष्ट्रवाद को मिटा देगा, पर राष्ट्र-चेतना बरकरार है और रूसी और चीनी साम्यवाद के नमूने आपस में अनमिल बन गये हैं। हिटलर का वाद भी नेशनल सोशलिज्म था।

इस चुनाव में इन्दिरा काँग्रेस का बल सोशलिज़्म पर है। दूसरी काँग्रेस का रूप चौदलीय बन गया है जो डेमोक्रेटिक सोशलिज्म से शायद डेमोक्रेटिक नेशनेलिज्म पर अधिक बल देता है, मानो समाजवाद राष्ट्रवाद के समक्ष आ गया है!

इधर मुझे दृढ़ प्रतीति होती जा रही है कि जब राष्ट्रवाद सहज और प्राकृतिक है तब समाजवाद आदि बौद्धिक और आदर्शवादी हैं। इन वादों में मानव प्रकृति के साथ बल-प्रयोग गर्भित होता है और अन्ततः जनतन्त्रता से जनाधिपता उनके लिए आवश्यक हो आनी चाहिए।

आज के संकट से निस्तार की माँग है कि देश को दिशा मिले। लेफ्ट-राइट से बल नहीं मिलेगा। यह कृत्रिम विभाजन है। वाद, कृत्रिमता उपजाते और नियन्त्रक को सिर पर लाते हैं। वादात्मक की जगह रचनात्मक को महत्त्व देना होगा। और दीखता है कि राजनीतिक दलों की सत्ता पर ही इति है, रचना के लिए कोई शेष नहीं है।

अतः कहा ही जा सकता है कि वाद में कुछ नहीं रखा है। मनुष्य को देखिए, उसको राय दीजिए।

[7.2.71]

चुनाव और पैसा

पूछा जा रहा है कि इस मध्यावधि चुनाव में टाटा, बिड़ला, गोयनका जैसे धनपति भी चुनाव लड़ने के लिए मैदान में आये हैं तो भारत की राजनीति पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा?

धनपति आम चुनाव में खड़े हुए हैं। इसका आशय है कि वे आम लोगों के बीच प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र में समान भूमिका पर उतर सके हैं। राजा लोग और दूसरे अति धनाढ्य पुरुष कहीं ऊपर अगल-थलग रहा करते थे, अब वे भीड़-भभ्भड़ के घमासान में अपने भाग्य को दाँव पर रखकर धन की सुरक्षितता से बाहर आते हैं तो यह अच्छा ही है। असम्भव नहीं, बल्कि सर्वथा सम्भव है कि इनमें से अनेक सामान्य कार्यकर्त्ता लोकसेवक के समक्ष पटकी खा जाएँ। ऐसी घटना का जनमानस पर निश्चय.ही यह प्रभाव पड़ेगा कि धन ही अन्तिम मूल्य नहीं है। इसको मैं स्वस्थ प्रभाव ही कहूँगा।

एक वाद है जो सम्पत्ति की अप्रतिष्ठा करता है। उसने सम्पत्ति को शोषण का पर्यायवाची बना लिया है; अर्थात् संचित धन आदर नहीं, अपमान का ही अधिकारी है। इसको मैं एक अतिवाद ही मानता हूँ। यह मनोवृत्ति स्वस्थ नहीं है, न समभाव की द्योतक है। इसके भीतर मानसिकता में एक विरोधाभास गर्भित रहता है; अर्थात् जो सम्पत्ति के प्रति घृणा उकसाता है, वह भीतर से उसकी लालसा भी रखता है। वामपक्षीय में अपरिग्रह का भाव नहीं होता बल्कि सम्पत्ति के पार उसके चित्त में सत्ता की महत्ता स्थान पाये रहती है। सम्पत्ति अन्तिम विश्लेषण में क्या है? वह अपने सूक्ष्म भाव में समाज-मान्यता और तत्क्षेत्रीय सत्ता का प्रतीक ही तो है! अर्थात् धन के अपमान और अनादर के मार्ग से वामपक्षीय नेतागण राजसत्ता के मूल्य को बढ़ा-चढ़ा रखते हैं, यानी कैपिटलिज्म के प्रति द्रोह-भाव उभारकर कैपिटल के आधिपत्य को सर्वथा स्टेट के हाथ में देकर शुद्ध स्टेट कैपिटलिज्म की ही स्थापना कर आते हैं। इससे धनाढ्यता या सत्ताधिपता के ऊपर मनुष्यता का मूल्य प्रतिष्ठित नहीं होता, बल्कि होता उससे उलटा है। सत्ताधीशता

द्वारा सुरक्षित साधन-सम्पन्नता के नीचे मानव-चारित्र्य और मानव-गुण दमित और दलित होने को रह जाते हैं। धनपति वर्ग के चुनाव के खुले अखाड़े में हर किसी के आगे वोट के प्रार्थी बनने और हर किसी के आगे कन्धे-से-कन्धा मिलाकर चलने की तैयारी से कुल मिलाकर अच्छा ही परिणाम आनेवाला है।

पैसा कुछ अपना खेल खेलेगा तो वह तो अनिवार्य ही है। धनपतियों में स्वयं उतरने से पहले भी वैसा होता आया है। धनपति से अलग और विमुख दल हैं जिन्होंने कितने ही करोड़ के फण्ड चुनाव में फूँकने को इकट्ठा कर लिये हैं। शासनस्थ काँग्रेस की बात तो पूछिए ही नहीं, अर्थात चुनाव तो पैसे के उस खेल का मौका होता ही है। सच पूछिए तो इसमें ऐसी बुराई भी क्या है? हर वयस्क के पास उसका वोट है। औसत वयस्क पुरुष बेकार है, दीन है, हीन है। पाँच साल बाद मौका आता है कि वोट की कीमत लगती है। पार्टियों में बताइए कि किसका घोषणा पत्र खराब है और कौन पार्टी है जिसको दूसरों ने खराब नहीं बताया है? अर्थात हर दल और हर शख्स एक-सा अच्छा, और एक समान बुरा है। उनमें फर्क करना आपकी क्या, हर आम आदमी की समझ में मुश्किल है। इसलिए अगर बेचारा गरीब अपनी वोट को नीलाम पर चढ़ाकर कुछ पैसा पा जाता है तो ऐसा इसमें क्या बुरा है? एकत्रित धन इसमें वितरित ही होता है। सोचिए कि सोशलिज्म भत्ता और क्या चाहता है?

इसलिए अच्छा है कि धनाढ्य आसन से उतर रहे और धरती पर जूझने को आ रहे हैं। इसमें धनाढ्यता का रोब उड़ जाएगा और नजर आने लगेगा कि वे इंसान ही हैं, न स्वर्ग के देवता हैं, न नरक के जन्तु।

[14.2.71]

इंसानी जुर्म और मुल्की सरकारें

विमान काण्ड को यों दिन हो गये, पर उसकी प्रतिक्रियाएँ थमती नहीं दिखतीं। पाकिस्तान-हिन्दुस्तान के सम्बन्धों में तनाव है और बात का फैलाव बढ़ ही रहा है।

दो आदमी श्रीनगर से बैठे और भारतीय विमान को जम्मू पर उतरने देने के बजाय तमंचे के बल लाहौर खींच ले गये। विमान के आदमी तो खैर सब आ गये, लेकिन बाकी सामान समेत यान आग में भस्म कर दिया गया। ऐसी कार्रवाई कोई अनोखी नहीं है। अनोखा है तो बाद का व्यवहार।

सिर्फ कार्रवाई देखी जाए तो कुरैशी और अशरफ अपराधी और उचक्कों की गिनती में आएँगे। यान के अपरहण के बाद सामान समेत उसे जला डालने का अपराध दुहरा हो जाता है। लेकिन अनोखा यह है कि पाकिस्तान के लिए वे बहादुर और हीरो हैं। पाकिस्तान की सरकार कह सकती है कि यान जलाने में उसका हाथ नहीं है। और अगर उनके देश की जनता उनका सत्कार करती है तो सरकार उसमें बाधा डालनेवाली कौन होती है? आखिर कश्मीर पर हिन्दुस्तान का कब्जा नाजायज है और ये दोनों अन्याय के खिलाफ बगावत करनेवाले बहादुर क्यों नहीं हैं?

यहाँ तक बहादुरी मानी भी जा सकती थी कि वे खुद लाहौर पहुँच गये। लेकिन आगे यान को आग लगा देने में क्या बहादुरी है? इस काम को करीब सभी ने बुरा कहा है। पाकिस्तानी सरकार उस जिम्मेदारी से बचती है, यह काफी सबूत है कि वह काम गलत से आगे घिनौना तक है। तहजीब उसे बर्दाश्त नहीं कर सकती।

पाकिस्तान उन्हें शरण दे और प्रश्न को राजनीतिक माने, वहाँ तक सही हो भी सकता है, लेकिन आगे के अपराध के लिए उन्हें दण्ड के सामने आने ही देना चाहिए। इधर जहाज में आग लग रही थी, उधर खबर है कि वह फिल्मायी भी जा रही थी। पाकिस्तान का यह रवैया किसी हालत में मुहज्जब नहीं माना जाएगा।

पर मुश्किल यह है कि भारत में बैठकर पाकिस्तान के लिए कुछ सही नहीं

कह सकता। हिन्दुस्तान के साथ उसकी सरकार का सियासी तकाजा है, तो मतलब हो जाता है कि दोनों देशों की जनता के हर आदमी के बीच दुश्मनी होनी चाहिए। यही है जो आज की स्थिति की विडम्बना है।

पाकिस्तान इस्लाम के नाम पर बना। कश्मीर पर उसका दावा उसी नाम पर है। अगर पाकिस्तान का मुल्क और उसकी सरकार इस्लाम के वाहिद दावेदार बनेंगे तो क्या हिन्दुस्तान में बचे पाँच करोड़ से ऊपर के मुस्लिम जन इस्लाम से बाहर मान लिये जाएँगे? नहीं, तो क्या पाकिस्तान उनकी पहली वफादारी का अपने को मुस्तहक मानेगा? क्या हर हिन्दुस्तानी मुसलमान को दोहरी वफादारियों में रहना होगा?

इस तरह कश्मीर का सवाल सिर्फ सियासी नहीं है, उसकी जड़ें गहरी जाती हैं। पाकिस्तान तो बन गया लेकिन जाहिर हो जाना चाहिए कि मजहब की सियासत की दुकान का वसीला बनाना गहरा खतरा मोल लेना है। पाकिस्तान के निर्माण के साथ ही कायदे आजम जिन्ना साहब ने सारी दुनिया को आश्वासन दिया था कि हिन्दू की जान-माल की वहाँ हर सुरक्षा रहेगी। कश्मीर के मामले पर पाकिस्तान का रुख यही रहा तो जिन्ना साहब का वादा झूठा मान लिया जाएगा। इसलिए जरूरी है कि कश्मीर के मसले को सियासी से ऊँची इंसानी जमीन पर देखा जाए। यह दर्दनाक और शर्मनाक वाकये फिर मुमकिन न होंगे कि नाहक करोड़ों की चीज जले और मुल्क वाहवाही माने।

पर मुल्कों की सरकारें सावरेन जो हैं। उनके बीच हितों की टक्कर हो तो जैसे लड़ाई का ही एक उपाय रह जाता है। हमारे पास अब तक कोई ऐसी तदबीर नहीं हो सकी है, जो दो देशों के मतभेद की हालत में काम आ सके।

युनाइटेड नेशंस का संगठन है, पर वह सत्ता प्रभुओं के हाथ में है। नीति के मान से वह नहीं चल सकता है, न उसके पास नैतिक या सैनिक सामरिक ऐसा कोई बल है कि वह रोकथाम कर सके। अन्तरराष्ट्रीय अदालत नाम के लिए है भी तो वह आवश्यक से अधिक वैधानिक अर्थात अव्यावहारिक है।

स्पष्ट है कि लोग द्वेष के बलबूते नहीं रह सकते। मानव जाति का व्यापक हित एक है। लेकिन विद्वेष का वातावरण सरकारों को उस वक्त के लिए समर्थन और मजबूती दे आता है। पाकिस्तान के इतिहास में हुए पहले आम चुनाव के परिणाम को इस तनाव के नाम पर शायद टाले रखा जा सकता है।

मैं सोचता हूँ कि क्या यह कभी किसी प्रकार सम्भव बनाया जा सकेगा कि लोग सरकारी रुख के नीचे लाचार न बने रहें, बल्कि सीधे अपने मेल-मिलाप के रिश्तों की बुनियाद पर ऐसे जुर्मों को आइन्दा सरजद न होने दें?

[21.2.71]

प्रधानमन्त्री राष्ट्रीय ?

दल अनेक हैं और राइट-लेफ्ट शब्दों के सहारे कुछ ध्रुवीकरण का वातावरण बना है। हो सकता है कि ध्यान उसी दिशा में जाए और इसी प्रकार तनाव उत्तरोत्तर तीखा होता जाए।

स्वतन्त्र और जनसंघ दोनों निःशंक भाव से राइट रह जाते हैं। एम.एस.पी. का रंग चितकबरा-सा है। सी.पी. आई आदि का झुकाव नयी काँग्रेस के साथ है। शुरू के दल पुरानी काँग्रेस के साथ हैं।

यदि दलीय भाव ही प्रधान रहता है जैसी कि अधिक सम्भावना है तो देश में फैले हिंसा के भाव का तापमान ऊँचा चढ़ेगा। राजनीतिक स्थिति अस्थिर रहेगी और अचरज नहीं कि दल-बदल की कोशिशें भी जारी रहें। यह अस्वस्थ प्रवृत्ति अभी रोग तक बढ़ी है। इसको और बढ़ावा मिला तो समाज-शरीर फोड़े-फुंसियों से भरा-सा दिखने लगेगा ?

प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने मध्यावधि चुनाव की बोली बोलकर साहस का खेल खेला है। पर साहस के साथ अवश्य उनमें श्रद्धा भी रही है। विश्वास रहा है कि देश उनके साथ है और चुनाव में बहुमत उनको मिलेगा। लक्षण विशेष इसके विपरीत भी नहीं है। सदस्यों की संख्या व उनकी वर्तमान से कम तो होगी ही नहीं। सम्भावना उस संख्या के दस प्रतिशत बढ़ जाने की है। असम्भव यह भी नहीं माना जाता है कि कुल संख्या के आधे से अधिक सदस्य उनके आ जाएँ और सदन का सुनिश्चित बहुमत उनका हो जाए। ऐसा हुआ तो देश कुछ चैन की साँस ले सकेगा।

लेकिन स्थिति किसी एक दल के पक्ष में इतनी झुकी हुई न रही तो... ? तो मिली-जुली सरकार बनेगी और सदन में काम कम होगा, हंगामा अधिक हुआ करेगा।

देश अभी अनेक तनावों में त्रस्त है। उसे अपेक्षा एकता की है, भरमार अनैक्य के तत्त्वों की है। नाना नामों पर छोटे-छोटे स्वार्थ उठते और अपने को जमाने की

कोशिश करने लगते हैं। जातियों के अपने गढ़ हैं और भाषाएँ अपने-अपने अलग प्रदेश और हक माँगने पर उतारू हैं। क्षेत्रवाद पनप रहा है। कुछ नहीं है जो मिलाए। बस, वही है जो काटे और बाँटे। राजनीति के तल पर छिन्न-भिन्न करनेवाली वृत्तियाँ ही ऊपर आकर राष्ट्र को तीन-तेरह किये दे रही हैं।

इन स्थितियों में दलीय की जगह राष्ट्रीय भाव उभर सके तो भविष्य के लिए आशा हो सकती है। अभी एक बन्धु सुना रहे थे कि उन्होंने अपने वाक्य में अनेक गरीब देशों में भारत को एक देश लिखा। सन्त विनोबा ने संशोधन कर भारत को सबसे गरीब देश कर दिया है, अर्थात भारत की गरीबी के आँकड़े दुनिया में सब देशों से नीचे हैं। यदि राजनीति इन आँकड़ों से लज्जित हो सकती हो तो उसके लिए अपनी फूट से ऊपर उठने का ही एक उपाय रह जाता है, अन्यथा देश बिक तक सकता है और वह गुलामी अन्दरूनी होने के कारण और भी घातक होगी।

इसमें सन्देह का स्थान नहीं है कि इन्दिराजी का बल चुनाव के परिणामस्वरूप पहले से प्रबल ही होगा। प्रतिद्वन्द्वी उनके सामने कोई दिखता नहीं है। सभी कम रह जाते हैं। इस हालत में उनसे अधिक की अपेक्षा हो सकती है। देश के पास नेता हैं पर वे दल के हैं। इन्दिराजी चाहें तो वे राष्ट्र की नेता बन सकती हैं। अवसर उनके सामने है ही और आशा करनी चाहिए कि आवश्यक कल्पना और उदारता भी उन्हें हो सकेगी।

मानं लीजिए कि उनका सम्पूर्ण बहुमत आ जाता है। तब तो निष्कण्टक अपने दल का मन्त्रिमण्डल वह बना ही सकेंगी। पर कल्पना कीजिए कि वे दलीय मन्त्रिमण्डल बनाने की जल्दी नहीं करती हैं। उस सम्बन्ध में वह अधीर नहीं बनती हैं बल्कि न अपने दल के लोगों पर लगाम कसी रखती हैं। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते हैं कि दल की पूरी जीत होती है, तो वह इन्दिराजी के नाम के बदौलत ही होगी। इस तथ्य के आधार पर वे चाहें तो दल को संयम में रख सकती हैं। जीत के नशे में दल के लोगों में मन्त्रिपदों में हिस्सा बाँट की स्पर्धा बढ़ी-चढ़ी रहेगी। यदि इन्दिराजी उस पद को वश में रखकर विरोधी दलों को विश्वास में लें और दलीय की जगह राष्ट्रीय सरकार बनाने की सम्भावना पर परामर्श करें तो भारत के इतिहास में नया परिच्छेद खुल सकता है। दक्षिण और वाम जैसे शब्दों से खाई को कितना भी चौड़ा क्यों न बनाया गया हो, पर अमल में घोषणा पत्रों को देखते हुए मुख्य दलों में फासला इतना है नहीं। मानी गयी प्रगति की दिशा में चरण इतने तीव्र न भी हो सके, तो भी देश की राजनीति का एक नेतृत्व में आ जुटना कम बड़ा लाभ न होगा। देश को गहरी राहत की साँस मिलेगी और दुनिया दंग रह जाएगी। भारत की साख दुनिया में बहुत ही

नीचे आ चुकी है। इतनी कि रुपये में नये अवमूल्यन की जरूरत हो गयी है। बाहर भारत उपहास का-सा पात्र बन रहा है। शासन के तल पर एक नेतृत्व जो दलीय न होकर राष्ट्रीय हो, सम्भव बनता है तो देश की साख एकदम ऊँची हो जाती है और उसका चित्र जो धुँधला पड़ गया है, उजला बन जाता है।

असम्भव यह नहीं है। इन्दिराजी के लिए और भी सम्भव होना चाहिए।

[7.3.71]

राजनीतिक चाव में श्रम से बचाव

भारत इस वक्त आम चुनाव के बीच में है। आम अवधि के बीच में ही यह चुनाव आ गया है और मध्यावधि कहा जाता है। शासन पर बैठी नयी काँग्रेस इसके लिए मजबूर न थी। उसके अपने पास सदन का सीधा बहुमत था, पर साम्यवादी और दूसरे समर्थकों के कारण उसका बहुमत निश्चित ही हो जाता था, पर स्थिति देश की अनिश्चित थी और प्रतिपक्ष का आरोप था कि सरकार अल्पमतीय है। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने साहस किया और सदन भंग की सिफारिश कर दी। इस तरह मध्यावधि चुनाव सिर पर आ गया है और दलों का दंगल चल निकला है।

कोई नहीं बचेगा इसमें जिसको भरपूर बुरा न कहा जाए। हर पक्ष-विपक्ष के हर उम्मीदवार को कलौंच से रँगे बिना न छोड़ेगा, अर्थात् जनता के लिए 'बुरों में से ही' चुनाव करने का उपाय रह जाएगा। इस लोकतन्त्र को आप क्या कहिएगा, जहाँ बुरे ही चुने जा सकते हैं?

हो यह भी सकता है कि सब दल और उम्मीदवार एक-दूसरे को अच्छा कहें, उनकी प्रशंसा करें। यद्यपि अपनी रीति-नीति को समझाकर समक्ष भी रखते जाएँ। तब जनता की कठिनाई दूसरी होगी। चुनाव के लिए कोई बुरा बचेगा ही नहीं और अच्छों में चुनना इसलिए मुश्किल होगा कि सब दूसरे को अपने से अच्छा बताएँगे। तब शायद यह चुनाव मानव का रूप ले लेगा; अर्थात् आदमी आगे आने और ऊँचे होने में झिझकेगा और उसे जैसे-तैसे मनाया जाएगा। चुनाव के इस युग को सतयुग कहेंगे तो आज के छिछालेदारवाले को हतयुग के सिवा क्या कह सकेंगे!

ऐसा क्यों होता है? इसलिए होता है कि राजसत्ता के प्रत्यक्ष में बड़ा कोई सत्य नहीं रह गया है। इधर जितना सामयिक सर्जनात्मक साहित्य देश का, विदेश का पढ़ने में आता है, उसमें यही यह आशय मिलता है कि राजनीतिक सत्ता के नीचे झूठ-ही-झूठ है। फिर भी सबसे बड़े सत्य के रूप में उसी की प्रतिष्ठा है और लोग उसी के पीछे पागल हुए रहते हैं।

पागल यों ही नहीं होते! तत्काल फल उससे हाथ आता है, पद-प्रतिष्ठा मिलती है और चारों ओर सुख-सुविधा इकट्ठी हो आती है। हाथ हुकूमत से भर जाते हैं और मेहनत की जरूरत नहीं रह जाती।

यह मेहनत से बचने और सब कुछ पा जाने का चाव बहुत ही आकर्षक होता है। जड़ में यही है कि राजनीति छा गयी है और श्रमशील दास बन गया है।

क्रान्ति की बातें की जाती हैं। मालूम होता है कि बात और वादवाली वह क्रान्ति राजक्रान्ति तक ही रह जाती है। राज पर विपक्षी हटा, स्व-पक्षी जा बैठा तो चलिए, क्रान्ति हो गयी। फिर इस स्व-पक्ष में छटाव करना जरूरी होता है। शक्ति का तर्क ही यह है कि सबको बराबर उसका भोग नहीं मिलता। शिखर पर उसकी सत्ता केन्द्रित हो आती है। इसको अधिनायकवाद कहते हैं। तब स्व-पक्ष के उन सब तत्त्वों को रद्द करना होता है जो न्यायता, समता और स्वतन्त्रता की भावना से क्रान्ति करने चले थे। तमाम राजकीय क्रान्तियों का इतिहास यही दर्शाता है। कारण, राजकीय आकांक्षा उत्पादक श्रम से बचने की नीयत में से ही होती है।

क्रान्तिवादी और क्रान्तिकारी आज हैं। वे इस धन्धे में व्यस्त भी हैं। अधिक उनमें हिंसा का सहारा लेते हैं। कुछ क्रान्ति को अपनी अहिंसा में मान लेते हैं, पर दोनों की जगह मेहनत किनारे रह जाती है। नसीहत ऊपर आ जाती है। नसीहत का अहिंसा के साथ अच्छा मेल बैठता है। हिंसा का दर्शन तर्क हो सकता है। लुक-छिपकर प्रशिक्षण भी लिया और दिया जा सकता है। पर खुले खजाने उसकी नसीहत जो नहीं दी जा सकती सो हाय-हत्या का कार्यक्रम उठाना पड़ता है।

कहीं ऐसा तो नहीं कि दिमाग में जो यह बुखार आता है सो इसलिए कि हाथ खाली रहते हैं!

क्या क्रान्ति वह हो सकती है जो भड़कायी न जाए, बनायी जाए? नीचे से एक-एक ईंट उसकी इमारत को खड़ा किया जाए?

अगर क्रान्ति वह नहीं है जो समाज को वीरान और लहूलुहान कर दे बल्कि वह है जो उसे लहलहा आये तो उसकी बुनियाद आराम को तजने और स्वेच्छा से श्रम को हाथ में लेने में से ही तैयार हो सकती है। सफेदपोशी इसमें छूट जाएगी और गप्पबाजी भी न रह जाएगी। पसीने के बल जीना और उसी के बल जनता को स्वाश्रयी और स्वाधीन बनाना सीखना होगा।

[14.3.71]

करुणा, प्रकोप और गद्दारी

सर्वोदय सम्मेलन से लौटा तो काशी में गोष्ठी साहित्यिक थी। सर्वोदयी जन मूलगामी, रचनात्मक, समाज क्रान्ति का काम कर रहे हैं। वे मानते हैं और मैं भी यह मान सकता हूँ। उस ओर से मेरी आशाएँ समाप्त नहीं होती हैं। इसलिए याद किया जाता है तो मैं भरसक उसमें योग देने की कोशिश करता हूँ। पर देश के मानचित्र पर सर्वोदय की गणना अनिवार्य नहीं होती। वह इतना सात्त्विक मान लिया जाता है कि निरीह हो। सज्जन पुरुष समाज में अकसर निरीह दीखते हैं। अपने समय के प्रचण्ड गाँधी के सन्दर्भ में यह बात मन को प्रमुदित नहीं करती। पवित्रता बढ़ी हो पर प्रबलता साथ में क्यों नहीं बढ़ी, यह सवाल मन को कुरेदता रहता है। गाँधी जीवन में से मैं अपने लिए यह सीखना चाहता हूँ कि आन्तरिक पवित्रता सामाजिक प्रबलता हुए बिना नहीं रहेगी। यदि किसी ओर कमी है तो दोनों संदिग्ध हैं। पवित्रता वह झूठी है जो पराक्रम में प्रकट नहीं होती। और प्रबलता वह प्रतिक्रियात्मक है जो प्रेरणा में पवित्र नहीं है।

चित्त में मन्दता आती है यह देखकर कि देश की अर्थ नीति, व्यवसाय नीति, राजनीति सर्वोदय से निरपेक्ष चल पा रही है। सर्वोदय से निरपेक्ष होकर हमारी कार्य प्रणाली पक्षहित की रहेगी, जनहित की न हो पाएगी। वाद-वादी विचार वर्गीय हो रहता है। सर्वोदय का इसलिए वाद नहीं हो सकता।

लेकिन बनाना ही चाहें तो वाद, जिसका भी चाहे बना लीजिए। भाषा, क्षेत्र, पन्थ, विचार—सभी कुछ के निर्माण के लिए आधार के तौर पर अपने को प्रस्तुत कर सकता है। असल में दल गठन तक की भी आवश्यकता नहीं है। मनोभाव एकाकी होकर भी वादीय हो सकता है। ज्ञान के साथ अकसर यही हो जाया करता है। जीना जब कि खुला होता है तब जानना लीक-लीक चलता है। इसलिए जीवन का प्रवाह वेग से बहता रहता है और तट पर भक्तजन सम्मानपूर्वक हर गंगे, जय गंगे पुकारकर तुष्ट हो लेते हैं। ज्ञान-जीवन को उस प्रवाह के स्पर्श की आवश्यकता नहीं होती। प्रवाह के दृश्य की सुरम्यता ही उन्हें पर्याप्त होती है।

सर्वोदयी सम्मेलन में विचार की काफी परिपक्वता का दर्शन हुआ था। स्वराज्य ग्राम-स्वराज्य के रूप में मस्तिष्क में तो काफी परिपुष्ट वहाँ हो गया है। यथार्थ में कब होता है, यह देखना है। विश्वास दिलाया जाता है कि जल्दी ही हो दीखेगा। तथास्तु, शुभमस्तु।

पर देखने में आता है कि बनाने के लिए पहले कुछ ढाया भी जाता है। निर्माण ऊपर होता है, बुनियाद नीचे खुदती है। यह काम ठीक-ठीक रचना का नहीं प्रतीत होता। उतना प्रदर्शनीय और सात्त्विक भी नहीं जान पड़ता। पर होता वह जरूरी है। खोदा-खादी, ढाया-गिराई के इस काम के लिए जान पड़ता है कि कुछ कठोर मनोभाव चाहिए, करुणा काफी नहीं है।

इसलिए डरते-डरते मुझ से वहाँ निकल गया कि करुणा के साथ प्रकोप भी हो तो वह गतिवेग (डायनेमिज्म) आएगा जिसका अभाव अनुभव किया जा रहा है। शायद कुछ को लगा कि अहिंसा की भद्रता की सीमा टूट रही है। पर सर्वोदयी नेता जयप्रकाश बाबू ने पुण्य-प्रकोप की आवश्यकता को माना।

अहिंसा में इस प्रकार प्रकोप का समावेश और सन्निवेश हो तो सत्य के प्रकाशन की अधिक सम्भावनाएँ दीखती हैं। अहिंसा से ढका सत्य करुण हो सकता हो, प्रबुद्ध अहिंसा में सत्य का आग्रह हो सकेगा और वह इस प्रकार अपनी तेजस्विता में उजागर होगा।

वह जो हो, काशी की गोष्ठी साहित्यिक थी। क्या पता था कि कोप की चर्चा सर्वोदय में हुई तो उसके साक्षात दर्शन हाथ-के-हाथ इस साहित्यिक सभा में हो आएँगे! सर्वोदय में मैंने कहा था कि क्या अच्छा हो कि नक्सलियों से कोप कुछ ले लिया जाए और करुणा के एवज में कुछ इधर-से-उधर भेज दी जाए। ऐसे सन्तुलन आएगा और शायद सिरे (एक्सट्रीम्स) मिल सकेंगे।

साहित्यिक होने से काशी-गोष्ठी में वातावरण कामकाजी से शायद भावनामय अधिक हो गया। लोगों को यह अच्छा लगा और मुझे भी। शमा-सा जो बँध गया था। सभा समाप्ति पर वह टूटा तो जैसे झटके के साथ हम भूतल पर आये। हॉल से उठाकर बराबर के कमरे में जलपान के सत्कार के लिए दो-चार मिनट को कुछेक संगतजन एकत्र रह गये तो पास से एक स्वर आया, "नवभारत में मैं वृत्त विहार पढ़ता हूँ। आप हिंसा पर कठोर क्यों होते हैं?"

प्रश्न का स्वर कठिन था। मैंने देखा, लोगों ने भी देखा। प्रश्नकार युवक किसी के परिचित न थे। चेहरा उनका सख्त था और जवाब वह सीधा माँग रहे थे। मैंने कहा, "आपके पास कहीं कुछ कठोरता हो तो सोचिए, आप उसे कहाँ डालना चाहेंगे?"

"पर क्या यह जवाब हुआ?" युवक बोले, "साफ कहिए, हिंसा पर आप

कठोर होते हैं कि नहीं?''

''होता तो हूँ, लेकिन...''

''बस-बस हो गया। युवकों की हिंसा पर आप कठोर होते हैं।''

बात उनकी ठीक थी। हिंसा कठोरता में से निकलती है। उपजाती भी कठोरता है। इस तरह अयुवक के माथे की कठोरता डाल दी जा सकती है।

आसपास सभा के सम्भ्रान्त पुरुष थे। उन्हें अटपटा लग रहा था। मैंने कहा, ''सरकार युवा-विद्रोह पर दमन की सोचे और चाहे तो उस दमन पर तुल आये लेकिन लेखक उस विद्रोहात्मक हिंसा की आवश्यकता और प्रेरणा में उतरेगा...।''

पर व्यर्थ बातों के लिए धैर्य युवक में न हो सकता था, न अवकाश उतना था। हम लोग उठे। युवक को कोई भी पहचान नहीं सका। प्रकोप उनके चेहरे पर था, पुण्य का भाव हो कि न हो। वह तीर की तरह द्वार से आगे बढ़े और बोले, ''तुम लोग प्रेमचन्द के गद्दार हो। गद्दार हो, गद्दार हो।''

यह कहते हुए युवक चले गये और मेरे मन में प्रेमचन्द की वह झाँकी आ गयी जो अन्तिम थी। इसी काशी की बात है। बरस पैंतीस उस पर से बीत गये हैं, पर कल की-सी लगती है। हाथ उनके फूल आये थे और दोनों हाथों से मैंने उनकी हथेली को दाब रखा था। वह शरीर जा रहा था। देखते-देखते वह चला भी गया, पर उसमें किसी तरह की टूट न थी, न प्रार्थना थी। कातरता का लेश न था। और शायद जो भावी का दायित्व उठाने के लिए बचे जा रहे हैं अपने प्रयाण के समय, उन सबके लिए आशीर्वाद था।

शायद हो कि वह युवक प्रेमचन्द को अधिक जानते हों! पर युवक हैं, जानते होंगे तो किताबों के मार्फत ही। और मैं कहता हूँ कि साहित्यिक वाद का नहीं होता क्योंकि इंसान का होता है। समाज से पहले आदमी का, और सिद्धान्त से ज्यादा स्नेह का होता है। उसकी गद्दारी दुनिया से हो सकती है, उससे नहीं हो सकती जो वह खुद है। खुद वह मत-विचार का नहीं बल्कि हाड़-मांस से बना प्राणी है जिसमें संवेदन का श्वास यहाँ-से-वहाँ तक व्याप्त रहता है। वही वफादारी उसे चाहिए, शेष गद्दारी की चिन्ता नहीं।

[28.3.71]

दो देश, दो चुनाव—एक मशाल

पाकिस्तान में चुनाव हुआ और अभी हिन्दुस्तान में भी होकर चुका है। इससे दोनों देशों की तारीख में एक नया वरक खुलता है। पाकिस्तान का इतिहास प्रजातन्त्र का नहीं रहा था। मुद्दत से तो वह सैनिक शासन था। किन्तु पहले ही चुनाव में मालूम हो गया कि सैनिक ताकत के बलबूते पर राज्य करना हँसी-खेल नहीं रह गया है। नयी जनता की ताकत उसमें कहीं बड़ी चीज है। और राजा होगा तो वही होगा जिसे प्रजा अपने में से बनाएगी।

बोलबाला वहाँ पश्चिमी भाग का था, जिसको अपने मर्दूमी का दावा था। पूर्वी पाकिस्तान को वे एकदम हेंच समझने लगे थे। उसे एड़ी के नीचे रखने लायक ही मानते थे। मानना होगा कि जिस्मानी लिहाज से पश्चिम सचमुच पूर्व से बढ़-चढ़कर था। लेकिन पूर्वी बंगाल ने दिखला दिया कि समझी जानेवाली कमजोरी भी अपने ढंग की एक ताकत हो सकती है और बारूद, बन्दूक उसके मुकाबले ठहर नहीं सकती। मजबूत इरादों के लिए पहलवानी जिस्म नहीं चाहिए, उसके लिए तो बलिदान का भरोसा और उसकी तैयारी काफी है। वहाँ शेख मुजीबुर्रहमान साहब की नेतृत्ववाली अवामी पार्टी ने फौजियों के छक्के छुड़ा दिये हैं। सैकड़ों-हजारों चाहे हताहत हुए हों, लेकिन इरादा उनका पुख्ता है और पाकिस्तान के फौजियों को खाने-रहने के लाले पड़ गये हैं। एकाएक मालूम हो आया कि तन्त्र नाम की चीज पोच और बोदी होती है। ताकत जो उसे थामती है, वह तो असल में प्रजा की है। देखते-देखते एक नया शासन वहाँ उठ खड़ा हुआ है जिसके पास नैतिक के सिवा कोई अधिकार और सरअंजाम नहीं है। शेख मुजीब का फरमान चलता है और कोई पूछने को नहीं आता है कि ये महल में क्यों नहीं रहते और चारों तरफ इनके सन्तरी चौकीदार का पहरा क्यों नहीं है। रेडियो पाकिस्तान ढाका में बेतार केन्द्र हो गया और स्वयं वह बंगलादेश बन गया है। पाकिस्तान के निर्माण की बुनियाद में अगर इस्लामाबाद रहा हो और उसकी राजधानी का नाम इस्लामाबाद हो तो भी इस चुनाव ने जाहिर कर दिया है कि इस्लामी राष्ट्रवाद पुराना हो गया

है और उस बहक में हिन्दुस्तान से उलझे रहने की कोई जरूरत नहीं है। उस बिना पर कश्मीर का मामला था तो वह उतना अहम नहीं है। मुसलमान हिन्दुस्तान में रह सकेगा और शायद हालात पैदा हो कि कहा जाए कि हिन्दू भी उसी सलामती से क्यों पाकिस्तान में नहीं रह सकता है? लगता है कि सियासत के नीचे मजहब की बुनियाद का सवाल इसलिए न रह जाएगा कि मजहब बड़ी चीज है। उसका दिलों से ताल्लुक है जबकि सियासत सिर्फ इन्तजाम का वसीला है।

और इधर हिन्दुस्तान में जो जीत हुई है, वह दल से ज्यादा खुद इन्दिराजी की मानी जा सकती है। इन्दिराजी मर्द नहीं हैं। बदन से दमखम के आसार भी नजर नहीं आते हैं। बोली मीठी है और लब्ज भी ज्यादा सख्त नहीं है। चुनाव-आन्दोलन में सबने बड़े शब्द कहें होंगे। इन्दिराजी के मुँह से अपशब्द शायद आवेश में भी नहीं निकला। लेकिन उनमें इरादे की मजबूती है और अपना पूरा भरोसा है। राजनीति इस देश की बहुत ही उलझ चली थी। पेंच-में-पेंच पड़ते जाते थे और काम कुछ न होता था। कुछ फैसला ही नहीं लिया जा सकता था और शासन की सारी मशीन ढीली पड़ गयी थी। इन्दिराजी देखा जाए तो शासन के लिए नयी थीं। कृपा के नाते ही प्रधान मन्त्री उन्हें बनाया गया और समझा जाता था कि पीछे से शासनकर्ता कोई और ही होंगे। उन राजनेताओं को बहुत ही भरोसा रहा होगा इन्दिराजी की कमजोरी का। पर जमाना आता जा रहा है जब कमजोरी की ताकत से मजबूत कोई ताकत न रह जाएगी। यह वह शक्ति है जो समर्पण में से आती है। इन्दिराजी ने अपने को अग्नि-परीक्षा में फेंक दिया। चुनाव का दाँव नहीं तो और क्या है? इन्दिराजी का एक-एक कदम लोगों को भरोसा दिलाता रहा कि उनके पास कुछ है, कुछ कर गुजरने का संकल्प है। उलझे रहने को वह तैयार नहीं हैं, क्योंकि उन्हें चलना और बढ़ना है।

जनता यही चाहती थी। आजिज आ गयी थी वह ले-दे की राजनीति से। चाहिए था कोई जो सामने निशाना रख सके और तीर की तरह उस तरफ बढ़ सके। इन्दिराजी से देश को वैसी आशा मिली और एक नया राष्ट्र-नेतृत्व समक्ष प्रस्तुत हुआ।

हम बधाई देते हैं देश को, देश-नेत्री को, उनकी जीत पर। पर जीत भारी चीज होती है। ताज की महिमा दूसरे के लिए है। उसकी मुसीबत वही सिर्फ जानता है, जिसपर ताज बैठता है। हमारी पूरी सहानुभूति भी इन्दिराजी के साथ है।

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान। अब से मानो ये दोनों राष्ट्र हैं। न इसमें कोई हिन्दू है और न दूसरा मुस्लिम। और ये दोनों जो तीसरे के हाथों कुटिलता से दो बना दिये गये थे। अगर एक इरादे से चल सके और जनता की ताकत और

जरूरत ही उनका मार्गदर्शक रहें तो कोई वजह नहीं कि व्यवसाय में जापान और विचार में चीन अग्रगामी रहे। एशिया का महाद्वीपप्राय यह अखण्ड भूखण्ड एक नयी मशाल दुनिया में दिप्त कर सके—सेना के सामने संकल्प की मशाल, शासकीय हिंसा के सामने प्रजा के अहिंसक घोष की मशाल!

[7.4.71]

भारतीय लोकतन्त्र की श्रद्धा : हथियारों पर जीत इंसान की

चीन और भारत दुनिया के सबसे बड़े देश हैं। दोनों एशिया में हैं और दोनों पड़ोसी हैं, पर दोनों के सम्बन्ध अच्छे नहीं हैं। सीमा-विवाद उनके बीच सुलझा नहीं है और उस सवाल पर मुठभेड़ भी उनमें हो चुकी है। पाकिस्तान का भी भारत से तनाव रहा है। इस तरह चीन और पाकिस्तान सहज सुहृद हो गये हैं और चीन का प्रभाव बढ़ा-चढ़ा लगता है। प्रभाव-विस्तार की चीन की नीति रही है और अब तो उसको मिशन का रूप मिल गया लगता है। माओ की 'लाल किताब' पहले पहुँचती है, दूसरे साधन बाद के लिए रह जाते हैं।

चीन ने अणु बम तैयार कर लिया है। उससे आगे के बम भी वहाँ बन चुके हैं। क्षमता वह भारत क पास चीन से पहले ही रही है पर अणु बम बनाने से भारत ने इनकार किया है। चीन से भारत की जनसंख्या कम है, शक्ति-सामर्थ्य भी कम है। फिर भी भारत ने आणुविक शस्त्रास्त्र से अपने को सबल बनाने से इनकार किया तो क्यों?

प्रश्न यह लोगों के मनों में हो सकता है। यहाँ अनेक नेताओं का आग्रह भी है, वैसे शस्त्र भारत को समय रहते बना लेने चाहिए अन्यथा...। पर भारत की नीति स्पष्ट है और वह उस प्रतियोगिता में पड़ने को तैयार नहीं है। उत्तर स्पष्ट है कि राजनीतिक से कुछ अधिक और ऊपर की श्रद्धा उसे प्राप्त है। नैतिक आस्था और मूल्यों से गिरने का उसका इरादा नहीं है। राजसत्ता के लिए जितनी सर्वथा आवश्यकीय हो, उससे अधिक हिंसा उसे अमान्य होगी और शस्त्रास्त्र की भी वही सीमा होगी। उसे अपना राज्य-विस्तार अपेक्षित नहीं है और शायद स्वयं में दीन और हीन होकर भी दुनिया को उसे एक तत्त्व दर्शन और जीवन दर्शन देने का एहसास है। माओ-त्से-तुंग चीन को और याहिया खाँ पाकिस्तान को मुबारक रहें, भारत के पास अब भी दुनिया को देने के लिए राष्ट्र पिता गाँधी हैं।

गाँधी महात्मा थे और अहिंसा का प्रण रखते थे। भारत राज्य होकर वहाँ तक नहीं उठ सकता; पर वह लोकतन्त्र है, लोकतन्त्र रहेगा और सैन्यवाद को न

अपनाएगा। अपने लिए न अपनाएगा और दूसरे को भी उसके खतरे से आगाह करता रहेगा।

पाकिस्तान की सैनिक हुकूमत थी। वह बाँग्लादेश में टूटती दीख रही है। उससे जो करते बना, उसने किया। पर खतरों से लगता है कि देश पिटा और मिटा नहीं है बल्कि स्वाधीन सरकार की वहाँ घोषणा हो चुकी है और विधिवत उसके खास बड़े भू-भाग पर उसका नियमित शासन चल निकलनेवाला है। भुट्टो साहब के मुँह पर अगर मार्शल लॉ को ढीला करने की बात निकली है तो यह कम सूचक सूचना नहीं है।

चीन खुलकर याहिया खानी हुकूमत के हक में आ गया है। बंगला देश की मुजीब सरकार को अभी किसी ओर से मान्यता नहीं मिली है। भारत सहायता दे रहा है, पर वह सेवा सहायता है और नैतिक है। सामरिक और राजकीय दृष्टि से वह अभी तटस्थ है और चीन-पाकिस्तान दोनों देशों से उसके राजनयिक सम्बन्ध यथापूर्व हैं।

इस विवेक और धैर्य पर शायद भारतीय शासन की प्रशंसा की जा सकती है, पर भारतीय मानस उद्विग्न है। उसे उद्विग्न होने का हक है। पूर्व बंगाल उसके अंचल में और शरण में है। कल तक वह एक था। भाषा उसकी एक है और संस्कारिता भी एक समान है। और वह भारतीय मानस राजनीतिक से कहीं अधिक मानवीय है। यह उसकी विशेषता है। चाहे भावुकता मान ली जाए पर आज के राजव्यूह में वह भावना कम मूल्यवान नहीं है। दुनिया होशियारी को बड़ा समझती हो पर भारत धर्म और न्याय को श्रेष्ठ मानता आया है। उन मूल्यों के खातिर उसने खतरा कम नहीं उठाया है।

मुजीब-क्रान्ति का सूत्रपात अहिंसात्मक असहयोग से हुआ था। उसमें ताकत समूची श्रद्धा और संकल्प की थी। एक तरफ हथियार और हैवान था तो दूसरी तरफ निहत्था इंसान था। तब तक सारी दुनिया इस चमत्कार पर विस्मित थी। पाकिस्तानी सरकार बंगला देशवासियों के हाथों ठप हो चुकी थी। पर फौजें आयीं, तोप-टैंक आये और मार्शल-लॉ शुरू हो गया। असहयोग अहिंसात्मक नहीं रह गया और संख्या बल के नाते जनता से भी जो बना, उसने किया। कब लड़ाई इस ओर से भी हिंसक रूप ले उठी, पता नहीं चला। हिंसा पाकिस्तान से होती और मुकाबले में बाँग्लादेश से निरा बलिदान होता तो मानवीय पक्ष उसका निर्भ्रान्त हो उठता। शायद तब मौतें इससे चौथाई भी न होतीं और विश्व का अन्तःकरण जड़ से हिल आया होता। आज जो दुविधा दुनिया के देशों में दीखती है, सम्भव न रह जाती। हिम्मत न होती किसी को कि पाकिस्तान का समर्थन कर जाए।

वह नहीं हो सका। पर क्या इंसान की तोहमत की जाए इसीलिए कि वह

चुपचाप मर क्यों नहीं गया? मरने की उस दीक्षा का अभ्यास आगे कोई देश कदाचित कर पाए, पर सबसे कठिन वह अभ्यास है और सबसे दैवी भी। फिर भी जिस साहस और शौर्य से बाँग्लादेश ने सैनिक बर्बरता को झेला और काफी अंश में जीता है, वह कम प्रशंसनीय नहीं है।

क्या मानवान्त:करण इस पुकार पर जगेगा नहीं और भारतीय शासन का नेता राजनीतिक चिन्तन के घटाटोप से घिरा रह जाएगा? अगर भारत अपनी मानव धर्म-श्रद्धा के बल नहीं खड़ा हो सकता है तो फिर क्यों वह अणुबम निर्माण से पीछे हटता है?

एशिया और अफ्रीका के देश हैं जो नयी श्रद्धा का नेतृत्व चाहते हैं। हथियारों की कृपाकांक्षी बने रहने की नीति से वे आजिज आ गये हैं। हथियारों के मामले में भारत चीन की बराबरी में कभी नहीं पहुँच सकेगा। लेकिन साफ है कि हथियारों से बड़ी एक नैतिक ताकत जैसी चीज दुनिया में बनती आ रही है। भारत उसका भरोसा रखकर अकेला भी मानव-न्याय के पक्ष में खड़ा हो सकता है। राष्ट्र पिता गाँधी का यही आदेश था और भारत का भाग्य और भविष्य उसी राह से चमके तो चमकेगा।

[18.4.71]

सर्वोदय जागतिक और लोकनीतिक

गाँधीजी के बाद गाँधी परिवार सेवाग्राम में एकत्र हुआ। परिवार क्या, उसे समाज ही कहिए। उस समागम की विशालता का अनुमान इसी से हो जाएगा कि एक ओर उसमें शीर्षस्थ राजपुरुष जवाहरलाल नेहरू थे तो दूसरी ओर ब्रह्मलीन विनोबा जैसे सत्पुरुष भी थे। जीवन के सब स्तरों और आयामों का मानो पूरा ही प्रतिनिधित्व था। कर्म-तत्पर जन थे तो उत्तीर्ण तत्त्वनिष्ठ भी थे। तय पाया कि यह सर्वोदय समाज होगा और गाँधी को जीवित रखेगा।

पर विशालता उस समाज की जाने कैसे धीरे-धीरे कम होती गयी! जल से लहराता जहाँ सागर नजर आता था, क्रमशः वहाँ बालू का पाट फैलता गया। बस, पानी की पतली-सी धारा विनोबा के तट से सटकर बहने को रह गयी। नेहरू बाहर हो गये और वे सब लोग भी बाहर होते चले गये जो कर्म के आग्रही थे, व्यवहार से विमुख न थे, इसलिए जो अराजनीतिक अपने को नहीं मान सकते थे। मालूम हुआ कि राजनीति वह है जो लोकनीति नहीं है। इसलिए लोकनीति वह होगी जो राजनीतिक न हो पाएगी। इस मन्तव्य के आधार पर सर्वोदय का मार्ग अलग बन गया और राजनीतिक जन विलग होकर सहयोग से अधिक उसकी समीक्षा के पात्र रह गये।

समाज परिवर्तन कैसे होगा? समाज सम्बन्धों में ही वैषम्य और विद्वेष व्याप गया है, कैसे उखड़ेगा? निहत स्वार्थ कैसे टूटेंगे? धन के शोषण का उन्मूलन कैसे होगा? यह काम क्रान्तिकारी जन अपना मानते थे और उसके लिए हिंसा के साधन को आवश्यक व उचित भी मानते थे। तेलंगाना में उन जनों ने अपना कार्यक्रम इस विकटता से आरम्भ किया कि सरकार सहसा उसका सामना न कर सकी। स्थानीय तन्त्र जवाब दे गया। ऐसे समय विनोबा वहाँ पहुँचे और भूदान का कार्य प्रकट हुआ। फिर तो उसकी धूम मच गयी। सरकार का सिरदर्द मिटा और नेहरू को विनोबा से आशाएँ बँधीं।

विनोबा भूदान को लेकर देश की पद-दक्षिणा पर निकल चले। पैदल चलते

और गाँव-गाँव वही अलख जगाते जाते। लोगों में चेतना उभरी और आशातीत परिणाम में जमीनों का दान मिला। चप्पा-चप्पा धरती पर जान के वारे-न्यारे हो जाते हैं, वहीं लाखों एकड़ जमीन स्वेच्छा से दे डाली गयी। अपने में यह अभूतपूर्व था और दुनिया पर इस घटना का प्रभाव पड़ा।

ऐसे समय विनोबा को जयप्रकाश बाबू का जीवनदान अर्पण हुआ। जे.पी., नेहरू से दोयम देर तक देश की निगाह में रहते। सब ओर उनके लिए सराहना का भाव था। लेकिन इस समय वे दल-जनहीन थे। नेहरू से बात बनते-बनते नहीं बन पायी थी। वह इस आन्दोलन में आये और भूदान ग्रामदान में विकसित हुआ। ग्रामदान क्रमशः प्रखण्ड, जिला आदि पार करता हुआ प्रान्त दान तक जा पहुँचा। बिहार समूचा दान में आ गया और तमिलनाडु भी।

पर हुआ तो हुआ क्या, राज्यों का दान हो गया पर बात वहीं-की-वहीं दिखाई दी। जनमानस में परिवर्तन की कोई लहर नहीं लहरायी। कहीं ऐसा तो नहीं कि 'प्राणिनामाती नाशनम्' की जगह 'ग्रामदानकं संवर्धनम्' के प्रयोजन ने घेर ली हो। ऐसा लगा कि लोगों के सुख-दुख के सवाल किनारे छूटते जा रहे हैं और ग्रामदानों की गणना सरपट बढ़ती भी जा रही है। शायद अब सहरसा और मुसहरी के अनुभव से पता चल रहा है कि बिहार के ग्रामदानों में दानपत्रों के बावजूद हर ग्राम की इकाई के दान के लिए नये सिरे से यत्न करना पड़ रहा है। काम बेहद दूभर पड़ रहा है। परिश्रम खूब लगता है, पर बात तनिक ही सरक पाती है।

फिर भी सर्वोदय बन्धुओं की एकनिष्ठा की प्रशंसा करनी होगी। पर शुभ सूचना है कि बाँग्लादेश की घटना ने उन्हें झकझोर डाला है। सर्वोदय ने इधर-उधर भी देखना शुरू किया और स्वयं जे.पी.यू.एन.ओ. जाने की सोच रहे हैं। खबर है कि विश्व की अन्य राजधानियों को भी वे टटोलेंगे। इसके साथ लन्दन से इस्लामाबाद तक मैत्री यात्रा की बात भी सुनी गयी है।

समाचार शुभ यह इसलिए कहता हूँ कि एकलीकता भले टूटती लगती हो पर सच पूछिए तो उस निष्ठा को इस प्रकार समग्रता ही प्राप्त होती है। ग्राम स्वराज्य का आदर्श वैश्विक राज्य से एकदम अभिन्न है। दोनों एक ही धुरी के दो ध्रुव हैं, न लोकनीति ग्राम की सीमा में जग या पनप सकती है। इसके लिए भी जागतिक सन्दर्भ का ध्यान आवश्यक है। अलग-थलग रहना सम्भव नहीं है और वह ग्राम स्वराज्य ग्रामस्वराचार हो सकता है, जो इस सम्बन्ध में सतर्क नहीं है।

गाँधीजी की समूची ऐतिहासिक थाती का उत्तराधिकार सर्वोदय के पास है। गाँधी युग में दिल्ली-सेवाग्राम की धुरी बराबर सक्रिय रही। दिल्ली के तख्त पर शहंशाह था, सेवाग्राम की कुटी में भारत का सन्त सम्राट था। चाहे लड़ाई ही चली

पर इन दोनों धुरों के बीच संचार कभी रुका नहीं। सर्वोदय यदि अब जगत के प्रश्नों के प्रति खुला है तो क्या यह आशा की जाए कि राजपीठ और सर्वोदय के बीच विमुखता का सम्बन्ध टूटेगा, सम्मुखता उदय में आएगी और कुछ संयुक्त राष्ट्रीय प्रयत्न हो सकेगा?

[9.5.71]

राज क्या भारी ही रहेगा?

केन्द्र के एक मन्त्री ने लोकसभा में खुले कहा कि राज हमारा यह सुराज नहीं, सिफारिश राज है।

ऐसी स्वीकृति लोकसभा में ही सम्भव है और शायद केवल भारतीय लोकतन्त्र में। लोकतन्त्रता के लिए यह प्रशंसनीय भी माना जा सकता है।

पर स्वीकृति प्रशंसनीय हो, स्थिति चिन्तनीय है। उन्होंने आगे कहा, ''सरकारी खर्चे में कमी करने के लिए जब भी अयोग्य तथा आवश्यकता से अधिक माने गये कर्मचारियों को हटाने या उनका तबादला करने का यत्न किया जाता है तभी बड़ी-बड़ी सिफारिशें लेकर लोग आ जाते हैं। उस तरह भ्रष्ट अधिकारी लगे रहते हैं और जनता की गाढ़ी कमाई के धन का सदुपयोग नहीं हो पाता।''

यह चित्रपट है। उसके सन्दर्भ में बजट को देखा जाना चाहिए। बजट घाटे का है। घाटा कुल 397 करोड़ रुपयों का है जिमसें 220 करोड़ रुपये की पूर्ति तरह-तरह के करों द्वारा होनी है। गर्भित इसमें सरकार के हाथ की आवश्यकीय योजनाएँ हैं, जिनको टाला नहीं जा सकता। देश को आगे जाना है और भारतीय समाज को कष्ट और त्याग के लिए तैयार रहना चाहिए। उन्नति श्रम और तप से होगी और हाथ की योजनाएँ भारत को सम्पन्न करेंगी, इत्यादि।

प्रस्तावित बजट सम्भवनीय एकाध हेर-फेर के साथ पारित हो ही जाएगा। शासक दल का मजे का बहुमत है और सन्देह का सवाल नहीं रहता है।

पर देश तो इतना सब कर देकर उऋण हो जाता है। कर लेनेवाली सरकार पर एक तरह ऋण चढ़ जाता है। प्रश्न है कि क्या सरकार की ओर से भारतवासियों के प्रति ऋण की अदायगी सही-सही हो पाती है? यदि नहीं तो क्या वह लोकतन्त्र सदन के समर्थन के बावजूद बहुत सुरक्षित और श्रेष्ठ माना जा सकता है?

सन् '72 में आगामी चुनाव आनेवाला है। इसलिए यह प्रश्न सबके मनों में साफ होते जाना चाहिए कि अपने लोकतन्त्र को किस दिशा में बढ़ना है। वह दाग-बेल क्या है कि जिसकी रेखाओं पर हमें ध्यान देना होगा?

राज का एक यन्त्र है और वह काफी बड़ा है। सब अफसर-अमला उसमें आ जाता है। चुनाव द्वारा पाँच वर्ष के लिए हम जन प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं कि वे इस यन्त्र से काम लें और देश को सुरक्षा एवं समृद्धि दें। इस प्रकार के राजतन्त्र को लोकतन्त्र माना जाता है। ये प्रतिनिधि सदन द्वारा नीतियों का निर्धारण करते और बहुमत के दल प्रतिनिधियों द्वारा फिर उनकी सम्पूर्ति कराते हैं।

राष्ट्र एक समवाय है जिसमें अनेक स्तर होते हैं। राष्ट्र की एकता संविधान से परिभाषा पाती है और सरकार द्वारा काम करती है। उसके अन्तर्गत मानव समाज को उच्च, मध्य और निम्न वर्गों में बँटा मानकर सन्तोष कर लिया जाता है। जैसे कि अनुमानित बजट के बारे में मान लिया गया है कि उसकी चोट मध्यम वर्ग पर है। 'गरीबी हटाओ' नहीं, 'मध्यम श्रेणी हटाओ' ही उसका अर्थ रह जाता है।

इस श्रेणीगत विचार में हमें यहाँ नहीं पड़ना है। प्रजाजन की श्रेणियों से अलग और ऊपर अगर इस पद्धति से नयी एक राजन्य श्रेणी का निर्माण हो चलता हो तो वह क्या सोशलिज्म होगा?

दो श्रेणियाँ साफ हैं। कुछ काम उत्पादक हैं, दूसरे अनुत्पादक। सच्चे लोकतन्त्र की परिभाषा में उत्पादक वर्ग पर अनुत्पादक का कम-से-कम बोझ आना चाहिए। अनुत्पादक भाग बहुत बोझल हो जाता हो और उत्पादक वर्ग क्षीण-से-क्षीण होता जाता हो तो समाज और सरकार का वह ढाँचा स्वस्थ नहीं कहलाएगा। इसमें समस्याएँ बढ़ेंगी और अपराध बढ़ेंगे। अपराध के लिए प्रशासन और प्रशासन की कड़ाई के तले अपराध और फिर प्रशासन...आदि कड़ी रुकेगी नहीं और ढाँचा डाँवाडोल रहेगा।

प्रशासन की गणना अनुत्पादक कामों में ही हो सकती है। उसका लवाजमा जितना बढ़ता, उत्पादन का मूल्य और महत्त्व उतना घटता है। अफसरशाही और नेताशाही छाती है और काम सिर्फ वह करता है जिसको करना पड़ जाता है। बताने और करानेवालों की तादाद लोकतन्त्र में बेशुमार हो जाए तो करने और करानेवाले गूँगे और हताश जन रह जाएँगे। इसको लोकतन्त्र कहते जाना विडम्बना मात्र होगी।

प्रश्न है कि मन्त्री द्वारा दिया गया सरकार का चित्र यदि सच है, और सच तो वह है ही, तो क्या सरकार को कर बढ़ाने के पहले अपना खर्च घटाने की नहीं सोचना चाहिए? तन्त्र लदा रहे लोक पर तो क्या वह लोकतन्त्र शब्द के साथ न्याय होगा?

यहाँ ही सावधानी की आवश्यकता है। राज की योजनाओं को और उस

राज के अमले को बढ़ाते जाने की दिशा में खैर नहीं है। राजा कभी ऐश करता था, रैयत उसको सिर पर ढोती, बिठाती थी। इस हालत को हम सामन्तवादी कहकर पीछे छोड़ आये हैं। पर नये नाम पर वह और भी व्याप्त हो चले तो उसको क्या कहा जाएगा?

राजकर्म का मूल्य और महत्त्व बढ़ता जाए, राजकर्मियों की संख्या गुणित होकर फैलती जाए तो निश्चय रखिए कि राज स्वराजी राज होते-होते सिफारिशी राज बनता चला जाएगा।

क्या चेतावनी समय की काफी नहीं है कि राज को हलका करने की दिशा में हम सोचना शुरू करें और अभिक्रम को केन्द्रित करने की बजाय ग्राम-ग्राम में उसे जाग्रत करने में लग जाएँ। यह मोड़ नहीं आता तो समस्याएँ विकट होंगी और स्फोट की दिशा में हम बेबस बढ़ रहे होंगे।

[6.6.71]

दुनिया की खबरें और देशों के हाल

अखबार के पहले सफे पर आज ये खबरें हैं :

नं. 1—श्री अनातोल फिदोसियेव ने भागकर युनाइटेड किंगडम की शरण ली है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण यह शरण-ग्रहण है। बावन वर्ष के श्री फिदोसियेव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तरिक्ष शोध विशेषज्ञ हैं और वहाँ के सोयुज और लूना को अन्तरिक्ष में भेजने के कार्यक्रम के पीछे वही प्रमुख थे। खबर है कि वह उन इंग्लिश महिला मित्र के साथ लन्दन के आसपास ही हैं जो उन्हें मास्को में मिली थीं। यह भी खबर है कि श्री फिदोसियेव की रूस में एक अमेरिकी प्रतिनिधिमण्डल के लोगों से बातचीत हुई थी...इत्यादि।

नं. 2—एल्सबर्ग ने गायब होने से पहले अखबार के संवाददाता को कहा, ''मुझे खुशी है कि भेद बाहर हो गया है। इस पर तो मुझे गर्व अनुभव होता है कि भेद निकालने और देने का सन्देह मुझ पर है। डेनियल एल्सबर्ग ने अथाह परिश्रम किया और कहा कि युद्ध की वास्तविकता को अन्दर से समझ पाने की दृष्टि से इन दस्तावेजों का प्रकाशन एक शुभारम्भ है।''

एल्सबर्ग ने कोशिश की कि दस्तावेज के कागजों को पेंटागोन से बाहर के विशिष्ट अधिकारी देखें और राय कायम करें। उसने कहा कि मैं हर हालत में इन कागजों को जाहिर करता, चाहे उनके लिए मुझे जेल ही क्यों न जाना पड़ जाता।

इन भेदवाले कागजों का प्रकाशन एक अखबार ने शुरू किया। खलबली ही नहीं मची, बल्कि उसको निषेधादेश मिला और मुकदमे की तैयारी सुनी जाती है। पर उनके प्रकाशन का सिलसिला ही फिर शुरू हो गया और दूसरे अखबारों ने भी उनके अंश छापने शुरू कर दिये हैं...इत्यादि।

नं. 3—विश्व न्यायालय ने अपनी सम्मति देते हुए कहा कि दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका की भूमि पर दक्षिण अफ्रीका की उपस्थिति अवैध है और उसको उस

क्षेत्र से तुरन्त हट जाना चाहिए। यह राय दो के विरोध में 13 मतों की बहुलता से दी गयी।...यू.एन.ओ. की सिक्योरिटी कौंसिल ने इस सम्बन्ध में विश्व न्यायालय से उसका अभिमत माँगा था। दक्षिण अफ्रीका क्या अपने से बाहर उस भूमि पर बराबर काबिज बना ही रहेगा? चार के विरोध में 11 के बहुमत से न्यायालय ने सुझाया कि संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नियमतः बाध्य हैं कि दक्षिण अफ्रीका की उपस्थिति गैर-कानूनी स्वीकार करें और नाम्बिया (दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका) की ओर से या इसके सम्बन्ध में जो भी कार्यवाही दक्षिण अफ्रीका करे, उसको रद्द करार दें। उसी बहुमत से न्यायालय ने उन राष्ट्रों को भी, जो संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं, कहा कि दक्षिण अफ्रीका को वहाँ से हटने में विश्व संस्था की सहायता करनी चाहिए...इत्यादि।

नं. 4—बंगला देश से आनेवाले शरणार्थियों की संख्या जो कुछ घटने लगी थी, फिर बढ़कर एक लाख प्रतिदिन पर आ गयी है। और भारत का भार बहुत बढ़ गया है। 3 रुपये हर आदमी के हिसाब से करीब दो करोड़ रुपये रोज शरणार्थियों पर खर्च हो रहे हैं। भारत सदा के लिए उन्हें पाल नहीं सकता है और जल्दी ही उनकी वापसी की व्यवस्था नहीं हुई तो नहीं कहा जा सकता कि क्या होगा...?

ये खबरें सूचक हैं कि दुनिया एक-दूसरे से जुड़ी ही नहीं है बल्कि एक-दूसरे में अन्तःप्रविष्ट है। और इस अन्तवेश की प्रक्रिया को बढ़ते जाने से रोका नहीं जा सकता।

लोहे की दीवार नहीं रह गयी है और बाँस तक की हट चुकी है। आवागमन, राव-रस्म, बातचीत का प्रवाह बढ़ और फैल रहा है। ज्ञान-विज्ञान के साधन उसे द्रुत-से-द्रुततर बनाते जाने को बाध्य हैं। दुनिया के लिए इससे पीछे हटना सम्भव नहीं है। समीपता और एकता हमारे इरादों के बावजूद गुँथती जा रही हैं, चाहे वह गुँथना कहीं-कहीं आपसी संघर्ष का ही क्यों न दिखाई देता हो। यह है जो दुनिया की दुर्निवार्य गति है।

पर देश, देशों की अपनी स्वार्थ-नीतियाँ हैं और उनके दाँव-पेंच ऐसी हर घटना-समस्या पैदा करते रहते हैं जहाँ एक देश दूसरे देश में पड़ता और पहुँचता है। हर देश की अपनी सीमा है और सेना है, हर हुकूमत अपने में प्रभुसत्ता है और कोई किसी के बीच नहीं जा सकता है। हमारा घर है। घर में जो हो, आपको क्या? पर घर कोई बन्द नहीं है और हर घर में छिद्र हैं। अलग-थलगपन रह नहीं सकता है। और एक की ओर से मदद नहीं तो दबाव ही दूसरे पर पड़े बिना न रहेगा।

यह संकट है जिसके तनाव से मानव-जाति फटी-सी जा रही है। दुनिया

छोटी बन गयी है और सब पास आ रहे हैं। लेकिन देशों की सीमाएँ, सेनाएँ, स्पर्धाएँ पैनी हो रही हैं और समस्या कँटीली बनती जा रही है।

कहीं नहीं समझ आता कि राष्ट्रसत्ताएँ ही यदि विभु रहीं, मानव-सत्ता केन्द्र में कोई प्रकट न हो सकी, तो क्या होगा?

और तो और बाँग्लादेश को लेकर हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच ही क्या होगा? पाकिस्तान को अगर भीतर से हथियार मिलते जाएँगे और ऊपर से शान्ति और समझौते की सलाह दी जाएगी तो क्या होगा? क्या अन्तरराष्ट्रीय मानस वह उदय में न आएगा, जो अपराध को डराए और सुलह को बनाए?

[27.6.71]

सत्य जीतेगा, पर बलिदान के बल से

मालूम नहीं, गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ कितनी मंजिलों तक पहुँची हैं! उनके ऊपर कहीं मीनारें भी खड़ी की गयी हैं जो दूर-दूर तक टेलीविजन किरणों का प्रसारण करेंगी। इस तरह हमारा निर्माण ऊँचा हो रहा है। और दूर-दूर की दुनिया नाना संचार-विधियों से आसपास आयी जा रही है।

पर एक निर्माण है जो इससे कहीं विशाल और पेचीदा है। वह निर्माण जड़-तत्त्वों का नहीं है। इसलिए सहसा उसके सीमाकरण का पता नहीं चलता है। चेतन मानव प्राणियों को आपसी सम्बन्धों में व्यवस्थित रखने के निमित्त उसका निर्माण किया जाता है। वही राजतन्त्र उस रचना की भूलभुलैया का अन्त पाना मुश्किल है।

सबसे बड़ी राजशक्ति के तौर पर अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र की गिनती होती है। वहाँ मच चुका है एक तहलका। अभी कुछ कागज प्रेस के पास पहुँचे। एक अखबार ने उसका अंश छाप दिया। वे पता देते थे कि वियतनाम का युद्ध हुआ और उभरा तो नीचे मन्त्रणाओं की क्या बुनावट थी। बस, लीजिए, आसन हिल गये। फल : सत्ता और सत्य की ले-दे छिड़ गयी।

जिन महाशय ने दस्तावेजों को सील और अँधेरे में से ढूँढ़ निकाला, उन्होंने माना कि इनको लोकमत की धूप लगनी चाहिए। अमेरिका तो सबसे ही प्रमुख जनतन्त्र है। उस जनतन्त्र की जनता को भीतरी सच्चाई मालूम होनी और रहनी चाहिए। जनतन्त्र के साँघ को टिकना है तो उसके लिए जनता को अँधेरे में रखना हितकर नहीं होगा। नीतियों का निर्माण जिस पद्धति से और जिन प्रभावों के अधीन हुआ करता है, उसका दर्शन जन-सामान्य को मिलना चाहिए, नहीं तो शासन शासितों की अनुमति और अवगति पर टिका है, यह दावा बुरा न कहलाएगा।

जिन महोदय ने साहसपूर्वक यह सोचा और राजभेद की बातों को धर्म मानकर प्रेस तक पहुँचाया, वे ऐसा करके रूपोश हो गये। पर कानून की माँग पर उन्होंने अपने को पेश कर दिया है। कानून अब अपराध की छानबीन करेगा।

पर उस देश की सर्वोच्च न्याय-संस्था ने, अचरज कीजिए कि बधाई दीजिए, अपने बहुमत से फैसला दे दिया है कि पत्रों के जरिये उन भेदों का सब लोगों के सामने आना गलत न था और अखबार उन्हें छापना जारी रख सकते हैं।

पावर और प्रेस के इस संघर्ष ने सिद्ध किया है कि सत्ता सत्य से निरपेक्ष नहीं रह सकती है। प्रेस की स्वयं में पावर है और सच खुलकर अन्याय के अम्बार को क्षण में हिला दे सकता है।

पर प्रेस की अपनी संरचना का क्या हाल है? उसकी ताकत सत्य की है या संघटना की है। अखबार एक हाथी का हाथी होता है और उसे ढेर खुराक चाहिए। बड़ी पूँजी लगती है उसको चलाने में। और पूँजी यों ही जमा नहीं हो जाती। पूँजी की सच्चाई के साथ गठजोड़ है, यह भी कहना कठिन है। इसलिए राजसत्ता से अगर प्रेस की सत्ता बीस निकल आयी तो इस शक्ति को सचमुच में क्या सच्चाई की शक्ति कहा जा सकेगा? प्रेस भी अन्ततः क्या एक गठित दलतन्त्र का ही आयुध नहीं हुआ करता है?

बाँग्लादेश की ही घटना को लीजिए। मत-मन्तव्य कितने ही हों, दो तथ्य साफ हैं। एक, कि डर के मारे जान बचाकर पैंसठ लाख आदमी वहाँ से भागकर भारत भूमि की शरण पर आया पड़ा है। दो, कि दस लाख आदमी बंगाल देश में मार डाला गया है। क्यों यह नर-संहार होता चला गया, और इतने जन घर-बार छोड़कर अनाथ बनने को विवश हुए?

यह प्रश्न राजनीतिक विवेचन के अन्तर्गत आ सकता है, पर तथ्य तो निर्विवाद है।

फिर भी अन्तरराष्ट्रीय प्रेस उन तथ्यों को लेकर क्या कर सका? सच्चाई छिपी नहीं है, पर अपने-आपमें वह क्या कर ले गयी? अमेरिका की न्याय की तुला पर वहाँ का प्रेस जीत पा गया हो, पर क्या राष्ट्र सत्ता अथवा सत्ताओं पर प्रेस का आधिपत्य सिद्ध हो गया?

आज का मानव-संकट यही है। विज्ञान की उपलब्धियों से मानव कितना भी परस्पर निकट आया हो, पर राष्ट्रों की राजसत्ताएँ उसे अलग रखती हैं और कोई मानव प्रश्न राजनीति के चक्रव्यूह में फँसे और लिथेड़े बिना नहीं रह पाता। वह उलझ आता है और सत्य वहाँ से गायब हो जाता है। नंगी ताकतें आमने-सामने होकर मानो मानव पक्ष को अपने नीचे दबोच डालती हैं और न्याय, सत्ता की अधीनता में आ जाता है।

इन परिस्थितियों में से हम गुजर रहे हैं। पाकिस्तान-हिन्दुस्तान राजनीतिक आवर्त में आ गये हैं। मौका है कि बड़े देश दायें-बायें दोनों को ऐसे समय थपकी दें, साथ नसीहत और उपदेश भी दें। पर नहीं लगता कि शक्ति के और उसके

तर्क के व्यूह से ऐसे उनका उद्धार होगा। याहिया साहब का पक्ष है कि सच्चाई वह है जो शस्त्र से साबित और हासिल होती है। हिन्दुस्तान उस शस्त्र-तर्क को उनसे ले सकता है। भावना उसके लिए यहाँ गर्म है और वैसा परामर्श भी उद्यत है। अगर पैंसठ लाख के शरणार्थियों के आकस्मिक बोझ को पाकिस्तानी हमला मानकर भारत रणोद्यत हो उठे तो कौन है जो उसे दोष दे सकेगा? पर आगे-पीछे वह नौबत आयी तो बड़ी सांघातिक होगी। बाहरी उपदेष्टाओं और राजनयिकों को इसका ध्यान रखना चाहिए।

पर सच यह है कि सच्चाई की ताकत के आगे आखिर तक कुछ ठहरेगा नहीं। और आदमी का हमेशा यह वश है कि अपने बलिदान से सच्चाई की शहादत दे आये। डर में से शस्त्र आ सकता और उससे दूसरे की जान ली जा सकती है। पर आत्म-बलिदान का संकल्प उस निडर सत्य की आस्था में से ही प्राप्त हो सकता है। वही है जो भारत को आज अभीष्ट होना चाहिए। प्रेस संघटना पर निर्भर हो, सत्य एक अकेले में से जगकर भी प्रकाश उपजा सकता है।

बलिदान जितना निर्वैर और जितना शुद्ध होगा, उतना ही सत्य और न्याय का त्वरित निर्णय वहाँ से प्राप्त होगा। तब किसी प्रचार का वश यह न रहेगा कि तोड़-मरोड़ के जरिये मानव-जाति के मन में दुविधा उत्पन्न कर सके। इस सत्याग्रही बलिदान के लिए मन्त्री अथवा प्रधान मन्त्री को कष्ट देने की भी आवश्यकता न होगी, पर...।

[11.7.71]

संयुक्त राष्ट्र संघ : वर्तमान की मर्यादाएँ और भावी की सम्भावनाएँ

युद्ध तो सदा से होते आये हैं, पर सही अर्थों में जिन्हें महायुद्ध कहा जाए, उनका आरम्भ इस बीसवीं सदी से हुआ मानना चाहिए। पहले विज्ञान के अभाव में दुनिया पिछड़ी हुई थी। इस नयी सदी में आकर विज्ञान ने भी जगत को नये ढंग से उन्नत बना दिया। परिणाम हुआ कि युद्ध का विस्तार, बीच में यान्त्रिक शस्त्रास्त्र आ जाने से, अमितामित होता चला गया और प्रकट हुआ कि अब युद्ध सिर्फ राष्ट्र-राष्ट्र का नहीं रहता, वह जागतिक हो जाता है। ऐसे ही दो महायुद्ध इस सदी में हुए। पहले के अनुभव के बाद जीते हुए मित्र-पक्ष ने 'लीग ऑफ नेशन' की स्थापना की, दूसरे के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ बना।

यह संरचना ऊपर किसी आदर्श की ओर से नहीं आयी। आदर्श से सटकर जो लोग रहते हैं, वे तो काव्य और शास्त्र रचते हैं। शाब्दिक से आगे मानसिक रचना में वे भूले-बिसरे और अनावश्यक ही बने रह जाते हैं। यह व्यवस्था और विधान वाला निर्माण होता उनके द्वारा है जो यथार्थ की भूमिका पर रहते और आदर्श की ओर कदम-कदम बढ़ने का धैर्य रख सकते हैं। आसमान की तरफ से धरती बनी-बँधायी एक है, पर धरती पर जीवन बितानेवालों को उस एकता को बनाने में सदियों-सदी की साधना और तपस्या लगानी होती है। युद्ध मानव-जाति के भाग्य में तपस्या का वही प्रकार है।

अत: युद्ध हम झेलते आए और उस अनुभव में से सीखते भी आये हैं। इसी श्रृंखला में दूसरे महायुद्ध ने हमको संयुक्त राष्ट्रसंघ तो दिया किन्तु जग-जीवन में उसने तीसरे महायुद्ध का बीजारोपण भी कर दिया। यही होता हो हिंसा अपनी बेल बो जाती है कि फल आनेवाले भोगें। लगता तब यह है कि छोटी हिंसा कट रही हो, पर कटते-कटते भी वह बड़ी हिंसा की जड़ें डाल चुकी होती है।

शत्रु तो समाप्त हुआ, लेकिन हर बार देखा गया कि जीतनेवाले मित्रों में

से ही शत्रुता फूट आयी है। 'लीग ऑफ नेशंस' इसी खींचतान में बेकार पड़ी और संयुक्त राष्ट्र संघ भी शक्ति की इस रस्साकसी में उलझकर सही और सार्थक नहीं हो पा रहा है। फिर भी, तनाव और कसाव कितना भी हो; छावनियाँ दोनों तरफ चाहे उद्यत और सनद्ध हों; प्रभाव क्षेत्रों का बँटवारा कितनी भी नाजुक नोक पर सन्तुलित हो; तीसरा युद्ध नहीं हो सका और नहीं होगा। ठण्डा युद्ध है, मात्रा भी उसकी उतनी गर्म है जितनी हो सकती है, फिर भी लहूलुहान जंग नहीं होगा। इसलिए नहीं कि संयुक्त राष्ट्र संघ है, बल्कि इसलिए कि हाइड्रोजन बम है। अब तो इक्के-दुक्के के पास उसके संचित आयुध ही नहीं हैं, बल्कि उनका बिखराव भी है। एक के पास होता तो शेष उसके भय से दबे रहते। अब भय सबको एक का नहीं, बल्कि अनेक को अनेक का है। और यह भय ही इलाज और उपचार (डेटरेंट) बन गया है।

आशय, संयुक्त राष्ट्र संघ संयुक्त है, तो शक्तिनीतिक कूटनीति की छाया में शक्ति असल राष्ट्र-राज्यों के पास है। सभी राष्ट्र प्रभुसत्ता-सम्पन्न हैं, सर्वथा सावरेन हैं। अत: सब के पास अपनी सेनाएँ हैं। अपने सिक्के हैं, अपना राष्ट्रवाद है और सबके हाथ में अपना मनमाना निर्णय है। विज्ञान-व्यवसाय-व्यापार है अवश्य जो उन सब में एक सूत्र तो पिरोए रखता है, पर नीचे उनके हेतु और सम्बन्ध उनके स्वार्थ-स्पर्द्धा के ही बने होते हैं। इस प्रकार सारी मानव-जाति में अशान्ति और असुरक्षा का भाव व्यापा रहता है। एक भी राष्ट्र अपनी मनमानी चाहे तो कर गुजर सकता और ऐसे बारूद से भरी दुनिया में पलीता डालने का खतरा पैदा कर सकता है।

राष्ट्रों की अपनी यह मनमौज न चल पाए, दुनिया को खतरे में न पड़ना पड़े, इसकी आवश्यकता हर युद्ध के अन्त में अनुभव की गयी। युद्ध में विजयी मित्र-जनों ने इस रोकथाम की व्यवस्था भी अपनी ओर से की। पर वह इन्तजाम अन्यान्य छोटी शक्तियों के लिए हुआ, बड़ी शक्तियाँ स्वयं उस यन्त्र-संस्थान पर बैठी रहकर मानो निजी सत्ता स्पर्धा के खेल के लिए और भी सार्वभौम अवकाश पा गयीं। अपनी प्रभुसत्ता का अंश भी किसी ने संयुक्त-राष्ट्रार्पित नहीं किया। इस प्रकार यह जागतिक संघ अस्तित्व में आकर भी मानव-हित का साधन नहीं बन सका, संघठित महासत्ताओं के हाथ का औजार ही बना रह गया।

पर अब समय है और यही समय है। सब राष्ट्र जिच में हैं। विश्व-सन्तुलन मानो ज्वाला की नोक पर टिका है। सब को असुरक्षा का भय है। अणु बम के भीतर ध्वंस था, पर डॉलर और रूबल के भीतर रचना समझ ली जाती थी। पर प्रकट हो गया है कि वहाँ भी कतर और काट है। जैसे मानव सभ्यता की पूरी रचना ही काँटेदार है। अत: व्यवस्था करनी होगी कि धारदार राजनीति कटे, देश

आपसी डर से उबरें और संयुक्त राष्ट्र संघ की छाया के तले वे परस्पर सहयोग और सुरक्षा साधें।

हर देश की अपनी अस्मिता है। अपनी संस्कृति और अपना इतिहास है। नहीं, उस स्वत्व का उत्सर्ग नहीं माँगा जा सकता। वह विविधता तो मानव जाति का गर्व और गौरव है। पर सबसे किंचित शस्त्र-सैन्य का स्वेच्छार्पण अवश्य ही माँग लिया जा सकता है। वह किसी को अदेय भी नहीं होना चाहिए। यदि वह भी नहीं तो विनोबा का विश्व शान्ति-सेना का सुझाव तो सचमुच इसी घड़ी स्वीकार्य हो सकता है। विश्व के संयुक्त राष्ट्र संघ के पास शस्त्र-सेना की जगह शान्ति-सेना ही शोभा भी पा सकती है।

[18.7.71]

अधिकार शासन का और कर्तव्य शेष का

कल एक बन्धु ने कहा कि संविधान संशोधन-अधिकार बिल के बारे में आप कुछ लिखेंगे?

नहीं, लिखने का विचार मेरा न था। अचरज होगा, पर सच है कि मैं उसके विवरण में नहीं गया हूँ। अक्षम्य हो, पर इस बात की चिन्ता मुझे अब भी नहीं सता पाती है।

कारण, अधिकार सत्य नहीं होता। सत्य स्वयंभू है, निरालम्ब उसमें दुविधा नहीं है। पर अधिकार सदा दो के बीच की चीज है, उसमें पक्ष-प्रतिपक्ष होता ही है। इसलिए अधिकार के प्रश्न का निर्णय सदा शक्ति द्वारा होता आया है और होता रहेगा। समाज में शक्ति की प्रतीक है सरकार।

किन्तु मानव समाज शक्ति के न्याय से ही नहीं चलता। पशु समाज से यहीं वह पृथक हो जाता है। वहाँ शक्ति के साथ और ऊपर एक नीति भी हो आती है। उस नीति-बोध का अधिष्ठान अन्तःकरण है। सामूहिक अन्तःकरण को ही लोकमत कहिए।

अब नीति और शक्ति के बीच सन्धि-विग्रह का खेल चलता रहता है। लगभग यह निश्चित हो गया है कि लोकमति और लोक-सम्मति सर्वोपरि है। प्रस्तुत बिल लोकसभा में आवश्यक से अधिक मत से पार हो गया और प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने उसके पीछे इसी पीपुल्स बिल के समर्थन का तर्क दिया।

अर्थात् सरकारें अपने में शक्ति की प्रतीक हों, पर काम सदा वह लोक-नीति के अधीन या उसकी दुहाई पर ही कर पाती हैं। शक्ति और नीति के इस योगायोग पर सब निर्भर रहता है। आयोग पर क्रान्ति और योग पर शान्ति।

भारत देश लोकतान्त्रिक है; अर्थात सत्ता दल-वर्ग-व्यक्ति के हाथ में नहीं हैं, वह आम राय के तहत हैं।

पर राजतन्त्र लोकमत के अनुकूल रहे, अधीन रहे, इसकी गारण्टी क्या हो?

इन्तजाम कैसे हो? मामूली तौर पर हर राष्ट्र-समाज में एक संविधान रहता है जो सत्ता द्वारा नहीं बनता, जन प्रतिनिधियों की ऐसी सभा द्वारा बनता है जो स्वयं सत्ताधिकारी नहीं होती, कांस्टीटूएण्ट एसेम्बली शासन-सत्ता के लिए नहीं बनी थी। उसका कार्य केवल संविधान को प्रारूप देने का था। उसने कुछ मूलभूत अधिकार निश्चित किये जिनको छुआ या छेड़ा नहीं जा सकता। राष्ट्र के पूरे अभिमत के आधार पर ही उसमें फेर-फार लाया जा सकता है।

संविधान की रक्षा और व्याख्या के लिए हर समाज में शासन-तन्त्र के साथ न्याय-यन्त्र भी रहता है। शक्ति को यही नीति की मर्यादा में रखता और उसे अतिक्रमण से बचाता है।

देश के सुप्रीम कोर्ट ने गोलकनाथ के मामले के निर्णय द्वारा मानो शासन को इस सम्बन्ध में चेतावनी दी और इन्दिरा सरकार को अपने अभियान-प्रयाण में वह चुनौती जैसी मालूम हुई। इन्दिराजी के दल को बहुमत द्वारा देश ने विश्वास सौंपा था और उस दल का दावा हो सकता था कि देश उनके अग्रगामी कार्यक्रम का क्रियान्वयन चाहता है और इस पीपुल्स बिल के मार्ग में कोई अवरोध नहीं रह सकता है। चुनाँचे बिल आया और लोक सभा में पास हो गया। राज्य सभा और दूसरी आवश्यक धारा-सभाओं से भी वह पार हो ही जाएगा। शासक दल का लगभग सब कहीं बहुमत है और अनेक राज्यों में तो सीधा प्रेसिडेण्ट रूल है। उसके बाद प्रेसिडेण्ट का प्रश्न ही नहीं रह जाता है, उनका अभिमत जैसे संगत ही नहीं है और हर हालत में उन्हें उस पर हस्ताक्षर कर ही देने हैं।

इन्दिराजी को देश की गरीबी हटाना है और भी बहुत कुछ करना है। इसके लिए व्यवस्था लोकतन्त्रात्मक होने पर भी शक्ति को केन्द्रित और एकाग्र रखना होगा जिससे योजनाएँ अटकी न रहें और प्रशासन निष्कंटक हो।

अतः पार्लियामेण्ट ने विधान को आवश्यकतानुसार बदलने और बदलते जाने के अधिकार को स्वयं अपने हाथ में लेने का निश्चय किया है, यानी पार्लियामेण्ट अधिकार लेनेवाली है और वही पार्लियामेण्ट अधिकार देनेवाली भी है। उस नाते यह तय था कि बिल देखते-देखते पास हो जाएगा। विरोध कोई करेगा तो वही जो विरोधी होगा और जो स्वयं शासन पर पहुँचने की आशा से बहुत दूर होगा, अन्यथा राजनीति में अपने अधिकार का बढ़ना कौन न पसन्द करेगा!

प्रधान मन्त्री ने कहा कि सुप्रीम कोर्ट इसे चुनौती न माने। पर चुनौती है और वह शक्ति की सम्भावना की ओर से नीति की मर्यादा के प्रति है। अधिकार एक का बढ़ता तो अवश्य कोई दूसरा है जिसका घटता है। स्पष्ट है कि लोक प्रतिनिधियों का अधिकार बढ़ गया है। देखना है कि उससे स्वयं लोकजन का अधिकार यथार्थ में कम तो नहीं हो जाता है? अभी तक देखा गया है कि प्रतिनिधि

तो अमीर हो जाता है और जिसका है वह जन, अपनी जगह गरीब से गरीबतर बनता जाता है।

याद किया जा सकता है कि स्वर्गीय एच.जी. वेल्स ने 'राइट्स ऑफ मैन' का दस्तावेज तैयार किया था। गाँधी को भेजा तो उन्होंने देखकर लिखा कि इससे बढ़िया दस्तावेज मैं बना सकूँगा। लेकिन कृपया बनाइए तो दस्तावेज अधिकार का नहीं, मनुष्य के कर्तव्य (ड्यूटीज ऑफ मैन) का बनाइए।

क्या पार्लियामेण्ट के शासक सदस्यों को कहा जा सकता है कि अधिकार जितना अधिक वे लेंगे, उतना ही जनता के लिए मात्र कर्तव्य शेष रह जाएगा? इसीलिए क्या यह अच्छा न होगा कि ध्यान कर्त्तव्य पर दें जिससे अधिकार सचमुच जनता के पास तक पहुँचे?

[8.8.71]

अब के लिए तो भारत सन्धि ठीक, पर भविष्य के लिए?

दिल्ली से दर गये, मास्को से ग्रोमिको आए थे और इस फुर्ती और सफाई से तीन भाषाओं में भारत-रूस सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये कि सबको दंग रह जाना पड़ा। भारत के इस पैंतरे ने नक्शे की शक्ल बदल दी और आगे इतिहास के लिए मानो एक नयी दाग-बेल डाल दी।

सन्धि का फ़ौरी फायदा तो यह कि याहिया खाँ अब खड़खड़ाएँ कितनी भी, पर उनकी तलवार रहेगी म्यान में ही। अन्दाजे युद्ध के अब धीमे पड़ गये हैं और तैयारियाँ आगे होंगी तो, पर सामरिक उतनी नहीं जितनी कूटनीतिक मोर्चे पर होंगी।

पर उस नीति से प्रश्न कटता नहीं है। कभी तो भीतर से वह और कस जाता है। बिलकुल मुमकिन है कि भारत के इस कामयाब दाँव पर पाकिस्तान की सैन्य-सत्ता की खीज बढ़ गयी हो। और बदला वह किसी दूसरे ढंग से लेने की कोशिश करे।

चुनाँचे शेख मुजीबुर्रहमान के मुकदमे के चल पड़ने की खबर है। वकील वह अपनी मर्जी का कर नहीं सकते और शायद है कि पाकिस्तानी मर्जीवाला कोई भी एक उन पर थोप दिया जाए। बहरहाल यह कयास है और उधर की कोई पक्की खबर नहीं है। शेख के कानूनी ब्रिटिश सलाहकार ने भरसक कोशिश कर देखी, पर कुछ न हुआ। यह तक अन्दाजे की बात है कि शेख जिन्दा हैं, या क्या? याहियाशाही की वह जेल में बन्द जरूर हैं, बाकी कुछ पता नहीं है, न यह कि क्या उनके साथ बीती, न यही कि क्या बीतेगी।

शेख पाकिस्तानी लश्कर के कैदी हैं, लेकिन बाँग्लादेशवासियों के हृदय-सम्राट हैं। पर ऐसा इतिहास के अनेक विद्रोहों में हुआ है। शेख के साथ खास बात यह भी है कि वह पाकिस्तान के कानून के मुताबिक हुए चुनाव से समूचे पाकिस्तान के निर्दिष्ट भावी सत्ताधारी थे। कानून को जीने और चलने दिया जाता तो याहिया खाँ खुद तख्त पर बैठे सिफर के मानिन्द हो जाते और शेख ही पाकिस्तान

के भाग्यविधाता होते। पूरे पाकिस्तान की यह बात है, सिर्फ पूर्व की नहीं। फिर भी शेख ने अपनी नरमी और नम्रता में केवल बाँग्लादेश की स्वयत्तता चाही और उसी पर पाकिस्तानी सैनिक-सत्ता बौखला उठी। उसे अपने अस्तित्व का डर लगा और फिर जो उस शस्यश्यामला बांगला भूमि पर प्रलय ताण्डव मचाया, वह जग जाहिर है।

इस घोरता का शुभ फल हुआ है कि दुनिया का दिल दहल आया है। चारों ओर से दबाव आ रहा है कि शेख की जान बचे और उस पर आँच न आए। ऐसा हुआ तो अवस्था विकट हो जाएगी और फिर इलाज शायद किसी के पास न रह जाएगा। खासकर भारत में से वह उबाल फूट सकता है जो व्यवस्थाओं को तहस-नहस कर डाले!

यह साफ है कि शेख रहे तो बातचीत का और हल का कुछ रास्ता निकल सकता है। नहीं तो किसी समझौते की आशा न रहेगी और दो बड़ी छावनियों में जो ध्रुवीकरण हो गया है, वह तब उस प्रश्न को लेकर आमने-सामने ही डट जाएगा। इस सम्भावना को कोई झेल नहीं सकता और सभी उसे टालना चाहेंगे। इसके लिए आवश्यक है कि शेख मुजीब की उपस्थिति रहे, ताकि कभी भी उनके योग से अर्थपूर्ण संवाद चलाया जा सके और भारत पर आ धमके अस्सी लाख आदमियों को वापस अपने घरबार में बहाल किया जा सके।

बाँग्लादेश की यह घटना साधारण नहीं है। वह इतिहास का मोड़ सिद्ध हो सकती थी, और हो सकती है। यदि यह सम्भव हो पाता कि राज-पक्ष के समक्ष एक मानव-पक्ष उदय में आ रहा है और उसकी जय हो सकी है तो तमाम राजनीति में ही एक क्रान्ति आ जाती। शस्त्र-सैन्य की मदान्धता के ऊपर तब एक लोकनीतिक सत्ता के अंकुश का निर्माण हो जाता।

पर यह ऐतिहासिक लाभ इस अवसर पर मनुष्य के भाग्य को नहीं मिल पाया और यह गहरे विषाद की बात है। कोई दो हजार वर्ष हुए, एक आदमी ने सूली पायी थी। उस समय दुर्दान्त रोम साम्राज्य का बोलबाला था। उसके इधर-उधर दो उचक्कों को भी सूली लगी थी। शायद उनको पूछनेवाला कोई रहा भी हो पर यीशू ख्रीस्त का एक भी हमदर्द पास नहीं रह गया था। किन्तु उस अकेले एक के निश्छल आत्मोत्सर्ग का परिणाम हुआ कि रोमन साम्राज्य ध्वस्त हुआ और ईसा-धर्म उदित हुआ।

परन्तु वर्तमान सन्दर्भ में बीच में राजनीति आ गयी, शस्त्रास्त्र आ गये और बात आदमी की नहीं रह गयी, राजसत्ताओं की हो आयी। भारत पर पाकिस्तान की ललकार पड़ी, कीसिंगर के चाउ-एन-लाई से मिलने और निक्सन-माओ की मुलाकात होने की चिनगारी उछटी कि हिन्दुस्तान को रूस के सहारे की सूझी

और प्रश्न बड़ी राजनीति और कूटनीति के आवर्त में आ गया। अब आदमी पीछे रह गया है, उसकी सम्भावनाओं का सन्दर्भ छूट गया है, संगठित शक्ति-स्वार्थों के सन्तुलन की जोड़-जुगत प्रधान बन आयी है।

हो सकता था कि मानव जाति एक बनती, बाँग्ला देश की ट्रेजेडी पर विश्व-मानव का अन्त:करण सचेत और सक्रिय होता और यूनाइटेड नेशंस नाम की सभा राजसत्ताओं की अधीन न रहती प्रत्युत जागतिक अन्त:करण का वह सच्चा प्रतिबिम्ब और प्रतिरूप बन आती। पर वह होता नहीं दीखता है, और लगता है कि पश्चिम में तो स्पष्टता के साथ हो ही चुका था, अब इधर दक्षिण-पूर्व एशिया में भी प्रभाव क्षेत्रों का आपसी बँटवारा हो जानेवाला है। वह बँटवारा यों ही नहीं हो जाएगा, काफी रंग दिखाकर होगा। और छोटे-मोटे देश उस खेल में गोटो की मानिन्द बरते जाएँगे। पाकिस्तान की वह स्थिति बन ही चुकी थी, डर है कि कहीं हिन्दुस्तान भी उस हीनता तक न उतार डाला जाए!

[15.8.71]

अहिंसा की उथली समझ और अहिंसा में गहरा समाधान

एक बन्धु ने अपना पत्र छपाकर मुझे चेताया है। पत्र में उन्होंने तलवार के रास्ते को सराहा और अहिंसा को फटकारा है। मुझे खुशी है कि लेखक भाई जैन हैं। कारण जैन ही हैं जो एक बड़े अरसे से यह मानने की भूल करते आये हैं कि निष्क्रियता में अहिंसा है। अहिंसा की इस निर्जीव धारणा ने आम समझ फैला दी है कि अहिंसा निर्बल और कायर का धर्म है। हवाला लोग देते हैं कि देख लीजिए जैनियों को। प्रसन्नता की बात है कि स्वयं जैनों में इस जड़ता की घोर प्रतिक्रिया शुरू हो रही है।

प्रतिक्रिया में आप निष्प्राण अहिंसा को तजते और तलवार को भजते हैं, तो इससे किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु प्रतिक्रिया है और तलवार के उपयोग की बहुत सँकरी सीमा है। याहिया खाँ उस तलवार का भरोसा बाँधकर अपनी करनी कर तो गुजरे, लेकिन किसको क्या मालूम है कि वह अपना सिर ही अब नहीं धुन रहे होंगे? जिस पाकिस्तान को बरकरार रखने के लिए उनकी फौज ने यह कहर ढाया, उस कारगुजारी ने और भी अंदेशा बढ़ा दिया है कि पूर्व बंगाल की भूमि पाकिस्तान के हाथ से निकल ही जाएगी। वह देश अब स्वायत्त होकर ही न रह जाएगा, बल्कि इस पूरी तरह स्वाधीन होगा कि उसकी विदेश नीति अपनी और स्वतन्त्र होगी और उस कारण एशिया के समूची पूर्वी भाग के चित्र में अदल-बदल आ सकेगी। यही सम्भावना है जिससे बड़ी शक्तियाँ सब ओर से इस प्रश्न पर आ जुटी हैं और सवाल अब सामरिक नहीं रह गया है, सर्वथा राजनीतिक बन गया है।

हमारे उक्त जैन बन्धु भारत के खून खौलने और तलवार चमकाने की बात कहते हैं, पर उन्हें जानना चाहिए कि ठीक इस वक्त दिमाग को ठण्डा रखना है और तलवार अगर बाहर हो तो उसे म्यान के अन्दर कर लेना है। खुद याहिया खाँ इस मजबूरी पर आ गये हैं और वे देश जिनकी शस्त्र-सन्नद्धता अपार है, केवल सन्धि-नीति अपना रहे हैं, शस्त्र नहीं खड़खड़ा रहे हैं।

निश्चय ही कोई नीति उतनी मात्रा से कारगर अधिक नहीं हो सकती कि जितनी उसके पीछे शक्ति हो। शक्ति वह शस्त्र की हो सकती, पर साथ ही, बल्कि बढ़कर, तत्पर संकल्प की भी हो सकती है। संकल्प अर्थात् बलिदान की तैयारी हो, उसके बिना शस्त्र सब निकम्मे पड़ जाते हैं।

अब जब कि सब ठिठके हैं, आठ-दस युवकों का दल ओमेगा प्रयाण पर निकला है और नक्शों पर बनी राष्ट्र सीमाओं को लाँघता हुआ मानव-संकट के असल मुहाने पर पहुँच जाना चाहता है। उसके पास हथियार एकदम नहीं है, सिर्फ साहस भरपूर है। यह साहस हिंसा में से नहीं, अहिंसा में से ही आ सका है। उन्हें दुश्मनी नहीं है पाकिस्तान से, न ही कोई ममता है हिन्दुस्तान से। सिर्फ प्यार है इंसान से, और उसके कष्ट में, दुख-निवारण में काम आते-आते अपनी जान तक न्योछावर कर देने का उत्साह है।

क्या होगा इससे? वे पाकिस्तान में धँसे अवश्य, पर क्या वापस भी नहीं धकेल दिये गये? मैं मानता हूँ कि सचमुच इससे कुछ नहीं होगा। पर कल्पना कीजिए कि मन में इसी निर्वैर को लेकर अहिंसाव्रती कुछेक अन्तरराष्ट्रीय स्वयंसेवकों के साथ अस्सी में से एक लाख शरणार्थी याहिया के निमन्त्रण पर विश्वास करके अपने घरबार की याद में वापस अपनी जन्म-भूमि के लिए चल पड़ते हैं, तो? याहिया खाँ चाहते हैं कि शरणार्थी वापस आएँ, वे आ रहे हैं, और उनके साथ के शान्ति-सेवक भी उन्हें बस घर-बार में बसा खुशहाल देखना चाहते हैं। तो क्या इस शान्त सत्याग्रह में से सचमुच त्राण और समाधान की राह नहीं खुल सकती है?

खुल तो सकती है, पर खुलेगी नहीं। इसलिए नहीं कि शक्ति-राजनीति के संशय से वातावरण भरा है। इस डर और संशय में याहिया खाँ हथियार का सहारा ले उठेंगे और एक बार तो निहत्थों को बन्दूक से भून देना चाहेंगे, पर यह उनके लिए आसान न होगा अपनी फौजी कार्यवाही के लिए। अब तक उनके पास समर्थन है कि उधर से जो हथियार और हमला है, तब बहाना रह नहीं जाएगा और कोई राजनीतिक दाँव-पेंच उनकी रक्षा के लिए नहीं बचेगा। निहत्थों की हत्या पर विश्व के मानव-अन्तःकरण से वह ऐसे गिरेंगे कि पाकिस्तान की हुकूमत पर एक क्षण ठहर पाना उनके लिए कठिन होगा।

किन्तु यह अवश्यम्भाविता उस अहिंसक सत्याग्रह का फल होगी जिसके कहीं आसार इस समय नजर नहीं आ रहे हैं। अभी तो सर्वोदय भी राजनीतिक विरोधी दलों के साथ सरकार के द्वार पर दस्तक दे रहा है कि सुनिए, कृपया बाँग्लादेश को मान्यता दीजिए। सरकार सुनती और कहती है कि मान्यता मिलेगी तो समय पर ही मिलेगी। और बस, सबका साहस स्थगित है; धर्म, कर्तव्य स्थगित

है कि हे भगवान, कब वह सरकारी समय आए!

अर्थात, प्रश्न सरकारी है, सरकार करे तब उसका कुछ होगा। वह मानवीय नहीं है, न सीधे हमारा है। यह लज्जाजनक स्थिति इसलिए आवश्यक बन जाती है कि याहिया खाँ की तरह और उनके सामने के लिए, हम भी हथियार के भरोसे लटके हैं, और उनके अभाव में सिर्फ भौचक बौखलाए बने रहने को तैयार हैं। यदि विश्वास लोक का लोकनीतिक हो, अपना हो, अहिंसक हो तो मानवता की यह शर्मनाक स्थिति सत्याग्रह द्वारा सँभलने का उपाय बन सकता है, अन्यथा हिंसक उपाय तो बात को सरकारों की शरण में डाल देता है और वहाँ का क्या हाल है, सब देख ही रहे हैं।

[22.8.71]

स्वदेशी का विश्वास, या विदेशी का आयात?

दो भाइयों को मैं जानता हूँ। वे सगे हैं पर स्वभाव के उलटे हैं। छोटे को बड़े दीखने का शौक है। लिबास उनका एकदम दुरुस्त होना जरूरी है। चेहरा चिकना, बाकी सजधज भी सही और मुनासिब। घर के अन्दर जो होता रहे, कौन देखता है? पेट में क्या पहुँचा, कौन जानता है? इसलिए खुराक पर उनका ध्यान कम है, खर्च और भी कम। बाहरी बनाव में बजट का ज्यादा हिस्सा जो खर्च हो जाता है, सो खाना जैसा-तैसा भी चल जाता है। दूसरे भाई का ध्यान तन्दुरुस्ती पर और उसके लिए बढ़िया खुराक पर रहता है। पहरावे की फिकर ही नहीं। विदेशों की सैर कर आये और काम धोती-कुर्ते से चल गया। सर्दी के लिए बहुत हुआ, एक बन्द गले का कोट ऊपर डाल लिया। बड़े अपने छोटे को समझाया करते हैं कि अरे शऊर से रहना सीखो, ढंग से कपड़े तो पहना करो। छोटे सुनते हैं, पर ढंग-वंग सीख नहीं पाते। फिर भी हालत यह है कि मान समाज में छोटे का अधिक है, इसलिए अपने सम्बन्ध में गुमान बड़े को अधिक है।

अभी निक्सन साहब के दूत चाऊ-एन-लाई से उनकी यात्रा के सम्बन्ध में तय करने गये। अमेरिका सबसे प्रबल राष्ट्र है और निक्सन उसके राष्ट्रपति हैं। अब तक चीन की वक़त उनकी निगाह में इतनी भी न थी कि उसको वे विश्व के राष्ट्र संघ-परिवार की सदस्यता देने में सहमत हो जाएँ। आज स्थिति है कि माओ के दरबार में अपनी ओर से वह ही पहुँचेंगे और फिर अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों के सम्बन्ध में परामर्शपूर्वक जैसा बना, सहयोग साधेंगे।

चीन देश जब से वह क्रान्तिपूर्वक नया बना है, दुनिया के निकट एक तरह से अमान्य ही रहा है। पर चीन ने इस सम्बन्ध में कोई बड़ी हाय-तोबा नहीं मचायी। वहाँ की हुकूमत अपने घर को सँभालने और उठाने-बढ़ाने में ही चुपचाप लगी रही है। दुनिया उसको नगण्य मानती रहे, पर उसने अपने को अपनी गणना में लिया और एक गठित राष्ट्र की दृष्टि से वह स्वयं समृद्ध और बलिष्ठ बनने में लगा रहा। समस्याएँ जो थीं, उसके लिए आन्तरिक थीं। बाहर जाकर उसने

अपने लिए न सवालों को खोजा, न जिम्मेदारियों को ओढ़ा। नतीजा यह कि दो दशक से कुछ ऊपर के इस अर्से में वह चीन, जो निरा बेहाल और पामाल था, अब दुनिया की तीन बड़ी शीर्ष शक्तियों की गिनती में आ गया है। केवल इसलिए नहीं कि उसकी जनसंख्या अधिक है, बल्कि इसलिए भी कि उसकी सत्ता दृढ़ है और इरादे स्पष्ट और प्रबल हैं। अपने बीच की विषमता को उसने बहुत हद तक तोड़ डाला है और अपने एक आदर्श के बल पर अमुक सवाल-संकल्प का निर्माण कर लिया है।

इधर उसका पड़ोसी देश भारत है। जनसंख्या में वह भी ज्यादा हेटा नहीं है। पाकिस्तान कल तक उसका भाग था और दोनों मिलकर चीन की बराबरी में ही मानो आ जाते हैं। पर कीसिंगर द्वारा निश्चित की गयी निक्सन यात्रा के प्रस्ताव और अभी सम्पन्न हुई भारत-रूस सन्धि की घटनाएँ क्या दर्शाती हैं? क्या यही उनसे जाहिर नहीं होता कि अमेरिका को चीन की गर्ज है और चीन-पाकिस्तान के गठबन्धन के बचाव में भारत को रूस की शरण जाना पड़ा है।

दो-एक भारत के प्रमुख सम्पादकों ने भी यह सवाल उठाया है। उस सवाल को टाला नहीं जा सकता। आवश्यक है कि राजनेता उस पर अपने को टटोलें और फिर जो प्रकाश मिले, उसमें अपनी स्वदेश-विदेश नीति के सामंजस्य को सुधारने का प्रयास करें। शायद वहाँ विषमता हो और पलड़े दोनों समतौल न होकर बहुत ऊँचे-नीचे हों।

समय अपने निर्माण का भारत और चीन दोनों देशों को लगभग एक ही जितना मिला। अपनी इस नयी स्वतन्त्रता पर बल्कि भारत की स्थिति मजबूत थी, नैतिक और आर्थिक दृष्टियों से उसकी साख बनी हुई थी। चीन गृह-युद्ध से पार होकर पामाली की हालत में ही था। पर समय एक के लिए फल सका तो दूसरे को कहीं वहीं छल तो नहीं गया! हम लोकतन्त्र हैं, इस दलील पर भारत कब तक अपने को बहलाए रख सकता है?

स्वराज आने पर भारत के भाग्य और नीति के निर्माता जवाहरलाल नेहरू रहे। उनकी दृष्टि सीमित न थी और मन-मस्तिष्क से वह अन्तरराष्ट्रीय थे। भारत के भविष्य के बारे में उनके अपने सपने थे। उन्होंने अन्तरराष्ट्रीयता के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दिया और भारत के हक में अनेकानेक दायित्व मोल लिये। ऐसा लगा कि शीर्ष के अन्तरराष्ट्रीय पुरुषों में नेहरू की गणना है और भारत की अगाध क्षमता है। पर साथ ही दूसरी ओर भारत का ऋण चढ़ता चला गया। अपने खाद्य के लिए वह परमुखापेक्षी बना और उसका संचित कोष देखते-देखते खाली हो गया। भारत के राजदूत और दूतावास ठाट-बाट में किसी से दोयम नहीं रहे, न विश्व के प्रति भारत के प्रवचन कम शानदार रखे। पर सिक्का खिसका, साख

गिरी और भारत की हैसियत आज पाकिस्तान के समतुल्य बनी दीखती है। नेता देश के रूप में जो उठा था, कहीं अब पुंछल्ला तो नहीं बन आया है?

आवश्यक है कि हम अपने भीतर मुँह डालकर सोचें और देखें। फिक्र हमें यही हो सकती है कि हम औरों की निगाह में क्या जँचते हैं। 'इमेज' शब्द आज चल भी बहुत रहा है। पर वास्तविकता का पहलू दूसरा भी है कि हम क्या हैं? यह पहलू गुणात्मक है और यहाँ आयाम पर किया जानेवाला काम रचनात्मक कहलाता है। इससे ऊँचे और अन्यत्र होनेवाला जो शाब्दिक काम है, वह राजनीतिक मात्र रह जाता है। उसमें शोर ज्यादा होने लगता है, असलियत कम होती जाती है। देश में गरीबी है, बेरोजगारी है। उसकी इन्तिहा नहीं। वह किसी इज्म से कट जाए तो क्या ही कहने हैं! पर विदेशी मदद के भरोसे राजनीति को उछालने और स्वदेशी सम्भावना को दर गुजर करने के बूते यह होता नहीं दीखता।

हमें तय करना है कि स्वेदश पहले है, या विदेश? स्वदेशी के विश्वास से. चलेगा या विदेशी के आयात से?

[29.8.71]

राष्ट्र-मुद्राओं की विकट कटाकटी और गर्भित भारी संकेत

होनहार आदमी के बावजूद तो नहीं होती, पर उसके हिसाब से भी नहीं होती। उसका शायद अपना नियम है, आदमी बस उसका जरिया है।

इस वक्त आसार कुछ ऐसे बन रहे हैं कि दुनिया एक नया मोड़ लेनेवाली हो। यह तो साफ है कि दुनिया निकट आ रही है, अपने में वह छोटी पड़ आयी है और नया आदमी उड़कर उपग्रहों, ग्रहों और नक्षत्रों पर पहुँचने की तैयारी कर रहा है। इस हालत में दुनिया पुरानी और बासी, वही-की-वही, नहीं रहनेवाली है। उसकी बाहरी रीति-नीतियाँ बदलेंगी और हठात भीतरी प्रेरणाओं को भी बदलना होगा।

अभी तक हम प्रतियोगी और प्रतिस्पर्धी भावनाओं से चलते आये हैं। आदमी ऐतिहासिक विकास में इक्का-दुक्का हुए हैं, जिन्होंने उत्सर्ग और यज्ञ के आदर्श में से अपनी कर्म-प्रेरणाएँ प्राप्त कीं। और ऐसे लोगों को मानव-जाति अपने लिए ज्योति-पुरुषों के रूप में देखती और पूजती है। पर आम लोग अपने-अपने निजी हित और स्वार्थ-लाभ के लिए काम करते हैं। और हो तो उसी के लिए अपने बीच झगड़े-बखेड़े भी खड़े कर लिया करते हैं। विशेषकर संगठित समाज और राष्ट्र निजी स्वार्थों के वशवर्ती होकर ही आपसी युद्ध के तट तक आते और लाखों-करोड़ों जानों की बलि उस वेदी पर चढ़ा डालते हैं।

ऐसा ही एक अन्धा राष्ट्रवाद था जिसके मद में बाँग्लादेश का बवाल खड़ा कर डाला गया। अब तक उसकी आग भभक रही है, पर मामला कुछ कहीं कूटनीति के भँवरजाल में आ गया है और देखना है कि आगे वह सवाल क्या करवट लेता है। इसमें तो शक नहीं कि फौजी मशीन मनुष्यता को मार नहीं सकेगी। और बंगला देश के हृत्तल में से जो उभार उठा है, वह कुछ छींटों से बुझ नहीं जाएगा। पाकिस्तान ने भरोसा तो लशकर पर रखा। पर लगता है कि आज के जमाने में सिर्फ उसी भरोसे चल पड़ना खतरे का काम है। उसके लिए पाकिस्तान को भारी कीमत चुकानी पड़ सकती है।

परन्तु बाँग्लादेश का सवाल तो जैसे एक गृह-विग्रह की बात बनकर रह गया है—उस विकट कटाकटी के समक्ष, जो अब बड़े देशों के बीच जारी है। छोटे देशों पर भी उसके परिणाम में गहरी बीतेगी। लेकिन वे इस विकराल रण में किसी गिनती में नहीं आते। यह युद्ध ऊपर गोचर नहीं है। पर अगोचर में काफी कुटिल है। इतना ही उसे सांघातिक भी कह सकते हैं। पर मजा यह कि न इसमें एक जान जानेवाली है, न एक कतरा ही खून का बहनेवाला है। फिर भी इसका असर जड़ों तक पहुँचेगा और बिलकुल हो सकता है कि उन्नति में बौखलाए बढ़े चले जानेवाले देश चोट खाकर चौंक जाएँ। वे सोचने पर मजबूर हों कि निर्यात की मात्रा की बढ़वारी पर निगाह जमाए रखकर बेतहाशा भगाए जानेवाली उनकी राष्ट्रीय उन्नति और प्रगति सिर्फ प्रतियोगिता के नशे में ही तो उन्हें प्यारी और लुभावनी नहीं लग रही थी! कारण वह थोथी और बेबुनियाद निकल आयी है। और उस भरोसे कमायी गयी सम्पन्नता क्षण में उन्हें विपन्न बना छोड़ सकती है।

हममें से हर एक का हर काम सिक्के के सहारे चलता है। हम मान सकते हैं कि हमारा रुपया स्थिर है और वह सदा सौ पैसे का है। वह है, पर कीमत उसकी झूलती रहती है। इस तरह देश का अपना सिक्का है और देश मुद्रा विनिमय के द्वारा आपसी लेन-देन का व्यवहार चलाते हैं यानी सब मुद्राएँ परस्पर अनुबद्ध हैं, यद्यपि अपनी कुछ हद तक स्वतन्त्र भी हैं। अन्तरराष्ट्रीय मण्डी में उनमें बराबर बढ़ा-चढ़ी चलती रहती है। अन्यान्य रक्तरंजित युद्धों में सहृदयता का स्थान हो भी जाए, सिक्कों की इस बदाबदी और कटाकटी में दया-माया का कोई स्थान नहीं होता।

वर्तमान मुद्रा संकट को डॉलर संकट का ही उलझा रूप कहा जाना चाहिए। अमेरिका सबसे सम्पन्न देश था और अन्तरराष्ट्रीयता में डॉलर का आधिपत्य था। वह आधिपत्य मिटता और सिमटता दीखता है। दूसरी मुद्राएँ, उन देशों की विशेष कर जो गिनती के लायक माने जाते हैं, डॉलर के सम्बन्ध में अपने को सँभाल रही हैं। उनका पुनर्मूल्यन हो रहा है। आनुपातिक मूल्य उनका अपने-अपने हित की दृष्टि से कहीं उठाया और कहीं घटाया जा रहा है। इस सब हलचल के भीतरी भेदों को अभी विशेषज्ञ भी पूरी तरह समझ में बिठा नहीं पाए है। और व्यग्रता के साथ परामर्श चल रहे हैं। यह वात्याचक्र विकट और अन्त में वह कैसे शान्त और सन्तुलित हो, इसकी भरपूर खोज जारी है। शायद अर्थ विशेषज्ञ कुछ रास्ता निकाल पाएँ कि जिससे शक्ति का वर्तमान सन्तुलन फिर भी कायम रहे, और सब ढाँचा एक साथ अस्त-व्यस्त होकर ढह न जाए।

पर चुनौती बड़ी है और प्रस्तुत मुद्रा स्फीति और मुद्रा भीति की इस परिस्थिति

में गहरी सूचकता के संकेत हैं। शस्त्रास्त्र के क्षेत्र में अणु बम ने उदय पाकर हमारी अन्धाधुन्ध गति को एक विराम दे दिया है। तब से मानव जाति की युद्ध की दृष्टि और नीति में क्रमशः परिवर्तन आता जा रहा है। वह सन्धि-नीति की आवश्यकता की पहचान के निकट आ गयी है। वर्तमान संकट अर्थनीतिक क्षेत्र में शायद वैसा ही दृष्टि-परिवर्तन लाकर रहेगा। उस परिवर्तन की दिशा होगी तो यह कि विश्व की अर्थ-संरचना प्रतियोगी से अब परस्पर पूरक, अन्यथा रचना सब रह जाएगी और भीतर की स्पर्धा बाहर के अणु संचय को पलीता लगाने लग जाएगी।

[5.9.71]

विजयादशमी और रामराज्य का स्वप्न

गत मास का अन्त राम विजय की लीला के दशहरे से हुआ। इस महीने का आरम्भ गाँधीजी के जन्म से हो रहा है। राम की जय और रावण का अस्त कब घटित हुआ, पता नहीं। वर्ष हजारों ही हो गये होंगे और उन हजारों वर्षों से वह गाथा जीती और दुहरायी चली जा रही है। व्यक्ति राम का पता नहीं है। रावण का भी सही-सही पता नहीं है। ऐतिहासिक वे रहे होंगे तो रहे होंगे। पर जो हमारे साथ जीते चले आ रहे हैं, जो कभी मरनेवाले नहीं हैं। वे पुराण पुरुष, प्रतीक पुरुष हैं। जिसकी जय हुई, असल में वह सत्य है, धर्म है। पराजय जिसकी हुई, वह अधर्म है, असत्य है। यह शस्त्र-सैन्य की जय नहीं थी, यद्यपि युद्ध उन्हीं साधनों से लड़ा गया; न किसी दल या पक्ष की यह जय-पराजय थी। सच पूछिए तो युद्ध राम गाथा में साधन है, साध्य तो धर्म का आचरण है। राम वनवासी थे। रावण प्रतापी सम्राट थे। शस्त्र-सन्नद्ध सेना रावण के पास थी। राम के पास केवल धर्म था और उसकी भी मर्यादा थी। एक भी वेतनभोगी उनके पास न हो सकता था। जो भी रहे होंगे, धर्म के उत्साह और प्रीति के आकर्षण के कारण साथ रहे होंगे। कहिए कि नितान्त जनसामान्य का बल ही उनके पास था। संगठित राज बल, जो मदान्ध और अमर्याद हो जाता है, अन्त में जन बल और धर्म बल के हाथों ध्वस्त और परास्त ही होता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम की यह गाथा युग-युग से मनुष्य की आस्था को बल देती आयी है। युद्ध सनातन है। मनुष्य के बाहर है, भीतर है, और इसमें उसकी आशा रह-रहकर टूटती भी मालूम होती है। उसे लगता है कि सत्ता के सिंहासन पर जो है, वही शक्तिशाली है और मनुष्य उसके समक्ष होकर अक्षम है। पर दूर-दूरान्त, जगह-जगह, नाना प्रकार की लीलाओं द्वारा जो राम कथा बाहर उजागर और भीतर उदित की जाती रही है, उसमें मनुष्य को आश्वासन मिलता है कि धर्म की मर्यादा का उल्लंघन सम्भव नहीं है। जहाँ अब उल्लंघन है, वहाँ स्वयं मानो मृत्यु का आह्वान और आमन्त्रण है। यही परम और ध्रुव सत्य है, जिसने

राम की मर्यादा पुरुषोत्तमता को समूचे दक्षिण-पूर्व गोलार्द्ध में कालाबाधित रूप से जीवित और ज्वलन्त रखा है।

राजनीति का प्रभाव होता है, आतंक होता है। वर्तमान उसकी छाया में जीता है। पर अन्त में राज बल युद्ध बुलाता और युद्ध द्वारा स्वयं अपनी मौत बुला लिया करता है। यह तो धर्म बल है, जो नित्य है और जो भविष्य रचता है। सत्ता है, पर वह तात्कालिक है। सार्वकालिक तो सत्य ही है। राम का राज्याभिषेक होने को था, पर हो गया वनवास किन्तु इस वन यात्रा में से ही जैसे राम को अपनी धन्यता और सार्थकता प्राप्त हुई। उपलब्ध हुई वह सत्ता और क्षमता कि जो अचल और अटल है। सिंहासन जो था, वनवास के बाद सच्चे और पूरे अर्थों में वह जन-जन का हृदयासन हो गया। राम राज्य बना जिसका वर्चस्व सर्वथा नैतिक था, सैनिकता पर स्थित और स्थगित होने की तनिक आवश्यकता में न था। किन्तु घटना यह शताब्दियों पूर्व की रही होगी। इतिहास भी वहाँ तक पहुँच नहीं पाता है। राम राज्य इसलिए जैसे स्वप्न-राज्य है। पर भारत के अपने स्वराज्य को तो बहुत दिन नहीं हुए हैं। यह उसका पच्चीसवाँ वर्ष है। और वह स्वराज मिला था उस गाँधी के नेतृत्व में, जिसने सदा मर्यादा रखी और सदा ही धर्म की चेतावनी दी। वह राष्ट्र पिता, राष्ट्र नायक, राष्ट्र योद्धा तो महात्मा था, जो जीवन में क्षण भर के लिए भी राम को न भूल सका था, जिसने 'हे राम!' के स्तवन के साथ मृत्यु का स्वीकरण और वरण किया था।

भारत के अन्दर समस्याएँ हैं, बाहर समस्याएँ हैं। चारों ओर समस्याएँ-ही-समस्याएँ हैं। ऐसे समय आस्था डगमगा सकती और बुद्धि चकित हो सकती है। हो सकता है कि तत्काल की राजनीति के बहक में हम बह जाएँ और धर्म के रचनात्मक धैर्य की हमें याद न आये। यह भी सम्भव है कि ऐसे समय आत्म चरित्र और आत्म सामर्थ्य की न सूझे और इधर-उधर के सहारे में हमें शरण और स्वस्ति जान पड़े, पर राम हममें जगे होंगे, जग सकेंगे, तो यहाँ के पचपन करोड़ जन-जन स्फुल्लिंग बन सकते और राम राज्य के स्वप्न को फिर से जगमगा आ सकते हैं।

[3.10.71]

वृत्त विहार—दो

दुनिया का सन्तुलन बदल रहा है

इतिहास घटित हुआ है। राष्ट्रों की संयुक्त बैठक ने क्षेत्र बनाम पैंतीस मतों से चीन को अपने अन्दर लिया और ताइवान को बाहर कर दिया है। ताइवान मोहरे के तौर पर अमेरिका और विश्व की राजनीति की बिसात पर ऐसे मार्के की जगह बैठा था कि इस फैसले ने बाजी के रुख को एकदम बदल दिया। अमेरिका के साथ जापान है और दोनों चीन के समुद्री तट के और अपने बीच एक विश्वसनीय अड्डा चाहते हैं। अमेरिका सबसे बड़ी ताकत है और जापान के नये विकास ने उसे शीर्ष शक्तियों की गणना में ला दिया है। फिर भी राष्ट्रसंघ-परिवार ने चिन्ता न की और उस चीन को समर्थन दिया जो विश्व-सभा से अब तक बाहर रहकर मानो रहस्य और आतंक की गाँठ बना हुआ था। यों चीन को सुरक्षा-सभा में स्थायी स्थान प्राप्त था, पर वह चीन चाँग काई शेक तक सिमटकर रह गया था और असल चीन क्रान्तिपूर्वक माओ का हो चुका था। माओ और चाऊ एन लाई का चीन विश्वस्त और दृढ़ था कि दूसरा कोई चीन है नहीं, हो नहीं सकता और वह राष्ट्रों के विश्व-परिवार में शामिल होगा तो इस शर्त के साथ ही होगा। इस निर्णय से माओ का और चीन का महत्त्व बढ़ जाता है और शक्ति-सन्तुलन के नक्शे के बदलने की भी सम्भावना हो जाती है।

भारत के सम्बन्ध इस बीच चीन से कितने भी बिगड़े हों, पर आरम्भ से ही संयुक्त राष्ट्र में उसने चीन के प्रवेश का आग्रह रखा है। उसके लगातार बाहर रखे जाने को स्पष्टतः राजनीतिक अन्याय माना है। अपने-अपने हित कुछ भी हो सकते हैं, इनमें आपसी तनावों का ताना-बाना भी किसी प्रकार का हो सकता है, पर संयुक्त राष्ट्र को यथार्थ बनना हो तो यथार्थता की अस्वीकृति पर वह कैसे सम्भव होगा? भारत के निजी पक्ष अथवा स्वार्थ का प्रश्न नहीं है कि वह इस निर्णय पर प्रसन्न है। प्रसन्नता गहरी इस बात में है कि राष्ट्रों की विश्व सभा अब आकर यथार्थ अर्थ में वास्तविक और सत्त्वशाली बनी है। इस प्रस्ताव और संकल्प द्वारा सिद्ध हो सका है कि विकासमान और अविकसित अन्यान्य छोटे-

मोटे देश भी गिनती में बड़ी शक्तियों से हेटे नहीं हैं; अर्थात, अब आगे किसी गुट की मनमानी चलनेवाली नहीं है। यह स्वस्थ शुभारम्भ है और पिछड़े माने जानेवाले अफ्रीका और एशिया के देशों के राजनीतिक वर्चस्व की प्रतिष्ठा का मार्ग उससे प्रशस्त हो जाता है।

क्या राष्ट्र की और क्या विश्व की राजनीति के पास परिणामकारक होने के लिए सम्बल था सिर्फ शस्त्र-सत्ता का? कोई भी राष्ट्र सामरिक आयुधों के बूते बलिष्ठ होकर दुनिया को आतंक में डाल सकता था। अन्तरराष्ट्रीयता ने वह स्वरूप नहीं लिया था कि इसमें बाधा डाल सके। नीति सामरिक थी। राजनय का कोई दूसरा प्रकार न था। छोटे देश अपने में सिमटे रहते थे या बड़ी शक्तियों से रणायुध के प्रार्थी होकर ही अपने को सुरक्षित मान पाते थे। इस तरह शस्त्रों की होड़ थी और वही बूता था कि पाकिस्तान के फौजी शासक याहिया खाँ पूर्व बंगाल पर अपना कहर बरपा कर सके और अपने पड़ोसी पंचगुने बड़े भारत देश पर करोड़ की संख्या में विस्थापितों को लादने की हिम्मत कर सके। भारत उस बोझ को यदि लगातार इन छः महीनों तक सहता चला गया तो इसीलिए कि उसका भरोसा शस्त्रास्त्र की सत्ता से अधिक विश्व-व्याप्त नीति सत्ता में था। अब भी उसकी प्रधान मन्त्री दुनिया के अन्तःकरण की नैतिक आवाज को उस समय जगाने निकली हैं जब कि उनके अपने देश की सीमाओं पर पाकिस्तान की सेनाएँ हमले के पैंतरे पर तैनात हैं। भारत यों सोया नहीं है, पर ऐसे समय प्रधान मन्त्री का राष्ट्र नायकों से चर्चा-वार्ता के लिए निकल पड़ना द्योतक है इस श्रद्धा का कि अन्त में समस्या शस्त्र से नहीं निपटती है, न्याय और सत्य की नीति के अवलम्बन और लोकमत के बल से ही उसका सही समाधान हो सकता है।

जिनके बहुमत ने संसार के राजनीतिक मानचित्र में यह जबर्दस्त अन्तर ला घटित किया है, वे देश अधिकांश कमजोर ही हैं। हथियार में कम हैं और धन से चलनेवाले व्यापार, व्यवसाय, उद्योग आदि में भी कम हैं। फिर भी उनकी आवाज चली है और उनके सम्मिलित बल का सिक्का स्वीकार किया गया है। क्या यह संकेत नहीं है इस भवितव्य का भी कि आगे उद्योग-भार और शस्त्र-सम्भार के आधार पर खड़ी सभ्यता की बुलन्दी ही सब कुछ न होगी, उसके मुकाबले एक नयी ताकत क्रमशः उभरती और उठती आएगी? यह ताकत मनुष्य के मन और मत की होगी, वह मानवता की ताकत होगी। सत्ता का यह मद उसके आगे नहीं टिकेगा तो इसलिए कि उसके साथ हृदय का और औचित्य का बल होगा।

आज मानव नीचे है, राज ऊपर है। निर्वाचन की पद्धति स्वीकार लेने और जगह-जगह लोकतन्त्रों के चालू होने पर भी यह मूल स्थिति नहीं बदली है।

वर्तमान सभ्यता इस स्थिति को फेर नहीं पायी बल्कि उसको मजबूत करती आयी है। क्यों न माना जाए कि अब आकर सूत्र-पात होता है उस विधि का, जिसमें संघटित मानव संगठित सत्ता के समक्ष सीधा खड़ा हो सकेगा। इतना ही नहीं, वरन् उस पर अपनी ओर से अंकुश और नियन्त्रण भी ला सकेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ, हमारी आशा है, उत्तरोत्तर इसी नवीन न्याय-नीति-सत्ता के यन्त्र का स्वरूप प्राप्त करता जाएगा।

[31.10.71]

लोक नीति यथार्थ से जूझे, आत्म-सम्भ्रम से बचे!

स्वतन्त्रता के साथ देश टूटकर दो हुआ। स्वतन्त्रता का वह युद्ध भारत ने गाँधी के नेतृत्व में लड़कर जीता था। उस आजादी में देश क्या टूटा कि उसकी मुसीबत आज तक भोगनी पड़ रही है। आगे उससे कब कैसे निस्तार होगा, पता नहीं, पर साथ ही एक बँटवारा और हुआ। इस विभाजन को कम घोर नहीं कहना चाहिए। वह विभाजन था गाँधी के उत्तराधिकार का। हुआ यह कि ऐन वक्त पर किसी ने अपनी तीन गोलियों से गाँधी को स्वर्गधाम पहुँचा दिया। बचा रह गया गाँधी का प्रभाव और पुण्य। गाँधी के काम की माध्यम संस्था काँग्रेस थी, जिसका नेतृत्व गाँधी की हिदायत से जवाहरलाल नेहरू के हाथ में था। गाँधी के उस जागतिक प्रभाव का उत्तराधिकार इस तरह नेहरू के हाथ पड़ा। पर गाँधी लोक-नेता के साथ महात्मा भी तो थे। महात्माई का उत्तराधिकार विनोबा की झोली में आया। नेहरू के पास था काँग्रेस का संगठन, तो विनोबा के पास हुआ सर्वोदय समाज, जिसका कर्मयन्त्र था गाँधी द्वारा प्रणीत सर्व-सेवा संघ। संघ में रचनात्मक कार्यों का समन्वय था और वह विनोबा के निर्देश के नीचे क्रमशः अन्यान्य रचना से तीव्र होता हुआ बस ग्राम-दान के प्रति अर्पित हो गया। इस तरह एक गाँधी के दो हो गये और यदि कुछ दूर तक नेहरू-विनोबा के बीच एक धुरी काम करती-सी रही, तो जल्दी ही वह टूट गयी और बीच का फासला बढ़ता गया। भारत के भाग्य में कर्म और धर्म, राजनीति और लोक नीति का यह बँटवारा कम अनिष्टकर नहीं रहा। गाँधी के वक्त मालूम होता था कि जिन्दगी जुट रही है; राष्ट्र मिल रहा है; राजा और रिआया का फर्क घटकर मिटा-सा जा रहा है; सब सीधे-सादे रहने की कोशिश कर रहे हैं और सब पर एक साथ खादी का बाना दिखता जाता है। डर लगने लगा था अफसरशाही को कि ऊपर से दीखनेवाले इस देहाती में से जाने कौन सज्जन-महज्जन न निकल पड़े। अँग्रेजी जमाने की यह बात है और अफसर नम्रता और सज्जनता सीख निकला था।

पर बँटवारे ने आकर नक्शा बदल दिया और तख्ता पलट दिया। नक्शे में

पाकिस्तान अलग बना और अब तक ऐसे अन्तरराष्ट्रीय मानचित्र जारी हैं जिनमें पूरा कश्मीर पाकिस्तानी दिखाया गया है। तख्ता यह पलटा कि खादीवाला काँग्रेसी राजा एकदम खास बन गया और बाकी प्रजा समझे जानेवाले जन आम रह गये। होने को लोकतन्त्र हुआ, पर विशिष्ट और साधारण की श्रेणियाँ स्पष्ट और स्पष्टतर होती गयीं, यहाँ तक कि खादी का बाना जो साधारणीकरण के लिए उपजा था, विशिष्टीकरण का लक्ष्य बन गया। खादी प्रेम की थी, वही अनायास नफरत की हो गयी। खादी राजा लोगों की चीज मान ली गयी।

पर इधर सर्वोदयी भी खादीवाले थे। वे गरीबी का व्रत अपनाते और अपने को सादगी की मूरत बनाए रखते थे। इन्होंने कहा कि राजाओंवाली राजनीति है; हमारी जो है वह लोकनीति है, अर्थात् लोक सेवा की नीति है। सत्ता से उलटे हम लोग सेवा के हैं। गाँधीजी यही चाहते थे। काँग्रेस को क्या उन्होंने न कहा था कि तुम लोग सेवक संघ बन जाओ, सत्ता पर न जाओ, सामान्य जन से अभिन्न बने रहो! तो उस रीति के अगुआ हम सर्वोदयी हैं। वह काँग्रेसी नेहरूवाले हैं और राजसत्ता में भूल गये हैं; हम विनोबावाले हैं और सच्ची लोक नीति हमारी है। लोक का त्राण आएगा तो यहाँ से और हमसे आएगा। अत: सत्ता और राजा की ओर पीठ किये रहो, यही सर्वोदय का स्वधर्म है।

राज का बँटवारा देश को भारी पड़ रहा है। सीमाओं पर उस पाकिस्तान की फौजें हैं, जो कल हमारा हिस्सा था। मुकाबले में अपनी फौजों को हुक्म देकर हमारी प्रधान मन्त्री देश-देश पहुँच रही हैं, बताने के लिए कि देखो, क्या अन्याय हो रहा है। उठो और चेतो और कुछ करो। शासन-काँग्रेस उनके अनुशासन के नीचे प्रशासन के काम को तत्परता से निभा और बढ़ा रही है और उस पैसे की वहाँ इफरात है, जिसकी देश के पास कमी है। करीब एक करोड़ विस्थापित आया पड़ा है और दुनिया के सब देशों से मिली सहायता अब तक हुए खर्च का दशांश भी नहीं है। पर प्रशासक के पास ठाठ है और दिमाग है। जो असहाय हैं और थकित और गुम हैं, वे दूसरे जन होंगे। वे जन सर्वोदयी नेताओं के चेले हैं, जो सक्रिय तो हैं, पर चिन्तित और पराजित भी हैं।

नीति का राज और लोकवाला यह बँटवारा और भी अप्राकृतिक सिद्ध हो रहा है। साहस का काम किया है इस प्रकार सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने कि उन्होंने उसके बड़े अधिवेशन में ग्राम दान को विफल स्वीकार किया है। विनोबा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर में पहुँचे हैं और उनके दल की लोक नीति राजनीति से विरोध ठानकर एकान्तवासिनी भी बन आयी दीखती है।

प्रश्न नहीं, अभियोग है सामान्य जन में लोक नीति-नायकों के प्रति, कि वे जनता के दु:ख-दर्द के सवालों से अलग-अलग यह क्या अपना मूल्य-क्रान्ति

और समग्र क्रान्ति का अभियान चला रहे और अध्यात्म का तत्त्ववाद फैला रहे हैं? प्रजा का यह जन उद्भ्रान्त है और नहीं जानता कि चुनाव के वक्त क्यों न उसको मत दे जिसके पास हल्ला ज्यादा है और पैसा ज्यादा है?

सुना जाता है, गाँधी के नाम पर चलनेवाले उस अध्यात्म क्षेत्र में बुद्धि भेद उपज रहा है। शुभ होगा कि लोक नीति आत्म-सम्भ्रम से बाहर आए और यथार्थ प्रश्नों से वैसे जूझना सीखे, जैसे गाँधी जूझे थे।

[7.11.71]

राज की नीति नहीं, नीति का राज

राजकीय बातें बड़ी लगती हैं। वे समस्याओं में भी ऊँची दिखाई देती हैं। पर समझिए कि वे तो मस्तूल हैं जो जहाज का संकेत देती हैं। खुद जहाज नीचे होता है और अकसर दिखाई भी नहीं देता। जहाज समझो, समाज है और राजपति शीर्ष। वह सिरा है उस जटिलता का, जिसे लोक जीवन कहते हैं। वहाँ तह-दर-तह होती है और समाज की गति की या बीमारी-तन्दुरुस्ती की परख वहीं से हो सकती है।

'हरे कृष्ण, हरे राम' का दल दिल्ली में आया। जन उसमें प्रधान हैं, यों अन्यान्य यूरोपियन भी शामिल हैं। उनकी भक्ति देखकर, कीर्तन सुनकर, चाल-ढाल निरखकर और अँग्रेजी में कही गयी उनकी निष्ठा की बातें सुन-समझकर अचरज में रह जाना पड़ता है। सिर मुँडा हुआ, चोटी फहरी हुई, लाँग-बलाँग धोती और काष्ठ-पादुका, भारतीय परम्परा और संस्कृति को मूर्त्त देखना हो तो मानो नमूना वे थे।

और कुछ विद्यार्थी भी भारत के धर्म-ज्ञान के अध्ययन के लिए यहाँ पहुँचे हैं। अनेक उनमें विविध आश्रमों में प्रविष्ट हो गये हैं और एक ने जैन धर्म के परिज्ञान के लिए तेरापन्थी आचार्य से सात दिन के लिए मुनि-दीक्षा प्राप्त कर ली है। मुख-पत्ती के साथ दस-बीसवर्षीय तरुण मर्गिन के चित्र और वृत्त संवाद पत्रों में निकले हैं। उसने कहा कि कष्ट उसके लिए कष्ट नहीं है और साधु-जीवन को वह उसकी अन्तरात्मा में से समझ लेना चाहता है। इसी तरह अनगिनत और भी उन्नत पश्चिम के जन हैं जो इन-उन धर्म-गुरुओं के पास धर्म का रस-पान कर रहे हैं।

फिर हिप्पी लोगों की बात क्या कीजिए। वे जहाँ-तहाँ फैल गये हैं और उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है। अजनबी होकर वे अजनबी नहीं रह गये हैं।

क्या बात है कि यह सब हो रहा है? क्या पश्चिम के देशों में इस कदर

बेरोजगारी है? नहीं तो इतनी फुरसत है? निठल्लापन है? वे देश तो उन्नत हैं, विकसित हैं। देखिए तो यहाँ का हर विद्यार्थी वहाँ जाने की तमन्ना रखता है। हर नागरिक मानो तरसा करता है कि कब दर्शन कर पाए उस स्वर्ग के। फिर यह उलटी गंगा क्या है कि वहाँ के युवजन अपनी सब कर्मण्यता और सम्भावना को छोड़-छाड़ यहाँ निरे फक्कड़पन के प्रयोग में पड़े दीखते हैं।

सचमुच ऐसा नहीं है कि वे परास्त हैं या निराश हैं या निरुपाय हैं। अनेक उनमें ऊँचे शिक्षित हैं और सम्पन्न कुल के हैं। निश्चय ही कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो निठल्लेपन की झोंक में यहाँ घूम पड़े हों या इस वेश का व्यवसाय रचाए हुए हों। पर अधिसंख्यक वे हैं, जो अघाए हैं, जिनमें प्रतिवाद है, प्रोटेस्ट है। चीजों की भरमार को उन्होंने जाना है और उससे अधिक उनकी व्यर्थता को जान लिया है। उनको लगा है कि विज्ञापनों के इशारे पर तरह-तरह के सामान्य-असबाब से अपने को घेर लेने से जिन्दगी बोझिल बनी है, खुली नहीं है। इस सामान-असबाब की सभ्यता से फिर दूसरे विकार बन आते हैं, स्पर्धा बनती है, प्रतिस्पर्धा बनती है और तनावों में फँसकर मन छटपटाता है। यह संग्रह क्यों? संचय क्यों? क्यों फिर उसके लिए ये उत्पादन की बेतहाशा होड़ और दौड़?

बहरहाल कुछ-न-कुछ है, जो इस आगामिता के आवाहक तरुणों को इस उन्नति में और सफलता में खोखला लग आया है। कुछ है कि उन्हें हर उस बहाने को पकड़ने को ललचा आता है जो इस व्यर्थता से त्राण दे। हो सकता है कि इधर से भी कुछ काल बाद वे ऊब आएँ और अर्थहीनता उनको फिर अपने सामने मुँह-बाए खड़ी दिखाई दे, पर अभी तो उन्होंने निबन्ध को पकड़ा है और अध्यात्म को कस कर चिपटा लिया है।

भारत में अपरिग्रह और आकिंचन्य के मूल्यों पर आविष्कार हुआ था। उनका बराबर प्रयोग भी होता रहा। उनकी साधना कभी यहाँ थमी नहीं। इन दोनों का अर्थ निरी गरीबी का हठ नहीं है, चाहे बहुतों ने उसका वैसा ही अभ्यास क्यों न किया हो। किन्तु अपरिग्रह और आकिंचन्य समाज के अभ्युदय और विकास के नीति-सिद्धान्त के रूप में उपजे। व्यक्ति को वे समाज से अलग और अकेला डालने के लिए नहीं, वरन् उसके अनासक्त अर्पण की प्रेरणा के उदय के लिए थे।

राजकीय क्षेत्र समस्याओं से पटा हुआ है। जहाँ देखिए, वहाँ पक्ष है और सामने समतौल विपक्ष। दोनों ओर की मेधा, बुद्धि एक-दूसरे को नकारने और नष्ट करने की तदबीरों में लगती है और ध्वंस के साधन बढ़ाती जाती है। कोई विश्वास संघर्ष उपजाने के लिए काफी होता है, पर कृपा है विज्ञान की कि ध्वंसास्त्र महामरणान्तक बन आये हैं। उनसे आदमी ठिठकने और सोचने को मजबूर हुआ

है। अब तक समाज-शरीर में जो गति भर गयी है, उसके जुए पर बैठे लोग विवश हों, पर सामान्य जन में जैसे शंका बसती जा रही है। प्रश्न उठा है उसमें कि क्यों? क्या नाश ही एक गन्तव्य और मन्तव्य है?

भारत के आध्यात्मिक जन वे न हों जो चाहिए, पर पश्चिम के तरुणों का मोड़ सच्चा है। वह सूचक है संकल्प का कि हमें सन्ताप नहीं चाहिए, आनन्द चाहिए; वैर और विद्वेष नहीं चाहिए, परस्पर की पूरकता चाहिए और इसके लिए वह चाहिए जिसकी ओर धर्म ध्यान देता है, अर्थात राज की नीति नहीं, नीति का राज!

[21.11.71]

धर्म की ओट में पाखण्ड का धन्धा क्यों?

बाल योगेश्वर के भक्तों की भीड़ का 'नवभारत टाइम्स' के दफ्तर पर हमला हुआ तो लोग एकाएक चेत आये। सरकार जगी है और अखबारवाले चेतन हुए हैं। सभी जगह हलचल-सी मच गयी है, खासकर धार्मिक क्षेत्र में।

संशय नहीं कि बात आगे बढ़ेगी। शायद डिवाइन लाइट मिशन की और इसके पूर्व और वर्तमान गुरुओं के इतिहास की जाँच-पड़ताल की जाएगी। मालूम किया जाएगा कि इस अपार धन का स्रोत क्या है, जो योगेश्वरों के पास आ जमा हुआ है। इस काण्ड में सिपाही लतीफ की मृत्यु भी हो चुकी है। इसके लिए जिम्मेदार लोगों को सजा मिलेगी। दूसरे भी उपाय होंगे कि ऐसी घटनााएँ फिर न हो पाएँ।

लेकिन इस दुर्घटना का संयोग न प्राप्त होता तो? मान लीजिए कि यह धावा न हुआ होता, तो क्या पाखण्ड का धन्धा चलता ही रहता? उसकी जड़ें क्या भीतर-ही-भीतर फैलती ही जातीं और हमारा लोक जीवन, लोकतान्त्रिक खुला समाज नीचे से जर्जर होता रहता?

प्रश्न बड़ा है और वह राष्ट्रीय एवं लोकतन्त्रीय जीवन के स्वरूप का है। शुभ हुआ है यह कि इस आकस्मिक घटना ने भीतर के मवाद को बाहर ला दिखाया है। किन्तु यदि समाज को अन्तर में स्वस्थ बनना है तो सन्तोष इस पर नहीं किया जा सकता कि उत्पात-उपद्रव हों, पुलिस काम आये, चोटें लगें और सरकारी यन्त्र-तन्त्र चेतें। आवश्यक यह है कि सामाजिक स्वास्थ्य ही अन्दर से इतना पुष्ट हो कि पाखण्ड वहाँ चल न सके और ऐसे धन्धेबाजों की शुरू से ही दाल गल न सके।

यह सख्त शब्द है, पर सख्ती जरूरी भी होती है। जो सूचनाएँ बाहर आ रही हैं, उनसे इस विषय में सन्देह नहीं रह गया है कि धर्म की ओट में अधर्म का गहरा षड्यन्त्र रहा होगा। हंस महाराज का अतीत संशयास्पद है। उनका समूचा परिवार मानवीय से दैवी बना दिया गया है। वैभव और ऐश्वर्य के योग ने जैसे इस चमत्कार में गहरी सहायता की है। एक महिमा-मण्डल इस परिवार के सदस्यों के चारों ओर रच दिया गया है और असंख्य जन इस चक्र, इस घेरे में आ गये हैं।

भक्तों में विदेशियों की संख्या कम नहीं बतायी जाती है। विदेश के लोगों के साथ यदि उनमें धन-नीति और कूटनीति का भी प्रवेश हो रहा हो तो क्या

पता! अनुमान इस दिशा में जाए बिना रह नहीं पाता है।

असल में, राष्ट्र जीवन में छद्म-छिद्र रह जाते हैं। उनका लाभ उठाने का ध्यान रखनेवाले चारों ओर कम नहीं हैं, न ही राष्ट्र चरित्र का महत्त्व संगत रह गया है। चारित्रिक संस्कार का काम सरकार के वश का नहीं होता। सरकार के पास दण्ड की क्षमता है। उससे ऊपर फूटे हिंसक उप्रदव का उपचार हो सकता है, पर रोग यदि भीतर पक और फैल रहा हो तो सरकार उस बारे में भला क्या कर सकती है? सच पूछिए तो लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में एक कमी देखी जाती है। वहाँ राजनीतिकों का बोलबाला ही चलता है। उस राजनीति में जो नीति काम आती है, वह गुट-गठन की शक्ति-नीति होती है। इस तरह लोकतन्त्र के नाम पर खुले समाज में जिस-तिस तरह गुट जुटा लेने का हुनर बड़ा हुनर बन जाता है। इसमें वह, जिसको चरित्र कहते हैं, किसी गिनती के लायक नहीं रह जाता है। स्वस्थ लोक-शक्ति उपज नहीं पाती है। ये ही संकट हैं जो, क्या धार्मिक और क्या साामाजिक, सार्वजनिक हर क्षेत्र में उभरते देखे जाते हैं।

ईश्वर के पास क्या ऐश्वर्य नहीं होगा? भगवान क्या सर्व सत्ताधीश नहीं है? इस तर्क से वैभव, ऐश्वर्य और सत्ता से मण्डित करके हमारा समाज नये-नये भगवान प्रस्तुत कर आता है। अनुमान है कि हिन्दू समाज में आज के दिन भगवानों और ईश्वरी अवतारों की संख्या सैकड़ों में पहुँच रही होगी। निःसन्देह, हिन्दू धर्म खुला धर्म है, हिन्दू समाज खुला समाज है। यह उसकी विशेषता और महिमा है, किन्तु इस महिमा की रक्षा के लिए आवश्यक है कि हम उस ईश्वर की प्रतिष्ठा करें जो घट-घट में व्याप्त है। सम्पदा-सत्ता से अपने ईश्वर को घिरे देखने का चाव सामन्तवादी मानस का द्योतक है। आज के दिन वह सर्वथा अवैज्ञानिक और अधार्मिक है। राम और कृष्ण सनातन मत के लिए अवतार-पुरुष हैं। वे योद्धा थे और राजपुरुष थे, पर यदि अवतार के रूप में स्वीकृत हुए, तो अपने लोकार्पित चरित्रों के कारण। दोनों सर्वसाधारण में मिलकर निर्विशिष्ट बनने के आकांक्षी रहे। यही सर्वसाधारण स्वीकृत रूप है जो ईश्वर को आज के दिन प्रिय और मान्य हो सकता है।

एक चीज आम बन जानी चाहिए। भारत के भाग्योदय के लिए यह आवश्यक है। भारत धर्मप्राण देश है। धर्म के साथ उसका भविष्य है। अगर धर्म को पुनः होना हो तो आवश्यक है कि सत्ता और सम्पदा के रोमानी सपनों से वह उतरे और सर्वसाधारण के साथ समरस बने। यह धर्म का सत्य हृदयंगम हो जाता है तो योगेश्वरों और अवतारों की पौध हमेशा के लिए नापैद हो जाती है और धर्म को अपनी अमोघ क्षमता प्राप्त हो आती है।

[28.11.71]

पुनरवलोकन

पिछला गया और नया सन् 1972 का साल आया है। सन् '71 हमें कहाँ पहुँचा गया है—हमें, यानी भारत को और दुनिया को? भारत को पच्चीस वर्ष हुए, स्वतन्त्रता की गहरी कीमत चुकानी पड़ी। तब से बराबर एक जबरदस्त सिर-दर्द उसके साथ लगा चला आ रहा था। उस समस्या के निबटारे का कहीं भी ढंग न दीखता था। हिन्दुस्तान में से कटकर पाकिस्तान बना था और वह मजहब की बुनियाद पर। इस तरह पाकिस्तान के हाथ जैसे इस्लाम की इजारेदारी आ गयी थी। उसी आधार पर कश्मीर का मसला था और उसी दुहाई पर जब-तब छेड़-छाड़ हो ही जाया करती थी। पाकिस्तान भारत के खिलाफ आसान मोहरे के मानिन्द इस्तेमाल किया जा सकता था और उस राह बड़ी ताकतों की राजनीति एशिया में अपने पंजे फैलाने लगी थी।

खैरियत मानिए कि पाकिस्तान की हुकूमत फौजी तानाशाही की रहती चली गयी और उस जोम में जो हुआ, वह सामने आया है। बाँग्लादेश के बनने से वह इजारेदारी हमेशा के लिए खत्म हो जाती है। पाकिस्तान के बनाव की बुनियाद यों ही कच्ची थी। सेनाशाही और तानाशाही की इमदाद से उसने खुद अपने को तोड़ने की तदबीर सामने कर दी। अब कश्मीर का मसला भी यों ही न उठाया जा सकेगा। उठेगा तो विश्व की राजनीति के दाँव-पेंच के नतीजे में ही उठेगा और तब वह सवाल ही फिर दूसरा हो जाएगा। उस सम्भावना को विचार में लाने की आवश्यकता नहीं है।

साफ हो गया है कि धर्म-राष्ट्र जैसी संज्ञाएँ भी झूठी हैं। धर्म रूहानी और इख़लाक़ी चीज है, राष्ट्र इख्तसादी और बेरूनी। धरती पर मिल-जुलकर रहने-बसने और एक सम्मिलित हित पैदा करने के आधार पर इतिहास की आवश्यकता में से राष्ट्र बना करते हैं।

इस तरह एक दिन पाकिस्तान के पूर्वी और पश्चिमी हिस्सों को अलग-अलग अपने को सँभालना ही था। अचरज है कि इस अनिवार्यता ने घटित होने में तेईस-चौबीस साल कैसे लगा दिये!

बाँग्ला देश के निर्माण में वह व्याधि और समस्या सदा के लिए ऐसी निपटी है कि उससे भारतवर्ष दुनिया की राष्ट्र-सभा में एक साथ बहुत ऊँचा स्थान पा जाता है। यूरोप बिखर चला था, विश्व का मार्केट अमेरिका की ओर ढल चुका था। दूसरा राष्ट्र, जो महाशक्ति के रूप में प्रकटा, वह था सोवियत रूस। यह राष्ट्र यूरोपीय था, पर एशियाई भी कम न था। पश्चिम के विपक्ष में उसे पूर्व कहा जाता था, पर इन दो महाशक्तियों की स्पर्धा के कारण वह मार्केट एशिया की ओर झुका। चीन अपनी जनसंख्या के द्रुत विकास के कारण इस क्षेत्र में प्रभावशाली होता जा रहा था। प्रभाव उसका पूर्व भूखण्ड में ही नहीं, बल्कि भीतर-ही-भीतर अन्यान्य उभरते हुए देशों में भी फैलता जाता था। उसकी ओर से दी गयी सहायता की राशि रूस से कई गुना तक पहुँच जाती।

रूस और अमेरिका की प्रतिस्पर्धा की छाया में मानो विश्व की राजनीति अपना नक्शा रचती जा रही थी। वह सब अब पलट जाता है। क्यों अमेरिका इस कदर मूर्खता-पर-मूर्खता करता चला गया? इसका कारण राजनीतिक शक्ति-समीकरण के मानचित्र की इस बिखराहट से समझ में आ सकता है। तब यह भी समझ में आ जाता है कि चीन और अमेरिका जैसे साँप-नेवले में किस प्रकार मेल हो सका था।

अर्थात भारत देश के आगे अब बड़ा भविष्य और बड़ा दायित्व है। उसके रक्त में ही यह नहीं है कि वह किसी का पिछलगू बनकर रह सके। यह तो दुर्भाग्य था बँटवारे का कि भारत उभर नहीं पाता था। पर अब जगत-व्यवस्था में उसके भाग और माँग को कोई कम नहीं कर सकता है।

यह तो भारत, अब विश्व की स्थिति क्या है?

राष्ट्र संघ की क्षमता की कलई खुल गयी है। नैतिक साख उसकी टूटी पड़ी है। अमेरिका ने, जो उसकी बागडोर सँभालता था, गहरा गच्चा खाया है। अब वह सामरिक और सैनिक दृष्टि से महाशक्ति तो है, नैतिक प्रभाव उसका टूट चुका है। आर्थिक अवमूल्यन उसका होता ही जा रहा है। यह भी स्पष्ट हो गया है कि शक्ति का दर्शन और उसका प्रदर्शन आगे काम सँभालने नहीं, बिगाड़ने ही वाला है। चीन के पास अनुभव है और इसलिए समझा जा सकता होगा कि वह जबरदस्त है, लेकिन आगे जबरदस्ती नहीं चलनेवाली है। भारत ने क्षमता रहते भी अणु बम बनाने से इनकार कर दिया। अब भी इनकार कायम है। वह है जो दुनिया के सब छोटे राष्ट्रों की आशा और श्रद्धा का केन्द्र भारत को बना सके। बड़ी शक्तियाँ संहार कर सकती हैं, लेकिन निर्माण होगा जब छोटे देश आपस में सहयोग स्थापित करेंगे, शक्ति के मद को झाड़ सकेंगे। विश्व-स्थिति में अभी वैसा शून्य है और भारत के लिए इस सहयोग को जुटाने का अवसर समक्ष है।

[2.1.72]

बौद्धिक आत्म-निर्भरता

कल एक जननेता से बात हो रही थी। दुर्लभ संयोग कि वे राजनेता भी थे। बोले, ''मैंने निश्चय किया है कि अगली बार मैं संसद के लिए खड़ा नहीं होऊँगा।''

मुझे सुनकर आश्चर्य हुआ। खड़े हों तो जीत उनकी निश्चित ही मानी जा सकती है। पूछा, ''इस निश्चय के लिए साथियों से आपने परामर्श किया है?''

बोले, ''तब तो निश्चय बन ही नहीं पाता।''

''लेकिन यह उलटा निश्चय क्यों?''

''इतने वर्षों में मैं असल में कुछ कर पाया हूँ, यह अनुभव ही नहीं हुआ। नेतागीरी अवश्य हुई और नामवरी मिली, पर क्या इसी के लिए मैं इस क्षेत्र में आया था? लक्ष्य जिस सेवा का था, शुरू में सपने जिस आदर्श के थे, लगता है, उससे यह राह उलटी नहीं तो अलग जरूर है। अब धरती पर पैर रखकर कुछ करना चाहता हूँ। अभी तो हम जैसे अधर में चल रहे हैं, बस—शब्द, शब्द, शब्द! नहीं, अब अपने साथ यह प्रवंचना नहीं चलेगी।''

मित्र सफल नेता हैं, यह क्या? पर बात अकारण नहीं है। राजनीति राज में अर्थात प्रजा के ऊपर रहती है, पर जड़ें तो जनता है, शाखा-प्रशाखा ही ऊपर दीखती हैं। यह मूल दर्शन उन्हें अपने अन्तरंग में यदि प्राप्त हुआ, तो यह इसलिए बधाई की बात हो सकती है कि अब तक उनका नेतृत्व जयशाली रहा है, किसी निर्वाचन में वे पराजित नहीं हुए हैं।

नहीं तो एक संस्मरण याद आता है। एक राज्य के मुख्यमन्त्री से, जो अब नहीं हैं, मैंने पूछा, ''सर्वोदय के काम में आप अधिक दिलचस्पी क्यों नहीं लेते हैं?''

बोले, ''वहाँ भी अपने सब पुराने साथी ही हैं। राजनीति में वे विफल हुए। अब समझाते हैं तो बताओ हम, क्या समझें?''

पराजय से सुबुद्धि आ जाया करती है। जय में मद बढ़ता है। इसलिए जययोगी नेता का निश्चय सुनकर अचरज तो हुआ, पर शुभ भी लगा। शुभ इसलिए

कि देश की क्षमता का सत्त्व सांस्कृतिक और मानसिक हुआ करता है और सदा आवश्यक है कि राजनीति के परिधान के भीतर के व्यक्ति में व्यक्तित्व भी हो। व्यक्तित्व का सत्य आन्तरिक होता है, उसे आत्मिक भी कह सकते हैं।

इन्दिराजी के नेतृत्व में जान पड़ता है कि ध्यान देश के इस आन्तरिक और आत्मिक पक्ष पर भी गया है। यहाँ की आम सभा में उन्होंने कहा, ''देश को आत्म निर्भर होना है। बाहर की सहायता की अपेक्षा में नहीं रहना है। आत्म निर्भरता आर्थिक ही नहीं, बौद्धिक भी।'' इस देश का अतीत महान रहा है, भविष्य भी महान होगा, अगर हम अपने को पहचानेंगे, अपनी प्रकृति से चलेंगे और निर्माण अपने ढंग का करेंगे।

इस बौद्धिक आत्म निर्भरता की बात से मालूम होता है कि एक तीसरी राह बन आती है। अभी तक कम्यूनिज्म और कैपिटलिज्म की दो धाराएँ हैं और उनकी प्रतिस्पर्धा से विश्व की राजनीति रची जा रही है। विचार की धाराएँ ये दो हैं, यद्यपि राष्ट्रीय हित-स्वार्थ उन में फिर भेद-विभेद भी चाहे डाल देते हों। भारत में किसी भी प्रकार का अतिवाद नहीं चला है। उस समाज में समन्वय का प्रयोग हुआ है और मार्ग उसका मध्यम मार्ग रहा है। दक्षिण और वाम जैसी संज्ञाएँ उसके इतिहास में विशेष सार्थकता नहीं प्राप्त कर सकी हैं। अपनी आन्तरिकता के अनुसार उसने बाहर अपनी राह बूझी और बनायी है। उसका राष्ट्रवाद कभी आक्रामक नहीं हुआ है। भारत पर लादे गये इस बाँग्लादेश के युद्ध की पद्धति ने भारत की इस पारम्परिक निष्ठा को इन्दिरा के नेतृत्व में फिर से प्रत्यक्ष कर दिया है। भारत को परायी एक इंच भूमि नहीं चाहिए। बड़ी शक्ति बनने की कोई महत्त्वाकांक्षा उसकी नहीं। सब देश बराबर हैं और साथ होकर ही उसे चलना है। शत्रुता उसके शब्दकोश में नहीं है और उसे सबसे मित्रता निर्माण करनी है। शस्त्र-युद्ध में वह पीछे नहीं हटा है, पर निष्ठा उसकी वही अहिंसा है। सन्धि उसने की है, पर गुटनिरपेक्षता की नीति उसकी अक्षुण्ण है। यह उसका प्रयत्न विश्व के समक्ष फिर घोषित हुआ है और निश्चय रखना चाहिए कि इस घोषणा के साथ अन्तरराष्ट्रीय रंगमंच पर एक नयी नीति और नयी दिशा का आविर्भाव होना है।

समाजवाद भारत में घटित हो पर वह शास्त्रीय उतना न होगा, जितना भारतीय होगा। भारतीय संशोधन यदि उसको प्राप्त हुआ, तो समाजवाद में मशीन के ऊपर मनुष्य की प्रतिष्ठा होगी और उसकी योजनाएँ बाहरी पैसे से आसानी के साथ इसलिए विमुख हो सकेंगी कि वे साठ करोड़ जनसंख्या वाली अपनी अपार पूँजी को अपने सम्मुख पहचान सकेंगी। अगर ये एक अरब और कई करोड़ हाथ एक साथ काम में लग जाते हैं, एक भी आदमी बेरोजगार नहीं बचता है, आपसी भेद-भाव और वैर-वैमनस्य मानवता के आदर्श प्रकाश में खो जाते हैं,

तो फिर शस्त्र सत्ता का उन्माद भी सबके लिए अकारण हो जाता है। अमेरिका के पास वैसे मद का कारण था और वह मद आज के दिन टूटा पड़ा है। पराजय की चोट खाकर वर्तमान पाकिस्तान के प्रेसीडेण्ट ने शेखी और धमकी की बोली बोली थी, आज वह सुर कुछ कोमल पड़ आया है।

भारत यदि अपनी आत्मा, प्रकृति और परम्परा के प्रति खरा और सच्चा रहा, उसके समाज-पट में वह निष्ठ रची--बुनी जा सकी, तो असम्भव नहीं कि विश्व का राजकारण नया मानवीय मोड़ ले और अफ्रेशियाई देशों का समागम उसकी बागडोर हाथ में लेने के लिए उठे और जागे।

[9.1.72]

राजकर्म और एक चेतावनी

चालीस वर्ष के कुछ ऊपर समय हुआ कि रावी के तट पर लाहौर में भारत देश की काँग्रेस ने स्वाधीनता का संकल्प और प्रण बाँधा था। यह संस्था अपने कोटि-कोटि देशवासियों के प्रति प्रतिबद्ध हुई थी और पूरे बीस वर्ष नहीं हुए कि उसके नेतृत्व में भारतवर्ष ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

तब से हर वर्ष हम स्वाधीनता दिवस मनाते हैं जिसका उत्सव कि इस बार दर्शनीय विजयोल्लास के साथ मनाया गया। कारण, स्वाधीन भारत ने एक नये स्वतन्त्र देश के उदय में खतरा उठाया और फतह पायी।

यह जीत असल में बाँग्लादेश की थी और भारत के लिए अवसर था कि इस जय के अभिनन्दन में वह स्वयं भी अभिनन्दित हो, क्योंकि यदि बाँग्लादेश की जय राजनीतिक थी तो भारत के लिए वह अतिरिक्त नैतिक भी थी, वह तात्त्विक और सैद्धान्तिक तक थी। इस अर्थ में राष्ट्रीयता को हुई संकीर्णता से इसके द्वारा मुक्ति मिल जाती है। राष्ट्र अमुक-धर्माश्रित नहीं हो सकता। भौगोलिकता से भी परिबद्ध होकर नहीं रह सकता। उसका सार मानवीय, सांस्कृतिक है। पाकिस्तान के साथ अमेरिका और चीन ने आवाज उठायी कि जुल्म है तो घर में है। दखल देनेवाला कोई बाहर का नहीं हो सकता है। इस राजनीतिक शिष्टता की पाबन्दी में भारत ने नौ महीने गुजारे। दुनिया तब लगभग सोयी रही। दुनिया से मतलब वे सरकारें जो पाकिस्तान की फौजों और फौजी सरदारों पर असर ला सकती थीं, कान में तेल डाले पड़ी रहीं। यों पाकिस्तानी जोर-जुल्म का सवाल भारत को इसलिए भी छूता था कि सीमा पारकर उसकी भूमि पर करीब एक करोड़ शरणार्थी आ पड़ा था। पर मुख्य प्रश्न था कि क्या मजहब के नाम पर, मुल्क के नाम पर, जोरो-जुल्म ढाये रखा जा सकता है? क्या मानव जाति अन्ततः एक नहीं है? और क्या उसके अन्तःकरण का दायी और प्रतिनिधि होकर कोई इसके खिलाफ खड़ा न होगा? क्या सरकारें इसीलिए पाक और साफ मन ली जाएँगी कि उनके अपने निहित स्वार्थ होते हैं और उन्हें उनकी चिन्ता पहले रखनी पड़ती है?

मानवता के इस नैतिक संकट के समय भारत ने हिम्मत की। अपने को अपने हाथ में लिया और चुनौती का सामना किया। इसमें गहरा जोखिम था। चीन-अमेरिका मिलकर एक अपराजेय शक्ति के रूप में सामने मानो सन्नद्ध खड़े थे, पर भारत ने आन ठानी और तथाकथित कानूनबाजी के दायरे को तोड़कर वह आगे बढ़ा और विश्व की राजनीति दंग रह गयी कि साढ़े सात करोड़ जनता का एक नया जनतन्त्र नये ढंग से भूगर्भ में से उठकर जगत के मानचित्र पर समक्ष आ गया। भूगर्भ इसलिए कहना होता है कि नरक का होना सम्भव वहीं माना जाता है, और जो वहाँ हुआ है, घोर रौरव में भी क्या हो सकता होगा?

पर ठीक इसी जगह चेतावनी की जरूरत है। राजनीति में आवेश को स्थान हो सकता है, विवेक-नीति में संयम और विवेक आवश्यक है। भारत यदि तंग राष्ट्रवाद अथवा अहंवाद में पड़ा तो यह उसके लिए एक तरह आत्म-प्रतिकूल आचरण होगा। उद्धत राष्ट्रवाद के दिन अब लदते जा रहे हैं। बड़ी-से-बड़ी ताकत को सन्धि-वार्ता चलानी पड़ रही है। राष्ट्र-संगितियाँ उदय में आ रही हैं अर्थात अस्त्र और ऐश्वर्य के उन्माद में जो उठना और दुनिया पर छा जाना चाहता है, वह खबरदार हो रहे; भविष्य उसको क्षमा न करेगा, उसको अस्त होना होगा। कहाँ है ब्रिटिश साम्राज्य आज कि जिसका गर्व था कि उसमें सूरज सदा जगा रहता है? अमेरिका का दर्प भी धूल में मिला-सा दीखता है। चीन के अस्तित्व तक को जिसने तेईस वर्ष तक मान्यता न दी, वही उसके द्वार पर दस्तक देने पहुँचा है।

यह चेतावनी है, विशेषकर उनको, जिनके हाथ में शासन और प्रशासन की बागडोर है!

भारत के राज्यों में चुनाव होनेवाले हैं। जय, जो करोड़ों देशवासियों के उत्साह की है, उसे यदि शासकीय नेतृत्व अपनी मान बैठेगा और अवसर को, समस्त सत्ता और साधन को अपने वर्ग में केन्द्रित करने की तदबीर में लग जाएगा, तो खतरा है कि जनतन्त्रता घटने लग जाए और देश को जो अद्‌भुत एकता प्राप्त हुई है, वह कृत्रिम और यान्त्रिक-भर ही न रह जाए—भावोत्कर्ष का आधार उसके नीचे से कहीं लुप्त ही होता न चला जाए!

राजकर्मियों को फिर-फिर याद रखना होगा कि बलिदान मिलाता है, अभिमान फाड़ता है।

[30.1.72]

सत्ता, सभ्यता और स्वार्थ

पाकिस्तान नाजुक हालत में है। सामरिक, राजनीतिक, आर्थिक, सभी तरफ से टूट-सा गया है। अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए जरूरी था कि वह किसी बलशाली की शरण में जाए। अमेरिका दूर है, इसलिए श्री भुट्टो चीन से बात करके लौटे हैं। कहा जाता है, बात गहरे काम की और मतलब की हुई है और कामयाबी उन्हें इतनी मिली है, जितनी मिल सकती थी।

पाकिस्तान को यदि शरण की, तो चीन को शरणार्थी की आवश्यकता है। वह पूर्ण गोलार्द्ध में तो अपना अखण्ड प्रभाव बल्कि प्रभुत्व चाहता ही है, जल्दी-से-जल्दी स्वयं महाशक्ति बन जाने का भी उसका यत्न है। अमेरिका के निक्सन वहाँ जानेवाले हैं और तरह-तरह के सहायक कर्मचारियों की फौज वहाँ अभी से आ बैठी है। देखना है, नतीजा क्या आता है! दोनों के भूखण्ड अलग और दूर हैं, पर फिर भी पूर्व एशिया में उनके हित और स्वार्थ टकराते भी हैं। इस मुलाकात में उन स्वार्थों में परस्पर कुछ सन्धि जम सकी तो विश्व की राजनीति में यह एक बड़ी घटना होगी। कोशिश दोनों की भरपूर होगी कि ऐसा कुछ न हो सके। कारण, बाँग्लादेश के उदय, तद्विषयक भारत की विजय और दोनों के साथ रूस के सन्धि-सहयोग सम्बन्ध मानो उसके लिए इसकी विवशता ही उपजा देते हैं। दोनों के मिले-जुले नक्शे में अनुगत और शरणगत पाकिस्तान अतीव उपयोगी हो सकता है।

अमेरिका के कुशल-से-कुशल कारीगर और विशेषज्ञ इस रचना में जुटेंगे। चीन की ओर से भी उच्चतम प्रवीणता के पुरुष सिर जुटाकर बैठेंगे। आशा करनी चाहिए, यद्यपि मसले सहज नहीं हैं, कि परिणाम कुछ-न-कुछ निकले और दुनिया एक नये ध्रुवीकरण की ओर बढ़ेगी।

तदबीरें चल रही हैं और राजनेता जन अपनी-अपनी जगह दत्तचित्त हैं। इस पिण्ड पृथ्वी के भूगोल का और उसके भविष्य का मानो भाग्य-निर्णय अपनी योजनाओं से वे निर्णीत कर देने पर उतारू हैं।

पर भारत भी अब बीच में है। यह किसी अर्थ में नगण्य अब नहीं रह गया है। रूस-सन्धि के कारण ही वह गणनीय न होगा, बल्कि मुझे निश्चय है कि अपने परम्परागत नीति-दर्शन के कारण भी वह आगामी जगत-रचना और संस्कृति-निर्माण के निमित्त उतना ही अनिवार्य होगा।

सत्ताधिकारी राजनेताजन युक्तियाँ रचते और परिणामस्वरूप अपने बीच युद्ध भी रच लिया करते हैं, पर युद्ध का शौक आगे बेहद महँगा पड़नेवाला है। मानवता से वह सँभाला न जाएगा। हम एक कर्मवाद और संघर्षवाद की सभ्यता में साँस लेते हुए जीते आ रहे हैं। इसी सभ्यता का दौर-दौरा है। बीसवीं सदी का वैज्ञानिक उद्योग उसी का चरमोत्कर्ष है। इसमें चाहा जाता है और नक्शा बनाकर उसको पूरा किया जाता है। उसमें से विराट, भीमाकार रचनाएँ हुई हैं और भीषण से भीषणतर संहारक संग्राम भी हुए हैं। समाज को ऐसा और वैसा बनाया जाएगा और रास्ते में किसी विघ्न, विरोध, विमत अथवा विपक्ष को नहीं सहा जाएगा। ठीक है, जनतन्त्र पर मन की या मत की आजादी का मतलब यह न होगा कि संकल्प अधूरा रहे या वेग में कमी आये। यह कहा जाता है 'कमिटमेण्ट'—इस लीक पर देश बढ़ रहे हैं और उन्नति चढ़ रही है।

पर भारत इससे अलग है। वह संक्षिप्त भारत नहीं जो शहर में और सफेदपोशी में रहता है, बल्कि वास्तविक वह भारत जो देहात में फैला है और मेहनत में लगा है। शोषित है, फिर भी श्रमिक है; यह राजनीतिक की जगह आस्तिक है और इसे काम से काम है; हालाँकि उसके फल से वंचित यह भारत की असंख्य जनता अकर्म के दर्शन और अथक कर्म के वरण पर जीती है। अहम कर्तृत्व का उसे भान नहीं है, उन्माद नहीं है।

भारत के कृष्ण की गीता ने सिखाया था यही निष्काम कर्म, पर राजनीतिक से यही नहीं सध पाता है। वह है कि कर्म नहीं, केवल फल चाहता है। फलासक्त और फलाग्रही होकर वह जनता को चाबुक से चलाना और उसपर सवार रहना चाहता है।

दिल्ली में चुनाव के टिकट बँट रहे हैं। बस, उसकी कुछ न पूछिए। अन्दर से वह गन्द उछलकर आ रही है कि क्या कहिए! बाँग्लादेश के निमित्त भारत ने जो पुरुषार्थ किया और पराक्रम दिखाया, उसका परिणाम है एक अभूतपूर्व, भावनागत, राष्ट्रव्यापी ऐक्य! निर्वाचन आ रहे हैं और कहा नहीं जा सकता कि उस भावोत्कर्ष में कैसी दरारें पड़ जाएँगी। डर होता है कि जनतान्त्रिक नागरिक-मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न न होने लग जाएँ।

राजनीतिक हाँकने का काम यदि अपने हाथ में रखना चाहता है, तो क्या वह याद करेगा कृष्ण को, जिसने अर्जुन के रथ की रास थामी थी? भारतीय नेता

सत्ता को अपनी मुट्ठी में लेना चाहेगा तो वह इस अस्तप्राय सभ्यता का शिकार होगा। अगर देश के और मानव के नये अभ्युदय में उसे योग देना हो तो उसे चेतना होगा कि पद में और सत्ता में सार कितना है और स्वार्थ कितना है। स्वार्थ की राह नहीं है जो भविष्य की ओर जाती है; पर हाय, स्वार्थ-त्याग है कहाँ!

[6.2.72]

ऊपरी सम्भ्रम या भीतरी क्षमता!

व्यक्तित्व के दो आयाम हैं : एक कि आदमी अपने भीतर क्या है? दूसरा, कि बाहर वह क्या समझा जाता है? इसलिए जीवन-व्यवहार की विधियाँ भी दो तरह की चला करती हैं। कुछ लोग बाहरी मान-सम्भ्रम को प्रमुखता देते हैं। वे उसी लक्ष्य को सामने रखकर पद-प्रतिष्ठा, धन-सम्पदा के अर्जन में व्यस्त रहते हैं, तथा वे भी हैं जो धन से अधिक गुण का मूल्य मानते और चरित्र की दृढ़ता को मुख्यता देते हैं। दूसरे प्रकार के लोग ऊपर उठे दिखाई नहीं देते पर अन्तरंग संरचना के लिए वे कुछ अधिक ही अनिवार्य माने जा सकते हैं।

भारत के अधिकांश राज्यों में चुनाव जल्दी ही हो जाएँगे। मार्च महीने में ही एक तरह नया भारत उदय में आने लगेगा। लगेगा इसलिए कि केन्द्र में सदन की आयु में भंग नहीं आया है और पुराना ही बहुमत और नेतृत्व काम देता रहेगा।

भारत की नवरचना की दृष्टि से यह संयोग सुनहरा मालूम होना चाहिए कि पाकिस्तान की धमकी और चुनौती में अब दमखम नहीं रह गया है। पूर्व में बाँग्लादेश के रूप में एक मित्र-देश उपज आया है। इस नवीन-स्वाधीन देश के उदय का श्रेय यदि शेख मुजीबुर्रहमान की प्रेरणा और उनकी मुक्ति सेना को प्रथमत: पहुँचता है, तो भारत को भी उसका श्रेय कम नहीं है। सच पूछिए तो ये दोनों ही शक्तियाँ उभर सकीं, नि:शंक भाव से गठित होकर आगे बढ़ती हुई विजय प्राप्त कर सकीं तो इसलिए कि पाकिस्तान के फौजी शासक शस्त्र सत्ता के मद में सब समझ खो आपदा को अपनी ओर से न्यौत बैठे थे।

किन्तु इस सामरिक पराक्रम के बूते जो जय प्राप्त हुई है, उसकी जान-माल में कम कीमत नहीं चुकानी पड़ी है। जीवन अस्त-व्यस्त हुआ है, अर्थ-सूत्र बिखरे-से पड़े हैं और दोनों देशों को जल्दी ही अपने को सँभाल लेना है। अध्यवसायपूर्वक अपने में से ही तमाम क्षति-पूर्ति उन्हें पा लेती है।

व्यापक राजनीति की दृष्टि से स्थिति कोई विशेष सुख की नहीं है। इसलिए काम भी फुरसत से नहीं हो सकता है, उसको वेग से करना होगा और अपने

भरोसे करना होगा। पाकिस्तान के नेतृत्व का मन अभी ठण्डा नहीं हुआ है। उसने नये शस्त्रास्त्र पाए हैं। और लगता है कि चीन ने यदि नेक सलाह उसे दी है तो साथ ही जोरों से उसकी पीठ भी थपथपायी है। अमेरिका अब तक अपने आसन से नहीं खिसका है और बाँग्लादेश की यथार्थता पर जिद और खीज ही अपनी जताता जा रहा है। महाशक्तियों की चालें चल रही हैं और पैंतरे बँध रहे हैं। इसलिए उस ओर से निश्चित हो रहने में खतरा है।

फिर भी स्पष्ट है कि आगामी निर्माण के लिए नीति वह सिद्ध और सफल होगी, जिसमें अपने घर को पहले देखा जाएगा और बाहरी भरोसा कम-से-कम रखा जाएगा। सच यह है कि बाहर का वह मान निकम्मा है जिसमें असली सत्त्व नहीं है। स्वाश्रयी और मानसिक दृष्टि से भी स्वाधीन जो है, वह देश सच्चे अर्थ में वर्चस्व नहीं प्राप्त कर सकता है। अत: ध्यान देना है अब राजनीतिक से ज्यादा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष पर। नागरिक बुनियाद हैं और राजनीति उनके सत्त्व के बिना कच्ची रह जाएगी। गुट-निरपेक्षता किसी देश की यथार्थ नहीं बन पाएगी, उसको समझौतों में पड़ना होगा और फिर नंगी ताकत के सिवा कोई तर्क जागतिक राजकारण में शेष नहीं रह जाएगा। नये भारत और नये बाँग्लादेश के योग से आशा यही है कि इस पूर्वी गोलार्द्ध में से तीसरी शक्ति का उदय हो, जो साँठ-गाँठवाली न होगी, प्रत्युत अपने पूरे अर्थ में न्यायिक और मानवीय होगी।

बाँग्लादेश इस सम्बन्ध में सचेत जान पड़ता है। उसका सब काम बंगला भाषा में होगा। राजदूतों के प्रमाणपत्र भी उसी भाषा में चलेंगे। इस स्वल्प काल में ही उसने घर सँभाल लिया है और ठीक उस 25 मार्च को भारत की सब फौजें यहाँ वापस आ जाएँगी, जिस दिन पाकिस्तान ने अपना हत्याकारी काण्ड छेड़ा था। एक प्रकार क्रान्ति में से बाँग्लादेश ने अपना प्रसव पाया है और शायद यह पहली मिसाल है कि क्रान्ति के अनन्तर एक देश इतना शीघ्र स्थिर हो सका है।

भारत देश भी सोता नहीं है। नेतृत्व की समूची बागडोर जिन इन्दिराजी के हाथ में है, वे जगी मालूम होती हैं। उनका आत्म निर्भरता पर बल है—आर्थिक के साथ बौद्धिक आत्म निर्भरता भी। आशा करनी चाहिए कि पराया उधारखाता जल्दी ही खत्म हो जाएगा। भूलने की आवश्यकता नहीं कि अँग्रेजी भाषा हम पर उधार में लदी हुई है। वह भाषा हमारी पूँजी हो सकती है, सम्पदा हो सकती है, पर आज के दिन तो वह पर-निर्भरता की निशानी है और कर्म के मानिन्द सिर चढ़ी बैठी है।

आगामी निर्माण में देखना है कि क्या जीवन-नीति हम अपनाते हैं—वह कि जो बाहरी सम्भ्रम बढ़ाती है या कि वह, जो असली और अन्दरूनी ताकत देती है?

[13.2.72]

चुनाव : एक कीमती कसौटी

बदलते हुए जागतिक मानस और नयी बनती हुई दुनिया की बात करना राजनीतिक घटनाक्रम की दृष्टि से दूर की बात मालूम होती होगी, पर वह इतनी असंगत नहीं है। हमारा अनुमान है कि अनुभव से वे सत्ताएँ और सत्ताधीश जल्दी ही यह समझने लग जाएँगे कि शस्त्र-शक्ति के भरोसे न किसी का दूरगामी स्वार्थ सधनेवाला है, न ही उस पद्धति से शान्ति के लिए मार्ग निकल सकता है।

पाकिस्तान के आलासदर जनाब भुट्टो चीन से शाबाशी तो पा सके हैं, लेकिन उससे ज्यादा नहीं। उनकी मंशा थी कि सैनिक-सुरक्षा सन्धि हो जाए, पर चीन इतना अदूरदर्शी बनने को तैयार न हुआ। अब इरादा है कि वैसा कुछ इकरार अमेरिका के साथ हो जाए, पर सम्भव है कि वह भी उनकी खाम-खयाली ही साबित होगी।

रास्ता सीधा था और सीधा है। वह यह कि घर सँभाला जाए और पड़ोसियों से ठीक नाता बिठाया जाए; पर यही है जो भुट्टो साहब के लिए मुश्किल साबित हो रहा है। और अगर्चे नफरत और जंग का रवैया उनके हक में बेहद नाकाम रहा है, तो भी, अब भी उनकी धुन वही बरकरार है।

और अमेरिका! वियतनाम में उसकी बमबारी ने इधर बेहद जोर पकड़ा है। क्या इसलिए कि चीन में होनेवाली मुलाकात पर इसका रोब पड़े और बातचीत सचमुच काम की साबित हो? लेकिन अमेरिका को यह मालूम हुए बिना न रहेगा कि अगर इस किस्म का कोई गठजोड़ उन दोनों ताकतों के दरमियान हो भी जाता है, तो भी विश्व के लोकमत की भाषा में इसकी बेहद कीमत देनी होगी। दुनिया में उसकी साख तेजी से गिरती जा रही है, फिर चाहे ताकत का गुमान और ताम-झाम उसका कितना भी बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो। मानना होगा कि चीन के साथ मेल हो जाने पर अमेरिका अविजेय बन जाता है, पर हथियारों के भरोसे जमाया गया यह बलबूता नयी दुनिया में काम आनेवाला नहीं है। आज दिन भी विश्व-मत को टालना सम्भव नहीं रह गया है; पर ज्यों-ज्यों दिन बीतेंगे, यह तीसरी

ताकत और जोर पकड़ेगी और स्थितियों को अपने हाथ में लेगी।

हाल की चौदह दिन की लड़ाई में अघटित इस घटना से नहीं तो और क्या साबित होता है? अमेरिकी पत्रकार एंडर्सन ने दस्तावेजों के आधार पर बताया तो है कि किस तरह अणु युद्ध होते-होते बाल-बाल बचा। अमेरिका का सातवाँ बेड़ा तो उतारू ही था, लेकिन मालूम हुआ कि ऐसी कोई कार्रवाई करते ही ज्वाला फूटेगी और सब ध्वस्त हो जाएगा। आखिर बेड़ा वापस हुआ और बाँग्लादेश के उदय को किसी तरह रोका न जा सका।

यही होगा, यही होता रहेगा! कारण प्रकट आया है कि प्रतिस्पर्द्धा और लड़ाईवाला तत्त्व-दर्शन अब पुराना पड़ गया है। इतिहास अब तक चलता रहा उसके सहारे, क्योंकि युद्ध में निर्णय हो सकता था। अब वैसा निर्णायक बड़ा युद्ध सम्भव ही नहीं है, अणु-आयुधों ने उस पर रोक लगा दी है। और तो और, बरसों-बरस सब-कुछ कर गुजरने पर भी छोटा-सा वियतनाम अमेरिका से पराजित नहीं हो सका है, न ही आगे कभी हो पाएगा। फिर भी राजनेता हैं कि पुराने तरीकों का भरोसा छोड़ नहीं पाते हैं और अणु-शस्त्र का दिखावा करने से अब तक बाज नहीं आते हैं। बंगाल की खाड़ी में अमेरिकी बेड़े का उतर आना दिखावा ही नहीं तो और क्या था? क्या कोई उस भभकी में आ सका और क्या तनिक भी किसी कार्रवाई से उसमें अन्तर आया?

सच यह कि अठारहवीं शताब्दी में जिस यन्त्र और विज्ञान की सभ्यता का बीजारोपण हुआ, वह अपनी सम्भावनाओं की समाप्ति पर आ गयी है। उसका चमत्कार किसी तरह स्वल्प नहीं माना जा सकता, पर जान पड़ता है कि विज्ञान के ही द्वारा छोटी-से-छोटी पड़ती जा रही दुनिया के लिए अब न ये मूल्य-विधान की आवश्यकता है और नयी राजनीतिक परम्परा परस्पर सहयोग और सन्धि-वार्ता वाली ही चलनेवाली है। यद्यपि अब भी संख्या में अधिकतर देशों में शायद सैन्य-सत्ताओं का आधिपत्य है, फिर भी उन सभी जगह लोकतन्त्र की माँग है और वैसे तत्त्व अमोघ बनते जा रहे हैं। सरकारें बनेंगी और टूटेंगी, अगर जनता की अभिलाषाएँ झुठलायी जाती रहेंगी और हुकूमत में उनका दखल न होगा।

भुट्टो साहब की अपनी मुश्किलात हैं। घर तीन-तेरह हुए जा रहा है और ऊँचे कुलाबों की बातों से शायद कुछ देर के लिए राहत पा ली जा सकती है; पर वास्तविकता आगे-पीछे स्वीकार करनी होगी, नहीं तो ज़िच की हालत दूर नहीं हो पाएगी।

पाकिस्तान के लिए अब दो ही रास्ते हैं : या तो वह एकदम बिक रहे या बाँग्लादेश और भारत की तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाए। दूसरी राह वजूद ही नहीं बना रहेगा, बल्कि इज्जत भी बन सकती है।

लेकिन पाकिस्तान को नसीहत देने का हक हमें नहीं है। भारत में चुनाव हो रहे हैं और उस पर से तस्वीर साफ हो जाएगी कि हमारा लोकतन्त्र कितना खरा या कितना कृत्रिम है। इन्दिराजी ने अब तक जय पायी है। लोकतन्त्र की इस सही कसौटी पर भी काँग्रेस उनके नेतृत्व में खरी उतर सकी, तो भारत भविष्य का मार्गद्रष्टा सिद्ध हो सकेगा।

[20.2.72]

महाशक्तियों के दाँव-पेंच

विकास अगर यान्त्रिक हुआ है, तो मान लेना चाहिए कि आन्तरिक भी किसी मात्रा में हुआ होगा। जमाना था जब सामन्ती तेवर का या हठीले दर्प का रोब पड़ता था; अब वह रुख उपहास का पात्र तक हो सकता है।

ज्यादा दिनों की बात नहीं है कि ब्रिटेन अनुभव करता था कि वह ग्रेट है और दुनिया को प्रकाश देने, असभ्य को सभ्य बनाने का मिशन विधाता की ओर से उसको सौंपा गया है। इस सम्भ्रम में उसने अपना साम्राज्य बना डाला; पर वह जमाना अब कहीं नहीं रह गया है और ब्रिटेन को अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए प्रार्थनापूर्वक साँझे यूरोप में दाखिला लेना पड़ा है।

किन्तु अमेरिका की ताकत नयी है। उसकी सम्पन्नता भी अधिक बढ़ी-चढ़ी है। इसलिए बतौर हक अमेरिकी शासक और शासन यह मान लेता है कि दुनिया को उसे चलाना है, अविकसित और विकासमान को उसके विकास के निमित्त सहायता देनी है और कुल मिलाकर जगत-व्यवस्था का दायित्व उसे उठाना है। इस तरह के वचन प्रेसीडेण्ट निक्सन के मुँह से अपेक्षाकृत हाल में निकले भी हैं।

पर वास्तविकता भी उनसे खो नहीं सकती। शक्ति के क्षेत्र में एक अमेरिका ही नहीं है, मुकाबले में रूस भी है; और फिर दुनिया का सबसे बड़ा और मदभरा देश चीन है जिसके साथ बात बैठ जाए तो रूस को पीछे सरका दिया जा सकता है। इसलिए निक्सन अपनी ओर से बढ़कर माओ-त्से-तुंग तक पहुँचे हैं और मध्य में चाऊ एन लाई से लम्बी चर्चा चला रहे हैं (परिणाम, हो सकता है, ये पंक्तियाँ छपें तब तक समक्ष आ जाए)। उसमें दुनिया के नक्शे को सँभाला जाएगा और अपने दोनों के हित-स्वार्थ के मुताबिक अन्यान्य देशों को उसमें कसकर जमाया जाएगा।

मालूम होना चाहिए कि दुनिया नयी बन रही है और ये मनोभाव अब पुराने साबित होनेवाले हैं। शक्ति का यह हौआ अब डरा नहीं पाएगा। हर देश के पास

अपना स्वाभिमान है। कोई वजह नहीं कि कोई अपने को छोटा माने। सबके पास अपनी प्रभुसत्ता है और स्वाधीनता है। सब दूसरा से सुलह-सन्धि कर सकते हैं; नाते-रिश्ते बिठा सकते हैं; पर बिकने या किन्हीं के हाथों खेले जाने को शायद ही कोई तैयार हो। पाकिस्तान की बात इस वक्त के लिए अलग है। अपने कर्मों उसने अपना दुर्भाग्य बुलाया है और परायी महाशक्ति के हाथ मोहरे के मानिन्द ही उसे अब जीना है। कम-से-कम जनाब सदर भुट्टो साहब के तहत पाकिस्तान की इससे दूसरी किस्मत नहीं होती दीखती है। वह दूर-पास इधर-उधर शरण खोज पाने में ही अपनी ताकत बढ़ाने का तरीका मानते हैं। अपने घर और पास-पड़ोस से सम्बन्ध ठीक करने के आधार पर ताकत बनाना नहीं जानते हैं। वैसे पाकिस्तान को छोड़कर एशिया के तमाम महाद्वीप में कोई राष्ट्र न होगा जो बड़ी ताकतों की इस साँठ-गाँठ की भभकी में अपने भविष्य को स्वाहा हो जाने देगा।

शायद मौका हो कि वे कौमें, जिन्होंने एटमी हथियार बना लिये हैं, अपने को बड़ी और ताकतवर गिनें; पर वे चन्द-एक हैं और अनगिनत हैं वे, जो खुद को छोटा चाहे मान लें पर हेय मानने को तैयार नहीं हैं। और आखिर जितना भी हथियारों का दबदबा हो, अपनी-अपनी सुरक्षा का प्रश्न कितना भी उभरा हो, दुनिया के पास 'युनाइटेड नेशंस' है और उस सभा में सबको बराबरी का दर्जा है, सबकी एक-एक राय और एक-एक गिनती है; और बहुमत उन्हीं का है जिनको अब तक गिनती में नहीं लिया जाता था, पर आगे उन्हीं की सम्मिलित आवाज उठने और चलनेवाली है।

भारत वह देश है जिसके पास ज्ञान है, साधन हैं, भरपूर यान्त्रिक क्षमता भी है, फिर भी उसने अणु शक्ति से बम बनाने से इनकार कर दिया है और शान्ति-रचना में ही उसके उपयोग का संकल्प बाँधा है। उसने और शेख मुजीब के द्वारा बाँग्लादेश ने घोषित कर दिया है कि शक्ति-समीकरण का हिसाब-किताब जो हो, एशिया के देश अपना भाग्य आप बनाएँगे और दखल किसी का न सहेंगे।

ऐसी अवस्था में अगर भारत की अन्तरंग राजनीति गाँठदार न रही और चुनाव में से भारत स्पष्ट भाव से ऊपर आ सका, तो इन और अफ्रीका के अन्य नये स्वतन्त्र देशों को साथ लेकर नयी दुनिया का सूत्रपात कर सकता है।

[27.2.72]

निर्वाचन और लोकतन्त्रों की भाग्य-दिशा

चुनाव के प्रचार की धूम निबटी, चुनाव भी निबटने को हैं। अब नतीजे का इन्तजार है और देखना है कि राज्यों के प्रशासन का नक्शा क्या बनता है! अधिकांश राज्यों में काँग्रेस दल का शासन हो, तब तो आगे की सम्भावनाओं की रेखा सीधी मानी जा सकती है, अन्यथा लोकतन्त्र को एक नया अनुभव प्राप्त होगा। संविद-शासनों का प्रयोग सफल न हुआ है, किन्तु लोकतन्त्र एकतन्त्र बने तो उसमें भी खतरा है।

चुनाव के प्रचार और मतदान का दौर सर्वथा शान्त नहीं बीता। इतने व्यापक निर्वाचन में जो अशान्ति की घटनाएँ हुईं, वे बड़ी नहीं मानी जाएँगी, पर उनसे भी चेतावनी लेने की आवश्यकता है। लोकतन्त्र की सचाई के लिए यह आवश्यक है कि मतदान मतदाता के अन्तःकरण के अनुसार हो, उसके पीछे दबाव, लोभ या धींगा-धींगी न हो। किन्तु मौतें हुई हैं और दलीय ज्वर का तापमान विस्फोटक बिन्दु तक पहुँचा है। यह लक्षण गहरी अस्वस्थता का है और इस वातावरण में से बने हुए लोकतन्त्रीय शासन में, देश की अपार जनता की श्रद्धा के बल का आधार न हो, तो विस्मय नहीं है। उस नैतिक आधार के बिना प्रशासन केवल कार्मिक रह जाने से अस्थिर प्रतीत होगा। यह देखते हुए कुशलता इसी में है कि लोकतन्त्र में दो लगभग सन्तुलित बल के दल उभरें और विरोध कम सशक्त न हो। उसका स्थान भी गम्भीर रूप में स्वीकृत माना जाए, ताकि प्रशासन मनमाना होने से बचा रहे।

लोकतन्त्र एक नाजुक चीज है। एशिया के देशों में वह कम सफल हुआ है। वैसे तन्त्र गिरे हैं और उन्होंने एकतन्त्र का रूप लिया है। किन्तु हाल में बाँग्लादेश के प्रकरण से सिद्ध हो गया है कि लोकतन्त्र का यन्त्र समय पर तानाशाही से कम कामयाब नहीं होता। तानाशाह का हुक्म चलता है, लोकशाही में नीचे जन-मनोबल का अतिरिक्त सामर्थ्य भी साथ रहता है। इससे इसके संकल्प को नैतिक पुष्टता प्राप्त होती है और उसका पक्ष विश्व-मत के समक्ष कूटनीतिक जय प्राप्त करता है।

निर्वाचन दलों की बदाबदी और हार-जीत का ही अवसर रहे, तो लोकतन्त्र टिक नहीं पाएगा। आज के चुनाव का लगभग रंग यही है। दिल्ली में जहाँ मैं रहता हूँ, चुनाव में टक्कर काँग्रेस और जनसंघ की थी। दोनों प्रत्याशी अपने समर्थकों के साथ आये, तो उनके पास मुझे मनाने के लिए एक-दूसरे की निन्दा के सिवा दूसरी सामग्री न थी। दूसरे का दोष तो अपना गुण बन नहीं जाता। इसलिए परस्पर दोषारोपण से अन्त में सदोष उस पद्धति से बना लोकतन्त्र ही हो जाएगा न! निर्वाचन एक प्रकार से जनमत के राजनीतिक शिक्षण का भी अवसर है। उसका लाभ होना चाहिए कि प्रत्येक का चित्र स्पष्ट हो और वह भीड़ का भाग होने के बजाय व्यक्तित्व-सम्पन्न, स्वाधीनचेता नागरिक बने। पर चुनाव में जो दृश्य देखने में आते हैं, उनसे भय होता है। और बातें छोड़ भी दी जाएँ, तो मेरे क्षेत्र के चुनाव में प्रमुख प्रत्याशियों का चालीस-पचास हजार रुपया खर्च हुआ निकले तो असम्भव नहीं है। सेवक यह पैसा कहाँ से लाएगा? और जो पैसा लगाएगा, वह क्या सफल होने पर उसकी पूरी भरपाई न कर लेगा? यह दुश्चक्र अगर चलता है तो फिर बताइए कि उस पर बना प्रशासन क्या गरीबी दूर करेगा, या गरीब को और गरीब बनाकर छोड़ेगा?

चुनाव का प्रश्न इस तरह बुनियादी पुनर्विचार माँगता है। आज के चुनाव के स्वरूप में धींगा-मुश्ती का अवकाश रहता ही है। प्रत्यक्ष चुनाव के क्षेत्र को अगर लगभग पाँच हजार मतदाताओं की संख्या पर छोटा कर दिया जाए और बाद में ऊपर के चुनाव परोक्ष रहने दिये जाएँ, तो वैसे लोकतन्त्र के नीचे गड़बड़ का आवेश कम और चैतन्य का बल अधिक हो सकेगा। देश एक परीक्षा में से गुजर रहा है। जिसमें हम साँस ले रहे हैं, वह स्थिति हठात निर्मित मान ली जाती है। उसमें प्रमुख राजकीय है नैतिक गौण, बल्कि नीति राज के हिसाब से निश्चित की जाती है। उसमें सारी नीति सफलतावादी बनती है और बीच में जो टूटता-गिरता है, उसका मालिक भगवान है। यह स्पर्द्धा-प्रतिस्पर्द्धा से बनी परिस्थिति युद्धों को बना ही सकती है, उन्हें शान्त नहीं कर सकती। उनमें से यह तब क्रूर व्यंग्य उपस्थित हो सकता है कि अपनी शस्त्र-शक्ति और आणविक युद्धास्त्र पर भरोसा रखनेवाला दर्पी अमेरिकन सत्ताधीश शान्ति की बात ही न करे, बल्कि भारत-जैसे बुद्ध-गाँधी के देश को उस शान्ति का उपदेश देने लग जाए। यह विडम्बना राजनीतिक सभ्यता की ही दारुण देन है। लक्षण है कि उसका अन्त आया चाहता है। क्या भारत देश यह पहचानेगा और नवीन विधान का स्वयं से आरम्भ करने की सोचेगा?

[12.3.72]

चुनाव के बाद...

राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचन द्वारा देश ने फिर काँग्रेस को अपना शासन और विश्वास सौंपा है, बल्कि अब एक नयी स्थिति यह भी उत्पन्न हुई है कि काँग्रेस कोई समवाय नहीं है, बल्कि एक सुगठित दल है। स्वराज्य से पहले और स्वराज्य के तत्काल बाद यह संस्था मानो देश की आत्मा की प्रतिनिधि थी। तब के नेहरू दल के नेता से अधिक मानो राष्ट्र के प्रतीक ही थे। अब की चुनाव की जीत, जो काँग्रेस से अधिक श्रीमती इन्दिरा गाँधी के व्यक्तित्व की मानी जाती है, काँग्रेस को मानो सन्नद्ध दल में परिणत कर देती है। केवल शासन की दृष्टि से इस स्थिति को सुविधाजनक समझा जाएगा, लेकिन लोकतन्त्रता की अपेक्षा इसमें खतरा समाया है कि देश के नाम पर दल ही सर्वेसर्वा न हो जाए। लोकतन्त्रात्मक एकता मत की एकता नहीं होती, वह मन की एकता होती है और उस एकता का लक्षण है मत की भिन्नता का आदर और अवकाश। सच्चे लोकतन्त्र में विरोधी दल की कम प्रतिष्ठा नहीं होती। केवल उसके हाथ में शासन-नीति और शासन-दण्ड इसलिए नहीं आ पाता कि बहुमत उसके पास नहीं है, किन्तु इसके अतिरिक्त स्वयं नीति-निर्णय एवं विधि-निर्माण के क्षेत्र में विरोध पक्ष का पूरा सम भाग हुआ करता है।

इस समय विरोध का पक्ष लगभग रह ही नहीं गया है। दल हैं तो अधिकांश केवल अस्तित्व का साँस लेने के लिए हैं। सिर्फ द्रमुक अपने प्रदेश में गणनीय माना जा सकता है। वहाँ भी यदि निर्वाचन की परीक्षा होती तो नहीं कहा जा सकता कि क्या नतीजा आता।

चुनाव के समय की बात तो दूसरी है। उस वक्त एक दल दूसरे की जड़ उखाड़ने तक की बात करे, तो अस्वाभाविक नहीं है; पर इन्दिराजी के नेतृत्व में काँग्रेस दल की यह अभूतपूर्व विजय हुई है तो उनसे आशा की जानी चाहिए कि वह विरोध पक्ष का सद्‌भाव और सम्मान बढ़ाने में समर्थ होंगी। लोकतन्त्रीय शासन की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि उसकी गति चाहे तीव्र न हो, पर

कदम उसके मजबूत होते हैं; और सरकार को दण्ड और कानून के जोर से उतना काम नहीं लेना होता, जन-श्रद्धा और जन-सहकार के बल से वह सहज होता जाता है।

निर्वाचन के फल का भारत के हक में अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में सबसे बड़ा लाभ यह है कि उसका चित्र उजला हुआ है। बाँग्लादेश के उदय के साथ भारत की जो धाक बनी है, ऐसा कहा जा सकता है, अब इस चुनाव से वह उज्ज्वलतर हुई है। इन्दिराजी अब पूरे विश्वास से बात कर सकती हैं। सब जगह इस नयी जय का प्रभाव पड़ा है। पाकिस्तान के श्री भुट्टो के मुँह से जो नया स्वर निकला है, वह इन्दिराजी के अद्वितीय सत्ताशाली होने के कारण। श्री भुट्टो आएँगे तो पाएँगे कि इन्दिराजी के स्वर में स्वामित्व है और इसलिए समाई भी है। वे अटल मजबूती जगह से बात कर सकती हैं।

लेकिन समय का यह सुभीता ऋणात्मक न बने, इसका ध्यान रखना होगा। आवश्यकता से अधिक मजबूत शासन को अन्त में अपने ही अन्तरंग तर्क से बिखरना और टूटना पड़ता है। सरकार तानाशाह बनकर अपना काल ही बुलाती है। निश्चय ही इन्दिराजी में तड़प है और वे देश में तेजी के साथ ऐसा सुधार ले आना चाहती हैं कि विषमता कटे और दरिद्रता मिटे। इस दिशा में कानून बनेंगे और दूसरे कदम उठाए जाएँगे। यह सब ठीक ही है और इस बारे में कुछ भी कहना अनावश्यक है। सोशलिज्म लाने का उनका संकल्प भी अभिनन्दनीय माना जाएगा, पर कानून और लोकमानस के बीच ज्यादा फासला नहीं होना चाहिए। कानून वही चलता है जो लोकमानस में उतरा हुआ होता है। अगर नागरिक में और विधि-संहिता में आँख-मिचौली या दबाव-बचाव का खेल होने लग जाए तो वह लोकतन्त्रात्मक शासन के लिए शुभ नहीं है। शासन महँगाई रोकना चाहता है, भ्रष्टाचार रोकना चाहता है, काला बाजार बन्द करना चाहता है, रिश्वतखोरी समाप्त करना चाहता है, पर ये रोग बढ़ती पर हैं तो क्यों? इसीलिए कि शासक उद्धारक बनकर जो चाहता है, देश का अन्तःकरण उसके लिए शिक्षित और प्रस्तुत अभी नहीं हो पाया है। यह लोक-शिक्षण का चारित्रिक और सांस्कृतिक कार्य किसी दण्ड-विधान के वश का नहीं है, वह ऊपर से नहीं हो सकता है। राजनीति इस जगह असमर्थ हो जाती है। खेद है कि राजनीतिक उस पक्ष को भुला बैठा है और काँग्रेस अपने पुण्यार्जन के इतिहास को बिसार बैठी है। विदेशों में इसलिए यदि इन्दिराजी की क्षमता की धाक है, तो और भी आवश्यक है कि भारत का राज समाजवादी कम हो कि अधिक लोक-हृदय के प्रति वह उत्तरोत्तर उत्तरदायी हो।

इन्दिराजी की अग्रगामिता प्रशंसनीय है। सच यह है कि मन का यही संकल्प

और साहस उनको यहाँ तक ले आया और देश को एक समग्र नेतृत्व मिला है, पर शिखरस्थता भयावह होती है! विश्वसनीय वह सत्ता है जो लोकचित्त में व्याप्त श्रद्धा और विश्वास में से प्राप्त होती है। उससे भय नहीं होता, आतंक नहीं उपजता, प्रत्युत सांत्वना और आश्वासन प्राप्त होता है। अब यह उन पर है कि वह दक्षिण और वाम को सँभालना और संयुक्त रखती हैं कि वाम के आग्रह की ओर झुकती हैं। भारतीयता इन शब्दों को नहीं जानती और वहाँ इनका द्विभेद सदा सोया और खोया ही रहा है।

[19.3.72]

राजनीतिक और नागरिक

शब्द दो हैं : 'सिविक' और 'पॉलिटिकल'—नागरिक और राजनीतिक भी कह सकते हैं—पर उन शब्दों में अब भी यथार्थ भाव की ध्वनि नहीं पड़ी है। 'सिविक' का स्तर प्रजा के पास है, पॉलिटिकल का राज्य की ऊँचाई तक चढ़ जाता है—यहाँ तक कि उन दोनों में विरोध और तनाव हो सकता है।

राज्य डेमोक्रेटिक भी होता है। लोकराज्य, गणराज्य, जनराज्य उसी के उत्तरोत्तर विकसित रूप माने जा सकते हैं। जनराज्य की अवस्था में राजनीतिक का स्तर नागरिक तल से अलग नहीं रह जाना चाहिए। शायद लोकतन्त्र का आदर्श यह जनतन्त्र ही है जहाँ प्रत्येक जन इतना अनुशासन में रहता है कि ऊपर के प्रशासन की आवश्यकता स्वल्पतम होती जाती है।

अन्यथा राज ऑटोक्रेटिक के हुआ ही करते हैं। यहाँ तक कि राजा चुनाव द्वारा नहीं बनता, वह पैतृक उत्तराधिकार में से हठात ही अवतरित हो आता है।

इन दोनों, लोक और एकतन्त्रों के बीच फिर विविध श्रेणियाँ हो सकती हैं। आजकल की दलीय पार्लियामेण्टरी पद्धति इसी प्रकार एक बीच की चीज है। विलायत में राजा भी है और पार्लियामेण्ट भी है। पार्लियामेण्ट वहाँ राजा के खर्च के लिए अपने बजट में गुंजाइश रखकर अनुमति अवश्य देती है, पर राजा का चुनाव उसके वश का नहीं है। वह रक्त के अधिकार से निर्णीत होता है।

मानव समाज तो बहुत विस्तार में व्याप्त है और अरबों की जनसंख्या उसमें समा आती है। यह समूचा मानव क्षेत्र अनायास किसी एक व्यवस्था में इकट्ठा नहीं हो सकता है, यद्यपि इतिहास उसी ओर बढ़ रहा है। युद्धों के बीच में से मरते-मरते हुए हम एक-दूसरे के लिए पूरक और सहायक बनने की ओर उठते जा रहे हैं। विज्ञान ने भौतिक और भौगोलिक दूरी लगभग नष्ट ही कर डाली है। पृथ्वी अब एक पिण्ड है और कोई दुनिया का ओर-छोर ऐसा नहीं बचा है, जहाँ आपस में सीधे बातचीत न हो सके। संचार-व्यवस्था इतनी द्रुत और सघन हो गयी है, फिर भी बन्दोबस्त के लिए मनुष्य राष्ट्रों में बँटे हैं, जिन्हें अपने-

अपने अस्तित्व के लिए राजतन्त्र को चौकस और सन्नद्ध रखना पड़ता है।

और एक, राजतन्त्र से और उस तन्त्र की ओर चलनेवाली राजनीति। दो, प्रजा में से बननेवाली और प्रजा को संस्कारिता और अनुशासन देनेवाली नागरिक नीति। इस नीति के अनुकूल फिर नीचे से कुछ स्वायत्त तन्त्र की रचना हुआ करती है—नगर-पालिका, जिला-परिषद व ग्राम-पंचायतें आदि इसी प्रकार की संस्थाएँ। अन्त में यह कुल व्यवस्था की शोध-रचना है।

इन्हें दो ध्रुव कहिए। ध्रुवों के बीच पृथ्वी टिकी है और समाज भी ऊपर और नीचे के इन दो ध्रुव-बिन्दुओं की धुरी के सहारे टिका हुआ रहता है। यह व्याप्त और गर्भित व्यवस्था है और इससे दूसरा कुछ हो नहीं सकता है। समाज के सुखी, उन्नत, सुसंस्कृत और समृद्ध होने की कसौटी यह धुरी ही है।

कलकत्ता के नगर-निगम को सरकार की ओर से अतिक्रमित करना पड़ा। समर्थन में कारण तो कुछ रहे होंगे, पर अपने में यह काफी सूचक संकेत है कि लोकतन्त्र के स्वास्थ्य का मानक क्या है। अगर नागरिक संस्थाएँ ऊपर की राजनीति के अधीन रहती हैं, ऊपर प्रशासन का दबाव और ताबेदारी अनुभव करती हैं, तो मानना होगा कि लोकजीवन अस्वस्थ है और राजनीति से लोकनीति दुर्बल है। हाल के चुनाव की अभूतपूर्व सफलता में से आशा यह की जानी चाहिए कि राजनीति लोकनीति के मुताबिक और उस इशारे से चलेगी। पर अगर दलनीति और दल-दबाव के उपयोग को बीच में आना पड़ता है अथवा कि प्रशासन-दण्ड को ऊपर से उतरना पड़ता है तो मानना होगा कि चुनाव में प्राप्त हुआ बहुमत उतना श्रद्धा का नहीं, जितना संख्या का था। संख्या को संगठित किया जा सकता है और दल की इस प्रकार जुटायी गयी शक्ति अदम्य भी हो सकती है; पर वह शक्ति नैतिक की जगह आर्थिक और सैनिक प्रकार की होगी, जिसको लोकतन्त्रीय भाषा में सर्वोत्तम कहना कठिन होता है।

सच यह है कि राजनीति वर्तमान से चलती है और वर्तमान द्वारा ही नापी जा सकती है। इतिहास व्यापक दृष्टि को लेता है और उसका माप सांस्कृतिक ही चलता है। संस्कृति की कसौटी पर वही स्थायी लाभ का सिद्ध होगा, जो ऊपर के अंकुश के बल से नहीं घटित होगा, बल्कि भीतर की स्फूर्ति से सम्पन्न किया जा सकेगा। सोशलिस्टिक व्यवस्था को हम कानून के बल से जिस-तिस सम्भव भाग पर लागू कर सकते हैं, पर देखा जाएगा कि समाज का उत्कर्ष निर्भर करता है उसमें से उगते हुए संयम और अनुशासन की क्षमता पर। राजनीति में अधिकार है, पर लोकनीति कर्तव्य की भावना में से ही पुष्ट हो पाती है और ध्यान रखना होगा कि हमारे नागरिक संस्थान राजनीतिक मताग्रहों और मतावेशों से नहीं चलते है, प्रत्युत उनका संचालन नागरिक हित के निमित्त और यथासम्भव

कर्तव्य-भावना से होता है।

राजनीति समाज-पट के संस्कार और निर्माण में सिर्फ बाने के तार भरती और बुनती है, किन्तु बाना तभी काम देगा और बुने जाते हुए चित्र में खिलावट लाएगा, जब ताने के तार पहले से ठीक हों। इस ताने का सम्बन्ध मनुष्य की प्रवृत्ति और चरित्र से है और ऊपर पद-प्रतिष्ठा की ओर देखने में इस नीचे के बुनियादी यथार्थ की अवज्ञा खतरनाक हो सकती है।

[2.4.72]

युद्ध, महायुद्ध और उसका विकल्प

युद्ध शीत रूप में सतत विद्यमान है। फिर वह अपने शीत रूप से आगे जाए बिना कैसे रह सकता है? पर वह युद्ध का रूप ले, यह मुझे प्रश्नातीत जान पड़ता है। अण्वस्त्र की परिस्थिति को देखते हुए यह बहुत ही कम सम्भव है। शक्ति सन्तुलन में कोई गहरी दरार पड़े, इससे पहले ही छुटपुट युद्धों को निबटना पड़ जाएगा, विश्व युद्ध की परिणति तक वह छेड़-छाड़ पहुँचने नहीं दी जाएगी।

महायुद्ध की असम्भवप्रायता के कारण ही मुझको प्रतीत होता है कि चिन्तकों को इस सभ्यता के मूलाधारों पर पुनर्विचार करना होगा। इतिहास अब तक युद्ध के उपाय से प्रश्नों को निबटाता आया है। दूसरी किसी पद्धति से निर्णय न हो सके तो युद्धवाला निर्णय निश्चित और अन्तिम बनता रहा है—लेकिन अब आगे यह सम्भव नहीं है। इसलिए युद्ध के विकल्प के सम्बन्ध में सोचना और उस दिशा में यत्न करना एकदम आवश्यक हो गया है। इस यत्न में इस सभ्यता की मूल मान्यताओं का एकदम रूपान्तरीकरण भी हो सकता है। बौद्धिकों में और युवकों में आज गम्भीर असन्तोष है। वह असन्तोष किसी प्रभाव की परिस्थिति को लेकर नहीं हैं, बल्कि वह गहन और आभ्यन्तरिक है। पदार्थ की सम्पन्नता से अब एक ऊब हो निकली है। भौतिक समृद्धि अब कुछ देर बाद प्रेरणा स्रोत का काम न दे पाएगी। तब उद्यम-व्यापार का आज का ढाँचा लड़खड़ा आएगा और समाज-जीवन-व्यवस्था के जिस क्रम का इस सभ्यता में निर्माण हुआ है, वह गलत दिखने लगेगा। नये मूल्य निर्माण में आएँगे। हो सकता है कि वह मशीन, जो मनुष्य पर चढ़ बैठी है, अपना सारा आतंक खो रहे, वह अधीन और आश्रित बन जाए और मानव आत्मा का दर्शन और महत्त्व नये सिरे से स्थापित हो।

शस्त्र-नियन्त्रण और निःशस्त्रीकरण

बहरहाल युद्ध का अब वह स्थान नहीं रहेगा। अब तक तो शायद वह शीर्ष बिन्दु था जिसकी ओर समस्त जीवन एकाग्र बना खिंचता जा रहा था। सारा जीवन-

क्रम इसमें प्रतिस्पर्धात्मक बन चला था। उन्नति की ही धारणा तन्निष्ठ हो गयी थी। यदि युद्ध अपने उस शीर्ष स्थान से च्युत हो जाता है तो समूचे जीवन-क्रम पर उसका प्रभाव पड़ेगा और नये जीवन-मूल्यों को उदय में आना होगा। किन्तु सम्भावना और शायद आवश्यकता युद्ध की ऊपर से और भीतर से सचमुच टली नहीं है, मात्र उसकी शक्यता असम्भवप्राय हुई जा रही है। शस्त्र-परिमाण, शस्त्र-नियन्त्रण, निःशस्त्रीकरण आदि के सब प्रयत्न युद्ध की आवश्यकता को टालने के के द्योतक हैं। उन प्रयत्नों की विफलता यह दिखलाती है कि आपसी भय-संशय और वैमनस्य गहरा है; इसलिए विस्फोट की आशंका भी भीतर गहरी है।

मैंने कहा कि युद्ध मनुष्य जाति के पास अब तक निर्णय के अन्तिम उपाय और सहारे के रूप में पलता रहा है। अब तक मानव की सारी कर्म-परम्परा और प्रगति युद्ध की आवश्यकता उपजाती है और उस युद्ध के सहारे अपनी समस्या का अन्तिम निबटारा पाती गयी है। युद्ध का एक तरह मानव की उन्नति में बड़े महत्त्व का योगदान भी रहा है। उस दबाव के नीचे ही मुख्यता से विज्ञान का क्रमिक और त्वरित उत्कर्ष हो पाया है। यह पिछला महायुद्ध ही तो था जिसके नीचे अणु शक्ति के आविष्कार की प्रक्रिया में तीव्रता आती गयी। हिटलर के आदेश के अधीन अणु-भंजन का आविष्कार लगभग पूर्णता पर आ ही रहा था। अब भी शीत-युद्ध के तनाव के कारण अनेकानेक क्षेत्रों में वैज्ञानिक आविष्कारों की गति को क्षिप्रता मिल रही है।

अहिंसा-नीति की स्थापना आवश्यक

किन्तु विज्ञान का विकास अब उस जगह आ पहुँचा है जहाँ वस्तु-विज्ञान और चित-विज्ञान सर्वथा दो और अलग रहकर आगे नहीं चल सकते। वास्तविक और नैतिक का संगम अनिवार्य ही हो आया है। आत्मिक और जागतिक ये दो विमुख आयाम अब नहीं हैं। दोनों एक-रूप हैं; अर्थात 'साइंस' के लिए अनिवार्य हो आया है कि वह 'इथिक्स' की सुने, अणु के साथ अहिंसा का योग हो। अंश और अंश, खण्ड और खण्ड के बीच अहिंसा-नीति की स्थापना नहीं हो सकी तो महानाश समक्ष है। अणु बम इधर है, और वही बम उधर भी है। दोनों एक-दूसरे पर टूटते हैं, तो सोचिए, क्या होता है? सब एकदम ध्वंस ही हो जाता है न? इसलिए दोनों ओर आवश्यकता है कि वे एक-दूसरे पर टूटने की न सोचें, बल्कि एक-दूसरे से सन्धि में रहें। इस अवस्था में अणु शक्ति के परस्पर योग और रचनात्मक उपयोग से यहाँ तक कायापलट है जो नहीं किया जा सकता? रेगिस्तान उद्यान बन सकते हैं और ग्रहतारा-मण्डल का वितान धरती का विस्तृत आँगन और परिवार बन जा सकता है।

अभी हम दो दिशाओं में चलते और बढ़ते आए थे। बाहर मैटर का अपनी बौद्धिक चेष्टा द्वारा हमने पीछा किया तो विज्ञान निष्पन्न हुआ। अन्त में उस मैटर की इकाई को हमने ही तोड़ डाला। उस दिशा में भी मालूम हुआ कि अपनी निजता में अहं पृथक और अन्तिम सत्ता नहीं है, भीतर उसमें व्याप्त आत्म-सत्ता गूढ़ है और उसका उद्धरण हो सकता है। जड़ और चेतन को परस्पर विरोधी मानकर हमारी बौद्धिक और आत्मिक साधनाएँ अब तक चलती गयीं। वे विमुखताएँ अब परस्पर सम्मुख आकर सत्य के ऐक्य में मिलती सी प्रतीत हो रही हैं।

युद्ध विरोध-वैमुख्य का द्योतक है। वह विमुखता मानव-दर्शन में अब प्रत्यक्षतः असिद्ध सिद्ध हुई जा रही है, अर्थात् युद्ध के नीचे से उसका आधार ही खिसका जा रहा है। अब दो बड़े राष्ट्र युद्ध पर जरा उतारू हो देखें! मालूम होगा कि दोनों ही एक क्षण में भस्म हो जाते हैं। इसलिए राष्ट्र स्वयं में सर्वथा 'सावरेन' हैं, इस धारणा में ही परिवर्तन आ रहा है। लगता है कि राष्ट्र नहीं, 'सावरेन' यदि है तो विश्व है; बल्कि उससे आगे नक्षत्र मण्डल स्वयं इस प्रकार सामने खुला आ रहा है कि सावरेन अपने में धरती नाम का यह ग्रह भी नहीं रह जाता है, बल्कि ताराखचित इस समूचे ब्रह्माण्ड के बीच धरती उसके अकिंचित्कर कण के रूप में अपने को अनुभव कर अनोखी धन्यता और सार्थकता उपलब्ध कर सकती है। एक विराट दर्शन मनुष्य को प्राप्त हुआ है जिसमें 'सावरेंटी' का भाव अपने से उठकर चरम और परम सत्ता पर पहुँच जाता है।

इसलिए कहता हूँ कि चाहे मानव-जन्य परिस्थिति में आज कितनी भी नये महायुद्ध की सामग्री और बारूद भरी हो, पर उस महायुद्ध की अशक्यता का भान और भी घनिष्ठ भाव से राष्ट्र-चित्त और मानव-चित्त में समाया जा रहा है।

राष्ट्र एक-दूसरे के लिए धमकी और भय का कारण बनने में आज भी गर्व-गौरव अनुभव कर सकते हैं। पर आज के बाद जो कल आनेवाला है, उसमें यह राष्ट्राभिमान का भाव थोथा और झूठा पड़ जाएगा। मानव-जाति के स्वास्थ्य की यह त्रुटि है जो उसके अवयवों को अपनी अहं-चेतना से ग्रस्त बना देती है। कोई कारण नहीं कि हम समझें कि विश्व-मानव में एकचित्तता का उदय नहीं ही होगा। मैं मानता हूँ कि आज भी लक्षण हैं जो जताते हैं कि अपने बावजूद हम उस दिशा में बढ़ रहे हैं।

युद्ध का विकल्प

अमेरिका की ताकत कितनी अमित है! वियतनाम नन्हा-सा देश है। अमेरिकी ताकत क्यों उसका कुछ नहीं बिगाड़ पा रही है? क्यों वहाँ से वापस आना स्वीकार करना पड़ा है? क्यों उसके अणुबम इस विषय में व्यर्थ हुए जा रहे हैं? क्या

इस सबसे स्पष्ट नहीं हो जाता कि स्थिति की विषमता स्वयं इस परिज्ञान को प्रत्यक्ष कर रही है कि युद्ध का उपाय, मात्र शक्ति का बलबूता, अब नहीं चलेगा, नहीं चलेगा। आदमी बनाम आदमी, वर्ग बनाम वर्ग, राष्ट्र बनाम राष्ट्र का नीति-दर्शन आगे के लिए बेकार हो गया है। आदमी को आदमी के, वर्ग को वर्ग के और राष्ट्र को राष्ट्र के साथ अब सहयोग में आ जाना होगा। त्राण का दूसरा मार्ग नहीं है।

यह दर्शन अमोघ बनकर मानव-चेतना में क्रम-क्रम से उतरता जा रहा है। व्यवहार की त्रुटियाँ हैं और रहेंगी। वहाँ रगड़-झगड़ भी चलेगी। तनाव सहसा समाप्त हो जानेवाले नहीं हैं। लेकिन इस अनुभूति से बचने का उपाय अब नहीं रह गया है कि दुनिया इकट्ठी हो आयी है और सब एक-दूसरे के निकट हैं और सुलभ हैं। इस अवस्था में नीति के तौर पर हिंसा का अवलम्बन छोड़ना ही होगा। सहयोग की प्रणालियों के निर्माण से आरम्भ करके अहिंसात्मक जीवन दर्शन और जीवन व्यवहार का आलम्बन निश्चय के साथ थाम लेना होगा।

[4.4.72]

जनसंख्या-वृद्धि, बेकारी और मनुष्य का संस्कारी भविष्य

भारत देश की जनसंख्या बड़ी तेज रफ्तार से बढ़ रही है। बताया जा रहा है कि इस कारण देश बड़ी मुसीबत में है। यदि इस बढ़ती जनसंख्या को रोका नहीं गया तो देश पर भारी विपदा आएगी।

समस्या है, पर मैं उसको हौआ बना देने से सहमत नहीं हूँ। यह नहीं कि चाहता हूँ, जनसंख्या बढ़ती ही जाए। पर इसलिए कि बढ़ती जनसंख्या के डर के नीचे यह मान लिया जाता है कि आदमी अपने में धन नहीं है, ऋण है। मैं इस स्थापना को एकदम गलत कहता हूँ। हर आदमी अगर्चे एक पेट लेकर पैदा होता है, लेकिन साथ ही उसके दो हाथ होते हैं। अगर उन हाथों को भरपूर काम मिले तो उसके एक पेट का प्रश्न उतना बड़ा नहीं रह जाएगा। सच यह कि हमारी समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था इतनी गड़बड़ है कि आदमी सहारा नहीं, बोझ मालूम होता है। जनसंख्या का डर और कृत्रिम साधनों से उसे रोकने के सस्ते उपाय हमें अपनी समाज-व्यवस्था की विषमता के प्रश्न के विचार से विमुख कर देते हैं। उस राह चल पड़ने पर हम आंशिक विचार के शिकार हो जाते और मानवीय वृत्ति और दृष्टि से भटक जाते हैं। उस गणितीय मानस से सोचने पर आगे यह तक लग सकता है कि वृद्ध, रुग्ण, असमर्थ और विकलांग व्यक्तियों को, जो सिर्फ खाते हैं, उपजाते नहीं हैं, क्यों न दयापूर्वक एक साथ समाप्त कर दिया जाए? आप देखेंगे कि केवल अंकाश्रित बुद्धिवाद आगे-पीछे उस परिणाम पर पहुँचे बिना न रहेगा।

इस सब के बाद क्या इस तथ्य पर आपका ध्यान दिलाया जा सकता है कि अपेक्षाकृत धन-साधनहीन वर्ग में जनसंख्या की वृद्धि का अनुपात अधिक है, सम्पन्न वर्ग में वही उत्तरोत्तर कम होता जाता है? जैसे-जैसे जीवन को खुलने का अवसर मिलेगा, वैसे-ही-वैसे स्त्री-पुरुषों की सृजनात्मक शक्ति दूसरी दिशाओं में उपयुक्त होगी और जनसंख्या का विस्फोट अनायास कम होता दीखेगा। संयम सिखाना कठिन जान पड़ता है, किन्तु उस संयम को 'सिखाने' की उतनी आवश्यकता

ही तब न होगी। जीवन की सार्थकता और परिपूर्णता के अवसर चहुँओर खुल आएँगे तो उस प्रकार का संयम अपने-आप ही सहज और सरस हो आएगा।

असल में आज तो हमारी समाज-व्यवस्था ही अन्धी है। राष्ट्र राज्य बने हुए हैं जो एक-दूसरे से अपनी रक्षा खोजते और शस्त्र-सेना-सन्नद्ध बने रहने में त्राण देखते हैं। इस सैन्य-सज्जा पर अपार धन-राशि खर्च हो रही है, फिर मानव जाति का उद्योग-व्यापार प्रतिस्पर्धात्मक भूमिका पर चलाया जा रहा है। मण्डी की होड़ है और सिक्कों में आपस में तनातनी है। इसमें कितनी मानव शक्ति बर्बाद और व्यर्थ जाती है, कहा नहीं जा सकता। मैं समझता हूँ कि गम्भीर चिन्तन को पहले इस दिशा में लगना चाहिए। तब मालूम होगा कि आंकिक से हार्दिक विचार अधिक युक्तियुक्त है। फिर इस नैतिक विचार के प्रकाश में हम देख सकेंगे कि विज्ञान के सहारे स्त्री-पुरुष सम्भोग को यदि दायित्व और परिणाम से शून्य बना दिया जाता है तो वह सम्बल सारी सांस्कृतिक और कलात्मक सम्भावनाओं से विहीन होकर निरा पाशव और बीभत्स हो उठता है।

मुझे विश्वास है कि मनुष्य का संस्कारी भविष्य उस दिशा में नहीं है।

बेकारी का अभियोग जनसंख्या-वृद्धि पर डाला जाता है। लेकिन बेकार क्यों बेकार है, क्या यह सवाल आपके मन में नहीं उठता? वह समाज जिसमें आदमी मजबूरन बेकार बन पाता है, क्या अपने-आपमें रुग्ण नहीं है? समाज के उस अन्तरंग रोग से आँख मोड़कर ऊपर के लक्षण को ही आप रोग मान लेंगे तो उससे न बेकारी को रोका जा सकेगा, न जनसंख्या को।

जिन बेकारों की बात कही जाती है, वे दैन्य और अभाव में रहते हैं। लेकिन मैं कहता हूँ कि यह समाज ऐसे भी लाखों-लाख 'बेकारों' को शौक से पाल-पोस रहा, उन्हें हर तरह के सुख-साधन दे रहा है, जो मजबूरन नहीं, इरादतन बेकार हैं। इतनी संख्या में हमारा देश फौजी सैनिकों को पाल रहा है कि उनको काम देने के लिए दस-बीस साल बाद एक-आध लड़ाई को तो होना ही चाहिए। बीच की बेकारी में भी उनको हर तरह के सुभीते में रखना जरूरी होता है। क्या आपको नहीं मालूम होता कि दुश्मनी का शौक मानव जाति को भारी पड़ रहा है? हमारी राजकीय, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था अब तक उस जंगल के नियम से, सोचिए कि क्यों निस्तार नहीं पा सकी है कि जहाँ ताकत को ही न्याय और अधिकार है?

छोड़िए इस फौजी लवाजमे को, तो भी क्या हर बड़े शहर के रेस्तराओं-क्लबों में और दूसरे ऐसे सार्वजनिक स्थानों में उन निठल्लों का जश्न दिखाई नहीं देता कि जो ठालीपन को धन्धे के तौर पर अपनाते और खुशहाल से आगे मालामाल तक बन जाते हैं? खोजने चलिए कि वे क्या करते हैं तो मालूम होगा कि करने

के नाम पर वे सिर्फ तिकड़म करते हैं। उसी बिरते वे हर किस्म का रोब और शौक फरमाया करते हैं।

मुझे लगता है कि यह वह सभ्य-शालीन बेकार वर्ग है जिसके रोग की पहले चिन्ता करनी चाहिए। जिनको बेकार मानकर हम परेशान हैं, वे तो बेचारे तैयार हैं कि उनके हाथों को काम दिया जाए। वे उस दृष्टि से स्वस्थ और सही हैं; बेहया बेकार तो वे हैं जो पहले श्रम से जी चुराते हैं और फिर तिकड़म से धन चुरा लेते हैं।

तो जनसंख्या नाम की समस्या समाज के इस कोढ़ को देखकर अनदेखा कर देने के कारण उतनी बड़ी बनी हुई है।

मौज-शौक के फैशन कम कीजिए और जीने के अवसर सबको मिलने दीजिए तो देखिएगा कि जनसंख्या समस्या नहीं रहती है, वह समृद्धि और सामर्थ्य की द्योतक बन जाती है। साठ करोड़ भारतवासी अगर अपनी जगह स्वस्थ, सार्थक और समर्थ हों तो क्या वे देश की शक्तिमत्ता के प्रमाण ही न होंगे? धिक्कार है हम व्यवस्थापकों की बुद्धि को, कि अपने बल को ही हमने अपनी निर्बलता बना लिया है! मनुष्य को हम अपने यहाँ पददलित होने देते हैं और बाहर की मशीन को ललचायी आँखों देखते और उसे पाने की तदबीर में कर्ज लेते फिरते हैं। भूल जाते हैं कि मानव-यन्त्र विज्ञान के हर किसी यन्त्र से ज्यादा अद्‌भुत और ज्यादा मूल्यवान है। उचित यह है कि हम राजनीति की भाषा के फेर से बाहर आकर आत्म-निष्ठा को जगाएँ और स्वावलम्बन को अपने बीच प्रतिष्ठित करें। तब समस्या का स्वरूप ही बदला हुआ दिखाई देगा। हो सकता है कि जिसकी चमक हमें चकाचौंध कर रही है, वह समस्या और वह उन्नति हमें बौखलायी हुई दिखाई दे। तब यह भी हो सकता है कि हमारी निगाह में श्रमिक धनिक से मूल्यवान हो आये और प्रजा राजा से ऊँची दीखे।

अभी मणिपुर के एक बन्धु आये थे। बहुत वर्ष हुए, मणिपुर में गया तो देखा था कि बुनने-बनाने से लेकर फिर उसे बाजार में क्रय-विक्रय करने तक सब काम स्त्रियाँ करती हैं। पुरुष खाली गप-शप में लगे रहते हैं। मैंने उन्हें पूछा कि यह क्या बात है और क्या अब भी वही हालत है? उन्होंने कहा कि लगता है, पहले चारों तरफ से खतरा रहता था और हमारे पूर्वजों को उससे मुठभेड़ के लिए तैयार रहने और इस तरह अपनी जाति का बचाव करने के अतिरिक्त दूसरा काम न था। लेकिन अब तो मर्द लोग भी काम करने लगे हैं।

तो यह दुश्मनी रखने और दुश्मनों से निबटने का काम चाहे फिलहाल कम जरूरी न हो, पर वह सदा के लिए जरूरी नहीं रहनेवाला है—रचनात्मक और सृजनात्मक तो वह है ही नहीं। एक देश के सन्दर्भ में वह काम बेशक बहुत

महत्त्वपूर्ण है, लेकिन अब तो जल्दी ही विश्व का सन्दर्भ व्यवहारी हो आनेवाला है। तब उस तरह के सरदारी काम की महिमा क्या कम होती न लगेगी? अणु शस्त्र बनने के बाद रूस ने अपने सैनिकों की संख्या में काफी कमी कर दी है। आखिर मानव व्यवस्था हमारी बिगड़ी है, इसीलिए तो यह सब जरूरी होता है। पर अन्त में तो सैनिक से नागरिक को ही प्रमुख रहना है। नागरिक की रक्षा के निमित्त ही तो सैनिक की आवश्यकता और नियुक्ति है? तो क्या नागरिक के स्वयं समर्थ और व्यवस्था के समीचीन होते ही वैतनिक सैनिक बहुत अंशों में अनावश्यक ही न हो आएगा?

फिर अब युद्ध उत्तरोत्तर दुर्वह होते जा रहे हैं। सिपाही वर्षों-वर्ष अपनी सार्थकता के लिए हो सकता है कि प्रतीक्षा में ही रहें और युद्ध की सम्भावना आगे से आगे टलती चली जाए, अर्थात सैनिक का सामान्य काम प्रतीक्षा में और तैयारी में रहना-भर ही रह जाए।

मैं कहता हूँ कि हमारी सभ्यता ने बहुत-से काम आवश्यक और महत्त्वपूर्ण मान और बना रखे हैं। उनमें मानव-शक्ति का अनर्थक व्यय हो रहा है। शरीर में शक्ति-सामर्थ्य रहते हुए भी लाखों-लाख बेरोजगार और भूखे-नंगे उसी कारण बनने के लिए बाध्य होते हैं। हमारी जीवन-व्यवस्था को इस अभिशाप की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। यही तो कह रहा हूँ कि सब सुख-सुविधाओं में रहनेवाला वर्ग अधिकांश वह है जो कुछ भी काम का काम नहीं करता है और फैशन बनी बेकारियों का महत्त्व बन जाने के कारण ही अपने लिए गौरव-गर्व प्राप्त करता रहता है।

[9.4.72]

धर्म और राजकारण

अभी एक धार्मिक परिसंवाद में जाना हुआ था। यद्यपि वहाँ के विषय को लौकिक अधिक कहना चाहिए। बल्कि विचारणीय मात्र विषय ही नहीं था, यह भी था कि कार्यक्रम क्या होगा। धर्म अध्यात्म-साधना की ओर तो झुका रहता ही है। संसार नहीं, उसे मुक्ति अभीष्ट है। उस चेष्टा में सन्त-जन संसार से उदासीन और उत्तीर्ण भी बन जाया करते हैं। तब सांसारिक समस्याओं की तरफ उनका कोई दायित्व-कर्तव्य नहीं रह जाता और प्रश्न निरे लौकिकों के हाथ आ रहता है। राजनीति उनसे निपटती और उन्हें सुलझाने का यत्न करती है। यदि धर्म-क्षेत्र की यह मान्यता है कि नैतिक चारित्र्य की आवश्यकता है और आजकल उस ओर दुर्लक्ष्य है, उनका ह्रास है, तो क्या लोक-प्रश्नों की ओर उन्हें अधिक तत्पर नहीं होना चाहिए?

संगोष्ठी में लोकसेवक जन भी थे। सर्वोदय क्षेत्र के कार्यकर्ता थे और गाँधी-संस्थाओं के रचना-व्रती लोग भी थे। सम्भव है, इनमें कुछ हों जो धर्म को अग्रगामी के बजाय प्रतिगामी शक्ति मानते हों। साधु संस्था ही उनको मूल से अमान्य हो और वे उसे परोपजीवी गिनते हों। पर उनका भी परिसंवाद में योगदान था और सारी चर्चा का मध्य-बिन्दु था कि राज शक्ति और राजनीति के साथ सीधी लोक शक्ति और लोक नीति द्वारा लोक जीवन की क्या सेवा की जा सकती है? उसमें फिर उन सन्त-साधु-मुनिगण का क्या योग हो सकता है जो अर्थार्जन से निवृत्त बन गये हैं और जो अनायास लोक-श्रद्धा के पात्र हैं?

समाज-व्यवस्था राज-संस्था के अधीन चला करती है। अब सत्ता में राजा नहीं है, बल्कि तन्त्र है। उस की एक विधि है और विधान है। सीधी तलवार की ताकत नहीं है जो शासन करती है, बल्कि प्रशासन के दायित्व और आसन पर लोकतान्त्रिक चुनाव से चुना गया वर्ग बैठा है, तन्त्र उसकी नीति और नियमों से चलता है। इस वर्ग को हठात ऐहिक और धर्मनिरपेक्ष रहना पड़ता है। किन्तु इधर उस राज्य-शासन का केवल अर्थ और पदार्थ, प्रशासन अथवा दण्ड का ही

दायित्व नहीं है, पर जैसे समूचे सार्वजनिक जीवन और लोक-मानव को स्वरूप देने और देते रहने का काम भी उसका होता जा रहा है। शिक्षा उसके हाथ में है और नैतिकता का क्षेत्र भी उसके उपयोजन का बनता जा रहा है। इस प्रकार धर्म और धार्मिक जन जैसे अनुपयोगी बनते जा रहे हैं और नागरिक जीवन के लिए वे संगत तक नहीं हैं, उनका वोट नहीं है और निर्वाचन-तन्त्र के तर्क से वे बाहर से पड़ जाते हैं। अत: लोक कर्म और लोक क्षेत्र से धार्मिक वर्ग विसंगत है और उसकी वहाँ कोई सार्थकता नहीं है।

लेकिन यह भी बड़ा सच है कि श्रद्धा सन्त जनों को प्राप्त है। लोक हृदय पर जितना उनका वश है, उतना दूसरे का नहीं। लौकिक लाभ के लिए लोग नेता को मानते हों, आत्म-लाभ के निमित्त गुरु और आचार्य के निकट वे जाते हैं। वस्तु लाभ और आत्म-लाभ की इन दोनों दिशाओं में से किसी एक के सहारे रहना सामान्य जन के लिए सम्भव नहीं है।

चुनाव से प्राप्त हुआ तन्त्र सत्ता रखता है और शासन चलाता है। वहाँ ले-दे मची रहती है। तोड़-फोड़ हुआ करती है और स्पर्धा-संघर्ष के तनावों से कभी वह क्षेत्र मुक्त नहीं हो पाता। उत्पातों का ताण्डव वहाँ फूटता ही रहता है। अगर इस परिस्थिति में धर्म पारलौकिक बना रहता है तो तनावों के शमन के लिए कोई उपचार फिर शेष नहीं रह जाता, रह जाता है केवल हार-जीतवाला युद्ध। तब नागरिक सैनिक साम्राज्य के तले आकर ही सुरक्षा पाता है और लोकतन्त्र सैन्य तन्त्र बन जाता है।

चर्चा में प्रकट हुआ कि अगर धर्मनीतिक मूल्य समाज के मर्म में प्रवेश नहीं करते हैं, या वहाँ से उठ जाते हैं, तो जनतन्त्र की सम्भावना भी मिटने लगती है और नंगी ताकत का आह्वान ही एक विकल्प रह जाता है। अत: राजनीति चाहे धर्म के प्रति उपेक्षाशील रहे, पर धर्म लोक समस्या और लोक जीवन के प्रति उपेक्षा नहीं बरत सकता। लोक शिक्षा और लोक जागरण के कार्य में उसे आगे आना होगा और इस प्रकार कि उनसे राजनीति को यथावश्यक संशोधन और मार्गदर्शन मिलता रहे। अन्यथा शक्ति की बरबादी में दल-प्रवाह और दलावेश बढ़ते गये तो परिणाम में नागरिक जीवन पर बीतेगी और वहाँ चेतना का दैन्य-दारिद्र्य छा जाएगा। आवश्यक है कि भारत का राष्ट्रीय जनतन्त्र जनसंख्या के बल पर ही न जिये, बल्कि उसको जन-श्रद्धा का सच्चा बल भी प्राप्त हो। यह बल हुआ, तभी जनतन्त्र भारत को उज्ज्वल बना सकेगा और वह धार्मिक जन के इस ओर प्रबुद्ध और प्रवृत्त हुए बिना न हो सकेगा।

[16.4.72]

पाप, अपराध, कानून और दण्ड

करीब पौने दो सौ डाकुओं ने पिछले दिनों में श्री जयप्रकाश नारायण के समक्ष आत्म समर्पण कर दिया। चम्बल घाटी के बीहड़ ऐतिहासिक काल से इस तरह की कार्रवाई के लिए प्रसिद्ध रहे हैं, लेकिन इधर यह उत्पातवश और सीमा से बाहर जाता दिख रहा था। कानून की ताकतें अपना भरसक प्रयास करने पर सफल होती नहीं लगती थीं। खर्च अन्धाधुन्ध हो रहा था पर परिणाम उलटा आता था।

हमने ग्वालियर में एक जानकार बन्धु से पूछा कि इस समस्या के काबू न आने का कारण क्या है? वह जिला-जज रह चुके हैं और अवकाश-प्राप्त थे। बोले कि देहात के लोग तय नहीं कर पाते हैं कि रक्षक कौन है और भक्षक कौन है? पुलिस रक्षक है, ऐसा उन्हें नहीं लगता, बल्कि आम लोगों को कहे जानेवाले ये डाकू रक्षक प्रतीत हो आते हैं। अपने को वे बागी कहते हैं और अचरज हो सकता है कि इन लोगों के लिए आतंक से अधिक कहीं-कहीं आदर भी है।

यह वक्तव्य परिस्थिति की गुरुता को साफ कर देता है।

फ्रांस के विक्टर ह्यूगो का प्रसिद्ध उपन्यास 'ला मिजरेबल' याद आता है। अभी हाल में जेल से निकले एक पक्के उचक्के से वह शुरू होता है। उसकी चोरी की लत का सामना होता है एक गहरे धर्मभावी बिशप से। उनकी उदारता और प्रेम को वह समझ नहीं पाता है। फिर मुठभेड़ हो जाती है एक बालक से जो उसकी कुटेव का शिकार होता है। नतीजे में गहरी पीड़ा से उसका मन मसोस उठता है और उसमें से एक नया ही आदमी निकल पड़ता है। यह आदमी परोपकारी है और निश्छल वात्सल्य से भरा है।

लेकिन कानून! कानून अपने तर्क की लीक से हट नहीं सकता है। सारा उपन्यास समाज की गाथा है और कानून का प्रतीक पुलिस-इंस्पेक्टर इस परिवर्तित मनुष्य के गुणों को देख नहीं सकता। वह तो अपराध को सूँघता है और अपराधी को ही जानता है और जान पड़ता है कि कभी विवशता में किये अपराध के चक्र से फिर आदमी का उद्धार नहीं है। कानून का जाल उसे वापस इंसान बनने नहीं देगा।

लेकिन तब से आशा करनी चाहिए कि दुनिया आगे बढ़ गयी है और भारत का जनतान्त्रिक शासन अधिक कल्पनाशील सिद्ध होगा।

कानून प्रतिबद्ध है। शान्ति और सुरक्षा का उस पर दायित्व है। लेकिन जनतान्त्रिक शासन का समूचा दायित्व मात्र उतना ही नहीं होता। स्थिति को सँभाले रखने के साथ समाज को गति भी उसे देते रहना है। लोकनेता जो निर्वाचन के द्वारा उस लोकसत्ता के सर्वोच्च अधिष्ठान पर जाकर बैठते हैं, वे कानून के अधीन ही नहीं, उसके संशोधक और सुधारक होते हैं। निर्वाचित धारासभाएँ इसी प्रक्रिया की माध्यम हैं और उनके ये पूरे वश की बात होनी चाहिए कि आज का अपराधी कल का सभ्य और सच्चा नागरिक बन सके।

एक शब्द है पाप। पाप की पहचान से कोई आदमी बच नहीं सकता है। अन्त:करण की सूई अचूक है और वह बताती रहती है। पर अपराध सापेक्ष चीज है। कानून से उसकी सृष्टि होती और परिभाषा बनती है। कानून जिसे फाँसी दे, उसकी लोग पूजा भी कर सकते हैं। इस तरह बागी, क्रान्तिकारी आदि अभिनन्दन के शब्द बन जाते हैं और कानून के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लग जाता है; अर्थात् अपराध का उपचार सदा दण्ड नहीं होता है, बल्कि उस प्रश्न को मानव मनोविज्ञान के तले से देखा, समझा और सुलझाया जा सकता है।

कुछेक वर्ष पहले भी समर्पण हुआ था, विनोबा के सामने डाकुओं ने अपने शस्त्र डाले थे, पर माना गया कि इसमें हृदय के परिवर्तन की मात्रा नहीं थी। चुनाँचे कानून अपनी दण्ड की राह चला। फिर भी सर्वोदय के भाई अपने काम से हटे नहीं और अनेक पहले के अपराधी जन अब सभ्य नागरिक बन आये हैं। इन्हीं तहसीलदारसिंह और लोकमन की अथक कोशिश से इन दो सौ के लगभग संख्या के दुर्दान्त डाकुओं का समर्पण सिद्ध हो पाया है। लाखों से ऊपर का इनाम बरसों से उनके सिर के लिए था, पर कानून उसे पा नहीं सका। अब सर्वोदय-बन्धुओं की मध्यवर्तिता से उन्होंने आत्मसमर्पण किया तो जनता तो उसे छोटी बात नहीं मानेगी। प्रशंसा के भाव से वह भर आये तो इसे बचाया नहीं जा सकता और वही हुआ, अर्थात प्रशासन अगर सूझ-बूझ से काम ले तो दण्ड के साथ उनके साहस, शौर्य, संगठन और कष्ट-सहन आदि गुणों का आगे भरपूर उपयोग हो सकता है।

सर्वोदय के बन्धु बात को इसी जगह छोड़नेवाले नहीं हैं। डाकू इतने ही नहीं थे। अभी तिगुने-चौगुने शेष हैं। पर हृदय परिवर्तन का क्रम शुरू होकर रुकना नहीं चाहिए। आगे रचनात्मक काम का बड़ा मैदान पड़ा है। हिंसा और शत्रुता के चक्र को कहीं जाकर समाप्त होना है। बदले-प्रतिबदले की शृंखला को टूटना है। रोजगार के साधन बनने हैं। बीहड़ों की जगह को उपजाऊ बनाना है। यह

सब छोटी चुनौती नहीं है। सरकार अपनी है और जमी है। जयप्रकाश नारायण की कार्यपद्धति स्निग्ध और सामंजस्यपूर्ण है। डाकुओं का आत्मसमर्पण दण्ड से बचने की इच्छा या शर्त पर नहीं था। इतना अवश्य है कि वे अब पारिवारिक और नागरिक दायित्व की पूर्ति का एक अवसर चाहते हैं। आगे-पीछे हर मौका उन्हें मिलना ही चाहिए और कानून को सम्भव हो, उतना कल्पना से भी काम लेना चाहिए।

[23.4.72]

दुनिया का नक्शा और भावी सम्भावना

वियतनाम में जंग जारी है, लेकिन...

उस लड़ाई को उत्तर और दक्षिण वियतनाम के लोग लड़ भले रहे हों, उसमें एक-दूसरे को मार रहे हों और मर रहे हों, पर लड़ाई वह ठीक-ठीक उनकी नहीं है, उसके सिरे कहीं और हैं। पेरिस में सन्धि वार्ता चलती थी, वह खिंचती गयी, खिंचती गयी और 23 मार्च को एकदम रुक गयी। अब वह फिर शुरू होनेवाली है और इसका निर्णय हुआ है मास्को में। यह निर्णय नेपथ्य में हुआ और कोई वियतनाम उस परामर्श में सीधा शामिल नहीं था। यह गूढ़ वार्ता हुई अमेरिका के अध्यक्ष श्री निक्सन के प्रतिनिधि महाशय किसिंगर में और रूस की उच्च कमान में। लड़ाई वियतनाम में है, लड़-मर वे रहे हैं, पर भाग्य उनका उनके हाथ नहीं है। न लड़ाई करने और न लड़ाई रोकने की क्षमता उनके पास है। वे मानो मोहरे हैं और बाजी की चालें कहीं और से चली जा रही हैं और वहीं उनके नक्शे बैठाए जा रहे हैं।

यह है आज हमारी दुनिया! हमें भली प्रकार इन भेदों को समझ लेना चाहिए : अर्थात् सब आजाद हैं और कोई आजाद नहीं है। दुनिया एक-दूसरे से ऐसी जुड़ आयी है कि उस अनुबद्धता से कोई अपने में अलग छिटका नहीं मान सकता है और इस तरह सच वही नहीं है जो यहाँ या वहाँ होता दीखता है, बल्कि सच उसके पीछे है और पार है। शक्तियाँ जो काम कर रही हैं, दिखने में नहीं आती हैं और हो सकता है कि मानव जो अपने गिरोह बनाता है, योजनाओं को बिठाता-सजाता है, वह अपने उस सब व्यापार में इतिहास की प्रगति का साधन ही नहीं बन रहा हो।

राजनीति राष्ट्र-नेताओं के माध्यम से चलती है, पर इतिहास प्रकृत नीतियों से चलता है और इसीलिए आवश्यकता है कि राज की नीति उस अन्तरंग नीति को भी ध्यान में ले, जो इतिहास में व्याप्त और सिद्ध रहती है।

हिन्द महासागर नाम ही बताता है कि वह हिन्द के क्षेत्र का है और जरूरी

है कि हिन्दू को उसकी चिन्ता हो। वह अमेरिका से दूर है और रूस से भी दूर है। हजारों-हजार कोस की वह दूरी होगी, पर दूरियाँ मिट गयी हैं और इन दोनों महाशक्तियों के समुद्री बेड़े उस भारत सहासागर में सैर-सपाटा कर रहे हैं। क्यों? क्योंकि महाशक्तियों का मतलब अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार है और प्रभाव का मतलब है एक का प्रबल और दूसरे का निर्बल होना। महाशक्तियाँ तो पूरे अर्थ में दो ही हैं। आधे और अधूरे अर्थ में कोई और भी हों, तो उन्हें अभी 'महा' कहने से बचा भी जा सकता है।

तो यह है स्थिति जगत-व्यवस्था की! देश हैं इसमें : (1) जो अत्यन्त विकसित हैं; (2) जो विकसितों की गिनती में हैं; (3) जो विकासशील हैं और (4) जो अविकसित हैं। ये श्रेणियाँ हैं राष्ट्रों की, जिनमें आपस में ले-दे चलती है और रगड़-झगड़ होती रहा करती है। अन्तरराष्ट्रीय राजनीति इसी तुमुल में से अपना निर्माण पाती और महाशक्तियाँ यहीं अपनी जोड़-तोड़ की नीति बिछाती और चलाती हैं।

पर मानव जाति नीचे से एक है और धीरे-धीरे परिवार के रूप में निकट सिमटती आती है। परिवार की पंचायत बनी है, जिसको कहते हैं संयुक्त राष्ट्र; यूनेस्को और अंकटाड आदि की उसी की बाँहें मानिए। वहाँ देखा जा रहा है कि निर्बल आपस में मिलकर स्वयं में बलशाली भी अनुभव कर आते हैं और जो केवल राष्ट्रीय बल से प्रबल बने राष्ट्र हैं, वे देखते-के-देखते रह जाते हैं। पर कॉन्फेरेंसों में ही यह होता है, उसके बाद के वास्तविक व्यवहार में वही आर्थिक और सामाजिक सम्पन्नता और श्रेष्ठता की कूटनीति चल निकलती है और जगत-व्यवस्था का सूत्र वहीं-के-वहीं उनके हाथ ही रह आता है।

भारत और पाकिस्तान इसी दुनिया के अंग हैं, पर अच्छी बात है कि दोनों ने सीधे बात करना तय किया है और बड़ी शक्तियों को किनारे रहने दिया है। निःसन्देह वे प्रभाव हैं और हिसाब में से उनको सहसा बरखास्त भी नहीं किया जा सकता, पर अगर मरी-जैसे पार्वत्य स्थल पर श्रीमती इन्दिरा गाँधी और जनाब सदर भुट्टो के विश्वस्त प्रतिनिधि अपने राष्ट्रों के बीच स्थायी शान्ति का संकल्प पक्का कर लेते हैं, तो आगामी इतिहास की दिशा में एक महत्त्व का कदम आगे उठ जाता है। स्वतन्त्र बाँग्लादेश के उदय के साथ यदि शान्तिकामी मित्र-देश के रूप में पाकिस्तान का भी अभ्युदय होता है, तो एशिया में यह उपमहाद्वीप एक नयी संयुक्त क्षमता के रूप में आविर्भूत हो आता है।

क्यों है कि कुछ-एक प्रभावशाली हैं, दूसरे बस प्रभावहीन हैं? इसीलिए न, कि आर्थिक और सामरिक सहायता की एक को गर्ज है और दूसरे के पास सामर्थ्य है। अगर निर्बल और हीन माने जानेवाले राष्ट्र आत्म निर्भर हो आते हैं,

साथ संयुक्त भाव से अपनी सुरक्षा-व्यवस्था बिठा लेते हैं, तो फिर यह बड़े-छोटे, प्रबल-निर्बल की विषमता दूर हो जाती है। तब सम्भव यह भी हो सकता है कि मशीन और मारक शस्त्रों के ही हाथ जीत न जाए, बल्कि मानव जाति और सांस्कृतिक मूल्य ऊपर आ जाएँ और इस प्रतिस्पर्द्धी सभ्यता की विभीषका से मुक्ति मिले।

[30.4.72]

शक्ति का स्रोत—विचार

उत्तर की कम्युनिस्ट सेनाएँ दक्षिण वियतनाम की राजधानी सैगोन की तरफ तेजी से बढ़ रही हैं। अमेरिकी प्रतिरोध टूट-सा गया है और दलित वियतनाम के सैनिक, नागरिक भाग निकले हैं। हजारों की संख्या में वे सैनिक गिरफ्तार हो चुके हैं।

यह हाल है अमेरिकी शक्ति का, जिसे महाशक्तियों में भी नम्बर एक माना जाता है।

भारत-पाक युद्ध में उसकी किरकिरी हुई ही थी। पाकिस्तान को भरपूर शस्त्र और सहयोग देते रहने पर भी अमेरिका कुछ न बना पाया। वियतनाम में उसको फिर नीचा देखना पड़ रहा है।

कारण गहरे में यह है कि रूस के पास देने को विचार है और अमेरिका के पास सिर्फ सामान है। शस्त्र दोनों देते हैं, पर रूस को शस्त्र के साथ दूसरा कुछ नहीं देना होता। अमेरिका उसके अतिरिक्त धन और जन भी देता है। यह धन-जन की कमी विचार के निर्यात द्वारा रूस इस प्रकार पूरी कर लेता है कि उसका पलड़ा भारी हो जाए। उन-उन देशों में से ही लोग उठ खड़े होते हैं और सामान्य साधन-सामान भी वे अपने बीच में से जुटा लेते हैं। इस तरह की कोई चीज अमेरिका के पास नहीं है। जिसके बल पर अमेरिका विदेशों को अपने पक्ष में उभार पाता है, वह अन्त:प्रेरणा नहीं होती है। बाहर का लोभ-लालच होता है। इस तरह बहाया हुआ धन और किया गया उपकार ही उसके विपक्ष में पड़ जाता है। परिणाम होता है कि उसके द्वारा दिये हुए साधन उसके ही विरोध में काम आने लगते हैं। करना कुछ विशेष नहीं पड़ता। उपकृत देश में उग गया संशय ही सब काम खुद-ब-खुद करने लगता है और उपकारी के प्रति उपकृत में जो अनिवार्य आत्मलघुता का भाव उत्पन्न होता है, वह ऐसे संशय के लिए सहज उर्वर भूमि सिद्ध होता है।

इस विडम्बना से इस समय की दुनिया की महासत्ता अमेरिका को लगातार सामना करना पड़ रहा है। उसके पास देने को जो कोई स्वप्न नहीं है, आदर्श

नहीं है, सो सबके आगे स्पष्ट रहता है कि केवल उसका निजी स्वार्थ है। बस, इतने से शक्ति की बुनियाद ढह जाती है और नैतिक आधार उसका समाप्त हो जाता है।

शस्त्र की शक्ति से किसे इनकार हो सकता है! धन साधन-सामान का प्रतीक है, और उसकी क्षमता से भी किसी को इनकार नहीं हो सकता। पर मानवीय क्षेत्र में ये शस्त्र और धन केवल तब काम करते हैं जब नीति और विचार की भी भीतर से प्रेरणा हो।

अमेरिका के पास डेमोक्रेसी की रक्षा का एकमात्र घोष हो सकता है। पर जिसकी रक्षा शस्त्र-सैन्य से हो, वह कैसी लोकशाही है? बल्कि लोकतन्त्रता की कसौटी पर दुनिया के लोगों को लगता इससे उलटा है। भारत-पाक युद्ध के समय लोकतान्त्रिक था तो भारत था। तब लोगों ने देखा कि लोकतन्त्र की रक्षा का दावा उसका खोखले से आगे झूठा तक है। वियतनाम के बारे में भी विएतकांग या नेशनल लिबरेशनफोर्स के मुकाबले दक्षिण की कठपुतली सरकार को कौन लोकतान्त्रिक मानेगा? अर्थात, ले-देकर जिस घोष को अमेरिका उठा सकता है, उससे किसी प्रकार का सम्भ्रम अब उत्पन्न नहीं होता—उसमें से प्रच्छन्न स्वार्थ साफ झलक आता है।

बच रहती है उसके पास एक चीज, और वह है साम्यवाद का विरोध! किन्तु साम्यवाद को हौआ बनाकर अब कब तक पेश किया जा सकता है? वह वाद अब काफी इस अर्थ में मनों में फैल और उतर गया है कि पूँजी में शोषण है और श्रम शोषित है। इस ज्ञान और पहचान के बाद कम्युनिज्म का खड़ा किया गया भय कट जाता है और अमेरिकी प्रचार बेबुनियाद प्रकट हो आता है यानी तब वह अपने ही प्रयोजन को पराजित कर निकलता है।

न समझ लिया जाए कि राष्ट्रीय स्वार्थ बस एक तरफ है, दूसरी तरफ है ही नहीं। प्रभाव और उसके प्रसार की दोनों ओर आवश्यकता है और ये दोनों महासत्ताएँ भरपूर अपने-अपने प्रयत्न में हैं। शस्त्र और रक्त-युद्ध की धमकी के बल पर जिसका टिकाव होगा, वह संगठित सत्ता मूल में निःस्वार्थ नहीं हो सकेगी। इस स्थापना में कहीं संशय नहीं है और अन्त में वह बल, जिससे मानवता का त्राण सिद्ध होगा, बलिदानी अर्थात अहिंसक बल ही हो सकता है। महात्मा गाँधी ने और उनके नेतृत्व में भारत देश ने उसकी सम्भावना की झाँकी विश्व को दी थी। अभी कोई पौने सौ दुर्दान्त डाकुओं के समर्पण से उसका आभास फिर प्रकट हो सका है। पर प्रस्तुत सन्दर्भ में उस बल की बात को छोड़ रखा जा सकता है। किन्तु जो संगत है और जिस पर रुकने और ठिठकने की आवश्यकता है, वह यह कि देखा जाए कि शक्ति का स्रोत क्या है? शस्त्र-साधन अव्वल होने

पर भी रूस के समक्ष अगर फिलहाल बार-बार अमेरिका को दोयम साबित होना पड़ रहा है, तो क्यों? तनिक सोचने पर साफ हो आता है कि ताकत बाहरी बाद में है, अन्दरूनी पहले है। आदमी की अन्तर से अन्तरतम प्रेरणाओं को जो जगा सकेगा, अन्तिम और असल बल भी वही साबित होगा।

रूस के पास लेनिन की किताब है और चीन के पास माओ की। दोनों के पास फिर कार्ल मार्क्स का दर्शन है। किताबें हैं ये, बम नहीं हैं। और मालूम होता है कि बम पीछे से ही काम दे सकते हैं। आगे-आगे विचार की किताब को भेजना पड़ता है।

प्रश्न भारत का है। वह आधुनिक बन रहा है और निर्यात उसका बढ़ रहा है। खबर है कि बड़े परिमाण में वह शस्त्र भी बाहर भेजने लगा है, पर उसके पास क्या अपना कुछ विचार है? था कभी, पर अब है?

[7.5.72]

क्षमता और सामाजिकता किस उपाय से प्रशासन से या अनुशासन से?

'गरीबी जाएगी, सोशलिज्म आएगा'—यह हमारी प्रतिज्ञा है। इस प्रण के आधार पर जनमत ने हमें इस कानून बनाने की जगह पर चुनकर भेजा है। प्रण से अपने हम डिग नहीं सकते। अगर इन पाँच वर्षों में हमने वचन पूरा न किया तो जनमत हमें गिरा देगा और गिर हम कैसे सकते हैं! भारत की जनता ने आदेश दिया है, और इस बहुमत के बल पर सदन में हमें हर-कुछ करने का अवसर सौंपा है। इसलिए राज गये, जमींदारियाँ गयीं, इजारेदारियाँ जा रही हैं। जहाँ-जहाँ जमीन-जायदाद, धन-सम्पदा जमा हो गयी है, वहीं कानून पहुँचेगा और बराबरी लाएगा। जात-पाँत का भेद तो साम्प्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता की नीति से दूर हो ही चला था, अब सम्पन्न-दीन, राजा-रंक, बड़े-छोटे के बीच की विषमता भी दूर जानेवाली है। मेहनत सब करेंगे और कोई आलस्य, ऐश और आराम में खोया न रहेगा।

और इस प्रण-पूर्ति के निमित्त कानून आ रहा है। वह सीमा देहात में जमीन पर होगी, शहर में जायदाद पर लगेगी। जायदाद की बात में विशेष आँक-बाँक नहीं है। पर जमीन का मामला कुछ पेचीदा बन गया है। इन दोनों ही क्षेत्रों की खबर है कि आनेवाले कानून को किनारा देने की कोशिश बड़े पैमाने पर चल निकली है। पर इधर कानून बनानेवाले भी चौकन्ने हैं। दोनों में अजब आँख-मिचौली का खेल चल रहा है। कानूनवाला पकड़ेगा, दबानेवाला उसे दबोचने से बाज न आएगा।

श्री जी.डी. खोसला बड़े जज रहे हैं। यों विनोदपूर्ण रहा हो, पर अपने एक लेख में उन्होंने बताया कि सम्मिलित आय से कर को बचाने के लिए पति-पत्नी के बीच में तलाक को ला बिठाया जाए तो काम बनने की सूरत बन जाती है। पत्नी ने कहा, 'तलाक'! पति ने कहा, 'अरे, रहेंगे साथ ही साथ।' साथ

कैसे रहेंगे? विवाह नहीं रहेगा तो क्या पाप में रहेंगे? अर्थात कानून की चोट एक तरफ, पाप दूसरी तरफ, विकल्प तीसरा नहीं है।

यह है हालत उसकी बतायी हुई, जो कानून को जानता है; उसकी फ़र्द को ही नहीं जानता, महत्त्व को ही जानता है। जो राजनेता नहीं है, केवल दायित्वशाली नागरिक है।

राजनेता का कहना है कि हम किसकी सोचें? कुछ की कि बहुतों की सोचें? और आखिर समाज रुग्ण है तो रोग को दूर करने में ऑपरेशन से क्या हम घबरा रहें, ठिठक बैठें? कुछ लोग अगर हों तो भोगाधिकार-प्राप्त हैं, तो क्या उनके नीचे पिसते और सिसकते हुए लोगों की आह को सुनना नहीं है? और वक्त तेजी से बीत रहा है। जो करना है, उसमें ढील नहीं हो सकती, देर नहीं हो सकती है। देखिए बाहर दुनिया की तरफ, पहले जो सैकड़ों बरसों में नहीं हो पाता था, सेकेण्डों में हो जाता है। और हिन्दुस्तान की वही सूरत नहीं बनी रहने देनी है जो कि थी, एशिया का बड़ा मुल्क उसे बनना है। अपने ही निश्चित भाग्य से कुछेक की खातिर, उस महान भारत को मुँह मोड़ लेने देना नहीं है।

हम अभिनन्दन करना चाहते हैं उस नयी काँग्रेस का, उसके नेतृत्व का, जो संकल्पपूर्वक बढ़ रहा है और जिसने देश को एक स्थिरता-एकत्रता दी है।

पर कानून की कारगुजारी की सीमा है। लोकतन्त्र में ये मर्यादाएँ और भारी हो जाती हैं। लोकतन्त्र का आशय है कि प्रशासन में रहे। प्रशासन का प्रतिशत अनुशासन के ऊपर आ जाता है तो तन्त्र लोक का नहीं, गुट का हो जाता है। उसी मात्रा में असल ताकत भी उसकी कम हो जाती है। फिर नैतिक और नागरिक ताकत की कमी की भरपाई सैनिक और प्रशासनिक कार्रवाई से की जाती है। यहाँ आईन-कानून का और जन-नागरिक का अनुकूलता का सम्बन्ध उलटकर प्रतिकूलता का बन जाता है। वहाँ के लिए तन्त्र और यन्त्र वह अधिक उपयोगी होता है जो आत्यन्तिक भाव से केन्द्रित और ऐकिक हो, यानी तानाशाही हो। खबरें जो आ रही हैं, उनसे जान पड़ता है कि जनजीवन मर्यादा-शून्य हुआ जा रहा है। कानून का सिर्फ डर रहा है। आदर खिसक गया है। कानून की गिरफ्त से बच रहने में जैसे आदमी की योग्यता की परख हो चली है।

यह स्थिति भयानक है। दल-संगठन, पुलिस संगठन, सैन्य संगठन के नाम इस हालत को दर-गुजर किया जाता है तो आगे के लिए इसमें और भी खतरा है।

राज्य के प्रशासन की सख्ती से प्रजा में अनुशासन नहीं आ जाएगा; लाने की कोशिश से प्रशासन के लवाजमे को बढ़ते रहना होगा और अन्त में देखा जाएगा कि समता और सामाजिकता लाने के सब यत्न समाज में एक नया और गहरा

भेद पैदा कर आते हैं और वह भेद होगा सामान्य और राजन्य जन का भेद।

साम्य और समाज के वादों पर जहाँ बल रहा है, वहाँ अधिकांश यही घटित हुआ है। एक नयी अधिकृत और सुरक्षित नौकरशाही वहाँ बड़ी हो आयी है जिसकी प्राचीर दुर्भेद्य होती है।

अगर फिर भी सुधार और उपचार के बारे में बेसब्र तत्पर होना हम अपने लिए आवश्यक पाते हैं तो उपाय यह है कि प्रत्येक प्रशासन अनुशासन का स्वयं उदाहरण बने और अपने जीवन से बताए कि सम्पदा तुच्छ है, चरित्र का मूल्य ही विश्वसनीय है।

[14.5.72]

कोई कलि-काल नहीं, केवल संक्रमण-काल

'अरे देखो, कैसा घोर कलि-काल आ गया! स्कूल के लड़के-लड़कियाँ गाँजा-चरस पी निकले हैं! कॉलिज की तो बात ही छोड़ो। 45 प्रतिशत 18 वर्ष से कम-उम्र कन्याएँ विवाह से पहले ही अनुभवी हो जाती हैं। और सुना है कि एक लड़की ने अपने पिता को कहा बताते हैं कि आपने हशीश ली ही नहीं तो आप पूछते हैं? दिमाग उससे खुलता है और तुच्छताओं से वह ऊपर उठ जाता है। आपको मालूम नहीं है कि दुनिया पुरानी चीजों से कितनी आगे बढ़ गयी है...और विवाह तो कोई चीज ही नहीं रह गयी है। सुभीते की बात है, नहीं तो प्यार काफी है और प्यार आजाद होता है। अब तो विज्ञान मदद को है और निरोध सुलभ है, तो फिर घर-गृहस्थी का झमेला क्या? जिन्दगी कुछ करने-धरने के लिए है कि चौका-बासन के जुए में जुटे रहने के लिए? इससे और अधम और पातकी जमाना क्या होगा?'

यह एक सम्भ्रान्त दायित्वशील बन्धु के उद्‌गार हैं। वे जमाने की रफ्तार पर हैरान और परेशान हैं और याद करते हैं कि गुजरा जमाना कितने सुख और शान्ति का था।

हो सकता है। और जो अच्छा है वह या तो सदा अतीत में रहता है या अनागत में—वर्तमान से तो असन्तोष ही होता है। यही वाजिब है। कारण, असन्तोष में से ही गति-उन्नति हुआ करती है।

पर वक्त हमेशा आगे बढ़ता है, पीछे की तरफ फिर सकता ही नहीं। कौन अपनी पीठ की तरफ चल पाया है। हमेशा चला सामने को जाता है और यह मान लेना चाहिए कि जमाने की घड़ी की सुइयाँ पीछे लौट नहीं सकती हैं, वे आगे ही बढ़ने के लिए हैं।

तो क्या चरस-गाँजा-हशीश की लत अच्छी चीज है? शराब से सैकड़ों मर गये हैं, यह ठीक है। चौदह वर्ष का नारायण अफीम से जान गँवा बैठा। तो यह क्या जीवन के साथ न्याय हुआ? क्या जो भी नया होता है इसीलिए उचित

और श्रेष्ठ हो जाता है?

नहीं, ऐसा नहीं है। आदमी अपने को अपने अधिकार से जब भी खो बैठता है तो उसे उठता नहीं कहा जा सकता, वह गिरता ही है। उन्नत पुरुष का लक्षण है कि वह अपना विभु हो और इस तरह किसी व्यसन और आदत के वश न होकर अन्यान्य के प्रति सेवाशील हो सके। इसलिए ऊपर दिखनेवाले जमाने के ये लक्षण निश्चय ही यह प्रमाणित नहीं करते कि ये तत्त्व विकास के द्योतक हैं। फिर भी इसके नीचे और पीछे जो भेद है, उसको समझने की आवश्यकता है। निन्दा और भर्त्सना से काम चलनेवाला नहीं है।

बात यह है कि हम एक गहरे संक्रमण-काल में से गुजर रहे हैं। जिन्दगी का आधार बदल रहा है। जो था, वह अपर्याप्त सिद्ध हो रहा है। बुद्धि अत्यन्त प्रखर हो आयी और विज्ञान ने परिस्थितियों में बड़ा परिवर्तन ला दिया है। पुराने साँचों में ढलकर अब जिन्दगी चल नहीं सकती। नये साँचे चाहिए और नया मानस चाहिए, जो ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न और परिष्कृत मनुष्यता को निबाह सके। पहले युद्ध होता था और हार-जीत के बाद शान्ति हो जाती थी। अब वह सब खेल नहीं हो सकता है। अब आसानी से युद्ध नहीं हो सकता। हो तो हार-जीत नहीं हो सकती। जो हो भी जाए तो शान्ति नहीं हो सकती। दुनिया आपस में इतनी सघन होकर जुड़ आयी है कि पहले की अलहदगी में जो चल और पल सकता था, वह आज सम्भव नहीं है। राष्ट्रीय प्रभुसत्ता अखण्ड नहीं रह गयी है और विदेश नीति और कूटनीति की कला सबसे ऊँची साधना बन गयी है। अपने में सीमित बनकर नहीं रहते हैं। आप क्या हैं इससे अधिक महत्त्व का यह है कि औरों के मन में आपका चित्र क्या है? अर्थात् स्वयं आपसे अधिक आपके लिए अब दूसरा महत्त्व का हुआ जा रहा है। कारण, दुनिया सिकुड़ रही है, दृष्टि फैल रही है। आदमी चाँद पर हो आया है और मंगल आदि कुछ ग्रहों की भी खबर ले चुका है। वह विस्तार पा रहा है और संकीर्णताएँ उसके साथ लगी-बँधी चल नहीं सकतीं।

जो इधर-उधर कुछ विपर्यय दीखता है सो इस कारण नहीं कि कोई घोरता और पामरता मानव मन पर सवार हो गयी है, बल्कि केवल यह कि नया विस्तार पहली जकड़ को उससे हटा रहा है तो सहसा नया दायित्व-बोध उसमें समा नहीं रहा है।

हम आदी थे, अपने को और अपने परिवार को मानने-समझने में। आगे बिरादरी को और जाति को भी अपना मान पाते थे। यहाँ तक भी बढ़ सकते थे कि राज्यीय दल पर राष्ट्र को अपना मान लें। इस सब मान्यता के नीचे हमारे स्वत्व-भाव का साँचा कौटुम्बिक और पारिवारिक ही रहता रहा। वह सही अर्थ

में सामाजिक और नहीं हो पाता था। सोशलिज्म की आवाज उसी आवश्यकता में से उठी। कुटुम्ब-परिवार का सन्दर्भ भी अमुक व्यस्त और स्थापित स्वार्थ को औचित्य नहीं दे सकता था। यह प्रतीति धीरे-धीरे हमारी मानसिकता में रच-पच जाती है। इसी संक्रमण की प्रक्रिया में यह कुछ व्यतिरेक दीखते हैं तो एकाएक घबराने की आवश्यकता नहीं है। पारिवारिक सभ्यता से हम ऊपर आ रहे हैं, यह औद्योगिक सभ्यता ने बहुत मात्रा तक घटित कर दिखाया। लेकिन उसने राष्ट्रीय व्यक्तित्व को सन्नद्ध और सशक्त करने की विवशता में डाल दिया। अनिवार्यता होते हुए मानव-विकास के साथ इस विवशता का कोई मेल नहीं। इस तरह परिवर्तन के साथ राष्ट्रीय व्यवस्था-मर्यादा भी डगमगा आयी है। स्पष्ट है कि अब ज्ञान-विज्ञान की प्रस्तुत उन्नति के साथ नव मानव को और नये मूल्य को उदय में आना होगा। हमारी वृत्तियों और आकांक्षाओं को तदनुकूल बदलना होगा।

झगड़ा तमाम है स्वत्व और सम्पत्ति का—निजी सम्पत्ति और राष्ट्रीय सम्पत्ति—निजी सत्ता की सीमा और राष्ट्र सत्ता की सीमा। इन विवादों का अन्त कहाँ है? मालूम होता है, अन्त है तो शक्ति के हाथ में। इस तरह किसी भैंस का सवाल अगर रहेगा, और वह रहने ही वाला है तो जय और प्रतिष्ठा लाठी के हाथ रहेगी।

पर वह लाठी-प्रयोग अब अणु-प्रयोग तक आ पहुँचा है, अर्थात् शक्ति-प्रयोग सीमान्त तक आ पहुँचा है। जान पड़ता है कि लाठी के प्रकार से किसी दूसरी शक्ति का उदय होगा। तभी चलेगा, अन्यथा नहीं चलेगा।

अर्थात् सम्पत्तिवाद और समाजवाद जिसको राष्ट्र-राज्यवाद भी कह सकते हैं। आगे जाकर क्या हम अपरिग्रहवाद का प्रयोग कर सकते हैं? यानी कुछ किसी का नहीं है और मात्र उपयोग का है। सब ईश्वर का है और त्याग कहीं भोगा जा सकता है? 'ईशावास्यमिदं सर्वम्...तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।'

साध्य के अभाव में क्या केवल साधन-शुद्धि?

राजनीति में जोड़ है राज का और नीति का, पर यह जोड़ भी पूरा सच्चा नहीं बैठता। कभी राज भारी हो आता है, तो सम्भव है कि कभी नीति का आदर्श अनुपात से वजनी हो आता हो। इस तरह राजनीति चंचला रहती है और उसमें स्थिरता नहीं आ पाती।

कुछ जन मान लेते हैं कि राजनीति राज को बनाने और चलाने की नीति है। किसी नैतिकता के सिद्धान्त से उसका वास्ता हो नहीं सकता। मूल में सिद्धान्त भले हो जाए, उससे गहरे राजनीति के मन में सिद्धान्त की जगह बनी तो फिर वह गया। इस तरह नीति का अर्थ यहाँ अवसर-साधन से अधिक नहीं हो सकता और सफलता ही वहाँ की सच्ची कसौटी है। काम आपका सध गया और सत्ता बन गयी, तो आप सच्चे और आपका सबकुछ सच्चा; पर अगर दाँव उलटा पड़ा और जीत आते-आते अन्त में आपको छल गयी, तो फिर सब निरा झूठ-ही-झूठ था, और आप टूट गिरने के लिए ही बने थे।

पर दूसरे हैं जो राजनीति को मँझधार से नहीं, किनारे से देखते हैं। वे समीक्षक और द्रष्टा होते हैं। वे समझाया करते हैं कि राजनीति सही वह है जो नीति के राज की कोशिश में रहती है। वह राज, जो नैतिक मूल्य से बिछुड़ा रहता है, निभ नहीं पाता और अपने ही अन्तर्गत विरोधों के कारण स्खलित हो जाता है।

इन दोनों तरह के लोगों में आपस में नासमझी की खाई रहा करती है। राजनीति के कर्मी कुछ या किसी की परवाह न करते हुए, फिर भी सब कुछ साधते या सँभालते हुए सत्ता के राज-पद पर जा पहुँचते हैं और दण्ड-शक्ति को शस्त्र-शक्ति से सर्वोपरि मानते हैं। तब राजनीति का ज्ञानी किनारे रहता है और न्याय नीति की तुला लेकर फैसला दिया करता है। अफलातून लिख गये आदर्श तन्त्र के बारे में और बता गये कि सच्चा राजा तो सन्त-दार्शनिक होगा। पर सिकन्दर अपनी तलवार के बल पर चला और विजेता सम्राट हो निकला। कहते हैं, भारत में कोई सन्त मिले और उन्होंने सिकन्दर से कृपा माँगी तो यह कि कृपया एक

तरफ हो जाइए, मेरे लिए धूप छोड़ दीजिए!

जिसे जीतना है, वह परवाह नहीं करता; जो हारता है, उसके लिए सिद्धान्त की शरण रह जाती है। कहावत है कि प्यार में और युद्ध में सिद्धान्त असंगत है। फिर भी हार तो दोनों जगह हो सकती है; और फिर वहाँ के लिए जो संगत रह जाता है, वह सिद्धान्त के सिवा दूसरा कुछ क्या रह सकता है?

इसलिए बंगाल में और दूसरी जगह अगर विरोध-पक्षों की ओर से चुनाव की जाँच की माँग आयी, तो सबको यह स्वाभाविक लगा। सत्तावाली जीत काँग्रेस के हाथ आयी, तो शेष के हाथ समीक्षा बच रही। मार्क्सवादी कम्यूनिस्टों के पास भी कभी बंगाल की सत्ता रही थी, तब सब ठीक-ही-ठीक था; गलती अभी होनी चाहिए, जब सत्ता हाथ से छिन गयी है।

सक्रिय राजनीति का तौर-तरीका एक है। उसका साँचा दलों के साथ अदल-बदल नहीं जाता। यह निश्चय रखा जा सकता है कि शुद्ध नीति के द्वारा ही राज नहीं बन जाया करते। उनके निर्माण में कूटनीति लगा करती है। कूटता के साथ इस नीति में यथावश्यक व्यव्यहीनता का मेल भी आवश्यक होता है; कठोरता बिना चलता नहीं है और नीति या अनीति की बारीकियाँ उस काम में बाधक ही हो सकती हैं।

यह प्रकट तथ्य है, किन्तु इस अंग पर श्री जयप्रकाश नारायण ने बल दिया और आशा की है कि सत्तानिष्ठ काँग्रेस इस गैर-सरकारी जाँच में सहयोग करेगी। बंगाल के काँग्रेसी मुख्यमन्त्री ने कहा कि आकर खुद एक नये होनेवाले चुनाव को देख ही क्यों नहीं लेते हैं, कसौटी अपने-आप हो जाएगी। दुर्बुद्धियों का काम अगर विरोध है तो क्या आपका भी वही काम मान लिया जाए? इत्यादि।

सर्वोदय नेता अपने लिए सत्ता नहीं चाहते। हृदय-परिवर्तन वाली उनकी नीति का हाल में डाकू-काण्ड के सम्बन्ध में जीत हुई सुनी जाती है, तो क्या जाँच से वैसा कुछ नतीजा निकलने की उन्हें आशा है? नहीं, तो क्या चुनौती चुनाव में हुए बताए गये अनाचार की ही है? क्या वह उससे अधिक व्यापक नहीं है और क्या पत्तों को छोड़कर वृक्ष का रूपान्तर किया जा सकता है?

नहीं! चुनौती उससे कहीं बड़ी है। वह सभ्यता की है, संस्कृति की है, समूची जीवन-नीति की है। सक्रिय शक्ति की राजनीति की ओर से उसका सामना लेना हो, तो स्वयं सक्रिय बनने का मार्ग खुला है। यद्यपि संशय है इसमें कि इस प्रकार की शक्ति और संख्या की होड़ में से कोई बुनियादी परिवर्तन आ सकता है, और अगर बुनियाद में जाना है, तो प्रश्न प्राथमिक और नैतिक समक्ष खड़े हैं। उन्हीं का उद्घोष लेकर श्रीमती इन्दिरा गाँधी की पार्टी, नीति-अनीति के ऊपर से ही चाहे हो, धड़धड़ाती हुई बढ़ रही है। उन प्रश्नों का दूसरा वैकल्पिक हल

हो तो वह करके बताइए। सर्वोदय, भूदान, ग्राम दान वैसा कुछ बता सका होता, तो राजनीति की भ्रष्टता उतनी घोर हो ही क्यों पाती? उस साध्य की सफलता के अभाव में क्या केवल साधन-शुद्धि की बात लँगड़ी-सी ही नहीं हो जाती?

[28.5.72]

भारत-पाक शिखर वार्ता—हार्दिक या व्यर्थ

खबर है कि 28 जून को पाक अध्यक्ष श्री भुट्टो आखिर दिल्ली आ ही रहे हैं। आशा रखनी चाहिए कि बीच में कुछ और न हो जाएगा और शिखर वार्ता सम्पन्न होगी। उसमें क्या कुछ कारगर भी हो पाएगा?

कहते हैं, नरक की धरती नेक इरादों से जड़ी है। कहावत यह विदेशी ही है, पर भाव देशातीत भी हो सकता है, 'द हैल इज पेब्ड विद गुड इन्टेंशंस।' क्यों होता है कि नेक इरादों का फल नेक नहीं होता?

भुट्टो साहब के इरादे अवश्य नेक ही होने चाहिए; पर इधर जो कुछ सूचनाएँ मिल रही हैं, उससे लगता है कि क्या सचमुच इन्दिराजी के साथ की बातचीत से वे कुछ काम का परिणाम निकलते देखना चाहते हैं? पाक के युद्धबन्दी बड़ी संख्या में यहाँ हैं। श्री भुट्टो पर बेहद दबाव है कि उनको वापस लाया जाए। इसमें अधिक काल तक यदि वे विफल रहते हैं तो उनकी गद्दी खतरे में पड़ जाती है। लेकिन भारत से इतना पा लेने की प्रत्येक युक्ति वे कर गुजरना चाहते हैं तो भारत के पक्ष की बात कुछ भी होने देना नहीं चाहते। वे मुस्लिम देशों में घूम रहे हैं और जो सूचनाएँ उपलब्ध हैं, उनसे यह नहीं लगता कि वे हिन्द-पाक के बीच किसी सद्भाव का आरम्भ चाहते हैं। उलटे लगता यह है कि वह भारत-बाँग्लादेश के बीच फटाव पैदा करने की कोशिश में हैं और मुस्लिम जगत को इस्लाम के नाम पर भारत के विरुद्ध डालना चाहते हैं।

शुभ अभिप्राय रखते हुए भी नरक की रचना कैसे हो जाती होगी, इसका उदाहरण श्री भुट्टो के करतब से देखा जा सकता है। भावनाएँ अच्छी जताते हैं, पर करतूत अगर प्रतिकूल देखी जाए, तो उसमें से किस विधायकता की रचना हो सकती है? इसके विपरीत होना यह सम्भव है कि अविश्वास और गहरा हो और अनबन के पटने की सम्भावना और दूर होती चली जाए।

विश्व-परिस्थिति बेहद नाजुक दौर में आ चुकी है। सन्तुलन लगभग एक ओर ढुलक ही रहनेवाला था, अब निक्सन-ब्रेजनेव के समझौतों से दुनिया को

थोड़ी राहत की साँस मिली। तनाव के सभी प्रश्न सुलझे हों, ऐसा तो नहीं, पर आमना-सामना कम हुआ है और सह-अस्तित्व की स्थितियों को सहारा और बढ़ावा मिला है। ऐसी हालतों में अगर पाकिस्तान-भारत का तनाव सुलझता नहीं है, बल्कि जारी रहता जाता है, या कि और गम्भीर होता है, तो यह संकट की परिस्थिति किसी को सह्य न होगी। अमेरिका अपने हाथ जला लेने के बाद फिर उसमें पड़नेवाला नहीं है। इसलिए पाकिस्तान को यह चिन्तनीय ही होगा, अगर पाकिस्तान की तरफ से श्री भुट्टो का रुख साफ नहीं होता, केवल चतुराई का बना रहता है।

अन्दर कुछ हो और सुलह की बात सिर्फ ऊपरी हो, तो इस आधार पर कोई स्थायी शान्ति नहीं हो सकती। भुट्टो साहब को अवसर है कि वे अपने मन को स्थिर कर लें और जान लें कि पाकिस्तान का स्थायी हित किस ओर है। इस्लाम का नारा फट चुका है। बाँग्लादेश के उदय के बाद अब उस दुहाई में विशेष दम नहीं रह गया है। उस नाम पर पाकिस्तान मजबूत बनेगा, यह थोथी कल्पना है। अन्य इस्लामी देश अपनी-अपनी चिन्ता में हैं। उनके साथ अपने अस्तित्व की सुरक्षा का प्रश्न है। वे विश्व की राजनीति में कहाँ कैसे अपना स्थान बनाए रखें, यह चिन्ता उनकी प्रथम चिन्ता है। रूस-अमेरिका अगर पास-पास आ जाते हैं, तो राजनीति का नक्शा बदल जाता है। दोनों का संग-साथ स्थिर होने पर चीन मुकाबले में खड़ा होने की नहीं सोच सकता। तब भारत-विमुख और विरुद्ध पाकिस्तान किस गिनती के लिए रह जाएगा?

एक और पैंतरे की बात भी सुनी जाती है। शेख मुजीब साहब ने कहा कि बाँग्लादेश को मान्यता मिले, तभी उनकी भुट्टो से चर्चा हो सकती है, उससे पहले उसका आधार ही नहीं है। श्री भुट्टो सोचते बताए जाते हैं कि अगर मुजीब चर्चा में उपस्थित न हों तो दिल्ली-वार्ता को चलाने से ही वे इनकार कर देंगे। अमेरिकी पत्रों में इसका खुला-सा संकेत है। बातचीत में शेख मुजीब का शामिल होना जरूरी है, यह आग्रह इन्दिराजी का ही था। युद्धबन्दियों की वापसी का प्रश्न अकेले भारत की नहीं, उसका निर्णय शेख साहब के मशविरे के साथ ही किया जा सकता है। फिर श्री भुट्टो के इस पैंतरे का मतलब क्या यही रह जाता है कि वक्त को टालना और जैसे-तैसे बाहरी जनमत को भारत के विरुद्ध उभाड़ते रहना है?

अगर उनके अन्तर्मन का रुख यही है, तो वे भारत से क्या पाने की प्रत्याशा रख सकते हैं? भारत की प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिराजी के बारे में एक भेंट-वार्ता में जो उनका कहा छपा है, वह काफी हलका और अशोभन है। भेंट से पहले इस तरह के शब्दों का हवा में उछाला जाना राजनयिक सफलता में सहायक नहीं हो सकता। हिन्दू-पाक युद्ध से पहले उसके दौरान ही पाकिस्तानी अधिकारियों

द्वारा कुरुचिपूर्ण शब्दों का प्रयोग हुआ था। उससे लोक-मानस में पाकिस्तान की प्रतिष्ठा बढ़ी नहीं, बल्कि निश्चय ही वह धूमिल हुई थी। कौन कह सकता है कि युद्ध में उनकी पराजय में इस विश्व मानस का भी योग नहीं रहा होगा! आशा थी कि बाँग्लादेश के हाथ से निकल जाने और युद्ध में हार खाने के बाद पाकिस्तान के रहनुमा और हुक्मरान का दर्प टूटेगा और उन्हें सीधी राह सूझेगी, पर बेतहाशा हथियार जमा किये जा रहे हैं और चतुराई की-सी चालें चली जा रही हैं। यह उत्तम राजनीति नहीं है। दिल की सफाई से जो हासिल हो सकता है, वह सिर्फ ऊपरी जोड़-जुगत से किसी हालत में सिद्ध नहीं हो सकता।

पहली आवश्यकता है यह कि महाप्रायद्वीप शान्ति पाए और आत्म-निर्भर बने। दोनों देशों की स्थिति कोई बड़ी बलशाली नहीं है, बल्कि पाकिस्तान की हालत काफी कच्ची और कमजोर है।

क्या आशा की जाए कि दुनिया की हालत की सही पहचान का भाव जून के अन्त की ओर होनेवाली शिखर-वार्ता में रह सकेगा और परिणाम उसका विधायक हो पाएगा?

[4.6.72]

दूषित वातावरण का संकट—भौतिक से अधिक नैतिक

राज्य-शासन के अधीन समाज चलता है और उसका सन्तुलन बना रहता है, अन्यथा शक्तियाँ आपस में संघर्षमय आती रहें और मानवता को किसी व्यवस्थित समाज का रूप न मिल पाए। 'संस्कुर्वत' का यही भाव है कि समाज इस दिशा में विकसित हो, कि ऊपर प्रशासन का दबाव भी न रहे और समाज में अनुशासन भी बनता चला जाए।

इसलिए राज्य-शासन की विधि और तन्त्र के बारे में विचारशीलों का विचार सदा सजग रहा है। उनकी बात तो छोड़ दी जाए, जो अध्यात्म में अपना सर्वस्व दिये रहते और वहीं से अपनी सिद्धि प्राप्त करने की आशा में रहते हैं, वे हठात लोक-जीवन के प्रति उदासीन बने रह सकते हैं; लेकिन जिनको समाज की व्यथा और चिन्ता छूती है, और अधिकांश मनुष्य उसी श्रेणी के हैं, वे आत्मलीन ही नहीं रह सकते। समाज में अपने स्थान आदि की चेतना रखना उनके लिए आवश्यक रहता है। इस तरह लोक-व्यवस्था, लोकतन्त्र का प्रश्न तात्कालिक और गम्भीर विचार का बना रहता है।

इस समय प्रचलित पद्धतियाँ दो हैं : एक, जिसमें दल प्रभुसत्ता-प्राप्त एक ही होता है और यह पद्धति सोशलिस्ट कही जाती है। दूसरी है डेमोक्रेटिक, जिसमें दल एक से अधिक होते हैं और शासक दल अपने को प्रभुसत्तात्मक अनुभव नहीं करता। उनमें चुनाव का परिणाम 99 प्रतिशत नहीं हुआ करता और लोक-मत को दो पक्ष सन्तुलित रख लिया करते हैं। पदस्थ के समक्ष दूसरा विरोध-पक्ष सत्ता को मनमाना व्यवहार करने से बचाए रखता है और इस लोकतन्त्रीय पद्धति का जनमानस पर आकर्षण भी काफी है।

किन्तु एक तीसरा विचार भी है, वह तन्त्र-निर्भर नहीं। उसका ध्यान विधि-विधान के स्वरूप पर भी समाप्त नहीं हो जाता है, वह वास्तविकता (सस्टेंस) पर दृष्टि रखना चाहते हैं—बाह्य रूप नहीं, बल्कि अन्तरंग सत्त्व।

गाँधी को भारत राष्ट्र पिता मानता है और वह राजतन्त्र के स्वरूप की उलझन

में कभी नहीं पड़े। बहुत चेष्टा हुई, पर उनका एक ही उत्तर रहा—राम राज्य! उस राम राज्य का स्वरूप क्या है, यह किसी परिभाषा में बाँधा नहीं जा सकता। विधि की भाषा में उसे बखानना कठिन है। राम क्या राजा थे? पर कैसे राजा थे कि चुपचाप वन को चल दिये? ज्येष्ठ पुत्र के नाते अपने हक के लिए भी नहीं लड़ सके। किन्तु अगर राजा बने तो केवल दशरथ के पुत्र के नाते, अर्थात् आनुवंशिक थे, लोकतान्त्रिक नहीं।

यह सब रहते हुए भी महात्मा गाँधी-जैसे अपराजित नेता के मुँह में सदा राम राज्य की ही पुकार रही, तो क्यों? क्या लोकतन्त्रीय आदर्श से उनका मेल बैठ पाता नहीं और क्या हम यह आवश्यक नहीं मानते कि शासन के सर्वोच्च पद पर व्यक्ति निर्वाचन के द्वारा ही पहुँच सकता है और वह ऐसा भी हो जिसको फिर निर्वाचन अथवा बहुमत के द्वारा ही अपदस्थ भी किया जा सके?

'रघुपति राघव राजा राम' ऐसे चुने अध्यक्ष तो थे नहीं, फिर भी कुछ विशेषता थी कि आज भी राम-राज्य के आदेश को हम असंगत नहीं कह सकते और सच देखा जाए तो वही है जिसको हर प्रकार की शासन-व्यवस्था के लिए आदर्श कसौटी मान रखा जा सकता है।

सीता से सती नारी दूसरी कौन होगी? राम के चित्त में उसके लिए कभी रंच-मात्र संशय आया हो, यह सम्भव नहीं हो सकता। सीता के अतिरिक्त किसी भी और का ध्यान उनके मन में हो ही नहीं सकता था, पर एक धोबी ने संशय प्रकट किया। वह सिर्फ धोबी था, प्रतिनिधि नहीं था। उसकी आवाज संगठित प्रेस या दल की आवाज नहीं थी। सच्चे राजा के लिए उचित यही हो सकता था कि वह उसे सुनी-अनसुनी कर दे, उसके विरोध में लोक-पक्ष जाग्रत करे और धोबी को अधिक नहीं तो सदा के लिए चुप कर दे।

पर नहीं, राम ने अकेले धोबी की बात को सुना और राजा होने के नाते अपनी प्रियतमा सती सीता को वनवास दे डाला।

श्रीराम भारतीय आदर्श हैं, वे यहाँ के अन्तरंग में रम गये हैं। भगवान का सबसे प्रिय नाम ही यहाँ राम हो गया है। यहाँ की शासन-व्यवस्था लोकतन्त्रीय है। लोक-मानस के लिए यह सम्भव नहीं है कि अपने शासक वर्ग को राम के आदर्श की कसौटी पर खरा उतरते देखना न चाहे।

सर्वोच्च सत्ताधीश संस्था भारत के पास अपनी संसद के राज्य लोक नाम की दोनों सभाओं में विरोधी पक्ष द्वारा प्रश्न उठाया गया कि साठ लाखवाले नागरवाला काण्ड और कलकत्ते के गोयनकावाले पोस्टर काण्ड की जाँच-पड़ताल हो। विरोध पक्ष के सदस्य कम हैं, पदस्थ दल के संख्या में बहुत अधिक हैं, इसलिए बात आयी-गयी हो गयी और शायद मान लिया गया कि लोकमत के

शमन का उपाय बन गया। पर यहाँ लोगों के मन में राम की कसौटी मौजूद है और क्या ही अच्छा हो कि इन रहस्यों की सत्यता-असत्यता निश्चित हो जाए और वातावरण में स्वच्छता आए। पोल्यूशन आज के सभ्य विचार के लिए सबसे बड़ा प्रश्न बना हुआ है। मानसिक पोल्यूशन का प्रश्न उससे भी विकट है और उसके प्रति उदासीन रहना संकट को निमन्त्रण देने के समान हो सकता है।

[11.6.72]

बिखरी नहीं, समग्र दृष्टि की आवश्यकता

कुछ सूझ नहीं रहा है। इन्दिराजी यूरोप के उस पार हैं और जनाब भुट्टो अभी 28 जून जितनी दूर हैं। दोनों की होनेवाली अनोखी मुलाकात होगी। जितनी निगाहें उस पर हैं और काफी लोगों की वहीं जमी हुई हैं, उनके लिए दिलबस्तगी का सामान तब क्या हो सकता है? सूना-सा लगता है इन्दिराजी के अभाव में। यहाँ का क्षेत्र, चीजें मानो मुल्तवी हैं और घटनाओं का होना शुरू होगा जब वे आ जाएँगी। मानो कुंजी वहाँ है और तब तक अभिक्रम स्थगित है।

पर हिन्द-पाकवाली ही एक समस्या नहीं है। दुनिया बड़ी है और कुछ समस्याएँ हैं जो सभ्यता और मानवता ही की कही जा सकती हैं। तरक्की हुई है और विज्ञान के आधार पर औद्योगिक क्षेत्र में जो चमत्कार हुए हैं, उन पर एकाएक स्तब्ध रह जाना पड़ता है, किन्तु मानो अनजान में उनके साथ एक जोखम ही बढ़ता चला गया है। दूषित वायु-मण्डल का प्रश्न परेशान कर रहा है उन देशों को, जो विकास के शिखर पर समझ जाते हैं। उद्योगवाद धन उपजा रहा है तो साथ ही वह विष भी उपजाता रहा है। जल उससे दूषित हो गया है और वायु विषैली बन गयी है। क्या होगा अगर यही हाल रहा—इस चिन्ता में उन देशों की नींद हराम बनी जा रही है और विश्व-मंच पर युद्ध से भी बड़ा यह प्रश्न छा गया है।

देश कई हैं और उनकी राजनीतियाँ आपस में टकराती हैं। मालूम हो रहा है कि इन टक्करों को बचाया जा सकता है और तस्फिया जंग के अलावा दूसरे तरीकों से भी पाया जा सकता है, बल्कि आगे यही तरीके चलेंगे। जंग के ढंग को अपने बीच से हमेशा के लिए उठा देना होगा। कारण, वह ढंग फलता नहीं है और दिन-ब-दिन वह पहले से खतरनाक साबित होता जा रहा है।

भुट्टो साहब आएँगे और दल-बल के साथ आएँगे। जान ऐसा पड़ता है कि बातचीत किसी गर्म-जोशी में नहीं होगी, बल्कि शाइस्तगी के साथ होगी और उसके पीछे दोनों तरफ कुछ सिद्ध करने का यत्न और संकल्प होगा। साथ का

अमला जाहिर करता है कि कुछ नतीजा निकल सकेगा और यह प्रायद्वीप एक लम्बे अर्से के लिए शान्ति की साँस ले सकेगा।

कुछ गाँठें बीच में हैं और वे काफी पेचदार हैं। परिस्थिति बदल गयी है और कश्मीर का सवाल अब उतना उलझा हुआ नहीं माना जा सकता है। इस्लाम का नारा दो-टूक हो चुका है और कश्मीर पर के दावे की बुनियाद में पाकिस्तान के पास यही हरबा था। आशा रखनी चाहिए कि बात टूटेगी नहीं, कश्मीर का मामला काँटेदार न बनेगा और चर्चा में कुछ ऐसे रचनात्मक मुद्दे उभारे जाएँगे, जिनसे आपसी सहयोग और सद्‌भाव बढ़े और भय निर्मूल हो जाएँ। अब तक का दोनों देशों का इतिहास तनाव का रहा है और तीन बार मुठभेड़ का मौका आ चुका है। दोनों मुल्कों के लिए यह भारी पड़ा है और दोनों को ताकतवर समझी जाने वाली कौमों के आगे हाथ फैलाना पड़ा है। इस हालत में कोई देश तरक्की करना तो दूर, शान्ति से बैठ भी नहीं सकता। इसलिए दोनों के हित में है कि वे किसी युद्ध-बन्दी के अहद में बँध जाएँ और फिर अपनी आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति में दत्तचित्त होकर लग सकें।

यह तो हिन्द-पाक की बात। पर दूसरी बातें हैं जो बड़ी हैं और जिनसे मुँह नहीं फेरा जा सकता—उन्हें टाला भी नहीं जा सकता। वे सारी दुनिया के भाग्य से सम्बन्ध रखती हैं और कोई उनसे अपने को अछूता नहीं मान सकता। फर्क भी है और बहुत है। देश जो विकसित हैं, उनका दुःख और है; जो विकासमान और अविकसित हैं, उनका कष्ट एकदम दूसरा है। उद्योगवाद ने फाँक पैदा कर दी है सम्पन्न-विपन्न की। इससे एकाएक लगता है कि समस्या एक वही है और उसके हल के लिए साम्यवाद अथवा समाजवाद के उपचार सूझते और उन पर बल दिया जाता है। पर सच यह भी है कि समूचा भू-मण्डल एक है और विश्व के भाग्य में कोई गहरी दरारें नहीं हैं। औद्योगिक सभ्यता ने भौतिक और मानसिक वायुमण्डल में शनैः-शनैः जो विष घोला है, उसके परिणाम में अन्त में कोई बचनेवाला नहीं है। वह अपघात सम्पन्न-विपन्न में भेद नहीं करेगा। अब तक रह-रहकर होते रहने वाले विश्व-युद्धों से किसी प्रकार घटकर समझी जानेवाली यह विभीषिका नहीं है। सभ्यता का यह संकट गहन है और व्यापक है। उस ओर असावधान रहकर अगर हम समाज और देश की तात्कालिक समस्याओं का निपटारा करने चल पड़ते हैं, तो हो सकता है, तत्काल को तो सँभाल लें, पर आगे के लिए और भारी मुसीबत मोल ले लें।

एक दिलचस्प घटना इन्दिराजी के पीछे भी घटी है और वह कम सूचक नहीं। उड़ीसा का गैरकाँग्रेसी मन्त्रिमण्डल गिरा है और श्रीमती नन्दिनी सत्पथी के नेतृत्व में काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल जम गया है। यह संकेत है कि स्थितियाँ किधर

बढ़ रही हैं। अच्छा है कि देश को केन्द्रित नेतृत्व मिला और एक छाते के नीचे क्रमश: सारा देश आता जा रहा है। अब योजनाएँ बड़ी बन सकेंगी और निर्विघ्न उन्हें पूरा करने का अवसर भी प्रतीत होगा। पर प्रश्न है कि क्या इस प्रकार का अत्यन्त व्यवस्थित, प्रशासित और अत्यन्त उन्नत और नियोजित समाज कहीं दूसरे महाप्रश्न तो नहीं उपस्थित कर देगा?

राजनीतिक व्यवस्थापक के समक्ष प्रश्न है कि क्या अब एक नयी समग्र दृष्टि की तो आवश्यकता नहीं है, जो बिखेरकर न देखे, प्रत्युत प्रश्न को एक संश्लिष्ट जीवन-प्रश्न के रूप में देखे?

[18.6.72]

घोष—रणनीति का या धर्मनीति का?

'भेरी-घोष या धर्म-घोष?' यों एक उपन्यास है। पर शिमला में होनेवाली इन्दिरा-भुट्टो वार्ता के सन्दर्भ में उसे अन्यथा समयानुकूल भी कहा जा सकता है। उसमें से जो निकलेगा, वह संकल्प रणनीति का होगा या धर्मनीति का? धर्म नीति में परस्पर समावेश होता है। समावेश के लिए अवकाश नहीं छोड़ना चाहती, वह आवेश की नीति रणनीति बन जाती है। अँग्रेज का राज्य भारत के ऊपर से गया तो उसे हिन्दुस्तान-पाकिस्तान में बाँटा गया था। हिन्दू-मुस्लिम मेल की सारी कोशिशें बेकार गयी थीं और राज्य को सामने लेकर काँग्रेस और लीग के तत्त्व साम्राजी कूटनीति के हाथों खेल गये। नतीजे में एक के दो मुल्क बने और तब से उन दोनों का इतिहास लगातार तनाव और संघर्ष का चला आ रहा है। दोनों के पीछे दूसरी ताकतें आ जाती हैं और मामला जैसे उनके हाथ का नहीं रह जाता है, गुँथीली बन जाता है। उस इतिहास में यह पहला अवसर है कि दोनों देशों के सर्वोच्च नेता सीधे आपस में अपने देशों के भाग्य पर चर्चा करने जा रहे हैं।

दो हजार से ऊपर वर्ष हो गये कि अशोक ने राज्य-प्रकरण में रण की नीति को छोड़ा और धर्म नीति को प्रयोग में लिया। अशोक का विशेषण 'चण्ड' पड़ गया था, रण-सम्बन्धी उसका प्रताप इतना प्रखर था। उपन्यास तो काल्पनिक है पर उसमें विश्व संगीति (भूमण्डलीय राजपरिषद्) का उल्लेख है। ऐसा प्रतापी पुरुष वर्तमान के सन्दर्भ में हमारे पास कोई है नहीं। पर ब्रेजनेव-निक्सन चर्चा हुई है। इन्दिराजी अनेक देशों के अध्यक्षों से मिल रही हैं। माओ-चाओ से निक्सन के बाद कीसिंजर साहब बातचीत चला रहे हैं। यह सब संकेत है कि रणनीति अपर्याप्त पड़ रही है और किसी नये ध्रुव मूल्य की तलाश है जिसके अनुसार नीतियों का निर्धारण हो और आपस के सम्बन्ध परस्पर पूरक, हितकारक और संवर्धक बन सकें।

एक शब्द दोनों पक्षों में इस्तेमाल होता है, वह है राष्ट्र हित। सन्धि वार्ता चलानेवाले दोनों ओर के दल-नेता फिर पीछे अपने-अपने दलों को आश्वस्त रखने

को बाध्य होते हैं कि उनका समझौता देश और दल के स्वार्थ में है। इस स्वार्थ की भूमिका से चल-विचल होना किसी के लिए सम्भव नहीं होता है। नतीजा यह है कि इस प्रकार की सन्धि वार्ताएँ अन्त में जिस चौखटे के भीतर सिद्ध की जाती हैं, वह चौखटा विश्व के द्विपक्षीय सन्तुलन की भाषा का चौखटा रहता है। किसी सच्चे विश्व-हित की समग्र पारमार्थिक कल्पना उभर नहीं पाती है। सम्मेलन राजनेताओं का होता है और उनके निर्णय से नाना देशों के प्रजा-जन इकट्ठे इधर-से-उधर होते रहते हैं। मानव जाति का एकत्र और समग्र स्वरूप उभर नहीं पाता और मानव संस्कृति को कोई नया संस्कार और संवर्धन सुलभ नहीं होता।

इसमें कारण है देशों की स्तरीय विषमता। स्तर तीन हैं और कुछ विकास के शीर्ष पर हैं कि दूसरे सर्वथा अविकसित, फलतः जाने-अनजाने इस तमाम राजकीय दौड़-धूप और सन्धि वार्ताओं का परिणाम जो आता है, वह विकसित कहे जानेवाले देशों के हित में ही होता और उनके व्यापार-व्यवसाय को बढ़ावा दे जाता है। राजनीति अर्थनीति से पृथक नहीं हो पाती और उद्योग-व्यवसाय के सूत्र यों प्रचलित होते हैं कि वे ही अन्त तक अधिक पुष्ट और बलिष्ठ बनने को रह जाते हैं।

भारत और पाक आत्मघाती खेल इतना खेल चुके कि अब आगे उसकी गुंजाइश नहीं दीखती है। हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष के लिए कहीं जगह नहीं है। धर्मोन्माद का सहारा किसी को फलेगा नहीं। पाक इस्लाम का विचार व्यावहारिक नहीं रह गया है, उसकी निस्बत पड़ोसपन का सिद्धान्त अधिक विश्वसनीय है। पाकिस्तान अमेरिकी सहारे की असलियत देख चुका है। जहाँ तक चीन का सम्बन्ध है, भारत स्वयं उसके साथ अपने सम्बन्ध सुधारना चाह रहा है। कोई कारण नहीं कि कश्मीर दोनों के बीच वैमनस्य का कारण बने। बाँग्लादेश स्वतन्त्र राष्ट्र बन ही चुका है। यदि ये तीनों पड़ोसी, जो कल तक सम्मिलित कुटुम्ब के थे, फिर एक सम्मेलन में आ जाते हैं तो एशिया में एक नयी शक्ति का सूत्रपात होता है और क्या अचरज कि वे पश्चिम के लिए भी दिशा-दर्शक का काम कर आएँ।

[25.6.72]

शिखर-वार्ता और एशिया के आगामी प्रभावशाली इतिहास की बुनियाद

आज शुक्रवार है, और शिमला शिखर-वार्ता का तीसरा दिन। वार्ता की गति मन्द है। किन्तु दोनों ओर शान्ति का मार्ग निकालने का संकल्प दृढ़ प्रतीत होता है। पहले दिन की संक्षिप्त बातचीत के बाद अब तक फिर दूसरी बार इन्दिरा-भुट्टो की बाकायदा भेंट का अवसर नहीं बना है। अभी अधिकारी जन भूमिका तैयार करने में जुटे हैं, कि विषय का क्या क्रम रहे और यही अन्तराय बड़ा साबित हो रहा है। निश्चय मान रखना चाहिए कि इन चार-पाँच दिनों में कोई अन्तिम फैसला हाथ नहीं आ जाएगा। और इस भेंट-वार्ता की कड़ी को आगे भी चलाना होगा। कारण, मिलने पर बिना हल और फल पाए बिछुड़ जाना स्थिति को पहले की अपेक्षा विकटतर बना देना होगा। और इस दुस्सम्भावना के लिए कोई देश तैयार नहीं होगा।

निर्णय जो भी हो और जब भी हो, यह बात अपने-आप में बड़ी है कि अपने बीच की समस्याओं के लिए युद्ध का उपाय उपाय नहीं है, यह पहचान लिया गया है। गत दिसम्बर-युद्ध में चाहे भारत जीता हो, उसने भी उस जीत के बोध को और युद्ध की व्यर्थता को अनुभव किया है। जय-पराजयवाले दोनों पक्षों को अपनी गहराई में प्रकट हुआ है कि समस्या उससे कटती नहीं है, टलती भी नहीं है, बल्कि वह और घोरतर हो जाती है। कारण, समस्या सब परस्पर सम्बन्ध की है, और वह सम्बन्ध संघर्ष की मानसिकता से और कठिन और कड़वे ही बनते हैं।

फिर भी पाकिस्तान हथियार बढ़ा रहा है और हर तरह युद्ध के लिए तैयारी रख रहा है। भारत भी अपने ढंग से इस विषय में असावधान नहीं है। फिर भी निःसंशय कहा जा सकता है कि दोनों में कोई युद्ध नहीं चाहता।

पर ठीक इसी जगह झमेला है। युद्ध कोई चाहता नहीं है, पर उसकी

तैयारियाँ हर पक्ष को रखनी पड़ती हैं। हर-एक को सोचना पड़ता है कि यदि पहल दूसरे ने कर दी, तो ? इस संशय और भय के अधीन देश का सारा उद्यम अपनी सुरक्षा और अस्तित्व-रक्षा की चिन्ता में लग जाता है। इस प्रकार राष्ट्र का प्रतिरक्षा-व्यय समूची आय का आधा या इससे भी अधिक भाग खा जाता है।

यह जगह है जहाँ हम आज हैं, जिस अनी पर विश्व के राष्ट्र आज डगमागए-से पड़े हैं। इस भय के नीचे आपसी प्रतिस्पर्द्धा में उद्यम-उद्योग की उन्नति में तेजी लानी पड़ती है, और उस वेग में ढील आने नहीं दी जा सकती है। यह हमारी विश्व की सभ्यता का नक्शा है। फिर चाहे प्रदूषण और पर्यावरण के प्रश्न का रूप कितना भी भीषण होकर सामने मुँह बाये क्यों न खड़ा हो, हम कुछ कर नहीं सकते हैं। जिधर फिसल रहे हैं, सिर्फ और जोर से उधर ही फिसलते जा सकते हैं।

यह स्थिति आदमी को चुभ आयी है। राष्ट्र भी जागे हैं और देख रहे हैं कि युद्ध में उपाय नहीं है। शान्ति की सम्भावना उससे दूर हटती है और शान्ति है जो हर रचनात्मकता के लिए आवश्यक है। शान्ति की राह को पाने का प्रयास इसलिए मनुष्य कभी छोड़ेगा नहीं। राष्ट्रों को भी इस प्रयास में हार रहना नहीं है। शुभ है कि भारत-पाक के सर्वोच्च्व नेता दल-बल के साथ यत्न में लगे हैं, और पुरुषार्थ में पीछे हटना चाहते नहीं दीखते हैं।

राह दुर्गम है और दोनों देशों का पच्चीस वर्षों का इतिहास परस्पर नकार-निषेधों से, तनावों-संघर्षों से भरा है। यही नहीं, मानव जाति का इतिहास युद्ध का इतिहास है। युद्ध बच्चों का हो या बड़ों का, व्यक्तियों का हो या राष्ट्रों का— उसका तत्त्व-ज्ञान एक है। लगता है, उस तत्त्व-ज्ञान में उतरकर ही सच्चा धर्म-ज्ञान पाया जा सकता है। भारतीय धर्म, जो मानवता का सनातन धर्म भी है, रामायण के और महाभारत के युद्धों की गाथाओं में से प्रतिष्ठ और पुष्ट हुआ है। अतः अध्यवसाय को छोड़ना नहीं है और प्रश्न की अन्तरंगता में उतरना है।

चाहते नहीं हैं पर बेबस हैं। इस युद्ध की यही कला है। बेबसी स्थिति-परिस्थिति के अन्तस्तल में से पैदा होती है। बचने-भागने से वह बेबसी कटती नहीं है, अर्थात न्याय से, सत्य से हटना नहीं है। फिर भी अशान्ति के युद्ध को जीतना है। एक बार कसकर मानसिकता को तदनुकूल बना लिया जाए तो हो सकता है कि मार्ग की विघ्न-बाधाएँ अपने पुरुषार्थ के समक्ष हलकी सिद्ध हों और मनुष्य के उत्साह को तोड़ने के बजाय बढ़ा ही सकें।

भारत जयी रहा, फिर भी बराबरी से पाक से बात करने में उसने पहल की, यह कोई छोटी बात नहीं है। इन्दिरा-नेतृत्व इसके लिए इतिहास में यशस्वी रहेगा। किन्तु उस नेतृत्व की कसौटी भी है कि जय हाथ से न जाए और पाक

का सद्भाव और विश्वास भी उपलब्ध कर लिया जाए। भुट्टो कुशल हैं पर शान्ति की उनके देश को और भी अनिवार्य आवश्यकता है। विवाद के मुद्दे जटिल हैं, बीच के संशय को पार कर अगर हार्दिकता की भूमिका परस्पर बन जाती है तो समय चाहे जितना लगे, एशिया के आगामी एक प्रभावशाली इतिहास की बुनियाद भी पड़ जाती है।

[2.7.72]

सन्देह की जगह संवाद की राजनीति

शिमला की भारत-पाक शिखर वार्ता विफल नहीं हुई। जो सीमित सफलता मिली, उसका सब ओर से स्वागत हुआ है। घर में जनसंघ असन्तुष्ट है, पर विरोध पक्ष का राजनीतिक दल होने से उसकी प्रतिक्रिया में प्रभाव अधिक भी हो सकता है। स्वागत के योग्य काम भी हुआ है, क्योंकि भारत ने पाक पर सैनिक विजय प्राप्त की और सौदे की भाषा में उसी ने घाटा सहना स्वीकार किया। दिया केवल भारत ने, निर्णय के अनुसार पाकिस्तान को कुछ भी देना नहीं पड़ा है। उसने लगभग 5000 वर्गमील रकबा पाया है। हिन्दुस्तान ने उस पर से अपना कब्जा हटा लिया है। शायद सबसे अधिक वह निर्णय स्वागत के योग्य इसी कारण है कि विजेता ने उदारता दिखायी है और प्रतिपक्ष को झुकाने की चेष्टा नहीं की।

बात तो टूटने लगती थी, पर पाक-सदर अन्तिम घड़ी पर अपनी ओर से इन्दिराजी से मिले और आध घण्टे की बातचीत से सब बदल गया। भोज के समय मिलना हुआ था और रात बारह बजे के बाद आखिरी मसविदे पर इन्दिरा-भुट्टो दोनों के हस्ताक्षर भी हो गये। निश्चय ही इसका श्रेय है तो सिर्फ उन दोनों को है, उनके इस पक्के विचार को, कि अब आगे संघर्ष नहीं चलेगा, न सन्देह से चलेगा, बल्कि संवाद-सहमति से ही परस्पर के सम्बन्ध को सही रखना होगा। दोनों को अपने सहयोग से इस उपमहाद्वीप को स्थिर और शान्त बनाए रखना होगा, ताकि ऐसा न हो कि किन्हीं महाशक्तियों की स्पर्द्धा इस भूमि पर संघर्ष खड़ा कर दे। दोनों ओर से स्थिर शान्ति और अड़चनवाले प्रश्न जो हैं, उनका समाधान तो यद्यपि नहीं हुआ है पर इतना निश्चय हो गया है कि ये सब प्रश्न ताकत से नहीं, आपसी बातचीत से हल किये जाएँगे। इस क्रान्ति को स्थिर चाहे न समझा जाए, पर उस दिशा का यह एक आशाप्रद पग तो है ही।

श्री भुट्टो का व्यक्तित्व चतुर अधिक माना जाता है, यहाँ तक कि विश्वसनीय कम। भारत में इस तरह की चेतावनी सब ओर से दी गयी थी। जब-तब छपते रहनेवाले उनके वक्तव्यों से इन्दिराजी अपरिचित नहीं रही होंगी, पर भुट्टो साहब

ने प्रेस के सामने जी खोलकर कहा कि इन्दिराजी को उन्होंने विशेष रिजनेबल पाया। इन्दिराजी की यह राजनीतिक जय भारत के भाग्य में अमूल्य सिद्ध हो, तो कुछ अचरज न होगा।

श्री भुट्टो अपने नब्बे हजार से ऊपर युद्धबन्दियों की वापसी के लिए आये थे। कश्मीर के मामले पर वे कुछ भी आश्वासन देने को तैयार न थे। बाँग्लादेश के बिना भारत उनके कैदियों के बारे में कुछ भी फैसला कैसे कर सकता था! तो क्या भारत उनको एकदम खाली हाथ लौटा देता? वैसा कुछ होते-होते बच गया। वैसा होता तो भुट्टो साहब की स्थिति टिक न पाती और सम्भवतः फौजी जुण्टा ही पाकिस्तान में हुकूमत पर हावी होता। इससे आगे यदि पाकिस्तान को शायद टूटना पड़ता तो हिन्दुस्तान की मुसीबत अब से कहीं अधिक बढ़ जाती। इस तरह इन्दिराजी की पक्की दृष्टि ने सदर भुट्टो के भाग्य को ही नहीं बचाया, पाकिस्तान के भी भविष्य को बचा लिया। नागरिक शासन के तले पाकिस्तान आज एकत्र है। वह आधार उधड़ जाए तो दूसरी कोई सत्ता उसको भरसक जुटा रख सकनेवाली नहीं। तब तो रिक्त पैदा हो आए, वहाँ बड़ी ताकतों के पेच लड़ने लगेंगे और भारत के लिए खतरा ही बढ़ेगा। यह एकदम भ्रम है कि पाकिस्तान की दुरवस्था से भारत का हित-साधन हो सकता है बल्कि मजबूत और हितैषी पड़ोसी के रूप में पाकिस्तान एशिया ही नहीं, विश्व में हिन्दुस्तान की प्रतिष्ठा के निमित्त एक मूल्यवान साथी और स्तम्भ साबित हो सकता है।

हमारी आँखों के सामने जैसे दुनिया और उसकी राजनीति नया मोड़ ले रही है। अमेरिका और माओवादी चीन दुश्मन के परम मित्र हैं। रूस-अमेरिका में साँप-नेवला की शत्रुता थी, अब मित्रता है। रूस-चीन भी दूसरे को एक आँख न देख सकते थे। अब तनाव मन्द है और कभी भी एक-दूसरे की तरफ हाथ बढ़ सकते हैं। दो जर्मनी एक हुए थे कि दो कोरिया भी हाल में अचानक एक बन गये हैं। उन्होंने देखा, बड़ी ताकतें अपना खेल खेलती हैं । अब छोटे मुल्क उन पर निर्भर करेंगे तो अन्त में कहीं के न रह जाएँगे। सब जगह यह पहचान हो रही है और महाशक्तियाँ अब दर्पासीन नहीं हैं, बल्कि मान-मनौती की राह पकड़ रही हैं। वियतनाम और मध्य एशिया में ही पिछले इतिहास के कारण कुछ तनातनी हो तो, वह यूँ उनके लिए भी बातचीत का सिलसिला जम रहा है।

संक्षेप में सन्देह से मुड़कर विश्व की राजनीति संवाद के प्रयोग पर आ गयी है और इसमें भारत का कम श्रेय नहीं है। सैनिक मुठभेड़ में उसने जीत पायी तो एक तरफ युद्ध-विराम की घोषणा कर नैतिक विजय की भूमिका भी अपने पथ में निर्माण कर ली। तब ही हुआ कि निक्सन पीकिंग गये और फिर

मास्को भी पहुँचे। तब से ही अपनी बातचीत का सिलसिला जारी है और शिमला की शिखर-वार्ता ने उसमें चार चाँद लगा दिये हैं।

विस्मय न होगा कि धीरे-धीरे विश्व-दृष्टि का भार-केन्द्र ही पश्चिम से पूर्व आ जाए और चीन-भारत के सम्बन्धों पर, जो कि निश्चय ही सुधरेंगे और उनकी संयुक्त नीति पर इतिहास का आगामी युग आ तुले!

[6.7.72]

सार्थक बनाम विध्वंसक शक्ति

राजनीति बड़ा नाजुक खेल है। नाजुक इसलिए कि वह खेल उन दो शक्तियों के मिश्रण से बनता है, जो परस्पर-विरोधी हैं। राजसत्ता के लिए सैन्य शक्ति चाहिए, और साथ ही लोक शक्ति भी; अर्थात लोक-मान्यता और श्रद्धा भी चाहिए। सैन्य-शक्ति में आतंक का वास है, जब कि लोक शक्ति में आदर का भाव रहता है। इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों में जब तक एक अनुपात और सन्तुलन बना रहता है, सत्ता टिकी रहती है। सन्तुलन बिगड़ते ही विस्फोट घटित होता है और राज-परिवर्तन हो जाता है।

शेख मुजीब बाँग्लादेश के प्रधानमन्त्री हैं। उनकी कब्र खुद चुकी थी और हर दिन इन्तजार था कि याह्या खाँ का हुक्म होता है और उन्हें फाँसी के तख्ते पर लटकाकर लाश को उस कब्र में दफना दिया जाता है। पर थोड़ी चिन्ता पड़ी और हुआ यह कि याह्या के गद्दी से उतरने और उनकी जगह भुट्टो के जमने की मजबूरी आ गयी। उधर मुजीब कैदी से शाह हुए और याह्या जेल के अन्दर दाखिल हुए। यही होता है। राज की बाजी जोखिम की होती है और नहीं कह सकते कि तख्त की जगह कब आपको तख्ते पर ही पहुँच जाना होगा। सिर्फ फौज की और तादाद की ताकत के भरोसे टिका नहीं जाता है। याह्या रियाया का भरोसा खो बैठे और टूट गये। उधर बाँग्लादेश ही नहीं, विश्व के लोकमत की माँग पर मुजीब को रिहा करना पड़ा और वे एक स्वतन्त्र देश के सर्वेसर्वा हो गये।

अर्थात हर शासक के लिए लोकतान्त्रिक अधिष्ठान आवश्यक है। शस्त्र-बल द्वारा हल की स्थिति किसी की नहीं रही। भय है कि वर्तमान राजनीति में उस पहलू को प्रधान से कहीं गौण तो नहीं बनाया जा रहा है? राजनीति वही स्थिर रहेगी जो लोक-श्रद्धा को अपने आस-पास जुटाए रख सकेगी। उसमें त्रुटि हुई कि तन्त्र, गठन आदि कुछ भी काम नहीं देगा और शासक को शासन से गिरना पड़ेगा।

पर सत्ता के स्थान पर आने पर राजनीतिक अकसर यह भूल जाता है और

आगामी का विचार शिथिल हो जाया करता है। वर्तमान का भोग और मद जीवन के क्रम को ऐशपरस्ती की ओर मोड़ने लगता है और नेता जनता के मन से कट जाता है।

सैनिक के साथ नैतिक का योग इसलिए आवश्यक है। हम अकसर भूल जाते हैं कि नैतिक शक्ति-जैसा भी एक तत्त्व है और वह सैनिक से कहीं बलशाली होता है। वह नैतिक बल सूक्ष्म होता है इसलिए चाहे उसके प्रति असावधान हो जाया जाए, पर इतिहास साक्षी है कि वह नितान्त अमोघ ही है और उसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती है। संकट में वही काम आता है और उसकी विश्वसनीयता अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में भी उत्तरोत्तर प्रकट होती जा रही है। राष्ट्र अब एक-दूसरे को धमकी नहीं देते हैं, न आतंक में डालने की चेष्टा करते हैं, वरन संवाद की भूमिका बनाते और सम्बन्धों की सघनता सम्पन्न करने का घटन करते हैं। यह है शक्ति का वह स्वरूप, जो उत्तरोत्तर सार्थकता पाता जा रहा है। सच है कि कोई राष्ट्र विध्वंसक शस्त्र-शक्ति का सहारा छोड़ने को तैयार नहीं है। पर हरएक के अनुभव में यह भी आ रहा है कि युग उसका बीत रहा है। विध्वंसक की जगह नयी संवादीय और सार्थक शक्ति के प्रयोग का युग आ चुका है।

इस दृष्टि से देखें तो इन्दिराजी की राजनीति अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर रचनात्मक मानी जाएगी। भुट्टो कुछ हों, एक लोकतान्त्रिक शासक हैं। निश्चय ही हथियार पाकिस्तान में जमा हो रहे हैं और फौजी भरती जोरों से जारी बतायी जाती है। पर भुट्टो की प्रतिष्ठा नागरिक है और उनकी प्रवीणता सैनिक नहीं है। इन्दिराजी के रवैये ने भुट्टो को मजबूती दी है और इस तरह पाकिस्तान को फिर से बिखरने के अन्देशों से बचा लिया है।

पाकिस्तान के अहित में भारत का हित मानना छोड़ देना होगा। भारत सच से न हटे, इतना काफी है कि आगे पाकिस्तान इस्लामी दावेदारी की सच्चाई देख ले और कश्मीर का पेच खुल जाए। यह काम वहाँ के लोकतान्त्रिक तत्त्वों को कमजोर करने से न होगा और अन्तिम समाधान जब भी वह हो, होगा तो इसी सार्थक नीति के द्वारा होगा, शस्त्रोद्धत नीति से कभी न होगा।

[13.7.72]

साम्प्रदायिक बनाम धार्मिक

जैनाचार्य तुलसी के समुदाय पर हुए पथराव में एक मुनि और एक साध्वी के सिर फटने का समाचार राजधानी के हिन्दी दैनिक में पढ़ने को मिला। बड़े पत्र अँग्रेजी के समझे जाते हैं और उनमें कहीं यह समाचार नहीं दीखा। शायद घटना छोटी ही है, पर बात छोटी नहीं है।

उसके घनात्मक पहलू से प्रशासन निपटेगा। पर जिसको नगण्य नहीं किया जा सकता, वह प्रश्न का सार्वजनिक और सामाजिक पक्ष है।

सन्दर्भ में है, श्री तुलसी-रचित एक काव्य-पुस्तक 'अग्नि-परीक्षा'। उनका जैनाचार्यवाला रूप ही इधर प्रमुख नहीं रहा है, वह एक नैतिक-सार्वजनिक अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक रूप में भी राष्ट्र में मान्य और ख्यात हैं। उस निमित्त उन्होंने समूचे देश की पद-यात्रा की है। उन्हें हर वर्ग और सम्प्रदाय के सद्भाव की अपने मिशन के लिए आवश्यकता है। इसलिए अकल्पनीय है यह कि उनके द्वारा किसी धर्म की या धर्म-पुरुष की अवज्ञा हो।

फिर यह घटना क्यों? मेरे विचार में कारण इसका गहरा है। निराकरण के लिए उतने ही गहरे विश्लेषण की आवश्यकता है। विश्लेषण विशेषकर इस समस्या का, कि साम्प्रदायिक क्या है और धार्मिक क्या?

सम्प्रदाय और धर्म साथ-साथ चलते देखे जाते हैं। धर्म तो यों व्याप्त और सूक्ष्म है। वह चिन्मय है और मताबद्ध नहीं है। पर वही जब समुदाय समाज का मूर्त स्वरूप ग्रहण करता है तो सम्प्रदाय बनता है। इस तरह धर्म एक नाम ओढ़ लेता और अमुक प्रतापी पुरुष को अपने पन्थ के लिए साक्षात भगवत-स्वरूप ठहरा लेता है। ऐसे इतिहास के कतिपय प्रतापी और चमत्कारी पुरुष अमुक वर्ग की धरोहर बने रहते हैं और मानो उस सम्प्रदाय को उन महापुरुषों के प्रहरी होने का कर्तव्य मिल जाता है।

किन्तु यह चित-स्फुलिंग का प्रकाश इस प्रकार घेरकर तो रखा नहीं जा सकता है। वह विस्तार पाता जाता है यहाँ तक कि वे पुरुष सार्वभौम रूप लेते और समग्र मानवता की स्वीकृति प्राप्त करते हैं।

साम्प्रदायिक और धार्मिक मनोवृत्तियों में इसी बिन्दु पर भेद पाया जाता है। साम्प्रदायिक मनोभाव के नीचे मत की ममता काम करती है। धार्मिक का आधार

श्रद्धा होता है जिसमें से समर्पण और निवेदन प्रकट होता है। ममता में से आग्रह और अधिकार का स्वर निकलता है जो फिर तनातनी में रस लेने लगता है। इस मतावेश को इस भूमिका से फिर आसानी से द्वेष के विष तक चहका दिया जा सकता है और परिणाम होता है—हुल्लड़, पथराव और आक्रमण।

धार्मिक जन अपने उपास्य पुरुषों में आदर्श की स्थापना करके उनके गुणों को अपने जीवन में उतारने में सयत्न रहते हैं, तब साम्प्रदायिक व्यक्ति उस धर्म की चौकसी और दावेदारी में नेतृत्व करता और समय-असमय उस पर खम ठोंकता दिखाई देता है।

रायपुर में अग्नि-परीक्षा के काण्ड को घटित हुए दिन हो गए हैं। बीच में उन तत्त्वों का क्या हुआ जो अब चौंककर जागे हैं? ज्ञातव्य है यह कि तुलसीजी इसी 21 जुलाई से चूरू में चातुर्मास कर रहे हैं। इन्हीं दिनों पुरी के शंकराचार्य का यहाँ आगमन होना और भाषण का क्रम चलना। मानना कठिन है कि यह सब कुछ योजनापूर्वक नहीं हो रहा है। इसलिए हो सकता है कि जो हाथ पत्थर फेंक रहे हैं, वे प्रेरणा कहीं दूर से पा रहे हों। धर्मोन्माद इसी तरह जन्म पाता है। उन्माद यहाँ दीखता है, जड़ उसकी वहाँ से दूर हुआ करती है। उत्तेजना का स्रोत कहीं गहरे में वहाँ है जहाँ भाव-विभोरता नहीं है, बल्कि वैचारिक मताबद्धता है; अर्थात् धार्मिक की जगह वहाँ चित्त साम्प्रदायिक है।

उदाहरण के तौर पर साम्प्रदायिकता के विषफल के रूप में भारत के विभाजन को याद किया जा सकता है। उसके नेता कायदे-आज़म मोहम्मद अली जिन्ना क्या नमाज़ी मुसलमान थे? पर इस्लाम पर उसके अलग मुल्क होने पर जिद किसी को सबसे ज्यादा थी तो उनकी थी। क्या इस जिद में उनका नमाज़ी न होना भी कारण नहीं हो सकता?

वर्तमान प्रशासन का संकल्प है कि साम्प्रदायिकता को समूल उखाड़ा जाएगा। कानून और कायदे के जोर से सरकार यह करना ठान चुकी है, पर इसमें शक है कि सरकारी कानून की ताकत वहाँ तक पहुँच सकती है, जहाँ धर्म की पहुँच है। सम्प्रदायवाद का इलाज राष्ट्रवाद में से नहीं निकलेगा। वहाँ एक सख्ती को दूसरी सख्ती से काटा जाता है। सम्प्रदाय की तंगी का सही इलाज सच्ची धर्म-भावना में से ही पाया जा सकता है। धर्माचरण मन के ओछेपन को दूर करता और भावना प्रशस्त करता है। समझ लिया जाता है कि धर्म और सम्प्रदाय की जोड़ी है। इसी नाते राजनीतिक धर्म का अविश्वास करने लग जाता है। पर यदि धर्म को दिखावे से पार वास्तविक शील-व्यवहार में साधा जाएगा, तो ही मन की संकीर्णताएँ खुलेंगी और नागरिकता समृद्ध बनेगी।

[21.7.72]

समाजवाद का सारांश—अपरिग्रह

एक शाम की दावत की याद आती है। तब की बात है जब बुफे की रीत नहीं चली थी। बड़ी धूमधाम थी, खातिर पर सैकड़ों बड़े-बड़े लोग मुस्तैद थे। हाथ जोड़कर नम्र भाव से एक ने पूछा, 'क्या चाहिए?' रायता सुनकर उन्होंने हाँक लगायी, 'रायता!' और आगे बढ़ गये। फिर दूसरे सज्जन ने हाथ जोड़कर पूछा और सुनकर उन्होंने भी जोर से पुकार दी और आगे बढ़ गये। ऐसे कोई पाँच महाजन हाथ जोड़े हुए आये और पूछकर, चिल्लाकर चले गये। तब कहीं जाकर आखिरकार रायते के आने का नम्बर आ सका। कारण, खातिरदारी में बड़े लोग बहुत थे, खुद परोसनेवाले छोटे लोग कम थे।

निश्चय ही प्रशासन पर पहुँचे लोग, जल्दी और बहुत-कुछ कर गुजरना चाहते हैं। उनकी नेकनीयती में सन्देह का प्रश्न नहीं। अगले चुनाव तक अवश्य उन्हें कुछ कर दिखाना है। देश के हित में कटिबद्ध हैं वे और सन्नद्ध हैं, पर अगर नहीं होता है वह सब कुछ जो वे चाहते हैं या उतनी जल्दी नहीं हो पाता है तो उसमें एक और प्रमुख कारण यह भी नहीं हो सकता कि करानेवाले और बतानेवाले बहुत हो जाते हैं, करने और खटानेवाले कम रह जाते हैं?

योजनाएँ बन रही हैं और कानूनी मसविदे तैयार हो रहे हैं। वे सब अपनी जगह मुनासिब और जरूरी हैं। उनसे मन को अच्छा लगता है कि हो रहा है, बहुत-कुछ किया जा रहा है। पर अगर दस करोड़ का मामला है तो योजना को अमल के किनारे तक लाने में प्रशासकों के वेतनों में उसका एक बड़ा भाग स्वाहा हो जाता है। आखिर वे जो ऊपर से बताएँगे और कराएँगे, किसके सिर पड़ेंगे? हाल वही दावतवाला है कि सब आते हैं, रायता नहीं आता।

दो वर्ग साफ हैं : एक सफेद कॉलर-कुर्सीवाला, दूसरा मेहनत-मजदूरीवाला। एक बौद्धिक, दूसरा श्रमिक; इनके कामों में फर्क है, इसलिए जीवन-मानों में भी फर्क रखना पड़ता है। आखिर जिन्हें गरीबी हटानी है, वे खुद गरीब कैसे रह सकते हैं? इतना बड़ा काम उठाने की जिम्मेदारी लेकर चलेंगे और बढ़ेंगे तो तभी

न बढ़ सकेंगे कि जब वेतन-भत्ते का सब पीछे ठीक-ठाक हो जाए।

कुछ चिन्तकों ने कहा कि कराने और करनेवाले का वेतन एक समान क्यों न हो जाए? पर वह बात आदर्श पर टँगी रहने को रह गयी और पक्का हो गया कि बौद्धिक की बराबरी श्रमिक नहीं कर सकता है।

गाँधी बैरिस्टर थे और किसान-जुलाहा बन गये। बैरिस्टरी छोड़ने का काम अन्त तक उनसे छूटा नहीं। बड़ी-से-बड़ी सल्तनत के साथ कानूनी दाँव-पेचवाली कशमकश उनकी चलती ही रही। इस अर्थ में से बड़े-से-बड़े करनेवाले माने जाते हैं, पर तभी उन्होंने कताई सीखी, बुनाई सीखी और उन सब प्रक्रियाओं में प्रवीणता प्राप्त की जो कपड़ा तैयार करने में लगती हैं; अर्थात उनकी कोशिश उत्तरोत्तर खुद हाथ से काम करनेवाला बनने की चलती रही।

इस क्रम पर उनका बेहद जोर रहा—चरखा कातना उनसे एक दिन के लिए भी नहीं छूटा। वाइसराय के साथ की बातचीत मानो उनके लिए आपद्धर्म थी और निबटते ही झटपट भाग जाते थे—अपने सेवाग्राम। उनका आग्रह था कि करने वाला खुद अपना करानेवाला बन जाए—अर्थात् जड़ श्रम समाप्त हो। श्रम सृजनशील बने और बौद्धिक-श्रमिक के श्रेणी-भेद का दम्भ समाप्त हो जाए।

वह क्रम भंग हो गया है। वह दृष्टि लुप्त हो गयी है। अब यह भुला दिया जाता है कि हममें से हरेक की सफदेपोशी का बोझ उन बनाने और उगानेवालों को ढोना पड़ता है, जिनकी गरीबी दूर करने के नाम पर हम अपना ठाठ बनाये हुए हैं। उनसे वोट लेकर ऊँची कुर्सी पर जाते हैं और अपने आराम के मुकामों से फिर उन्हीं पर वक्तव्य और उपदेश जारी करते हैं। सुधारक और उद्धारक बनते हैं उनके, जिनकी पीठ पर हम लदे हैं; गरीबी उनकी दूर करने के लिए गाँधीजी ने तथाकथित बुद्धिजीवियों और राजनीतिकों को ललकार दी थी कि लदे न रहो, उतर आओ नीचे उन पीठों पर से, जो तुम्हारे बोझ से बुझ गयी हैं।

पर ठीक यही नहीं हो रहा है। राजनीतिक और बौद्धिक हर योजना के नाम पर अपनी सुविधाएँ बढ़ाता ही जा रहा है। सब तरह के करों, टैक्सों और क्रान्तिकारी कानूनों से खिंचकर रुपया उनके हाथों में इकट्ठा होता जा रहा है। फिर इस क्रय-सत्ता के जोर से जनता के श्रम को खरीदा जाता है। इस खरीद के एवज में मिली कीमत से क्या हम सचमुच सोचते हैं कि गरीबी मिट जाएगी?

सोचने का अवकाश है कि कहीं पूरे दृष्टिकोण में ही तो परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है? समाजवाद से किसी आगे की कल्पना की माँग तो स्थितियों में उत्पन्न नहीं हो आयी है?

खुशहाली और बहाली के सपने दोनों ओर दलितों को परोसने के बजाय, बल्कि अधिक सम्पन्न प्रशासकों और नेताओं के वर्ग को कहीं अपरिग्रह के शिक्षण की आवश्यकता तो नहीं है?

इस लेखक को सचमुच लगता है कि समाजवादी कार्यक्रम अधूरा रहेगा, अगर उसके सारांश अपरिग्रहवाद के मर्म को हमारे नेताजन भुला बैठेंगे।

[30.7.72]

सनातन धर्म की अद्वितीयता और हमारा क्षोभ

अनुमान था कि 'अग्नि-परीक्षा' का प्रकरण शान्त हो गया होगा। प्रस्तावित समझौते की धाराओं में था कि पाँच वर्ष के लिए पुस्तक की बिक्री बन्द रहेगी और विरोध का आन्दोलन भी बन्द रखा जाएगा। विरोध के आधार में पुस्तक का वह सन्दर्भ था, जहाँ श्रीराम ने सीता के अतिरिक्त भी रानियाँ बतायी गयी हैं। पाँच वर्ष में आचार्य तुलसी को या तो सिद्ध कर देना था कि सनातन स्वीकृत साहित्य में इसका प्रमाण है, अन्यथा पुस्तक को सदा के लिए वापस खींच लेना था। सिद्ध हो जाने पर पुस्तक का विरोध समाप्त हो जाना था। पर दुर्भाग्य कि हुल्लड़, लूट, आगजनी की खबरें चुरू-दीदासर से अब भी आ रही हैं।

धर्म कई हैं, पर भारत का सनातन धर्म ही है जो किसी एक ग्रन्थ, व्यक्ति, देवता अथवा तत्त्वदर्शन में केन्द्रित नहीं है। वह व्याप्त है, मुक्त है और सब प्रकार के मत-मतान्तर उसमें समा जाते हैं। उसकी यह प्रकृति अनोखी है और भारत के अतिरिक्त बाहर कहीं भी ऐसा सम्भव नहीं है। हिन्दू धर्म की यह अद्वितीयता, रूपाकार की यह उत्तीर्णता भारतीय समाज के पक्ष में अत्यन्त महत्त्व की रही है। अनन्त प्रकार का नानात्व यहाँ की संस्कृति में फूटता और समाता रहा है। इस प्रकार परस्पर विमुख तत्त्व भी इस संस्कृति में समाहित हो जाते हैं और एक अव्याहत अहिंसा का आदर्श वहाँ चरितार्थ होता है। आपसे मानो सन्नागरिकता के अतिरिक्त कुछ भी अन्य माँग नहीं है। काल की अक्षय परिवर्तनीयता की थाती को आप सादर स्वीकार करते हैं तो बस है। नास्तिक वह नहीं है जो ईश्वर को इनकार करता है; केवल वह है जो वेद की निन्दा करता है। वेद पुरखों की निधि हैं और वे मताबद्ध रचना नहीं हैं।

विस्मय है लोगों को कि यह धर्म टिका किस पर और कैसे है? अन्तरंग संघटना का उसका आधार क्या है? भारत जैसे विशाल देश के जीवन की समग्रता को थामनेवाले उस धर्म का स्वत्व-बिन्दु किस जगह है? वह स्थल कहीं भी निर्दिष्ट किया नहीं जा सकता। फिर भी सनातन भाव में वह भारत को सतत सप्राण

और क्रियमाण रखे रहा है।

शरीर में कहीं क्या आत्मा के केन्द्र को उँगली रखकर बता दिया जा सकता है? वह चिन्मयता अन्तर्व्याप्त है और सहज भाव से जीवन को धारण करती है। सनातन धर्म इस तरह सर्वथा सच्चिदानन्दमय है और उसकी सहिष्णुता असीम है।

मतवादी मानस के लिए यही घटना अमान्य होने लगती है। वह जैसे उसमें सत्ता-बिन्दु का वह सन्निवेश चाहता है जिसमें वह भी टक्कर ले सके और दे सके। रूपाकारहीन उसका अध्यात्म भाव उन्हें सह्य नहीं होता और ठोस दैहिक स्वरूप में उस चित्तात्मकता को बाँध रखने की उनकी चेष्टा रहती है। इस प्रकार की साम्प्रदायिकता सनातन भाव के अनुरूप नहीं बैठती, फिर भी मानो मुठभेड़ की आदत के लिए वह उन्हें आवश्यक हो आती है।

आत्मिक और भौतिक पर अलग-अलग बल देनेवाली कृतियों का यही उत्तर था कि गाँधी की गोडसे द्वारा हत्या हुई। कहने की आवश्यकता नहीं कि शरीर के आग्रह ने शरीर की हत्या की और उसके द्वारा अन्त में आत्मा की ही प्रतिष्ठा हुई; अर्थात् सनतान भाव को अनिर्दिष्ट और अपर्याप्त मानकर जो मतवादिता के घेरे में हिन्दू-धर्म को ठोस बना देखना चाहते हैं और इसलिए अनजाने में ही उसकी आध्यात्मिक अद्वितीयता का जो परिहरण चाहते हैं, वे हिन्दू या भारत शब्द की सेवा नहीं करते, प्रत्युत उसे लांछित ही करते हैं।

जैन पन्थ अलग हो सकता है, पर जैन जीवन भारत के सनातनत्व से भिन्न और विच्छिन्न नहीं हो सकेगा। आप ऐकान्तिक मताग्रह में अगर एक-एक को काटते चलते हैं तो फिर हिन्दू नाम पर शेष बचने को कुछ भी नहीं रह जानेवाला है! क्या परिहार की नीति से हिन्दू को शून्यता तक पहुँचाने का उनका इरादा है?

मानना होगा कि अन्य सब धर्मों को मत-पन्थ बनने की सुविधा है। यदि एक हिन्दू धर्म को ही नहीं है तो यह उसका और मानवता का परम सौभाग्य है। हर भारतीय लज्जित होगा अगर उस सौभाग्य को दुर्भाग्य में परिणत किया जाएगा और नागरिक असहिष्णुता को धर्म का दर्जा दिया जाएगा।

[6.8.72]

समीक्षा और उत्तरदायित्व

चेकोस्लोवाकिया में सात और बुद्धिजीवियों को राजद्रोह के अपराध में सजाएँ दे दी गयी हैं। इकतीस पहले ही जेल भेजे जा चुके हैं। यह सब साम्यवादी नेता थे पर साम्यवाद उनका जरा पहले का था और उदारवादी समझा गया। मुकदमों और सजाओं का यह क्रम जारी रहनेवाला है।

लोगों को यह अच्छा नहीं लगता होगा कि जिस व्यवस्था को यह सब करना पड़ रहा है, उसको स्वयं नहीं अच्छा लगता होगा। तटस्थ व्यक्ति समीक्षा कर सकते हैं पर जो होता है और उसके पीछे की बेबसी को वह समीक्षा छू नहीं पाती है।

भारत तरक्की कर रहा और अब तो हथियार मँगवाने से अधिक बाहर निर्यात भी कर रहा है। सर्वश्री गगनबिहारी मेहता और जयप्रकाश नारायण ने इस पर प्रतिकूल टीका की। किन्तु टीका होती रहेगी और बात वहीं-की-वहीं रहेगी। न केवल शस्त्रों का निर्यात नहीं रुकेगा, बल्कि उस पर प्रशासन को और उद्योग को गर्व का अवसर भी प्रतीत होता रहेगा।

समीक्षा का स्थान है। कुछ का स्वधर्म ही वह होता है। पत्रकार और विरोधी जननेता यह न करें तो दूसरा क्या करें? किन्तु परिस्थिति की माँग, यदि आप राज्य की नीति के रंग-ढंग से सहमत नहीं हैं, तो समीक्षा से कुछ अधिक की रहती है। शब्द से आगे कुछ शक्ति भी चाहिए। ऊपर शक्ति का तर्क चलता है। नीचे से अगर आप केवल शब्द चलाते हैं तो बुद्धि-भेद उत्पन्न होकर रह जाता है और तब अनिष्टकर तत्त्वों के हाथ पड़कर समाज और जीवन को बिखराता है, सम्पन्न नहीं करता है। अगर हम सार्वजनिकता को स्वस्थ और पुष्ट देखना चाहते हैं तो केवल भावशील होकर नहीं चलेगा, कर्म-तत्पर भी होना होगा। भाव व्यक्तिगत होता है। कर्म द्वारा वह सामाजिक बनता है अर्थात् समीक्षा में गर्भित एक दायित्व है? और यदि आप प्रशासनिक नीति से असहमत हैं तो उस दायित्व-पूर्ति के अर्थ आत्म बलिदान तक के लिए उद्यत होना सीखना होगा।

यह नीति है जो लोकतन्त्र के अनुकूल कही जा सकती है। इसमें व्यक्ति नागरिक के तल से शासन का सहयोगी और विद्रोही—दोनों एक साथ हो सकता है।

आज जो दलीय पद्धति चल रही है, उसमें मानो यह स्वस्थ लोकनीति सम्भव नहीं हो पाती है। आप शासक दल के साथ अथवा विरोधी दल के साथ हैं। इस तरह सार्वजनिकता दो आवाजों में बँट जाती और उनमें सदा ही हार-जीत की बाजी लगी रहती है।

दलवाद या मतवाद के आधार पर चलनेवाले लोग मानते हैं कि अगर विपक्ष में दूसरा मत नहीं रहता है तो विश्व में एकता और एकत्रता आने में कोई बाधा नहीं रह जाती है। साम्यवाद अखिल विश्व में इसी तरह की साम्यवादी क्रान्ति की कल्पना करता है और रास्ते में बाधा बननेवाले पूँजीवाद आदि को ध्वस्त कर देने की सोचता है : एक मत, एक व्यवस्था, एक शासन!

बात यह सीधी और सही मालूम होती है, पर होने में तो नहीं आती। ऐसे सपनों को लेकर क्रान्तियाँ हुईं, पर अन्त में हुआ यह कि जो समुदाय क्रान्तिकारियों का चला था, क्रान्ति को सम्पन्नता के पार उन्हें आपस में एक-एक को इस तरह खत्म करना पड़ा कि अन्त में एक ही बचा रह जाए। किसी शहंशाह के जुल्म को खत्म करने के लिए नीचे से उठी क्रान्ति ने अन्त में उससे भी जबर्दस्त एक तानाशाह को ऊपर ला बिठाया। चीन के लिन-पियाओ की घटना भी यही दिखाती है। उसका तर्क अन्दर ही पड़ा है और जैसे नाटक के पात्र बेबस होते हैं और कितनी भी सद्‌भावना रखकर वे परिणाम में कुछ हेर-फेर नहीं ला सकते।

दलीय लोकतन्त्र भी मतवादी एकतन्त्र में गर्भित इस तर्क-विग्रह के जाल से मुक्त नहीं होगा, अगर हम अपने समर्थन में दूसरे की लाँछना को उचित समझते रहे। यही चीज है जो आगे जाकर हर असहमति को नष्ट देखना चाहती है और उसी आधार पर अपने को सुरक्षित मान पाती है। यह संघर्ष, युद्ध और हिंसा का चक्र इतिहास में चलता आया इसलिए कि पहले अणु बम नहीं था। अब उस नीति की आगे की सम्भावनाओं का अन्त आ गया है। सह-अस्तित्व अनिवार्य हो गया है। अपनी ही रखना और चलाना सम्भव नहीं रह गया है। आवश्यक हो गया है कि जहाँ दुश्मनियाँ थीं वहाँ सन्धि-वार्ताएँ हों और लेन-देन का प्रवाह खुले। यह युग मानव-जाति के इतिहास में अघोषित रूप में आरम्भ हो गया और जल्दी ही सत्ताधारियों को घोषित-रूप में इसको पहचान लेना होगा।

इस नये युग की क्या नीति होगी? अब तक थी कि मैं साध्य, तुम साधन।

यह नीति हिंस्र साबित हुई और ज्ञान-विज्ञान के सहारे बढ़ती मानवता का आगे साथ देने में वह असमर्थ है। नीति अपनाने का साहस दिखाना होगा कि साध्य तुम, साधन मैं। पहला ढंग हत्या और विनाश का था तो नये युग का नया ढंग आहुति और उत्सर्ग का होगा। आरामदेह टीका समीक्षा-मात्र नहीं, प्रत्युत कष्टकर, त्याग और बलिदान।

[13.8.72]

खुशी ठीक, पर नशा...

भारत की स्वतन्त्रता की रजत-जयन्ती का समारोह धूम-धाम से मनाया गया। बड़ा उत्साह देखने में आया, पर सदा की तरह सूझ-बूझ सरकारी थी और खर्च सब सरकारी था। खर्च में सरकार के पास इकट्ठा हुआ धन बिखरकर इधर-उधर बँट जाता है। इस तरह केन्द्रित धन इस-उस तबके के लोगों में वितरित हो जाए तो इस वितरण की प्रक्रिया में कौन दोष देखेगा? लेकिन अगर जनता के पास से एकत्रित हुआ सरकारी कोष कम लगे और नीचे से जनता के उत्साह की पूँजी इस प्रकार के उत्सवों में ज्यादा काम आए तो मालूम होगा कि वह धूम-धाम और हुलास-उछाह स्वयं स्वतन्त्रता में से आया है—किसी ऊपर के जोड़-जुगाड़ में से नहीं खड़ा किया गया है। यह नहीं कि रजत-रजन्ती में लोकोत्साह की मात्रा नहीं थी, पर सरकारी हाथ वहाँ व्यवस्था के लिए ही रहे और सरकारी कोष पर व्यय-भार न आए तो उस अवसर की प्रसन्नता औपचारिकता-जैसी नहीं रहती, प्रत्युत सर्वथा हार्दिक बन आती है।

काँग्रेस की संस्था ने अपने त्याग और बलिदान से स्वतन्त्रता को देश में लाने का मुख्य श्रेय प्राप्त किया है। देश ने इस पर अपनी कृतज्ञता के ज्ञापन से उसको कृतार्थ भी किया है। तब से अब तक केन्द्र में अटूट काँग्रेस का ही शासन और नेतृत्व चला आता है। पर वह काँग्रेस शनैः-शनैः पदासीन होकर सेवकों की जगह जो शासकों की जमात बन चली, सो ऐसा लग सकता है कि सरकारी खर्च से काँग्रेसी दल को ही शाबाशी दी जा रही है और उसकी ही वाहवाही बढ़ायी जा रही है। लोकतन्त्रीय व्यवस्था में सत्यता और वास्तविकता लाने की दृष्टि से यह छाप जितनी बचाई जा सके, उतना अच्छा है।

स्वतन्त्रता तो सबको चाहिए। वह व्यक्ति का आदर्श है और समाज का भी। हर कहीं उसकी गहरी माँग है और उस स्वतन्त्रता को जीतने का अविरत प्रयास है। राजनीतिक आकांक्षा सबकी आजादी की है और आध्यात्मिक अभीप्सा भी अन्तिम मोक्ष की है। पर इस मुक्ति का इतिहास विचित्र है।

मुक्ति की खातिर एक ओर तपश्चर्या की हद की गयी है तो दूसरी ओर क्रान्ति के नाम पर की गयी प्रचेष्टाओं में क्रूरता की भी हद हो गयी है। हम अपने से ही मुक्ति चाहते हैं। इसके लिए संयम, साधना में अपने को खूब ही त्रास देते हैं। इसी तरह राष्ट्र नाम की इकाइयाँ आत्मोत्सर्ग करतीं और ऊपर के सत्ताधीश की ओर से मिलनेवाले हर कष्ट को आमन्त्रित करती हैं। इस प्रयत्न में लोग मरते हैं और मारते हैं और माना जाता है कि अकसर जो मिला, वह स्वतन्त्रता है।

प्रसन्नता होती है इस उपलब्धि पर कि शासन बदल जाता है। पुराना गिरता और नया उठकर उस आसन पर चढ़ जाता है। व्यवस्था बदल जाती है और इस परिवर्तन का स्वाद कुछ देर तक अच्छा भी लगता है। पर वही स्वाद बासी पड़ने लगता है और मालूम होता है कि स्वतन्त्रता के लिए इस व्यवस्था को ढा देना आवश्यक है।

ऐसी स्वतन्त्रताएँ जीती जाती हैं और कुछ अनन्तर स्वतन्त्रता के ही नाम पर ढायी जाती रहती हैं। मुझे प्रतीत होता है कि अध्यात्म के क्षेत्र में तपश्चरण के द्वारा पायी मान ली गयी मुक्तियों के साथ भी कुछ यही होता होगा। उपलब्धि के स्वाद के ठण्डे पड़ते-पड़ते उसी में अनुपलब्धि का बोध होने लगता होगा। सच यह कि स्वतन्त्रता एक अनवरत यात्रा है। कहीं रुकना वहाँ नहीं है और पूर्णता वहाँ है जहाँ आप स्वयं नहीं रहते हैं, सबमें लीन हो जाते हैं।

अर्थात, अतीत के लाभ पर आप कितना भी हर्ष मनाइए, पर कृपया वर्तमान के अभावों के प्रति उस उल्लास में अपने को अचेत न बना लीजिए। राजनीति में, विशेषकर दलगत राजनीति में, अक्सर ऐसा हो जाया करता है। खुशी का नशा तक हो जाता है और उसमें वर्तमान के अभाव और उस वर्तमान की चुनौती तत्काल के लिए ओझल हो जाने दी जाती है। भारतवर्ष के समक्ष कम समस्याएँ नहीं हैं। बाँग्लादेश के प्रकरण के बाद तो उस देश का दायित्व इसीलिए और भी विस्तृत हो गया है कि वह चीन के समक्ष विशेषकर दक्षिण-पूर्व एशिया के लिए लगभग एक समतुल्य शक्ति के रूप में उभर आया है। अब वह विश्व-परिवार का एक अंग मात्र नहीं है, प्रत्युत एक अतिशय गणनीय और मानवीय सदस्य बन उठा है। उसका इतिहास सबसे निराला है। गाँधी-जैसा राजनेता और राष्ट्र पिता किसी अन्य को प्राप्त नहीं है। यही देश है जहाँ सत्ता के हस्तान्तरण पर तब से एक कतरा खून नहीं बहा है। गाँधी के मूल्य सर्वथा बुझ नहीं गये हैं। अब भी उसके रक्त में वे कण जागे हैं। पहला मूल्य यह है कि राजनीतिक सत्ता सर्वोपरि नहीं है और आत्म सत्ता के सामने वह तुच्छ है। तृष्णा नहीं हो सकती उसकी और वह महत्त्व नहीं, केवल दायित्व है।

याद रखना होगा कि शासक केवल सेवक ही है। जिसको प्रधान का पद मिला दिखता है, वह प्रथम सेवक है अर्थात सेवक अदले-बदलेगा, वह अभिषिक्त होगा, स्थगित होगा, दण्डित होगा, क्योंकि वह सेव्य की सेवा में नियुक्त सेवक मात्र है। जिसके हित के लिए नियुक्त है वह इस देश की साठ करोड़ जनता है और चाहे चुनाव पाँच वर्ष बीतने पर आते हों और बाकायदा उस चुनाव के समय ही उन पदस्थ सेवकों को गिराया जा सकता हो। पर बीच में भी उनको हक नहीं आता है कि वे उस अपार जनता के मन से और उसकी श्रद्धा से गिर जाएँ; कोई काम ऐसा न हो जिससे शासन सेवकत्व की कक्षा से च्युत हो और दल के अथवा अपने स्वार्थ में आसक्त दिखे। याद रखना होगा कि प्रभुसत्ता जनता की है, सरकार उसकी आज्ञाओं और आवश्यकताओं के अधीन उपकरण-मात्र है।

[20.8.72]

शताब्दियाँ और शंकाएँ

गाँधी शताब्दी बड़े पैमाने पर मनायी गयी और अब अरविन्द शताब्दी का वर्ष चल रहा है। पहली का अनुमान करोड़ से काफी ऊपर बताया जाता है। यह तो अधिकृत खर्च हैं। अरविन्द शताब्दी के व्यय की माँग भी उतनी ही की जाए तो विस्मय नहीं होगा। काम वह भी बड़े पैमाने पर उठाया और निबटाया जा रहा है। कुछ काल बाद आनेवाली है महावीर निर्वाण शताब्दी। यह कुछ थोड़े में पटापुट दी जाए तो मुझे विस्मय न होगा। जैनों में काफी धनिक हैं पर वे सम्प्रदायों में बँटे हैं। इसलिए उनका सरकार पर विशेष दबाव न हो पाएगा और सम्भव है, यह समारोह औपचारिक भाव से अधिक सत्त्व न जुटा पाए। सरकार की घोषित पचास लाख की राशि में जैन समाज क्या अपनी ओर से करोड़-दो करोड़ की राशि जोड़ सकेगा? सरकार ऐसी प्रत्याशा रख सकती है। पहली दो शताब्दियों में यह प्रश्न नहीं उठा। अवकाश भी उसका नहीं था, पर जैनों का तो धर्म जाने कब से गठित और व्यवस्थित चला आ रहा है। इसलिए इस निर्वाण शताब्दी के विचार का स्तर कुछ भिन्न हो सकता है।

पर उस भिन्नता को छोड़ दिया जाए। अभिन्न प्रश्न यह है कि अनुभव क्या कहता है? शताब्दियों के समारम्भ का अभीष्ट यही न है कि उन महाप्राण पुरुषों के चरित की ओर ध्यान जाएगा और उनके जीवन से व्यापक शिक्षा प्राप्त होगी? पर क्या वह अभीष्ट किसी मात्रा में पूरा हुआ? कहीं ऐसा तो नहीं कि परिणाम इष्ट से उलटा आया?

राजनीति के क्षेत्र में एक प्रभाववाद चल रहा है। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद अगर पुराने पड़ गये हैं तो यह वाद आधुनिक है। आप उपनिवेश बनाते हैं, साम्राज्य फैलाते हैं तो लग सकता है कि आप अपने को अधिकारी बना रहे हैं और दूसरे को अधीन। किन्तु प्रभाववाद में तो गन्ध नहीं है। प्रभाववाद शब्द में तो किसी अधिपतित्व की सूचना नहीं है। उसमें कोई सैनिक ध्वनि नहीं है। यह सर्वथा नैतिक भाव है। इस प्रकार का मन्तव्य रखकर प्रभाववाद को अन्तरराष्ट्रीय राजनीति

के क्षेत्र में भरपूर उपयोग में लाया जा रहा है। उसके अधीन समस्याएँ बनती या निपटती हैं। इसके निर्णय के लिए प्रत्यक्ष से अधिक दूसरे प्रमाण की क्या आवश्यकता है?

जिन महाप्राण पुरुषों के निमित्त जयन्तियों के वर्षोत्सव ऊपर से अधिकृत रूप से मनाए जाते हैं, वे उत्तरोत्तर मुक्त और पूर्व जीवन के प्रयोगशील व्यक्ति थे। उन पर घेरा नहीं था और वे खुले थे। उनका प्रभाव जितना था, आन्तरिक था, आयोजित नहीं था। आन्तरिक और हार्दिक जब धार्मिक होता है तब आयोजित और संस्थानुबन्धित साम्प्रदायिक हो जाता है। धर्म स्तर पर मानो जीवन की आहुति का आह्वान होता है तब साम्प्रदायिक बन जाने पर मानो यज्ञ की वेदी की दुकान फीकी बन जाती है और उसको लेकर मोक्ष की जगह संसार का पसारा फैलाया जाने लगता है।

गाँधी शताब्दी के स्मृति-रूप में दिल्ली में गाँधी दर्शन बना खड़ा है। जगह-जगह इस तरह के और भी ठोस प्रतीक होंगे। पर गाँधी के प्रभाव से इस संगठित प्रचार और प्रकरण से गाँधी चमके हैं या बुझे हैं? कुछ का मानना यह है कि इस पद्धति से, जीवन सन्दर्भ से गाँधी टूटे ही हैं और वे उसी मात्रा में सरकारीकरण में ढाल लिये गये।

श्री अरविन्द का प्रभाव अब तक साहित्यिक और सांस्कृतिक था। अरविन्द शताब्दी की संघटना के जोर से जो प्रसिद्धि और प्रज्ञप्ति उनकी की जाएगी, उससे आशंका हो सकती है कि प्रभाव वह सांस्थानिक और राजनीतिक न बनने लग जाए। धन के और बाहरी गठन के बल से चढ़ाया हुआ प्रभाव व्यक्ति को स्वयं नहीं रहने देता, पन्थ-प्रवर्तक बना देता है। तब वह अमुक सम्प्रदाय, पन्थ, जाति या देश की सम्पत्ति बन जाता है और अन्यतर के उपयोग का नहीं रह जाता है। उनमें स्फूर्ति और प्रेरणा पाने और जीवन को अपने ज्योतिर्मय बनाने से अधिक लोग उनसे लौकिक लाभ उठाने और इसके लिए अपने को उनका प्रवक्ता, प्रहरी और प्रतिनिधि बताने लग जाते हैं। श्री अरविन्द जीवन के प्रयोक्ता थे। उन्होंने संसार-सन्तरण का मार्ग दिखाया, स्वयं तीर्थ बने और उन्हें ही किसी अमुक पान्थिक गुरु का रूप देना क्या स्पष्ट अन्याय ही न होगा?

भगवान महावीर तो अपनी काम-साधना में अद्वितीय और अगम पुरुष थे। वे निर्ग्रन्थ और दिगम्बर तक हो सके। उनसे जीवन में अपरिग्रह और आकिंचन्य की शिक्षा ली जा सकती है। पर यदि उन्हीं को संग्रह और समारम्भ का निमित्त बनाया जाता है तो यह उनके धर्म की प्रभावना है, या कि अपनी साम्प्रदायिक ममता की घोषणा है?

यह नहीं कि उत्सवों और समारोहों का स्थान नहीं। इन महापुरुषों के प्रति कृतज्ञता हमें निश्चेष्ट नहीं रहने दे सकती। उत्सव होंगे और वे समय के साथ बड़े-से-बड़े भी होते जाएँगे। पर उनमें लगनेवाली पूँजी प्राणों की, उत्सर्ग की होगी, आहुति की होगी; वह आसानी से सरकारी और औपचारिक होकर नहीं रह जाया करेगी।

[27.8.72]

विश्व के क्रीड़ा-प्राँगण में खूनी खेल और अन्तर्जातीय राजनीति

म्यूनिख ओलम्पिक क्रीड़ाँगन में एक खूनी खेल भी खेल डाला गया। फिलिस्तीनी गुरिल्लों ने अपनी ऐतिहासिक राजनीतिक दुश्मनी में तीन इजरायली खिलाड़ियों को जान से मार डाला और आठ को इस शर्त पर बन्धक रख छोड़ा कि एवज में इजरायल उनके दो सौ कैदियों को वापस कर दे। आखिर इस खेल में सत्रह जानें गयीं जिनमें बारह यहूदी और पाँच फिलीस्तीनी छापामार थे। इन छापामारों ने उस हेलिकोप्टर को बारूद से उड़ा दिया जिसमें इजरायल जानेवाले थे।

ओलम्पिक खेलों की योजना को मानव जाति की एक बड़ी उपलब्धि कहना चाहिए। उसमें दुनिया-भर के लोग सौहार्द की भूमिका पर एकत्र हो आते हैं। राजनीति की गन्ध वहाँ नहीं रहती और सबसे आपसी भाईचारे का भाव ही रहता है, जैसे एक ही विश्व-परिवार हो! हर दो टीमों में खेल के समय चाहे कितनी ही उत्कट प्रतिद्वन्द्विता रहती हो, पर खिलाड़ीपन में तनिक विचार नहीं आता और दोनों दल—जेता और विजित—एक-दूसरे की गलबाँही डाले स्टेडियम लौटते हैं।

इस ओलम्पिक में पाकिस्तानी हॉकी टीम के द्वारा हुई उद्दण्डता की दुघर्टना को तो एक अपवाद ही मानिए। वहाँ निरा आपसी सद्भाव रहता है, इसीलिए पाकिस्तानी अभिनय को अभूतपूर्व माना गया और चार वर्ष के लिए उसे ओलम्पिक से बहिष्कृत करना आवश्यक हो गया। कारण, ओलम्पिक मानव जाति की एकीकृत महिमा का प्रतीक है। राजनीति के क्षेत्र में हम भले ही लड़ते आये हों, आगे भी एक-दूसरे का नाश करने पर चाहे तो उतारू हो जाएँ, पर मानव कह सकता है कि वह एक आयाम है जहाँ हम सब मिले रहते हैं। वहाँ एक-दूसरे के लिए मन में वैर नहीं रहता, प्रोत्साहन रहता है। वातावरण वहाँ उमंग और उत्साह से भरा रहता है। दुर्भाव जरा नहीं आता।

इसलिए जघन्य लांछन की बात यह हो जाती है कि विश्व के क्रीड़ाँगन को वैर-बदले की कार्रवाई का स्थल बनाया जाए। कुकृत्य होते हैं पर अपनी जगह पर; वे ही धर्म-स्थान में हों तो कैसी जुगुप्सा होती है! इस घटना पर भी कुछ

ऐसी ही घृणा जगत ने अनुभव की होगी।

नृशंसता और क्रूरता के उदाहरण तो अनहोने नहीं हैं। आये-दिन संगठित समूहों में मुठभेड़ होती है और अपदृश्य दीखने में आ जाते हैं। पर एक हद हुआ करती है। राजकारण में और सत्ता के द्वन्द्व के क्षेत्र में वैसा जातीय विद्वेष फूटता और नर-संहार होता है। उसको यथास्थान भी समझा जाता और उसके नायक पुरुष नेता और शूरवीर गिने जाते हैं। इतिहास उनके विरुद्ध हो जाता है और वह चीज अपराध की कोटि में नहीं आती। इसलिए अचरज तब होता है जब उस अधम निरपराध नर-हत्या को कुछ राज्य-सरकारों द्वारा समर्थन भी मिला दीखता है। कई मुस्लिम देशों ने उस हत्याकाण्ड की सफाई देने का यत्न किया है और जैसे अपराधियों को शाबाशी तक दी गयी है।

और भी खीज और हैरानी होती है विश्व के राजनीतिक चक्र पर और व्यूह पर कारण, राष्ट्रसंघ में बहुत देर के विवाद के बाद भी इस प्रसंग पर कोई सर्वसम्मत प्रस्ताव पास नहीं हो सका। अरबों-इजरायलियों में बदले का सिलसिला तो चल ही पड़ा है। उस सारे काण्ड को लेकर वितण्डावाद मचा, एक-पर-एक संशोधन आये और गिरते गये। एक मसविदे पर सुरक्षा-परिषद में चीन-रूस ने वीटो के अधिकार का प्रयोग किया तो दूसरे पर अमेरिका ने अपना वीटो तान दिया, जैसे सर्वसम्मत न्याय कहीं कुछ होता ही न हो और सब सत्य दल और बहुमत पर ही स्थगित हों! यह लक्षण उस सभा के लिए आशाप्रद नहीं है जिसको समूची मानव जाति के अन्त:करण का प्रतीक कहा जा सकता है।

प्रश्न सारे भँवर के भूल में है—हिंसा का और उसकी वैधता का। मालूम होता है कि अन्तरराष्ट्रीय और अन्तरराज्यीय सैनिक हिंसा को ही राष्ट्र संघ गिनती में लेता है और उसका उपाय सुझाने का अपना दायित्व मानता है। यह हिंसा एक अर्थ में वैध होती है। शायद उन अमानुषिक कृत्यों का लेखा-जोखा लेना अपना धर्म वह नहीं मानता जो सरकारों द्वारा नहीं, बल्कि अन्य समूहों द्वारा किये जाते हैं। पर यह एक संकीर्ण कानूनी दृष्टिकोण ही होगा और उस ढंग पर समस्या की सही पकड़ नहीं मिल सकेगी। अन्त में वैध और अवैध के बीच की धुँधली रेखा पर टिक जाने से नहीं चलेगा, वरन हिंसात्मक उपायों के किसी कारगर अहिंसक विकल्प का आविष्कार करना और उसके ही प्रयोग को उदय में लाना होगा।

[16.9.72]

स्वतन्त्रता का रजत जयन्ती वर्ष : कुछ चिन्तन

भारत की स्वतन्त्रता का यह रजत वर्ष बड़े समारोह से आरम्भ हुआ है। स्वाधीनता-प्राप्ति की घटना विश्व के लिए भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक। अभूतपूर्व उसे कहना चाहिए इस अर्थ में कि उस युद्ध का प्रमुख नेता राजनीतिक नहीं, धार्मिक पुरुष था। धर्म-पुरुष ऐसे भी हुए और हो सकते हैं जो कर्तव्य होने पर हिंसक उपायों से बचने की आवश्यकता न मानते हों। महात्मा गाँधी ने, किन्तु, यहाँ तक कहा कि हिंसा से मिलनेवाला हो तो भारत के लिए वह स्वराज्य मुझे नहीं चाहिए। इस तरह भारतीय स्वतन्त्रता का युद्ध और उस स्वाधीनता की उपलब्धि मानवीय इतिहास की एक अप्रतिम घटना बन जाती है—उस पर जितना उल्लास और गर्व हो सो थोड़ा है।

फिर भी प्रश्न रह जाते हैं कि क्या स्वतन्त्रता अपने-आपमें परम मूल्य नहीं है? गाँधी ने स्वराज्य के साथ अहिंसा की शर्त जोड़ी तो क्या वह ठीक था? क्या स्वतन्त्रता वह वस्तु नहीं है, जो हर हालत में हर किसी के लिए अभीष्ट हो?

भारत में ही कश्मीर, नागालैण्ड और कभी तमिलनाडु और पश्चिम बंगाल की अपनी स्वतन्त्रता की माँग सुनाई दे जाती है। औसत भारतीय को वह आवाज अच्छी नहीं लगे, तो क्या यह उचित है? अगर भारत स्वतन्त्र हो सका और उसके लिए लड़ सकता है तो कश्मीर या दूसरे प्रदेश वैसी आवाज उठाएँ तो उसमें क्यों अन्तर देखा जाता है?

पर अन्तर है और उसको जान लेना चाहिए। स्वतन्त्रता की दुहाई अपने में कोई वस्तु नहीं ठहरती। इसको हम जानते हैं कि हममें से हरेक की स्वतन्त्रता वहाँ समाप्त है जहाँ से दूसरे की स्वतन्त्रता शुरू होती है; अर्थात् सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कोई कभी हो सकता नहीं। इस तन्त्रहीन स्वतन्त्रता को स्वच्छन्दता कहना पड़ जाता है और वह गुण नहीं, अवगुण है।

तो क्या है वह तत्त्व, जो स्वतन्त्रता को इष्ट बनाता और जिसका अभाव उसे अनिष्ट कर देता है? उस तत्त्व को ढूँढ़ना और जनजीवन में प्रतिष्ठित करना

इसलिए आवश्यक हो गया है कि स्वतन्त्रता का पीछा स्वच्छन्दतापूर्वक किया जाने लगा है और इस तरह उस स्वतन्त्रता में से अभीष्ट तत्त्व का लोप हो जाने दिया जाता है। स्वतन्त्रता, जो दायित्वपूर्ण होकर गर्व और गौरव की वस्तु है। क्या दायित्वहीन होने पर वही विगर्हणीय बनी नहीं देखी जाती?

सर्वमान्य होगा कि स्वतन्त्रता अगर राष्ट्र के लिए भी अभीष्ट है तो उसे हर समूह, हर व्यक्ति के लिए भी अभीष्ट होना चाहिए। फलितार्थ कि जिस प्रकार की स्वतन्त्रता व्यक्ति और समुदाय के लिए उचित नहीं है, वैसी स्वतन्त्रता आगे-पीछे राष्ट्र के लिए भी उचित नहीं ठहरेगी। व्यक्तियों और वर्गों में कोई राष्ट्र आपाधापी बर्दाश्त नहीं कर सकता। इस स्थिति का बलात दमन करना ही पड़ता है। राष्ट्रों की आपस की आपाधापी को टोकने और रोकने की उचित व्यवस्था आज हमारे पास नहीं है तो भी आवश्यकता अनुभव की जाती है कि राष्ट्र संघ या अन्य किसी वैसे केन्द्र के पास यदि वह सत्ता होती तो मानव परिवार अधिक व्यवस्थित अनुभव कर सकता था।

इस स्वीकृति में यह गर्भित है कि व्यवस्था की बड़ी इकाई के नियमन के भीतर ही व्यक्तियों, वर्गों, प्रदेशों अथवा राष्ट्रों की स्वतन्त्रता सही और सहनीय हो सकती है। वैसा न होने पर स्वतन्त्रता सिर्फ अराजकता रह जाती है और मानव संस्कृति का निर्वाह उसके साथ असम्भव होने के कारण वह स्वतन्त्रता जीवन का अग्रगामी कदम होने के बजाय पीछे जाने और गिरने का लक्षण ही बनती है।

प्रश्न स्वतन्त्रता का, कश्मीर का या किसी और प्रदेश का? सुनने में भला लगेगा यह कि भारत का स्वतन्त्र होना अच्छा हुआ तो इनका भी स्वतन्त्र होना क्यों न अच्छा होगा? पर यह भ्रान्ति है। भारत राष्ट्र इतिहास की परम्परा में से फलीभूत हुआ है। वह कटकर नहीं बना है, क्रमशः विकास पाकर बनता रहा है। हाँ, वर्तमान भारत कटकर बना है, क्योंकि पाकिस्तान एक अलग स्वतन्त्र देश बना खड़ा है और फल प्रत्यक्ष है। कटकर बनी हुई किसी खण्ड की स्वतन्त्रता अपने-आपमें अभीष्ट इसलिए नहीं हो सकती है कि वह पीछे विनष्ट और संतप्त मानव सम्बन्ध छोड़ जाती है। इस विभाजन की रेखा पर फिर सदा के लिए जहर चलता है और शत्रुताएँ पक्की होती जाती हैं।

संक्षेप में, स्वतन्त्रता वही समीचीन है जो जीवन की अग्रगामी गति के साथ निभती और इसलिए दायित्वशील होती है।

[24.9.72]

तीन वक्तव्य, नयी चेतावनी, नये आयाम

इधर तीन वक्तव्यों के अंश पत्रों में छपे हैं। उनसे स्पष्ट है कि समय तेजी से आगे बढ़ रहा है और सभ्यता नया मोड़ ले रही है। राष्ट्रवादी दृष्टिकोण अपर्याप्त पड़ रहा है और विस्तार पाती हुई आवश्यकताओं के दबाव में विश्व-बुद्धि नये आयाम खोज निकली है। राष्ट्रगत विचार कम पड़ रहा है और उसको क्रमशः जागतिक रूप मिलता जा रहा है। अर्थ नीतियाँ समाज-नैतिकता के अधीन आ रही हैं और प्रभूत उत्पादन से पहले सामाजिक न्याय को प्रमुखता मिल रही है।

इन तीन वक्तव्यों और व्यक्तियों में केवल सोल्ज़ेनित्सिन को आदर्श क्षेत्र का और अव्यावहारिक माना जा सकता है। नोबेल पुरस्कार के सम्बन्ध के अपने भाषण में उन्होंने कहा कि अपने पक्ष पर हर कोई आग्रह रख सकता है, पर दल हैं जो उस प्रण और हठ में, मानो पुण्य मानकर, अमानुषिक कृत्यों पर उतर आते हैं।

दोस्तोयवस्की की रचना 'पज़ेज़्ड' तो उन्नीसवीं सदी की एक उत्तप्त कल्पना थी, पर आज इस बीसवीं सदी के चौथे पर्व में ऐसी मण्डलियाँ हैं जिन पर वैसा पागलपन सवार हो जाता है। आवश्यकता आज है ऐसे दीर्घदर्शियों की, जो एक पक्ष में विपक्ष के प्रति सहानुभूति का अनुभव उतार सकें और इस तरह लोक-मानस को उदार और विशद बना सकें।

सोल्ज़ेनित्सिन को चलिए एक लेखक और आदर्श-भावी मानकर प्रस्तुत विचार में एक क्षण के लिए टाल भी दीजिए, पर शेष दो सज्जन तो एकदम ठोस व्यवहार और मुद्रा-क्षेत्र के लोग हैं। मैक्नामारा विश्व बैंक के अध्यक्ष हैं, और श्वत्ज़र अन्तरराष्ट्रीय विश्व फण्ड के व्यवस्थापक-निदेशक।

श्री मैक्नामारा ने साफ कहा कि विकसित और समृद्ध माने जानेवाले देश अपने ही लाभ की बात सोचेंगे तो खता खाएँगे और अपनी अर्थ-व्यवस्था पर संकट मोल ले बैठेंगे। मानव जाति को अधिक काल खाली और दलित नहीं रखा जा सकता। वर्तमान अवस्था ही यदि चलती रही तो परिणाम भयंकर होगा। न अब

सहायता की विधि को, और हेतु को, स्वार्थ-लिप्त रखा जा सकता है। उसे सामाजिक न्याय के अनुकूल होना होगा। यह भी उनके वक्तव्य से स्पष्ट हुआ कि दृष्टि अब जागतिक ही चलेगी और शक्तिशाली देशों का गुट अपने अलग हित का निर्माण करने बैठेगा तो धोखा खाएगा।

श्री श्वाइत्ज़र का कहना भी यही मानिए कि दूसरे की सहायता अपनी सहायता है और मुद्रा-विनिमय की विश्व प्रणाली को आविष्कृत और सुस्थित करना आवश्यक है।

किन्तु राजनीतिक नेतृत्व और चक्रव्यूह अब भी ऐसा बना हुआ है कि उस क्षेत्र में यह दृष्टि अपनायी जानी कठिन हो रही है।

आज का बड़ा प्रश्न शस्त्र-द्वन्द्व नहीं, अर्थ-द्वन्द्व है। शस्त्र-संघर्ष तो छोटे-मोटे देशों के बीच मानो जान-बूझकर उत्पन्न किया जाता है कि अन्तरराष्ट्रीय का स्वरूप विशेष विचलित न हो और शस्त्र-निर्यात की आवश्यकता पैदा करके महासत्ताएँ अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र में मजबूत बनी रहें। पर स्वयं वे महाशक्तियाँ हैरान हैं प्रस्तुत अर्थ-संघर्ष से। उसके समाधान का उपाय वे आसानी से निकाल नहीं पा रही हैं।

मैक्नामारा और श्वाइत्ज़र उसी क्षेत्र के विशेषज्ञ हैं और उनकी चेतावनी का किसी तरह कम मूल्य नहीं माना जा सकता।

राजनीति के व्यूह में कौन आपस में इस समय आमने-सामने हैं और कौन संग-साथ हैं, यह कुछ घपले में पड़ गया है। चीन और रूस की अनबन को पक्का माना जाता है और इसीलिए अमेरिका चीन से सम-सम्बन्ध बनाने में सचेष्ट रह रहा है। पर राजनीति अन्तिम विश्लेषण में अर्थ नीति से निरपेक्ष नहीं रह पाती और वहाँ जापान और पश्चिमी जर्मनी-जैसे देश तेजी से ताकत पकड़ते जा रहे हैं।

पर कितने ही पेच इस व्यूह में क्यों न पड़ते और बढ़ते रहें, इस तथ्य का सामना आगे-पीछे सब शक्तियों को करना ही होगा कि विश्व की अर्थ संरचना न्यायोचित और एकीकृत हो, अन्यथा मुद्रा संकट सम्पन्न देशों के वैभव को झकझोरकर रख देगा।

एक जागतिक दृष्टि अमोघ भाव से लोक मानस में जगती आ रही है और अगर पिछड़े माने जानेवाले देश विश्व परिवार की सभा में अपनी आवाज़ जुटा बैठते हैं तो विकसित देशों की समृद्धि ही उनके लिए संकट बन जा सकती है।

स्थिति की यह वास्तविकता आज बेहद उजागर होती जा रही है। अब तक नैतिक दृष्टि को राजनीति आसानी से टालती आ सकी थी, पर अब वह नैतिक विचार अधिकाधिक महत्त्व पकड़ता जा रहा है। माना जाता था कि भारत के पास

परम्परा से वह मनोभूमिका रही है, उसकी गुट-निरपेक्षता में गर्भित यही आशय था। परिस्थितियों के तकाजे से शायद वह निरपेक्षता उतनी अक्षुण्ण नहीं रह गयी है। फिर भी यदि वह अपनी नीतियों और परियोजनाओं में तनिक संशोधन लाकर स्वयं को आत्म निर्भर और आत्म-चालित बना लेता है तो वह इस नये नैतिक निर्माण का अब भी सूत्रधार बन सकता है।

[1.10.72]

गाँधी को भूलना खतरनाक!

गाँधी जयन्ती आयी और गयी। प्रार्थनाएँ हुईं। राम धुन गायी गयी। चरखे चले। भाषण हुए। फूलों और शब्दों की अंजलियाँ अर्पित की गयीं। बताया गया कि दिल्ली में लोग स्वराज्य के वर्षों में इस वर्ष पहले से अधिक सम्मिलित हुए। यह एक संकेत तो है कि शायद राजनीति से लोगों का चित्त विफल होकर फिर रहा है, तो भी लगता है कि गाँधी तीर्थ का पट इस पर्व पर खुला रहकर अगली जयन्ती की प्रतीक्षा में फिर एक वर्ष तक बन्द ही रहनेवाला है। हमारे काम-धाम, हमारी राष्ट्र नीतियाँ उससे निरपेक्ष होकर चलती रहेंगी, जिसको देश अपना राष्ट्र पिता कहता है।

बात कुछ गलत नहीं है। मृत की पूजा में ही जीवित जन जी नहीं सकते। जीवन के प्रश्नों से उन्हें खुद निबटना है; और जो उठ गया, वह सहारे को फिर आनेवाला नहीं है। इसलिए आज का भारत राष्ट्र यदि गाँधी को सिर्फ श्राद्ध के लिए याद करता है तो परम्परा की दृष्टि से कुछ गलत नहीं करता। इस लक्षण से मानना चाहिए कि देश वयस्क है और उसने अपने को सँभाल लिया है। गाँधी के सिद्धान्त के सहारे की उसे जरूरत नहीं है।

अपने स्वराज्य के 25 वर्षों में नेहरू-आदि को लेकर, यदि भारत राष्ट्र ने गाँधी के विषय में अपनी वयस्कता और स्वाधीनता प्रकट की है तो इसमें स्वयं गाँधी की अवज्ञा नहीं है, अनुज्ञा है। क्या गाँधी ने नहीं कहा था कि स्वराज्य हम गलती करने के अधिकार की प्रतिष्ठा के लिए चाहते हैं? गलती में से हम सीखेंगे और शायद हो कि अपनी गलतियों से हमारे सीखने की प्रक्रिया आरम्भ हो रही है।

गाँधीजी के बारे में चर्चा यह छेड़ी जाती रही है कि क्या वह आज के लिए संगत और सार्थक है? आसान यही निर्णय दिखता है कि जमाना आगे बढ़ आया है, और वह गाँधी पीछे छूट गया है, जो चरखा, शराब और खादी-जैसी छोटी बातों पर अटका रह जाता था। वह देहात की बात कहता था कि जब दुनिया

चाँद को पार कर मंगल ग्रह पर उतरनेवाली हो रही है...इत्यादि।

ऐसे गाँधी को टाल रखना किसी देश के लिए कठिन नहीं है। पर कठिन है मानवता के लिए। मानवता अब तक धारणा के रूप में ही हमें प्राप्त रही है। पर अब विज्ञान की यान्त्रिक प्रगति के आधार पर वह मानव जाति की धारणा से आगे सचमुच एक स्वरूप उपलब्ध करती जा रही है।

हमारी व्यवस्थाएँ ओछी पड़ रही हैं और विभक्त देशों की कल्पना अपर्याप्त सिद्ध हुई जा रही है। आपसी प्रतिद्वन्द्विता की नीति आगे चल नहीं सकती और युद्धों द्वारा निर्णय करने का ढंग परमाणु शक्ति ने आकर सदा के लिए बन्द कर दिया है। फिर भी हमारा राजनीतिक और आर्थिक व्यवहार उसी प्रतिद्वन्द्वी नीति से चिपका है। दूसरा कोई ढंग सूझ नहीं रहा है। खुले किसी रक्तारक्त समर में दुनिया मुठभेड़ में अगर नहीं पड़ सकती, तो अर्थ क्षेत्र में तो वह युद्ध निष्करुण भाव से चल ही रहा है। जाने क्या फल आएगा इस आर्थिक प्रतिस्पर्धा और होड़ का? तमाम राष्ट्रों की अर्थ नीतियाँ उसी भँवर में चकरा रही और परस्पर द्वेष-विद्वेष को तीव्र कर रही हैं। आज के रंग-भेद, जाति-भेद और तमाम अन्यान्य प्रकार के संहारपूर्ण भेद-प्रभेद उसी के लक्षण हैं।

जागतिक मानव प्रत्यक्ष होकर उभर आना चाहता है और राजनेताओं और राष्ट्रनेताओं के कारनामों पर चकित और भ्रमित है। विश्व का लोक जीवन अनुभव कर रहा है कि औद्योगिक और यान्त्रिक उन्नति के मूल्य में कहीं कुछ त्रुटि है और वहाँ सुधार की आवश्यकता है। शस्त्र सत्ता और अर्थ सत्ता के बल से जो चीजें चलायी जाती रही हैं, उससे मानव सत्ता का उदय हो नहीं पा रहा है। अत: यह यान्त्रिक और आर्थिक सभ्यता टूट रही है और डर है कि कब न वह ढह पड़े। गम्भीर विचार उस विकल्प की खोज में है जो प्रलय को रोके और जगत को सही धुरी पर डाले।

हम प्रश्नों को अलग-अलग लेने के आदी हैं। प्रश्न वे राजनीतिक हैं, सामाजिक हैं, आर्थिक हैं—पर सब मिलाकर मूल प्रश्न जीवन विधि का है। प्रतिद्वन्द्वी जीवन नीति टूटे बिना रहती नहीं दिखती। तब क्या?

यह महाप्रश्न एक का नहीं, सबका है—देश का नहीं, विश्व का है। देश भले उसे टालें, लेकिन विश्व उसमें चकरा रहा है। हर देश उसकी जकड़ को अनुभव कर रहा है और उसका उत्तर है तो एक ही है—और वह है : गाँधी!

भारत के स्वराज्य के निमित्त आहुत हो गया गाँधी यदि आज उसी भारत के वश का नहीं है, विश्व-व्यापी बन गया है, तो क्या भारत को प्रसन्न होने का अवसर है कि वह स्वयं गाँधी से मुक्त हुआ है और गाँधी विश्व के लिए

स्थगित बन गया है?

पर मुझे डर है कि यह स्थगन भारत देश के लिए भारी पड़ेगा। गाँधी के अभाव में केवल सोशलिज्म वर्तमान शासन की रक्षा न कर पाएगा। अर्थात, गाँधी को भुलाए रखना भारतीय जनता की ओर से खतरनाक होगा!

[8.10.72]

वेश्या की समस्या : व्यसन, वासना की नहीं व्यापार-व्यवसाय की

हाल ही दिल्ली में उस विश्व संस्था का एक महासम्मेलन जुड़ा जो वेश्या प्रथा का निषेध चाहता है। दुनिया-भर के लोग उसमें आये और सभी दृष्टिकोणों से इस प्रश्न पर विचार हुआ, पर उस सदुद्देश्य में सफलता कितनी मिलेगी, यह देखना है।

व्यभिचार उतना ही पुराना है जितना विवाह। स्त्री और पुरुष में जो परस्पर की माँग है, वह विवाह की संस्था से कभी भरकर पूरी नहीं हो सकी। विवाह का शायद प्रयोजन भी इतना ही था कि समाज में एक व्यवस्था आये और उसकी इकाई के रूप में परिवार को एक अधिष्ठान मिल जाए। इसलिए विवाह के नाना स्वरूप रहे। बहुपत्नीक और बहुपतिक—सभी तरह की विवाह की प्रथाएँ अब तक मौजूद हैं। किन्तु विवाह दायित्व की संस्था है और उसमें एक स्थिरता है। पर जिन्दगी थिर नहीं है, न दायित्व का भाव ही यथेष्ट व्याप्त है। सदा ही एक तिरती हुई जनसंख्या भी नगरों में रहा करती है और आवश्यकता होती है कि वेश्या भी हो। व्यभिचार मुँदा-ढका होता है, वेश्या खुले बाजार में बैठती है।

यह वारवनिता, लाँछन और आकर्षण, दोनों का ही केन्द्र रहती आयी है। पुरुष को तृप्त और प्रसन्न करने की कला का उदय भी इस संस्था के साथ हुआ है। यहाँ तक कि नवाबी युग में तहजीब की तालीम के लिए जवानों को उन्हीं के पास भेजा जाता था।

पर जमा बढ़ा है और साफ जटिलता भी बढ़ी है। अब न विवाह का केन्द्र उतना सख्त है, न वेश्या शब्द उतना लांछित है। शब्द यों अब भी तिरस्कृत हो, पर वह व्यवसाय उस निम्न कक्षा का नहीं रह गया है। सामाजिक स्वीकृति के लिए उसको उन्नत स्वरूप भी मिलते गये हैं। पर साथ ही वह व्यवसाय इतना मानो एक बड़े उद्योग के रूप में ही गठित होता जा रहा है और यही बवाल है जो प्रश्न उपस्थित करता है।

व्यसन और वासना तक रहकर तो वेश्या मानो समाज में खप जाने का उपकरण बनी रहती है। आवश्यकता की पूर्ति उससे होती है और एक तरह नगर की स्वास्थ्य-रक्षा भी होती चलती है। पर बात उसके सुगठित व्यवसाय तक बढ़ जाए तो उसको बड़ी एक महामारी ही मानना पड़ता है। व्यवसाय व्यसन और वासना से निरपेक्ष होता है। उसमें बल्कि एक गहरी हिसाबी अनासक्ति की आवश्यकता होती है। मुझे स्वयं यूरोप में नाइट-क्लबों के अधिपति मिले जो कट्टर गृहस्थ थे और जिन्हें उस काम में से तनिक भी मैला रस पाना अभीष्ट न था। वह और उद्योगों की तरह एक उद्योग था और गहरी गणित, वैज्ञानिक बुद्धि उसकी सफलता में दरकार होती थी।

यही पाप-पुण्य से निरपेक्ष बौद्धिक व्यावसायिकता है जिसने उपभोक्ता और उपभोग्य के सम्बन्ध को शुद्ध हिसाब के तल पर ला दिया है और सब प्रकार की वासना और भावना को चूसकर बीच में से अलग फेंक दिया है। विदेशों में समाज की एक परमिसिव स्वरूप की कल्पना उठी—अर्थात् दो व्यक्तियों के बीच का क्षेत्र निजी है और वहाँ समाज को दखल देने का हक नहीं आता है, अर्थात दो वयस्कजन राजी हों तो हर प्रकार के सम्बन्ध के लिए वे स्वतन्त्र हैं। विचार का इसलिए कोई प्रश्न नहीं रह जाना चाहिए। सम्मेलन में भी कुछ धार्मिक तक जन ऐसे थे जो भोग का ही सवाल हो तो स्त्री को, अपने को खुले तौर पर उपभोग्या बनने के अधिकार का समर्थन करते थे। चिन्ता उन्हें थी तो उस व्यापार-व्यवसाय की थी जहाँ उपभोक्ता से मिले पैसे का उसे पाँच प्रतिशत भी नहीं मिलता है और इस तरह स्त्री को निरी बिक्री का माल बन जाना पड़ता है। उसके थोक सौदागर होते हैं और उस व्यवसाय के चक्कर में नर-नारी की मनुष्यता सर्वथा स्वाहा हो जाती है।

अर्थात् प्रश्न तब उस काम-वासना से बिछुड़ जाता है जो प्रकृत है और उस अर्थ-तृष्णा से जुड़ जाता है जो अपेक्षाकृत आविष्कृत और उपार्जित है। दूसरे शब्दों में आर्थिक और यान्त्रिक सभ्यता के हाथों में आकर यह प्रश्न राक्षस के मुँह की तरह महा भयंकर बन गया है और विचार हैरान है कि इस प्रवाह में स्त्री को एक पुण्य पदार्थ से इंसानी हैसियत तक कैसे लाया जा सकेगा!

[15.10.72]

प्रजातन्त्र, जनतन्त्र, या... ?

राष्ट्र कई हैं, देश कई हैं, पर मनुष्य जाति एक है। इस एकता को अगर सिद्ध होना है तो राष्ट्र-राज्यों की शासन व्यवस्था पर एक दायित्व आता है और मर्यादा आती है।

अभी तक हम जिस धारणा पर अपनी व्यवस्थाओं का निर्माण करते आये हैं, वह है कि राष्ट्र अन्तिम है और राष्ट्रीय राज्य-शासन सर्वथा एक प्रभुतासम्पन्न संस्था है। उसके ऊपर यथार्थ में कोई अंकुश नहीं है। आदर्श में ही हो तो नैतिकता का एक अनिर्दिष्ट विचार तक बाधक हो सकता है। अन्यथा प्रत्येक राष्ट्र-शासन अपने में सर्वसत्तात्मक इकाई है और उनको युद्ध में परस्पर संहार तक कर पड़ने का अधिकार है।

किन्तु यह आधार ओछा पड़ गया कि जब दो विश्व युद्ध हुए और दोनों के बाद आवश्यकता अनुभव हुई कि 'लीग ऑफ नेशंस' या युनाइटेड नेशंस जैसी एक विश्व-पारिवारिक संस्था हो जिससे अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में किंचित नियमन आ सके और आगे विश्व युद्धों को बचाया जा सके। पर लीग ऑफ नेशंस तो शुरू से ही बेकार बनी रही और वर्तमान संयुक्त राष्ट्र का संस्थान भी आवश्यकता के अनुपात में समर्थ सिद्ध नहीं हो रहा है। वहाँ खुले-खजाने शक्ति की राजनीति चलती है और महाशक्तियों के हाथ में वीटो के द्वारा सारी कार्रवाई को रोक देने की क्षमता आ जाती है। दुनिया का चित्र इस विश्व-परिवार सभा के रहते-सहते भी व्याप्त शीत युद्ध का ही बना हुआ है। और राष्ट्र-सत्ताएँ अपनी उसी पुरानी नीति-निर्णायक धारणाओं पर योजनाएँ-व्यवसाएँ रचती जा रही हैं।

मनुष्य जाति गहराई में एक है और मानव हित अखण्ड है। यह बात कविता की और आदर्श की रहने दी जाती है। राजकीय और राजनीतिक व्यवहार में उसको तनिक भी ध्यान में नहीं लिया जाता; बरता ऐसे जाता है कि जैसे राष्ट्र-राज्य ही एक यथार्थ और अन्तिम सन्दर्भ हो, मानव सर्वथा वहाँ से खारिज हो। इस तरह मानवता और नैतिकता राजकाज के लिए अनिवार्य नहीं होती, मानो मात्र आनुषंगिक रह जाती है।

इसका एक भयंकर परिणाम आ रहा है। वह परिणाम यह है कि पिपुल्स और जनता के नाम पर चाहे राज्य चलाया जाता हो, पर शासन ऊपर रह जाता है, जनता नीचे अलग पड़ जाती है यानी वही पहलेवाले परम्परागत दो पक्ष बन जाते हैं : एक राजा, दूसरा प्रजा। राजा पुल्लिग है और प्रजा बेचारी स्त्रीलिंग है और जैसे यह लिंग-भेद स्वयं सूचक हो जाता है।

राज्य शास्त्र में हम सोशलिस्ट स्टेट, वेलफेयर स्टेट आदि शब्दों के आविष्कार तक आ गये हैं। सब सरकारों का दावा है कि वे विशुद्ध लोकतन्त्र हैं। अधिनायकवादी माने जानेवाले देश और भी जोर से दिखाते हैं कि उनके पास भी चुनाव की व्यवस्था है और देश में इतनी एकता है कि परिणाम 99.9 बहुमत का आता है; अर्थात शासन-व्यवस्थाओं के पीछे या तो जनता एकमत है, नहीं तो बहुमत से सहमत है।

पोथी के कानून से यह बात कितनी भी सच हो, पर अनुभव द्वारा हर एक को जानना पड़ता है कि वह आधी भी सच नहीं है।

सच होने का सीधा प्रमाण यह है कि प्रजा पर राजा का विश्वास हो और राजा का काम शासन रह जाए, बाकी काम-धाम के लिए जनता के करोड़ों-करोड़ों हाथ रहें। अगर पब्लिक सेक्टर जैसी बातें रह जाती हैं तो आशय यही तो है कि दोनों में प्रतिस्पर्द्धा और विमुखता है और राजा-प्रजा के बीच का सम्बन्ध आत्मीयता का नहीं है, शोषण और संशय का है।

जन-हित में सबं जगह सब-कुछ किया जा रहा है, पर अगर जन ही है जो उस सब किये जाते हुए को मुँह बाए देखता रह जाता है और अपने को असहाय और अकिंचन पाता है, तो बताइए, उस करने-धरने को जनता की भाषा में क्या कहा जाए? यह कहना क्या झूठ होगा कि कानून में और कागज पर होना एक होता है, सचमुच में होना बिलकुल ही दूसरा होता है।

शब्द है सोशलिस्टिक और डेमोक्रेटिक। अकसर इन दोनों का समास भी सुना जाता है। कहीं सोशलिस्टिक डिमोक्रेसी है, कहीं डिमोक्रेटिक सोशलिज्म है। केपिटलिज़्म शब्द बाजार से बाहर हो गया है और कोई उसे अब अपनाने को तैयार नहीं है। पर, शब्द से फर्क नहीं पड़ता है। जो है, है; और जो है, वह यह कि राष्ट्र-राज्यों की सरकारें सब कहीं अपनी क्षमताएँ बढ़ा रही और सरंजाम फैला रही हैं। सरकारी और अर्द्ध-सरकारी जो है, वह है। उस दायरे से बाहर जो रह गया, नहीं के बराबर है।

यह है आज का तथ्य और सम्बन्ध, जो राज्य और मनुष्य के बीच रहता जा रहा है। अन्तिम विश्लेषण में राज्य एक मशीन है जिसके पास हृदय नहीं

होता और यान्त्रिक सभ्यता का यही घोर विद्रूप है कि मानव की सहृदयता को यन्त्र की हृदयहीनता के नीचे पिसना पड़ जाता है।

क्या यह सम्भव है कि राष्ट्र-राज्य का वह स्वरूप उदय में आए जो मनुष्य की अखण्डता स्वीकार करे और उस एकता को उत्तरोत्तर सिद्ध करने में ही अपनी सार्थकता समझे? आज तो दुनिया में प्रवाह उलटा ही दिखता है।

[20.10.72]

समाजवाद और अपरिग्रह

समाजवादी विचार जन्म ले चुका था, पर उसको वैज्ञानिक स्वरूप ऋषि कार्ल मार्क्स द्वारा मिला। मार्क्स के विश्लेषण ने यह दर्शन उजागर कर दिया कि दीन-हीन सर्वहारा वर्ग की समस्या असल में सम्पन्न वर्ग के स्वार्थ और शोषण में से बनती है। उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इससे पहले दीन-हरिजन को अपनाने, उसके प्रति सहानुभूति रखने और दान-दया द्वारा उसे सहायता पहुँचाते रहने के विचार का समर्थन था। इस आधार पर सम्मिलित रहन-सहन के प्रयोग भी हुए थे, पर उस सब चेष्टा को भावात्मक ठहरा दिया गया और वैज्ञानिक यह सिद्ध हुआ कि दोनों वर्गों में हित-विरोध मौलिक होने के कारण श्रेणी-युद्ध अनिवार्य है और मार्ग केवल क्रान्ति का हो सकता है। इस विचार ने बहुसंख्यक सर्वहारा और बौद्धिक वर्ग के मानस को पकड़ा और आधी दुनिया में वैसी क्रान्तियाँ हुईं और राज-पलट पहली क्रान्ति हुई रूस में और जारशाही खत्म हुई।

मार्क्स के बाद गरीबी के प्रश्न को लेकर समाधान की दूसरी दिशा सूझने को रह नहीं गयी। मालूम हुआ कि सम्पत्ति अगर निजी नहीं रह जाती है—सार्वजनिक हो जाती है—तो यह सीधा इलाज है। नुस्खा वह चल रहा है और भारत का वर्तमान शासन उस प्रयोग में विश्वास रखता मालूम होता है।

मार्क्सवाद, समाजवाद का आज एकमात्र नहीं तो सर्वाधिक स्वीकृत रूप तो है ही। यह अकारण भी नहीं है। आधी दुनिया में राज्यक्रान्तियाँ हुई हैं और समाज व्यवस्था की कायापलट हो गयी है, पर मालूम होता है कि उन देशों की भी समस्याएँ कम विकट नहीं हैं और अन्तरराष्ट्रीय चक्रव्यूह में सोशलिस्ट और असोशलिस्ट सरकारों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

यह समाधान कि निजी सार्वजनिक हो जाए, अमल में उतरता है तो परिणाम में यह अनुभव नहीं होता कि श्रेणियाँ मिट गयी हैं। ऊँच-नीच नहीं रह गयी है; बल्कि श्रेणी-बोध व्यापक और गहरा हुआ लगता है। अलबत्ता श्रेणियों का रूप बदल गया है। श्रेणी दो रह गयी हैं : एक, सत्ताधारी और दूसरी, सत्ताहीन—राजन्य और अन्य।

मार्क्स का स्वप्न और था। सर्वहारा वर्ग क्रान्ति करके सम्पन्नों के वर्ग को जब समाप्त कर देगा तो संक्रमण का कुछ काल तो रहेगा ही कि जब सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता रहेगी। पर कुछ ही काल बाद श्रेणी की समाप्ति पर शासन-संस्था और राजस्व वर्ग भी समाप्त हो जाएगा। दूसरे शब्दों में राज्य समाज में खो जाएगा।

हुआ यह कि प्रत्यक्ष समाज के प्रति कार्ल मार्क्स में वैज्ञानिक और विश्लेषक वृत्ति रही, तब परोक्षभावी राज्य के प्रति रोमाण्टिक वृत्ति बनी रह गयी। वहाँ वह जैसे भावुक हो गये, वैज्ञानिक नहीं रह गये, अन्यथा उन्हें स्पष्ट हो जाता कि राज्य-संस्था इस प्रकार क्षरित होनेवाली नहीं है प्रत्युत उत्तरोत्तर फैलती और फूलती जानेवाली है।

व्यवसाय और उद्योग के समाजीकरण और राष्ट्रीयकरण की बात सोचते समय अक्सर बुद्धि इस प्रतिक्रियात्मकता में फँस जाती है। सामने को व्यापारी और उद्योगपति की बेईमानी को देखते ही लगता है कि उसको मिटाना काफी हो जाएगा, उसके हाथ से छीनकर अपने नुमाइन्दे को वहाँ बिठा देने से ही बस सब ठीक-ठाक हो जाएगा, पर, अगर और जब, वह सब ठीक-ठाक नहीं होता तो दोष इधर-उधर डाल दिया जाता है। उस तथाकथित समाजवादी विचार में ही दोष रह जाना सम्भव है, यह गुमान ही नहीं होता।

असल में प्रश्न अधिकार का नहीं, स्वयं सम्पत्ति का है। अधिकार को इससे उसके हाथ दे देने से तात्कालिक ही कुछ होता है, समाज-मानस में कुछ स्थायी अन्तर नहीं आता मालूम होता है। कपड़ा ही दूसरा हुआ है, अन्दर का इंसान वही रह गया है।

समाजवाद से विचार को आगे जाना होगा। समाज के अपने हाथ तो होते नहीं, हाथ होते हैं सरकार के, और अगर सवाल को यही शक्ल मिले कि माल सरकार के हाथों की मुट्ठी में रहेगा तो फिर कहीं त्राण नहीं रह जाता। वह मुट्ठी फिर बढ़ती और कसती ही जाती है और जिन्दगी उसकी दबोच में आ जाती है।

जिन्दगी को अगर खुलना है—सबकी सम्भावनाओं को, जन-जन को अगर खिलना है—तो इस मुट्ठीवाद, परिग्रहवाद, कब्जावाद की ही जड़ को काटना होगा। समाजवाद उस जड़ को रहने ही नहीं देता, बल्कि उसपर राज्य की मुट्ठी को और मजबूत करने की बात भी कहता है।

सहज समझ में नहीं आएगा, पर इसीलिए 'गाँधी और गाँधी का अपरिग्रह' आधुनिक समझ के लिए चुनौती है और ऐतिहासिक वास्तविकता है कि गाँधी सब स्वत्व और सब अधिकार से रहित और अकिंचन होकर भी लगभग पूरे जीवन-भर भारत-जैसे विशाल राष्ट्र का अखण्ड आधिपत्य करता रहा तो कैसे? समस्या है यह और इसके निदान से बाहर शायद समाधान भी कहीं नहीं है!

[29.10.72]

अहमदाबाद का सबक

अहमदाबाद के संसदीय उपचुनाव में सत्ता-काँग्रेस के प्रत्याशी की साढ़े पच्चीस हजार के अन्तर से हार हुई और निर्दलीय जीता। इस घटना को दलीय द्वन्द्व और परस्पर जय-पराजय के सन्दर्भ में देखा-परखा जाएगा। पर उसमें एक बड़ी सूचना है और बड़ी चेतावनी है। समय रहते उससे पाठ ले लिया गया तो ठीक, अन्यथा...।

एक जानकार बन्धु ने कथा सुनायी कि उनके अत्यन्त निकट के मित्र ने असेम्बली के चुनाव में अन्धाधुन्ध खर्च किया। टिकट शासन-काँग्रेस का था, इसलिए जीत हो ही जानी थी। हारे हुए प्रतिद्वन्द्वी ने दर्खास्त कर दी थी कि चुनाव में बेजा और बेहद खर्च किया गया था। नतीजा कि यह साबित करने के लिए कि खर्च दस हजार की मियाद के भीतर था, कोई पचास हजार उन्होंने ऊपर से और खर्च किया।

कहा जाता है, और श्री पुरुषोत्तम मावलंकर के व्यक्तित्व को देखते हुए विश्वास भी किया जा सकता है, कि इस चुनाव में व्यय अवधि से अधिक नहीं हुआ और यह जनोत्साह था जिसके बल पर यह गौरवशाली विजय उनको प्राप्त हुई। यह भी कहा जाता है कि इसमें काँग्रेस के विरोध की भावना प्रतिपक्ष के समर्थन से प्रधान रही और किसी की जीत से असल में काँग्रेस की हार लोगों को अधिक अभीष्ट थी।

राजनीतिक सत्ता को स्वयं मानो मूल्य ही मान लिया गया है। प्रेम में कुछ अनुचित नहीं रहता न। इसलिए देशप्रेम के आवेश में राजनीतिक दल यह मान बैठे कि दलीय राजनीति में भी अनुचित कुछ नहीं रह जाना चाहिए, तो यह दोष कहावत का हो सकता है, दलों का नहीं। पिछले आम चुनावों में क्या-कुछ नहीं हुआ? जो चल सकता था, चला। पैसा तो चला ही, जोर-जबरदस्ती भी खुलकर चली। यह अनुमान नहीं, प्रमाणित बात है। किन्तु यह समर्थन भी उन सभी पार्टियों के पास था कि जीत उनकी हुई और शासन-सत्ता उनके पास आयी तो उनको निश्चय ही देश का उद्धार कर डालना है। दूसरे के पास गयी तो सब देश का

सत्यानाश हुआ रखा है। इसलिए छोटी-मोटी बातों पर ध्यान देने का प्रश्न नहीं है। कारण, प्रश्न देश के पूरे भविष्य का है। वे कायर हैं, अव्यवहारी हैं, आदर्शवादी हैं जो साधनों पर रुकते हैं और साध्य को साधने के एकाग्र संकल्प में ढीले हो जाते हैं। शायद कुछ ऐसे ही ढुलमुल राजनीति चलती दिखती होगी। आवश्यकता थी कि प्रणबद्ध कोई नेतृत्व उठे और देश को आशान्वित कर दे। काँग्रेस मिली-जुली-सी चीज हो चली थी। वह दो-टूक हुई और श्रीमती इन्दिरा गाँधी का प्रबल नेतृत्व उदय में आया। बाँग्लादेश के प्रश्न ने इस नेतृत्व को चमका दिया। मालूम हुआ कि अब दुविधा नहीं है और नीतियाँ स्पष्ट हो गयी हैं। कदमों में ढिलाई नहीं है और एक साबित-कदमी से चला जा सकेगा। उत्साह में आकर देश ने इस नेतृत्व को प्रबल मत से अपना अनुमोदन दिया और हवा ऐसी बँधी कि बीच में बड़े-बड़े दिग्गज जैसे फूँक से उड़ गये, पर...।

एक आदमी था जिसने कहा था कि साध्य के साथ साधनों को भी सही रखना है! वह बात आदर्शवादी की बन गयी कि जब धर्मनिरपेक्षता का बोलबाला हुआ और सत्ता की राजनीति को सर्वस्व मान लिया गया। क्या देश के प्रेम में राज्य के उपकरणों द्वारा हमें देशहित नहीं साधना है? और राज्य की सत्ता तक पहुँचने में अगर बीच में झगड़ा-बखेड़ा आता है, थोड़ा ऊँच-नीच करना पड़ता है, तो क्या इसमें डर जाना है? वह नेता-पुरुष, वीर पुरुष कैसा, जो ऐसी अड़चनों पर अटक जाता है? अत: नीति धर्मनिरपेक्ष रखनी है और लोकव्यवहार को उसी तल पर चलाने से बचना नहीं है।

और लीजिए, नतीजा वह है कि जो सामने है। जिनको भुगतना होता है, वे जानते हैं कि पैसा भुगताए बिना इधर-उधर किसी तरफ एक कदम भी रख पाना आज सम्भव नहीं होता है। रास्ता साफ है तो सिर्फ उसके लिए, जो सरकारी अथवा सरकार-दलीय है।

लेकिन याद रखना होगा कि आदमी सिर्फ लौकिक नहीं है, नैतिक भी है। और यदि लौकिक के फेर में नैतिक को धता बता दी जाएगी, तो खबरदार रहें लौकिक, कि वह टिकेगी नहीं! पैसा काम करता होगा और पद और आतंक की भी चाहे कितनी ही ताकत हो, लेकिन उन साधनों से लोक-श्रद्धा को जीता या वश में नहीं किया जा सकता।

अहमदाबाद यही सबक देता है और आशा है कि सत्ता पर रहकर भी अपनी नीतियों के सम्बन्ध में काँग्रेसी दल नैतिक मानों की रक्षा के विचार को साथ ले सकेगा।

[5.11.72]

धर्म और राज्य के व्यवसायी

आज ही की बात है। सवेरे साढ़े चार बजे घूमने को निकला कि गाँधी समाधि की सड़क पर आते ही एक नयी धूमधाम दिखाई दी। तीस-चालीस बसें इधर-उधर बिखरी हैं, बड़ा कैम्प लगा है। भीड़ है और चख-चख है। रोज इस समय करीब सन्नाटा ही हुआ करता था। अनोखा-सा मालूम हुआ और पूछने पर पता चला कि सन्त बाल योगेश्वर पालम आ रहे हैं। सब मेला उनके दर्शनार्थियों का है। इससे भी बढ़कर एक कैम्प रामलीला मैदान में है। वहाँ ठहरनेवाला विशिष्ट अनुयायी वर्ग होगा।

एक से पूछा, ''भई, क्या करते हैं बाल योगेश्वर?''

बताया गया कि धर्म का और ईश्वर का परचार करते हैं। बताने वाले पढ़े-लिखे चाहे कम हों, पर ज्ञानी प्रतीत होते थे। वे योगेश्वर के बारे में एकदम विश्वस्त थे कि ठीक, मैं कह नहीं सकता। लगता जरूर है कि ईश्वर से सीधी जान-पहचान है मुश्किल। बाल योगेश्वर को वह प्राप्त हो, तो क्या ही बात है! उनकी चौदह वर्ष की अवस्था बताते हैं। धन्य-भाग्य है इस कलिकाल का, कि उसमें ऐसे अद्‌भुत व्यक्ति ने जन्म पाया है।

पर मुझे शंका है। सुनाया जाता है कि एक नहीं, अनेक जम्बो जेट विदेशों से उनके शिष्यों-भक्तों को लाएँगे और अपूर्व समागम होगा। वह तो होगा, पर शंका मन की मिटती नहीं। इस अपूर्वता पर वह और पक्की होती है।

ईश्वर है कि नहीं है—इस चर्चा का कभी अन्त नहीं आएगा। पर दुनिया के हिसाब में से उस व्यक्तित्व की जगह को कोई कम भी नहीं कर पाएगा। एक आधुनिक तर्क-शुद्ध दर्शन है जिसमें से सोशलिज्म और सेकुलरिज्म प्राप्त होता है। उस दर्शन का मूल आधार यह है कि ईश्वर नहीं है, है तो वहम।

इस 'नहीं' होने और 'वहम' होने पर इतना जोर पड़ा है कि इसी नवदर्शन और नवधर्म की दुकानें बन गयी हैं। आस्तिक धर्म की दुकानें थीं पहले भी, पर मुकाबले की दुकानों के खड़े होने पर उनमें भी फिर से नया जोर और जोम आ

जाए, तो यह स्वाभाविक ही है।

आप इनकार करेंगे और करते ही जाएँगे, तो क्या आपको सच बनाने के लिए उसे होना ही न पड़ जाएगा? तोड़ेंगे तभी तो किसी को जब वह पहले होगा। कुछ ऐसा ही करिश्मा दीखने में आ रहा है।

सन् '56 में चीन जाना हुआ था। वहाँ पीकिंग में एक मन्दिर देखा जो खूब साफ और करीने से सजा-बजा था। पूछा, ''क्या आपकी सरकार मन्दिर के रख-रखाव के लिए खूब पैसा देती है?'' बोले कि सरकार क्यों, भक्तजन देते हैं। आगे ज्ञात हुआ कि ऐसे भक्तजनों की संख्या बढ़ी है और बढ़ती जा रही है। साम्यवादी शासन से पहले इसी मन्दिर का खस्ता हाल हो चला था।

आशय कि भगवान को दुनिया के हिसाब-किताब में जगह देनी ही पड़ती है। इनकार कर सकते हैं और धर्मनिरपेक्ष नीतियाँ भी चाहे तो बरत सकते हैं—पर धर्म रहता है और बाल योगेश्वर-जैसे बालक जम्बो जेटों, कारों-बसों का भम्भड़ अपने चारों तरफ बढ़ाते चले जाते हैं।

और गुरु यही एक नहीं है। इसी दिल्ली में अन्य भी कई अपनी लीला दिखा गये हैं। वे आते हैं, जाते हैं और यह आवागमन का सिलसिला इस राजनगरी में टूट नहीं पाता है। स्पष्ट है कि यह राजधानी कानून से सेकुलर है और सोशलिस्ट है।

कहावत है, 'म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं' और 'न दो शेर या दो राजा रह सकते हैं।' कहावत में बहुत सार है। भगवान परलोक के लिए प्रभु रहे तो रहे, इस लोक में नहीं रह सकता। 'नहीं' इसलिए रह सकते, कि हर राष्ट्र को अपने-अपने शासक प्रभु की आवश्यकता होती है, और उसकी पूर्ति चुनाव से या अन्यान्य विहित विधियों से करनी होती है। बिन-बनाया ईश्वर ऊपर कोई हो बैठे, तो नीचे बने बैठे प्रभुओं का क्या होगा?

इसलिए फिर ऐहिक के साथ पारलौकिक के वास्ते भी गुरुओं और प्रभुओं को होना पड़ता है। अन्तर बस इतना कि ये गुरु एकच्छत्र नहीं होते। परमेश्वर के बिचौलिए होते हैं। वही आगे का टिकट देते हैं।

दो दिशाओं के इन प्रभुओं के बीच जनता के लिए प्रश्न चुनाव का नहीं, निभाव का है। और निभाव का एक ही ढंग है, वह यह कि बायें सिर झुकाओ और दायें भी सिर झुकाए रखो।

[12.11.72]

भैंस किसकी? लाठी जिसकी!

अवस्था होने पर हरेक को अस्वस्थ होने का अधिकार है। सो श्रीमतीजी ने बताया, ''हकीम ने कहा है कि गौ का दूध ले सकती हो, बल्कि लेना जरूरी है।''

मैंने सिर खुजलाया। गाय का दूध? गाय है कहाँ? अब तो वह भैंस है।

'गौ' पृथ्वी को भी कहते और मानते थे। पर यह संस्कृत और संस्कृति की बात रही होगी। अब तो दुनिया भैंस है। दूध अब उसका हलका, पतला और स्वस्थ नहीं होता, बल्कि गाढ़ा, भारी और ज्यादा मक्खनवाला हुआ करता है। अभागे कहिए उन्हें, जो फिर भी गौ की रक्षा चाहते हैं। भाग्यवान वे हैं, जो भैंस पर निगाह रखते और दूध-घीवाला पसन्द करते हैं। तभी, देखिए, समाज ऐसे बन्धुओं से गुलज़ार है जो दुनिया में घी-मक्खन से सदा सम्पन्न बने रहते हैं।

अर्थात्, प्रश्न सदा का है—भैंस किसकी? उत्तर भी सनातन है—जिसकी लाठी, उसकी!

नाहक-सी ही बात माननी चाहिए। पालकीवाला ने प्रश्न उठाया कि बुनियादी अधिकारों को छूने-छेड़ने का अधिकार क्या पार्लियामेण्ट को आता भी है? पालकीवाला विधि-विशेषज्ञ माने जाते हैं और ऐसी बातों के सुनने और उन पर निर्णय देने के लिए सुप्रीम कोर्ट है। वह निर्णय जो भी चाहे हो सकता है, पर सबसे बुनियादी प्रश्न और सबसे बुनियादी निर्णय तो बना-बनाया है कि 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस।'

सुप्रीम कोर्ट ने कुछ निर्णय पहले भी लिये थे, पर वे असुविधाजनक हुए तो सकरार के पास संसद में अपने दल का बहुमत था ही। बस, पार्लियामेण्ट में नया बिल आया और उस बहुबल में कानून बन गया। लीजिए, सुप्रीम कोर्ट बस अटका रह गया। आप न्याय के बारे में हों सुप्रीम, पर जिसकी शह से न्याय होगा, वह कानून तो दल के बहुबल से बनता है; अर्थात, आपके न्याय की सुप्रीमैसी से बड़ी सुप्रीमैसी है संख्या के बहु अथवा बाहुबल की। अब कर लीजिए, आप क्या कीजिएगा!

इसी से समझदार लोग कहते हैं कि सत्य होगा, भगवान होगा शास्त्र के लिए, अथवा सन्त-महन्त के लिए। संसार के लिए तो सच शस्त्र है और सत्ता है।

छान डालिए सारा इतिहास। मानव इतिहास तो धरती पर देर से शुरू हुआ। उससे पहले के इतिहास को भी चाहे तो साथ ले लीजिए। सबमें से मथा हुआ मक्खन यही निकलेगा कि शक्तियों में संघर्ष होता है और जो शक्ति जीत जाती है, उसी की मुट्ठी में न्याय, सत्य और भगवान—सब आ विराजते हैं।

यह पाठ विद्यार्जन और ज्ञानार्जन से अब तक पक्का होता रहा है। और अगर आगे निर्णय बुद्धिमानों के हाथ में रहा तो परम सत्य यही निर्णीत होगा कि परम सत्य कुछ नहीं है; है तो बल ही सच है और परम बल परम सत्य है।

देखिए अमेरिका को, रूस को, चीन को—इनको ही आज महाशक्ति गिना जाता है। जापान-जर्मनी भी इस श्रेणी की गिनती में आनेवाले हैं तो इसीलिए, कि उन्होंने भी शस्त्र-सन्नद्धता का संकल्प उठाया दिखता है। और तो और, पड़ोसी पाकिस्तान को ही लीजिए। बुद्धिमानी में भट्टो महाशय को कौन मात दे सकता है! लक्षण यह कि कहीं वे नहीं हैं! अभी यहाँ थिर, तो फुदककर कल वहाँ। और उन्होंने अमेरिका और उससे भी अधिक चीन से उधार ताकत लेकर खुद ताकतवर बनने का इरादा ठाना है। सुलह की बात भले इधर होती रहे, उधर का इरादा बदस्तूर रहेगा।

और कृपया यह न समझिए कि बड़ों की बात बड़ी और न्यारी होती है। तत्त्व ज्ञान में नेता से पिछड़ी जनता क्यों रहे? न गुरुओं के मुकाबले विद्यार्थी ओछे रह सकते हैं! बुजुर्गों से जवानों को तो बढ़कर आगे रहना है। चुनाँचे, यह लीजिए कि युनिवर्सिटी कैम्पस देखते-देखते शक्ति परीक्षण का क्षेत्र बन गया है। नहीं सही बन्दूकें, तो पत्थर तो अपने हाथ हैं। बाजुओं का बल कहाँ गया है? और फिर तेल, पेट्रोल बरकरार हैं, तो आग की तिली से काफी-कुछ स्वाहा हो सकता है।

मानना होगा कि लाठी बहुत सीमित हो गयी है। सिर्फ पुलिस के पास बच गयी है या कहिए कि देहातियों के पास। इसका आशय यह नहीं कि लाठी-सिद्धान्त सीमित रह जानेवाला है। जी नहीं, वह सिद्धान्त यदि सत्य और परम सत्य है तो उसको उसी भाँति अखिल निखिल में व्याप्त होना होगा।

तभी तो मार्क्स ने गहन गवेषणा से उपलब्ध की थियरी 'डाइलेक्टिक्स' की। इतिहास में वह व्याप्त है और ब्रह्माण्ड में भी वही व्याप्त है।

कुछ हैं जो धुर की बात कह गये और कर गये। ईशु साहब खुद बढ़कर क्रॉस पर चढ़ गये और प्रतिकार में सिर्फ दो बूँद आँसू बहा सके। गाँधी कह गये कि प्रार्थना में कोई मुझे मार सकता है और वचनानुसार सीने में तीन गोली

खाकर मर गये। इनका कहना रहा कि आदमी का हक जीने तक में नहीं है, सिर्फ मरने में है।

इनकी बात लेकिन जुदा है। क्या सिरफिरे लोग दुनिया में नहीं होते? इसलिए, निश्चित यही मानना चाहिए कि खुद जीने, उस जीने के हक की रक्षा करने, उसके लिए सब-कुछ माँगने और पाने, उसके लिए मनचाहा करने, रास्ते में आयी सब अड़चनों से लड़ने और सब दुश्मनों को उजाड़ने और मारने का हक इंसान का बुनियादी है। इसमें कोई दखल नहीं दे सकता है।

और सवाल भैंस का नहीं, उससे आज बड़ा है। दाँव गहरा है। इससे एक लाठी-पत्थर से चलेगा, उनको संगठित करना होगा। युवा-शक्ति को, राज-शक्ति को, और अन्तरराष्ट्रीय कूट-शक्ति को 'ऑर्गनाइज' करना होगा। 'ऑर्गनाइज' यानी लाठी को और सिद्धान्त को देवोपम स्थान मानना होगा।

[19.11.72]

कुछ अध्यात्म की बातें!

उस रोज एक पूजनीय पुरुष के शरीर को हम सब मिलकर मरघट पर भस्म कर आये। कारण, केवल काया रह गयी थी, आत्मा छोड़ गयी थी। निरा शरीर तो शव है और उसको यथाशीघ्र नष्ट कर डालना ही श्रेय है; अर्थात् मूल्य है तो आत्मा का है।

इसलिए अब साठ बरस के पार आकर मेरे लिए इस अध्यात्म के बाहर कहीं नहीं रह गया है, लेकिन....!

जो सज्जन सवेरे ही आये, उनकी प्रतिष्ठा अंचल से आगे जो नगर तक व्याप्त है, सो सत्कारपूर्वक मैं उठा। कहा, ''धन्यभाग, आज्ञा कीजिए।''

हाथ मेरे जुड़ आये और उन्होंने स्निग्ध कृपा से उनको थामा, मुस्कराए और बोले, ''आपकी लेखनी का प्रभाव जानकर आया हूँ। आप उसे संसार पर न गँवाएँ, तनिक अध्यात्म में चित्त दें। देखिए, आप बाबा मुक्तानन्द के यहाँ नहीं पहुँचे।''

''जी, नहीं आ सका...।''

''यही तो। कारण में आप यह कहेंगे, वह कहेंगे। पर असल बात, लगन की कमी है। और बाल योगेश्वर अभी आये हैं। मालूम है आपको, उनके कितने विदेशी भक्त थे? आठ तो जम्बो जेट ही आये थे। और सत साईं बाबा दिल्ली रह गये, वहाँ भी आप नहीं गये न...!

''तो पूछता हूँ, यह क्या है? अन्य साहित्यिकों और बुद्धिजीवियों को छोड़िए। वे तो नास्तिक हुए जा रहे हैं। आशा अभी आप से है। यह देश अपने अध्यात्म-पुरुषों से ही भारत है। निरी राजनीति से कुछ न होगा। राजनीतिकों को चाहिए, वे धर्मगुरुओं की शरण जाएँ। महेश योगी कुछ हों, पर उनका प्रताप देखिए। तो आपको सत्संग का लाभ लेना है और कलम को इधर लगाना है। देखिए, आप निराश नहीं कर सकते। कम-से-कम अपने साथ तो न्याय कीजिए। चलिए और छोड़िए, श्रीकृष्णमूर्ति को लीजिए। वे तो धर्म के नहीं हैं और संस्कृत-हिन्दी भाषा का भी ज्ञान उन्हें होगा, पर उनमें भी भारत के अध्यात्म का प्रकाश है। सुना है,

वहाँ तक आप नहीं जा पाते। लेखकों की यह आत्म तुष्टि और अहं-भावना घातक है। लज्जा आनी चाहिए कि मसिजीवी जन राजनीतिक नेताओं के दुमछल्ले बनने में गर्व मानते हैं, जब कि अपने भारतीय गरिमा-पुरुषों को वे ही नहीं पहचानते हैं...।''

मैंने उन्हें सिर झुकाया, जैसे कि इस सब सद्बोध पर धन्य हूँ। किन्तु उत्तर में कह कुछ भी नहीं सका।

बोले, ''गाड़ी लाया हूँ। आइए, चलिए।''

बोले ही नहीं, हाथ पकड़कर उठाने भी लगे। मैंने अचरज में पूछा, ''कहाँ?''

''एक सत्संग में। स्वामी (अमुक) आनन्द जी...''

''अभी तो...''

''बस, यही तो शिथिलाचार है...।''

और ''भारत के बौद्धिक वर्ग के इसी धार्मिक शैथिल्य ने भारत को गारत किया है,'' आदि-आदि कहते हुए वह अपनी उपस्थिति से मुझ अपदार्थ को वंचित कर गये।

नाम कतिपय ही उनसे प्राप्त हुए थे। अन्यान्य भी अनेकानेक हैं जो भारतीय अध्यात्म के गौरव की ध्वजा को ऊँची किचे हुए हैं। मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ।

किन्तु अध्यात्म क्या मर जाता है, शिथिल होता है? यानी क्या आग, आग रहते हुए भी, ठण्डी होती है? क्या अध्यात्म वही नहीं है जो सत है, चित है और नित्य सनातन है? फिर जिस अध्यात्म की मन्दता हो, अश्रद्धा हो, उसमें कारणीभूत वे जन ही नहीं रह जाते जो अध्यात्म के प्रणेता और प्रतीक-रूप में जगत् के ऊपर और समक्ष हुआ चाहते हैं? आत्महीन होते ही प्राणी शव बनता है और मरघट में स्थान पाता है, पर आत्मवान तो जिये ही जाता है न? अर्थात मरघट के सदा जगे रहने पर भी जीवन की प्रतिष्ठा कम नहीं होती। समूचा अध्यात्म इस तरह अपने में बसता और जीवन में चमकता है; अर्थात आध्यात्मिक वह, जो ज्योतिष हो, ज्वलन्त हो, जीवन हो।

मेलों-ठेलों में से ज्योति अध्यात्म की कैसे प्रकट होगी? दिल्ली में धर्मोपदेष्टाओं के निमित्त से जो धूम-धाम हुई, वह एशिया '72 की जगमगाहट के मुकाबले भला क्या रत्ती भी तुल सकती है? आशय यह कि उस रास्ते अध्यात्म का उदय होना मानना प्रवंचना में पड़ना और डालना है।

यदि अध्यात्म है यहाँ, तो उसके सामने चुनौती है कि भारत उसके आधार पर उठे, शक्तिशाली बने, अपनी समस्याओं का हल पाए, परिग्रह और संकीर्ण भाव से छूटे, अपनी नीतियों को अध्यात्मनिष्ठता में से प्रबल और सार्थक करके दिखाए और इस तरह विश्व को एक उस मार्ग का दर्शन कराए जिसकी उसे

प्रतीक्षा है।

पड़ोस में पाकिस्तान है, ऊपर चीन है। दोनों वे हमसे बिगड़े हैं। अमेरिका का तेवर भी हम पर टेढ़ा है। रूस हमारे साथ है और इसलिए ये तीनों देश हमारे विरुद्ध और भी साथ-साथ हैं। और इस विरोध-भाव के नीचे, कूट और प्रकट, सब ढंग की चालें चली जा रही हैं।

कहा जाएगा कि ये बातें राजनीतिक हैं। अध्यात्म शुद्ध आत्मा को लेता है, मैले संसार की ममता को नहीं पालता; तो मैं कहता हूँ कि यह अध्यात्म उस पोल को लेकर मग्न है जो है नहीं। जीवन की जीवन्तता से अलग और बाहर अध्यात्म के आवास के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। इसलिए भारत में अध्यात्म यदि और कहीं अवशिष्ट हो, प्राणवन्त हो, तो उसे भारत की राष्ट्र-नीतियों में अपने को उजागर करके दिखाना होगा, अन्यथा...।

अन्यथा, राजनीति का वही हाल रहे जाएगा जो कि है।

[26.11.72]

आग्रह-संग्रह की सभ्यता और लोकतन्त्र का भाग्य

अभी आन्ध्र और तेलंगाना में दुर्घटनाएँ हुई थीं। सम्पत्ति-नाश हुआ (विशेषकर रेल-सम्पत्ति) और जानें भी गयीं। उसके विवाद पर प्रधान मन्त्री की ओर से निर्णय दिया जा चुका है। निर्णय सहमतिपूर्वक उन पर छोड़ा गया था, लेकिन असन्तोष है, तनाव है और नीचे भभक मौजूद है। राज्य वह कुल मिलाकर एक है और प्रधान मन्त्री की ओर से घोषणा हो गयी है कि आन्ध्र खण्डित नहीं होगा, पर लगता है कि वैधानिक एकता के नीचे आग्रह दो हैं और दोनों सख्त और उत्तप्त हैं।

आसाम की भड़क यों कुछ ठण्डी-सी दीखती है, पर अन्दर की धधक बुझ गयी है, यह मानने की जल्दी नहीं की जा सकती। एक जानकार से बातों-बातों में किन्हीं भटाचार्य का नाम आया। मैं सिवाय इसके क्या समझता कि नाम बंगाली है, इसलिए वह बंगला पक्ष के ही नेता होंगे, पर मालूम हुआ कि वे तो कट्टर समर्थक हैं असमिया के। शिक्षा क्रम में वह बंगला भाषा का कोई स्थान नहीं रहने देना चाहते। वस्तुस्थिति इस हाल चाहे कितनी भी आपस में मिली-जुली हो, पर भाषाओं को लेकर और तदनुसार किसी राजनीति को लेकर, आग्रह दो खड़े हो गये हैं। वे फिर शान्ति-भंग की दुर्घटना को दुर्घटना नहीं मानते और बलि देने और बलि लेने की तैयारी में आगे आकर मुठभेड़ पर उतारू हो आते हैं।

दूसरे भी द्वन्द्व हैं और देश का अखाड़ा उनसे गर्म है। उनके नीचे भी मिलेंगे, इसी प्रकार के तने और तपे हुए परस्पर-विमुख आग्रह। आग्रह विद्यार्थियों का है तो सामने अधिकारियों का है। एक ओर कर्मचारियों की जिद है तो दूसरी ओर व्यवस्थापक अपने हठ पर अड़े हैं। स्पष्ट है कि न्याय दोनों ओर वाली मुट्ठियों में होता है और इसलिए ये यदि आग्रह रखते हैं तो वह शुद्ध न्याय का ही आग्रह हुआ करता है। इस पर दूसरे की जान पर खतरा ले आया जाए तो न्याय पर किये गये इस न्याय में अन्याय भला कहाँ आता है! या नहीं तो खुद भूखों मरने की न्यायोचित धमकी दी जा सकती है।

यह सब चल रहा है और साथ लोकतन्त्र भी चल रहा है। श्रीमती नन्दिनी सतपथी आखिर चुनाव में से ही चुनी जाकर उत्कल की मुख्म मन्त्री बनी रह सकेंगी। यह लोकतन्त्र की ही बानगी है कि मुख्य मन्त्री को वोट की भीख के लिए नीचे आना पड़ता है। चुनाव में हार जाए तो लीजिए, कहाँ रह जाता है मुख्य मन्त्रित्व? सामने के नेता पटनायक कहे जाएँ कि चुनाव ऐसा था और वैसा था और सच्चा वह था ही नहीं, पर चुनाव है और अस्तित्व मात्र से सिद्ध कर देता है कि तन्त्र लोकतन्त्र है।

इस तरह लगता है कि लोकतनत्र भी चल सकता है और परस्पर द्वेष, घृणा और हिंसा भी साथ-साथ निभती जा सकती है। पर सच यह है कि दोनों का निभाव जबरदस्ती का ही है और आगे-पीछे उनमें तलाक हो रहनेवाला है। हिंसा रहेगी तो उसी छत के नीचे लोकतन्त्र या तो डरते-डरते पलेगा या उसे लड़ते-लड़ते रहना होगा। अथवा, नहीं तो, लोकतन्त्र लोक के प्रति सच्चा होने की जिद में रहा तो हिंसा की कद्र न होगी, अधिकाधिक उसकी बेकद्री ही होती जाएगी।

पर है क्या? लगता है—कद्र है, मूल्य है तो हठीले आग्रह का है। उस हठीले आग्रह का, जो हिंसा को हाथ में ले सके।

पर दूसरी, जिसकी कद्र है आग्रह के साथ, उस मूल्यवान् वस्तु का नाम है—संग्रह। आपके पास धन का संग्रह है तब आप हैं यानी आप कुछ हैं। संग्रह नहीं है, और तत्पर आग्रह तब भी नहीं है, तो आप एकदम हैं ही नहीं यानी तब आप केवल भले हैं, और भोले हैं और गिनती में शून्य।

यह भारत के स्वराज्य की परम्परा मिल गयी है गाँधी की। परिणाम हुआ कि सत्ता का उत्तराधिकरण यहाँ निरुपादित होता चला गया। उसने भारतीय लोकतन्त्र को चमकाया, पर गाँधी को उसी नाते मरना पड़ा। मुस्लिम को गाँधी रिझाए रखना चाहता है इसलिए बिगड़कर एक चुस्त हिन्दू नौजवान ने गोली दागकर गाँधी को चलता कर दिया। बात भी सच है। काँग्रेस ने ही माना कि अँग्रेज को यह कहना कि वह और नहीं तो लीग को ही सत्ता सौंप जाए, पर हर हाल यहाँ से कूच कर जाए, भला कोई बात-की-बात हुई!

पर गाँधी ने इसी सूत्र का बीज डाला कि विमत भी आदरणीय है। वह लोकतन्त्र नहीं हो सकता जो डिसेण्ट से परहेज करे। लोकतन्त्र की खूबी है कि वह 'डिसेण्ट' पर निर्भर है, उसकी प्रतिष्ठा हो, बल्कि उस पर और दायित्व डाला जाए।

काँग्रेस की वर्किंग कमेटी में स्वराज्य से पहले जवाहरलाल नेहरू अल्प मत में रहते थे। गाँधी चाहे बाहर हो गये हों, काँग्रेस उनकी थी, कमेटी उनके रंग की थी। पर गाँधी ने आग्रह रखा कि नेहरू ऊपर रहेंगे। कारण, वर्किंग कमेटी

में नेहरू एक थे जिनके चित्त में गाँधी से असहमति दुबकी नहीं रह जाती थी।

गाँधी के साथ अनाग्रह का यह हाल, तो असंग्रह के हाल का तो सबको पता है। होते-होते उनकी अकिंचनता एक कपड़े तक ही रह गयी और चर्चिल को कहा कि दु:ख है, अभी तक मैं 'नेक्ड' फकीर नहीं हो पाया हूँ। लोकतन्त्र का भाग्य चमकेगा तो तब, जब निराग्रह और नि:संग्रह के मूल्य ऊपर आएँगे। आग्रह-संग्रह की वृत्ति कटेगी तो पूरी तरह नहीं, पर समाज-मूल्य और लोकनिष्ठा के शब्द से यह अनासक्त संन्यस्त अपरिग्रह पुरुष अधिष्ठित होगा तो उसी मात्रा में लोकतन्त्र भी सच्चा होता जाएगा। सत्ता का दर्प तो अधिनायक को ही शोभा दे पाता है।

[3.11.72]

विचार के आगे चुनौती कर्म की

अभी एक महत्त्व के पुरुष आए और इस उपलक्ष्य में महत्त्वपूर्ण गोष्ठी हुई। गोष्ठी का महत्त्व संख्या में नहीं, विषय और विचार की गहराई में था। डॉ. इवान इलिच एक अपने ही ढंग के व्यक्ति हैं। गहन और मौलिक, पर सरल और सामान्य। अड़तालिस वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने कई दिशाओं का अनुभव प्राप्त किया है। कई प्रकार के शिक्षा क्रम के स्नातक बने हैं। कई भाषाओं के विज्ञ हैं। व्यक्तित्व इनका चहुँमुखी है। पर लगता है, गहरा प्रेम उन्हें गरीबी से है और पैसे की संस्था और सभ्यता में से उन्हें दुर्गन्ध मिलती है।

प्रश्न अन्त में समाज पर आकर टूटता है; अर्थात् समाज कैसा बने? आज का मशीनी समाज उन्हें मान्य नहीं है। मनुष्य के मन को किनारे छोड़कर मशीनी सपना जाने किस अतिशयता के फेर में चलकर अपने भी अभीष्ट को नष्ट कर डालता है। इस तरह की बात सुनी औरों के मुँह से भी जाती है, पर इस इवान इलिच के पास से आकर वह मन में गहरी उतरती चली गयी। लगभग वही बात भारत के गाँधी की थी। पर गाँधी को अब भारत में आकर उन्होंने आविष्कृत किया, अन्यथा उन्हें अपना विश्वास अपने अन्तर से प्राप्त हुआ था। फिर तो उसकी व्यथा और वेग ने उन्हें मानो उसका व्रती ही बना दिया।

विचारक और भी हैं और अपनी जगह वे उतने ही प्रखर और संलग्न हैं जितने कि हो सकते हैं। सबके वादों से विचार के क्षेत्र में आज एक गहरा तुमुल मचा हुआ है। कर्म के तल पर वही हिंसा के छुट-पुट उत्पातों में प्रकट होता है। वे उत्पात युद्ध की प्रबलता धारण नहीं कर पाते हैं, क्योंकि वैचारिक वैमत्य के पास संगठित राजनीतिक क्षमता नहीं हुआ करती। युद्ध राजनीतिक सत्ताओं में छिड़ता है और उलट-फेर उन्हीं युद्धों के द्वारा होता देखा जाता है।

इसलिए सब वैचारिक प्रश्नों के आगे बड़ा प्रश्न यह आ खड़ा होता है कि उन पर राजनीतिक कर्म क्षमता कैसे जागे?

समाज यों मानव समाज है, किन्तु राष्ट्रों में बँटा है। इसलिए उसका उपलब्ध

रूप राष्ट्रवादी ही रह जाता है। व्यवस्था ऐसे अनेक समाज की राष्ट्र-राज्यों की चौहद्दी में चलती है और वहाँ की सरकारों द्वारा चलायी जाती है। सरकारों का फिर दलीय और वर्गीय स्वार्थ बन जाता है, जो उस देश के राष्ट्रीय स्वार्थ का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह मानव हित को इस गर्व-हित अथवा राष्ट्र हित की टक्कर झेलनी पड़ती है। इस टक्कर से बचाव का, मैं नहीं समझता, कोई मार्ग हो सकता है।

इलिच अथवा इस प्रकार के अन्य मौलिक और क्रान्तिकारी चिन्तकों के समक्ष चुनौती यह है कि विचार कर्म तक आए, पर हिंसा तक न आए। हिंसा में फटकर विचार अविचार हो जाता है और फिर अविचारी वर्ग विचारवान को अलग सरकाकर आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ कर लेता है। विचारक का अस्तित्व राजनीतिक भूमिका पर नगण्य रह जाए तो उसके विचार से उत्सृष्ट जागरण राजनीति के खिलाड़ियों के हाथ पड़कर कुछ-का-कुछ रंग ले सकता है।

गाँधी की खूबी भी थी तो यह कि वे 'हिन्द-स्वराज्य' के लेखक-मात्र होकर नहीं रह गये थे। वे अपने युद्ध-नेता भी बने। युद्ध उनका साग्रह अहिंसक रहा और इसमें ही असल में सब नवनिर्माण की सम्भावना समायी है। कारण, राष्ट्र की भूमिका पर सामर्थ्य सम्पादन करने के द्वारा ही कोई विचार नवनिर्माण का स्वरूप पा सकता है।

यह चुनौती इवान इलिच और अन्यान्य विदेशियों के लिए ही नहीं, स्वदेशी-सर्वोदय इत्यादि के उन नेताओं के लिए भी है जो भीमकायवाली औद्योगिक विकास-प्रणाली से सहमत नहीं हैं और किसी इष्ट समाज का अपना अलग चित्र रखते हैं और उसे प्रतिष्ठित हुआ देखना चाहते हैं।

राष्ट्रों की स्थिति तो स्पष्ट है। वे अन्तरराष्ट्रीय चक्रयुद्ध के अंग हैं और राजनीतिक अन्तरंग और बहिरंग समस्याओं से आक्रान्त हैं। भारत का पड़ोसी पाकिस्तान अपने शस्त्रास्त्र बढ़ा रहा है और युद्धबन्दियों को वापस पाने के लिए सन्धि-वार्ता चला रहा है। भारत उस वार्ता में पीछे नहीं रह सकता तो शस्त्रास्त्र के मामले में भी पिछड़ा कैसे बन सकता है! इस प्रकार शासन-सत्ता पर बैठे राजनेताओं का तर्क एकदम तात्कालिक और अनिवार्य होता है। वह इसी कारण अमोघ भी हो जाता है। उसके सामने बौद्धिक तर्क उपस्थित करने में कोई लाभ नहीं है। कृतित्व के रूप में ही उसे सामने आना चाहिए।

और बस, इस जगह घपला पड़ जाता है। आना-जाना, प्रचार-प्रसार सब पैसे के बल से होता है, जो सरकारी टकसाल में बना करता है। वह सत्ता का माध्यम है। उसकी निर्भरता के नीचे अमुक विद्रोही विचार को आना पड़ता है और शनैः-शनैः अपनी अभीष्टता से हाथ धो लेना पड़ता है।

अब आदर्शवादी विचारकों और आन्दोलकर्ताओं के सामने यह सवाल है कि नितान्त भाव-जागरण में से इष्ट फलित नहीं होता। प्रश्न रहता है कि भावोद्बोधन के साथ जनता के श्रम का ऐसा क्या उपयोजन हो कि बहुत दूर तक पैसा अनावश्यक हो जाए और लोक-सामर्थ्य उदित हो आए!

औद्योगिक और केन्द्रित उत्पादन यदि किसी को अमान्य है, और अमान्य होने का पर्याप्त कारण है, तो उस वैकल्पिक उत्पादन-विधि को किस प्रकार व्यवहार में समर्थ और सफल बनाया जाए?

गाँधी ने अपने जीवन में यह किया था। विचार दिया था, उसके लिए उद्यत संघर्ष किया था और विचार को रचनात्मक रूप पहनाया था। बाद में गाँधी का विचार मात्र रह गया, शेष दो आयाम लुप्तप्राय हो गये।

समाजवाद परिपूर्ण और सर्वांगीण सिद्ध नहीं हो पा रहा है। शायद वह पूरे मनुष्य को विचार में लेता भी नहीं। उसमें समता नहीं आ रही है, न सामाजिक न्याय प्रतिष्ठित होता दीखता है। स्थिति में विकल्प की माँग है। गाँधी विचार को विकल्प के रूप में ऊपर उठना होगा और उसमें यह योग्यता है तो उन विचारकों को अधिक तत्पर और व्यवहार के तल पर अधिक कर्मण्य बनकर दिखाना होगा।

[10.12.72]

कमाई और राज-काज

संसार सुन्दर है, क्योंकि विविध है। एक-से सब हो नहीं सकते, होने नहीं चाहिए। समता का मतलब यह है नहीं, और बना लेना अनुचित है। एक मत नहीं हो सकता, एक मति नहीं हो सकती। फिर भी जो मतवादी और मताग्रही बन जाता और उसी मत के प्रचार-स्वीकार में जगत का हित देखता है, वह अपने मोह में ही अधिक माना जा सकता है, हितैषी उतना नहीं। मत के साथ विमत भी रहेगा और दोनों को परस्पर आदर रखना सीखना होगा। फिर इस आदर की भूमिका पर मत-मतान्तरों में जो विवाद चलेगा, वह अन्त में संवादी सिद्ध होगा, रस देगा और संस्कारिता को किंचित उन्नत कर जाएगा।

अब आदमी स्तर और गुण-भेद से अलग होते हैं। कृपा है प्रकृति की कि उसने मानव को एक बनाया है, पर मानव-व्यक्तियों को अलग-अलग रखा है। हरेक अपने में अद्वितीय है। धर्म यों गिनती में यहाँ कुछेक ही नहीं, पर स्वधर्म सबके विभिन्न हैं। मोटे तौर पर तीन वर्ग देखे जा सकते हैं। उनको छोड़ दीजिए, जो काम अपना नहीं करते हैं, एवज में करते हैं—यानी नौकरी की खातिर करते हैं। काम दूसरे का है, करते ये हैं क्योंकि पैसा पाते हैं।

शेष तीन को सुविधा के लिए नाम दे लीजिए—सत पुरुष, राजपुरुष और संसारी पुरुष। तीनों का स्वधर्म उसी रूप में पृथक् हो जाता है। उनकी भूमिका क्रमशः नीति, रक्षा और वाणिज्य-व्यवसाय के अनुकूल होगी।

अपने शस्त्रों में एक 'वर्ण-संकर' शब्द आता है। शायद खींच-तानकर उस शब्द को अब रूढ़ बना डाला गया है। गुणवाचक से उसे जातिवाचक बना दिया गया है।

मुझे याद आती है गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की। अपने 'कुमुदिनी' उपन्यास की वह व्याख्या में उन्होंने बताया कि एक वर्ण-संकर विवाह-सम्बन्ध को उन्होंने अपने चित्रण और परीक्षण में लेने की सोची थी। वह संकरता वहाँ जातिगत नहीं, प्रकृतिगत रही होगी। पति के लिए धन-वैभव प्रमुख है तो पत्नी कुमुदिनी के

निकट दया-ममता आदि भाव अधिक मान्य हैं। इस तरह के द्वन्द्व को लेकर वह उपन्यास चलता है।

हमारा समाज अब पुराना तो रहा नहीं, तरक्की हुई है और बढ़वारी हुई है। इसमें वर्णक्रम बिगड़ा हो, वर्णच्छटा बेतहाशा बढ़ गयी है। आबादी ही जाने कितनी गुणी हो गयी होगी। गुजर-बसर का सवाल इतना मुश्किल हो गया है कि किसी को अपने गुण-धर्म के विचार का अवसर नहीं है। जहाँ जरा समाने की जगह मिली, वहीं घुसकर घुटते रहना पड़ता है। अतः स्वधर्म जैसे शब्द का प्रश्न रह नहीं गया है। अपनी पसन्द-जैसी किसी चीज का मौका नहीं है। जैसे मजबूरी है और वही चलाती है। नहीं, सदा बल की मजबूरी ही, घूस की मजबूरी के साथ तरह-तरह के विज्ञापन की मजबूरियाँ भी चल निकली हैं।

पर उस सब जगड्वाल की छोड़िए। एक वर्ण-संकरता है जिसकी तरफ ध्यान जरूर दिया जाना चाहिए। रक्षा का नाम एक है, वाणिज्य का दूसरा। राजपुरुष पहले वणिक की भाषा में सोच नहीं सकता था। अगर वह पैसे के अर्थ में अपने नफे की बात सोचने लगेगा, तो रक्षा उसके द्वारा फिर अत्याचारी की होगी, अत्याचार से समाज की रक्षा नहीं होगी। जिसका काम आततायी को दण्डित करना और आतंकित को आश्वस्त करना हो, वह आर्थिक लाभ के लालच में नहीं पड़ सकता। इस प्रकार राजपुरुष और वणिक अलग हो जाते हैं और वे क्षेत्र पृथक रहते हैं। क्षत्रिय और वैश्य के बीच के सांकर्य से समस्या विषम बनेगी। शायद उस विषमता का सामना कुछ हमें करना भी पड़ रहा है।

एक मत है कि 'राज्य शासन के लिए नहीं, जन-कल्याण के लिए' है। जन-कल्याण के निमित्त लोक-व्यवहार की सारी प्रणालियों और समूचे अर्थ-व्यवहार की धमनियों में राज्य को व्याप्त रहना चाहिए। प्रशासन-कार्य तो उत्तरोत्तर उसके लिए गौण बनते जाना चाहिए।

उस मत के साथ यहाँ विवाद में नहीं पड़ना है। पर जो कमाई में मन देगा, वह सामाजिक न्याय की रक्षा में प्रमाद किये बिना रह न सकेगा। लोकतन्त्र बहुतों का राज्य है। उन सब बहुतों के परिपालन के लिए बड़ा पैसा चाहिए। वे बहुत राज्य प्रतिष्ठा में आएँ और आम चुनावों में वे ही जीतें, इसके लिए और भी बहुत पैसा चाहिए। शास्त्र बता गये हैं कि पैसा व्यवसाय में बनता और बसता है। इस तरह लोकतन्त्र यदि स्वयं का ठीक न बने, तो उसे वणिक का हमजोली तो बनना ही पड़ जाता है। तब राज्य से न्याय की और रक्षा की जो माँग रहा करती है, वह पूरे तौर पर पूरी कैसे हो सकती है?

ऊपर जिस मतवाद का जिक्र किया, उसके फैलाव में यह शंका समायी रह जाती है। वाणिज्य के क्षेत्र का संकट यहाँ उजागर है। कीमतें आसमान को

छुए जा रही हैं। दूर क्या जाना, अपनी ही कहूँ कि महँगाई के मारे गुजारा बस कैसे हो पा रहा है। इलाज सीधा दीखता है यह कि बैंक कब्जे में लिये तो व्यापार भी ले लो; पर सोच लेना होगा कि कहीं वह बेहद ही सीधा उपाय न हो जाए यानी उपचार कहीं रोग को और बढ़ा भी न दे।

न्याय खुद जनता के हाथों में पहुँचे और अपना लाभ करने की नीयत राजकाजियों की केन्द्रित मुट्ठी में रह न जाए, जिसके कि कुछ लक्षण आज की स्थिति में दीखने में आते हैं, तो सोचिए कि भाग्य क्या होगा?

[17.12.72]

समाजवाद व शासन-मुक्त समाज

एक बन्धु ने कार्ल मार्क्स के बचाव में स्वयं खड़ा होना आवश्यक समझा है। उन्होंने समाजवाद की सही व्याख्या बताते हुए आश्वस्त किया है कि रूस में, पूर्वी यूरोप के देशों में, खासकर चीन में, समाज के अन्तर्गत वर्ग-विरोधों को क्रमश: दूर किया जा रहा है। यह क्रम पूरा होते ही वहाँ शासन-मुक्त समाज का दर्शन हो निकलेगा (नवभारत टाइम्स, 19-20 दिसम्बर, 1972)।

यह बहुत-बहुत अच्छी खबर है और उस पर विवाद की आवश्यकता नहीं है। हम सबको प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि कब और कैसे अधिनायक राज्य स्वयं अपना संरक्षण कर पाता है।

ऋषि मार्क्स शायद यह पसन्द नहीं करेंगे कि उन्हें त्रिकाल-सर्वज्ञ माना जाए। न यही चाहेंगे कि स्वप्न की क्षमता में उन्हें असमर्थ बताया जाए! श्रेणी-शासन-मुक्त समाज का अत्यन्त भव्य स्वप्न है। इसी स्वप्न की श्रद्धा थी जिसने मार्क्स को मार्क्स बनाया और उन्हें सामाजिक इतिहास के इतने गहन विश्लेषण की वैज्ञानिक क्षमता दी। इन बन्धु का यह मानना अयथार्थ है कि वैज्ञानिक के पास स्वप्न नहीं होता, वरन् यथार्थ यह है कि सच्चे वैज्ञानिक की यात्रा स्वप्नानुभूति से ही आरम्भ होती है।

महात्मा मार्क्स की गरिमा और महिमा इसमें है कि वह स्वप्न को स्वर्ग मानकर नहीं बैठ रहे। उन्होंने अपने तमाम प्राणपण से उस स्वर्ग को धरती पर उतार लाने की युक्ति की और बतायी। उस नवदर्शन के आविष्कार में उनके अन्तरंग का इतना प्राण-बल पहुँचा कि समूचा जागतिक मानस उनसे चमत्कृत हुआ और परिणाम में आधी दुनिया के राज्य-शासन उलट-पुलट हो गये। वह दर्शन इस अर्थ में गहरा मनों में उतर चुका है कि अब धनिकता में किसी पूर्व-संचित पुण्य का फल दीखने को नहीं रह गया है, प्रत्युत वर्तमान आर्थिक प्रणालियों का दुर्लभ उसमें अधिक दिखाई देने लगा है।

किन्तु शासन-मुक्त समाज के आदर्श को प्राप्त करने में दुनिया एक मार्क्स की सौगन्ध पर ही अटकी नहीं रह जाएगी। मार्क्स ने नसैनी बतायी। पर उस नसैनी से स्वर्ग धरती पर उतना नहीं दीखेगा तो दूसरा उपाय करना ही होगा। इस चेष्टा से मानव-इतिहास को किसी भाँति रोका नहीं जा सकता है। इसमें मार्क्स के बाद गाँधी को भी फेंकना पड़े तो इसमें किसी संकोच और दुविधा का अवकाश नहीं होना चाहिए।

मार्क्स स्वयं कहेंगे कि प्रमुख स्वप्न है और उसके साधक-रूप में ही उन्हें उपयुक्त मानना चाहिए। मानव जाति की उस साधना को अक्षुण्ण रखना और उसे सिद्ध करके ही छोड़ना है। मार्ग में अनेको मार्क्स-गाँधी आते रहेंगे, कहीं भी अड़कर नहीं रह जाना है।

यह गहराई से सोचने की बात है कि आत्म-शासित और आत्म-नियन्त्रित समाज ऊपर के प्रशासन के भरोसे प्राप्त होगा, या अनुशासन के अभ्यास से साध्य ही सकेगा।

स्पष्ट है कि 'शासन' शब्द तभी तक संगत है कि जब तक ऊपर बैठने के लिए कोई शासक और नीचे दबने के लिए दूसरा शासित है। राजा और प्रजा का भेद शासन-सत्ता के रहते मिट नहीं सकता। सत्ता सर्वहारा के नाम की अधिनायकता के हाथ आए तो भी यदि अन्य वर्ग विरोधी नहीं रहता तो शास्ता और शासित का नया स्तर-विरोध उपजे बिना नहीं रहनेवाला है। ऐसा होगा ही नहीं, हो भी रहा है, इसके साक्ष्य के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। नित्य-प्रति मिलनेवाली सूचनाएँ बस पर्याप्त हैं।

राज्य अनेक हैं, क्योंकि राष्ट्र अनेक हैं। उस अनेकता को सहसा समाप्त नहीं किया जा सकता है। किन्तु मानव-जाति एक है और उसका अन्तिम भाग्य भी एक है। एकता का वह काम राज्य के द्वारा नहीं, स्वयं मानव के द्वारा ही हो सकेगा; अर्थात राज्य पक्ष और मानव पक्ष दो रहनेवाले हैं और उनके बीच रगड़ व टकराहट चलती ही जानेवाली है। और यह है वह सनातन द्वन्द्व (डायलेक्टिक्स) जिसमें से मानव इतिहास को फलित होना है।

पुराना वर्ग-विरोध बासी पड़ गया है। यह नया मूल्य-विरोध उसका स्थान ले रहा है। पूँजी और श्रम का संघर्ष मात्र वर्ग-संघर्ष ही नहीं है कि उसकी दुहाई पर कोई सत्ता पर जा बैठे। वह उससे अधिक आन्तरिक और गहन संघर्ष है और सत्ताकांक्षा और सत्ता-योजना का उसमें कोई स्थान नहीं हो सकता। कारण, शासन-सत्ता स्वार्थिक हो जाती है, एक लोकसत्ता ही पारमार्थिक रह सकती है।

गाँधी संगत हो जाते हैं इसी जगह—इसलिए नहीं कि सिले कपड़े छोड़कर

वे उघाड़ते रहते थे; बल्कि इसलिए कि किसी भी हालत में सामान्य प्रजाजन से उठकर विशिष्ट सत्ताधीश वर्ग में जा बैठने से उन्होंने प्रणपूर्वक इनकार किया। अपनी काँग्रेस को भी उन्होंने यही सुझाया और निश्चय ही कभी सम्पूर्णतः स्वस्थ और शासन-मुक्त समाज इतिहास में उदय में आया तो वह सशस्त्र सत्ता के बल पर नहीं, बल्कि मनुष्य की आत्म-बलिदान की शक्ति से ही आएगा—कोई फलासक्त नहीं, प्रत्युत अनासक्त आत्म-बलिदान!

[24.12.72]

बड़ा दिन और नया वर्ष

25 दिसम्बर के दिन को हम बड़ा दिन कहते हैं। शायद इसलिए कि तब से रात की अपेक्षा दिन का घटना बन्द होता, बढ़ना शुरू होता है; बल्कि ज्यादा और असल इस कारण से कि यही महामहिम दिन था जब यीशू ख़्रिस्त ने अपनी मुक्ति प्राप्त की थी।

मुक्ति उन्हें साधना में सीखी नहीं मिली, धर्माचार्यों और राज्याधिकारियों की कृपा से उपलब्ध हुई। उन व्यवस्था-पुरुषों ने माना कि यह आदमी चोर-उचक्कों से ज्यादा बड़ा खतरा है। इसलिए ऐसे दो उठाईगीरों के बीचों-बीच उनकी सूली की सलीब को रखा गया, जहाँ उनको काँटों का ताज पहनाया गया, हाथों और पाँवों में कीलें ठोकी गयीं और उस देह पर यातनाओं की हद कर डाली गयी।

क्राइस्ट की आँखों में आँसू आये कि उसको पीड़ा देनेवाले जन जानते नहीं हैं। आर्द्र करुणा के वे आगार थे। किन्तु तभी बोध जगा कि यह सोचना भी अपने पिता के प्रेम को नहीं पहचानना है। हो रहा है सो उन परम वत्सल के आदेश पालन में ही हो रहा है। यन्त्रणा जिनके हाथों आ रही है, वे उन परमेश्वर के प्रसाद के दातार ही तो हैं।

और उस प्रेम और सत्य के अवतार को जन्नत के मनुजों के हाथों रक्त से आरक्त यह मृत्यु क्या प्राप्त हुई कि काल का पट फट रहा और वहाँ से इतिहास का नव-आरम्भ हो गया। तब से ईसवी ही सन चल रहा है, शेष संवत बीच में लुप्तप्राय हुए पड़े हैं। गणना के लिए क्रिसमस के दिन घटी यह अघटनीय घटना कीर्तिमान के रूप में काल के कलेजे में मानो गड़ गयी है और मानव-जाति का समूचा इतिहास 'ईसा-पूर्व' और 'ईसा-पश्चात' की भाषा में परिणत हो गया है।

इस चमत्कार-प्रताप का रहस्य क्या है? क्या एक व्यक्ति? उसका निजत्व? नहीं, उस व्यक्ति को ही सूली के समय सब छोड़ गये थे। उसकी मृत्यु को भी रोनेवाला नहीं था। साथी जो रहे हों, उस क्षण के लिए कोई न बचा और अन्तिम

यात्रा में वह बस एक और अकेला ही था!

और एक से भला क्या होता है! सचमुच कुछ नहीं होता। पर हुआ, इतना हुआ कि सारा इतिहास उसके आगे झुक आया। रोमन साम्राज्य से दुर्दान्त भला दूसरा क्या होगा! वही साम्राज्य जड़-मूल से ध्वस्त हुआ और उस एकाकी ईसा की ईसाइयत समूचे मानव-भाग्य पर छा गयी।

प्रताप था यह उस मानव-शक्ति की निजता का नहीं, वरन इस सत्य का और तत्त्व का कि उसने अपना अस्तित्व नहीं रखा, क्रॉस को चुना। क्रॉस—अर्थात यज्ञ—अर्थात आत्माहुति!

आज भरोसा किया जाता है हनन की शक्ति का। उसी क्षमता को सिद्ध करने के लिए राष्ट्र अपना शस्त्रास्त्र सम्भार बढ़ाने के आयोजन में लगे हैं। लगता है कि दूसरे की कोई सत्यता शेष है नहीं। आणविक आयुध नहीं काम आ सकेंगे, फिर भी बन रहे हैं और उनका फैलाव ऐसे रुकता नहीं है। राष्ट्र-सत्ताओं का यह हाल है तो छोटे-मोटे संघर्षों के निमित्त फिर हिंसा के सिवा किसी दूसरी नीति की कौन याद करने बैठेगा! सोचिए कि मजदूर, किसान, विद्यार्थी आदि ही फिर क्यों अपनी समस्याओं के लिए किसी दूसरी दिशा में देखेंगे? पर है दूसरी दिशा, और वह अमोघ है। यह केवल धर्म शास्त्र की बात नहीं, मानवीय इतिहास की ठोस और सिद्ध यथार्थता है। सामने से खतरा आये, चुनौती आये, विरोध-विमत उपस्थित हों तो सीधा उपाय सूझेगा कि देखते ही उसे खत्म कर दो। प्रतिपक्ष और प्रतिपक्षी को जीने न दो। कुश के मूल में ऐसा मट्ठा दो कि फिर अंकुर ही न आ सकें। और हत्या और हनन का यह ढंग ही सदा अपनाया जाता रहा है। आज के लोकतन्त्र में सिद्धान्त चाहे हो कि प्रतिपक्ष रहेगा, सह-अस्तित्व निभाया जाएगा, पर आचारतः सिद्धान्त को झुठलाना ही पड़ता है।

ईसवी सन का यह नया उदय है। 72 बीता, 73 खुल रहा है। इस नववर्ष की सबको बधाई! यीशू ख्रिस्त के मार्ग पर सबका अभिनन्दन! वह मार्ग ही सावधान का है और क्राइस्ट अवतार के समान पूजनीय हुए तो इसलिए कि हनन के विरोध में उन्होंने आहुति के मार्ग का द्वार खोला। दिखाया कि वह है स्रोत, जहाँ से मूल सृजन-शक्ति का उद्भव है। हनन न शत्रु को गिरा पाता है, न शत्रुता को, वरन शत्रुता उस विधि अनन्त बनती है और विष-चक्र की कहीं समाप्ति नहीं रहती।

वियतनाम पर हो रही दारुणता के लिए हम अमेरिका की ओर उँगली उठा सकते हैं। उचित भी है, पर समूची मानव-जाति, विशेषकर विश्व के ईसाई राष्ट्र, एक उसी पन्थ के अनुयायी हैं और सच पूछिए तो उस अभियोग में हम सभी एक-दूसरे की ओर इंगित कर सकते हैं।

कितनी भी उन्नति के साथ हो, पर यह सच है कि एक हाहाकार आज व्यापा है। एक-दूसरे को मार देने के अतिरिक्त भी मनुष्य के पास कुछ शेष बचना चाहिए। क्या परस्पर प्रेम की गवेषणा होनी चाहिए? क्या आशा की जाए कि ईसवी सन के इस नवोदय में हम प्रभु ईसा के उदाहरण को समझेंगे, उससे पाठ लेंगे?

[31.12.75]

आर्थिक और नैतिक का नाता

मैं सोचता हूँ, वैसा मैं रह नहीं पाता हूँ। हरेक का यही हाल है। सोचने में आदमी आजाद है। रहने में पड़ोसी को सहना भी होता है। इस तरह रहना उतना मुक्त और वैयक्तिक नहीं रहता, वह मर्यादित और सामाजिक हो आता है।

सोचना मानो आकाश में उठती सीधी सतर, खड़ी रेखा है। रहने की रेखा धरती पर पड़ी होती है। सोचने में चाहे तो आसमान छू लीजिए। बड़ी आसानी से आप यहाँ बैठे-बैठे अपने लिए स्वर्ग की रचना कर सकते और स्वयं को इन्द्र बना पा सकते हैं। सिर्फ इतना है कि आँख खोलने पर स्वर्ग गायब हो जाएगा, आप-भर रह जाएँगे, और परस्परता के ताने-बाने से बुनी यह भली-बुरी दुनिया सामने को हो रहेगी। दुनिया सम्बन्धों की होती है, और सोचने के द्वारा बनी हुई योजनाएँ अबाध-असम्बद्ध हो जाया करती हैं। शेखचिल्ली को कौन कह सकता है कि वह धरती-आसमान के कुलाबे न मिलाए! काम यह बड़ा प्यारा और अनोखा जो होता है। बस, इतना है कि नाम ऐसे आदमी का शेखचिल्ली हुआ करेगा।

मेरा अनुभव तो भई, उलटा है। सोचा कभी हुआ ही नहीं है। हुआ है वह जो पीछे लगा कि होनहार था। होने का तर्क अपना अलग है। सोच तो मनमाना लिया जा सकता है।

काँग्रेस ने प्रस्ताव पास किये हैं और प्रण ठाना है कि गरीबी हटेगी और महँगाई कटेगी। जमाखोरी, नफाखोरी, घूसखोरी आदि खोरियाँ मिटा डाली जाएँगी। इसके लिए काँग्रेस के गठन को चाहे नयी शक्ल देनी पड़े, पर यह सब होगा। काँग्रेस को इस सबके लिए सही साधन बनना होगा। उस पर दायित्व है और आम चुनाव द्वारा करोड़ों की जनता ने उसे अपना भरोसा सौंपा है। उसे वादे पूरे करने हैं और एक लम्बा सफर तय करना है।

'काँग्रेस' सुनने में एक शब्द-जैसी लग सकती है, पर चीज वह बेहद-बेहद बड़ी है। टी.वी. पर अध्यक्ष का जुलूस नहीं देखा आपने? मुण्डों का एक अपार सागर था। और बस पूछिए नहीं...तो लाखों-लाख सदस्यों की जमात ने

इकटठा होकर ही प्रस्ताव सोचे और तदनुकूल संकल्प बाँधे हैं।

अब क्या शक है कि बही न होगा? सोचा हुआ एकदम क्या हरफ-ब-हरफ दुरुस्त नहीं है? फिर वह क्यों न होगा? उसे होना ही पड़ेगा।

पर किया क्या जाए, होता सदा वह है जो होता है! कागजवाला नहीं भी हुआ करता। कारण? कारण कि प्रस्तावित योजनाओं का रूप एक संघ-संगठन के इरादों से बनता है। पर कहते हैं कि नरक का फर्श भी नेक इरादों से बना होता है। क्यों साहब, नेकनीयती नरक की धरती में गड़ी क्यों रह जाती है? इसलिए कि नीयत के इरादे अपने-आप में चलते जो नहीं हैं। वे सिर में बनते हैं, चला पैरों से जाता है।

जिस धरती पर चलना होता है, वह आपसी सम्बन्धों पर बनी और टिकी होती है। वहाँ आपाधापी हो सकती है, या समानता और सहृदयता भी हो सकती है। शोषण और अन्याय हो सकता है या सामाजिक न्याय भी हो सकता है। सारांश कि जैसे आप मनमाना सोच सकते हैं, वैसे मनमाना जी नहीं सकते। जीना संग-साथ होता है और उसमें दूसरे का निभाव आता है।

अर्थात, आर्थिक योजनाओं के लिए नैतिक हाशिया जरूरी है। चीजें बनें और बाजार में आएँ, तो जरूरी यह भी है कि जरूरतमन्द के पास खरीदने को पैसा भी हो। बनानेवाला ही अपने माल को खा नहीं सकता। अर्थात् उपज और खपत का रिश्ता सही हो और सीधा हो। अर्थ के ठीक योजन-विनियोजन के लिए मूल में आवश्यकता होती है भरोसे की, साख की। साख वह घटी या उड़ी तो नोट अपने कागज के मोल तक का नहीं रहता। आशय यह कि आर्थिक को नैतिक नींव चाहिए। काँग्रेस की, राज की और अर्थ की नीतियाँ निर्दोष और निरपवाद हो सकती हैं, उनके पीछे का हेतु हितकर और अभीष्ट हो सकता है। फिर भी नरक का फर्श बनने में उनसे सहायता मिल सकती है, यदि समाज के जीवन-पट में, प्रशासन-यन्त्र के क्रिया-कलाप में नैतिक मूल्यों का अविचार है। सोचना गणित के तर्क से ठीक हो, पर जीने का गणित तनिक सूक्ष्म है। वह आर्थिक नहीं होता, मात्र बौद्धिक नहीं होता, वह अधिक हार्दिक और पारस्परिक हुआ करता है।

राजनीति के तल पर फिर एक ध्रुवीकरण-सा आ रहा है। परस्पर की सहायता घुँटी जा रही है। वर्गों और श्रेणियों और दलों के सम्बन्धों में प्रतिद्वन्द्विता ऐसी तीखी हो रही है कि सद्भाव का विनाश दीख रहा है। और राजनीति को सचेत होने की आवश्यकता है कि कहीं उसके भले इरादे बुरे परिणाम न ला बैठें। अगर बस उसे सत्ता की तृष्णा है तो यही होगा। और फिर....

[14.1.73]

समाजवाद और गुरु भगवान

बम्बई जटिल नगरी है। ऊँची-से-ऊँची अट्टालिकाओं के लिए भारत में बम्बई है तो फुटपाथ पर बसेरा डाले पड़े लोगों की भीड़ के लिए भी दर्शनीय बम्बई है। वहाँ धन खूब है तो धर्म की भी प्रचुरता है। साथ ही हाहाकार, हुल्लड़ और हंगामा भी कम नहीं।

इस बार बम्बई जाना हुआ तो अजब लगा। समझता आया था कि भगवान एक है, पर अनेक तो वहीं विद्यमान मिले।

एक बन्धु रजनीश आचार्य थे, अब 'भगवान' हैं। 'बन्धु' इसलिए कहता हूँ कि इण्टरमीडिएट में पढ़ते थे तब मिले थे। काफी पास बैठा करते थे। उनकी प्रतिभा असंदिग्ध थी और उनकी गम्भीर जिज्ञासा से मैं प्रभावित हुआ था। उनकी वाणी अत्यन्त प्रखर थी। परिणाम हुआ कि कॉलेज में प्रवक्ता होने के बाद सार्वजनिक माँग पर वे मंचीय वक्ता हो चले। वक्तृता की अनोखी शक्ति ने उनको प्रशासकों और भक्तों की भीड़ दी और इस तरह क्रमशः उनका आसन भगवत्ता का होता चला गया।

कोई अपने को 'भगवान' माने और कहलाए, तो इसमें तत्त्वतः कोई दोष है नहीं। भगवान अखिल-निखिल में व्याप्त है। इस तरह किसमें नहीं है और कौन भगवान नहीं है? इस प्राकर के घट-घटवासी भगवान के प्रवेश से सार्वजनिक को सहारा मिलना चाहिए। सदभाव आना चाहिए। कारण, सब एक-दूसरे के लिए भगवान-समान हो जाते है तो विषमता के लिए कहीं अवकाश नहीं रह जाता। तब शोषण नहीं रहेगा, भ्रष्टाचार भी नहीं रह जाएगा। सच पूछिए तो हमारी लौकिक नीतियों में कमी है तो यही कि उस अन्तर्व्याप्त भगवान का स्पर्श उन्हें नहीं प्राप्त है। राजनीति की यही त्रुटि उसको कृतार्थता नहीं मिलने देती।

पर उस भगवान का क्या कीजिए जिसको आपस में विषमता बनाने के लिए ही रचा जाता है? गुरु के चरणों में स्थान होता है शिष्य का। बराबरी यदि कहीं बरती जाए तो अपमान का पाप लग जाता है। मालूम होता है कि इसीलिए

सेक्युलरिज़्म की आवश्यकता होती है और राजनीति को इसका एक सिद्धान्त ही बना देना पड़ता है।

रजनीशजी से मैं इस बार भेंट नहीं पा सका। वह मुझे अत्यन्त प्रिय हों, पर बेहद व्यस्त भी हैं। उन्हें पहले संकेत मैं दे सका था कि आदमी अपने को ऊँचे आसन पर बिठाकर कहीं घाटे में तो नहीं रह जाता! शिष्य और भक्त बननेवाले को गुरु से सहारा होता है तो स्वयं गुरु तो कहीं इसमें सहाराहीन नहीं हो जाता है? आपसीपन हम सबको निबाहे रखता है। डेमोक्रेसी इसीलिए सब तन्त्रों में श्रेष्ठ मानी जा सकती है कि उसमें सब परस्पर में आश्रय-स्थल बनते और एक समताशाली समाज की बुनियाद डालते हैं। रजनीश की बुद्धि सूक्ष्म है, अतः भगवान उन्होंने कैसे अपने को बनने दिया, इस पर आश्चर्य है। पर वैसा कुछ मोह रहने के बावजूद, सहज बुद्धि से वह अपनी स्थिति की विडम्बना अनुभव नहीं करते हैं, यह नहीं माना जा सकता है। सब तरह की सुख-सुविधा उनके पास जुट आयी है जिसका रंच भी उन्हें पहले प्राप्त न था। किन्तु उस ऊपरीपन में जड़वत टिक रहनेवाले वह हैं, ऐसा मैं नहीं मान पाता। औरों की बात अलग हो सकती है। मिसाल के लिए बाल योगेश्वर को ही लिया जाए, पर रजनीश?

क्यों ऐसा होता है? क्यों समझदार भगवान बन उठते हैं और क्यों दूसरे समझदार भक्त बन आते हैं? इसके नीचे अवश्य कोई गहरा मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सार्वजनिक कारण होना चाहिए। कुछ एक तो हैं नहीं, असंख्य हैं जो इस फेर में हैं। खासा इसे एक उद्योग ही समझ लीजिए। निश्चय उसकी सफलता में अद्‌भुत कौशल की आवश्यकता होगी। मुझे मालूम है, एक कारखाना खड़ा करने में कितनी खट-पट लगती है। एक गुरु भगवान के कारोबार के विस्तार की भला कारखाने से क्या तुलना? फिर श्रेष्ठता और उच्चता अलग। शेष उद्योग भौतिक हैं तो यह होता है आध्यात्मिक। इसमें से प्राप्ति वस्तु की नहीं, मोक्ष की होती है।

भारतीय राज्य की नीति धर्म-निरपेक्ष है और समाजवादी है। लगता होगा, इसीलिए इस मामले में वह सर्वथा निर्दोष है। पर मुझे प्रतीत होता है कि इस सब कारोबार की जड़ में दोष है तो उसी ऐकान्तिकता का है। आप समाज को मानेंगे और अपेक्षा में व्यक्ति को कम मानेंगे तो व्यक्तिवाद को अनिवार्यतया बढ़ावा मिलेगा। पुराने जमाने में व्यक्ति को माना गया और खूब माना गया। उसके अन्दर आत्मा विराजमान है जो अपने शुद्धान्तिम रूप में स्वयं परमात्मा है। इस तत्त्व-सिद्धान्त को लेकर लोगों को समाज-निरपेक्ष प्रतिष्ठा दे डाली गयी। इससे सामाजिकता में ग्रन्थियाँ पड़ीं और भ्रान्तियाँ बढ़ीं। वैचारिक क्षेत्र में एक अराजकता-सी व्याप्त हो गयी। परिणाम में फलित हुआ समाजवाद और उसके परिणाम में आजकल

फलित हो रहा है विलक्षण और विचित्र अध्यात्मवाद!

यह अध्यात्म यदि नीचे चल रहा है तो इसलिए, कि समाजवाद ऊपर से चलाया जा रहा है।

क्या आशा की जाए कि इस मूलभूत सम्बन्ध को समझा जाएगा और मत-सिद्धान्तवादी राजनीति को नागरिक भूमिका पर लाकर अधिक जनसापेक्ष बनाने के सन्दर्भ में सोचा जाएगा?

[21.1.73]

भारत-पाक की सम्भावनाएँ, नये नेतृत्व के लिए अवसर

शेख मुजीबुर्रहमान पूर्व बंगाल की आशा-आकांक्षाओं के प्रतिनिधि हैं। पश्चिमी पाकिस्तान के अब तक पूर्व अधीन ही रहा है। पाकिस्तान का शासन सैनिक था और है। लेकिन पहली बार वहाँ चुनाव हुआ और आशा थी कि संविधान बनाने के लिए संसद बैठेगी और प्रजातन्त्र स्वरूप ले सकेगा। शेख साहब का बहुमत पूर्व ही नहीं, बल्कि पूरे पाकिस्तान में निर्णय के लिए पर्याप्त था। दूसरी पार्टी संख्या में श्री भुट्टो की थी और पाकिस्तान के पश्चिमी भाग में उसके पास सम्पूर्ण बहुमत था। श्री भुट्टो के परामर्श के प्रभाव में शासनाधिपति श्री याहिया खाँ ने संसद-अधिवेशन टाल दिया। शेख साहब ने उसको लोकमत का अपमान माना और घोषणा की कि इसको सहा न जाएगा। निरंकुशता के प्रति सविनय अवज्ञा और असहयोग का आदेश भी जारी कर दिया। अद्‌भुत परिणाम इस आदेश का आया। ऊपर से नीचे तक बंगाल के सब वासियों ने अपना हाथ खींच लिया। सरकार ठप्प हो गयी। इस पर फौजें आ उपस्थित हुईं और जनता के साथ उनका सीधा आमना-सामना हो गया। सैकड़ों-हजारों हताहत हुए और स्थिति उत्कट होती गयी। फौज में सुना जाता है, भीतरी बुद्धि-भेद तक उपजा। पूर्व बंगाल के दस्तों के गोली चलाने से इनकार करने की भी खबर है। बहरहाल, ऊपरी दमन से जनता के भीतरी संकल्प को और तेजी और मजबूती ही मिली। पश्चिमी पाकिस्तान को कुछ भी पहुँचना बन्द हो गया। व्यावसायिक सम्बन्ध टूट गये। बैंकों ने और दूसरे यातायात के व्यवस्थापकों ने मुजीब साहब की बात रखी। यहाँ तक कि न्यायाधीशों ने याहिया खाँ के मनोनीत गवर्नर को स्वीकार करने और शपथ दिलाने से इनकार कर दिया। फौजों और फौजी प्रशासकों को रसद का टोटा होने लगा। अभी हाल में फौजी प्रशासन की ओर से फरमान हुआ कि सुरक्षा-कर्मचारी नौकरी पर पहुँचें, नहीं तो अमुक समय बाद गैरहाजिर या बर्खास्त समझे जाएँगे। शेख साहब का आदेश निकला है कि फरमान की नाफरमानी की जाए। इस तरह जनता का संकल्प प्रशासन के दमन के समक्ष तन गया है और साफ दीखता है कि झुकना शासन

को पड़ेगा। भुट्टो साहब का स्वर बदला हुआ है और याहिया खाँ ज़िच में दीखते हैं। ढाका वह पहुँचते-पहुँचते भी नहीं पहुँच पा रहे। इधर प्रत्यक्ष है कि बंगला देश और पाकिस्तान की अखण्डता टूटी-जैसी हो गयी।

इस स्थिति में इस्लाम का नारा फीका पड़ गया है और मातृभूमि का प्रेम ऊपर आ गया है। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच का तनाव कितना भी सियासी हो, पर सहारा वह मजहब के नाम का लेता था। कश्मीर के सवाल में दम उसी नाम पर आता था। पूर्वी पाकिस्तान के इस हादसे ने उस मज़हबी बुनियाद को पीछे कर दिया है, मानो समाज की भूमिका बदल गयी है और हिन्दू-मुस्लिम-वाला भेद-भाव तिरोहित हो गया है।

दो चीजें हालात में पेच पैदा करनेवाली थीं—एक धर्मोन्माद, दूसरा सैन्यवाद। ये दोनों रूप मद्धिम पड़ गये हैं और इनको दबाकर एक नयी ताकत उभरी है जिसको कह सकते हैं—जन-संकल्प, जन-विद्रोह। इस विद्रोह की नींव में हाय-हत्या नहीं है, बल्कि सुचिन्तित असहयोग और भ्रद अवज्ञा है। सविनय अवज्ञा और असहयोग के इन शस्त्रों के निर्माता अखण्ड भारत के महात्मा गाँधी थे और राजनीतिक क्षेत्र में उत्तराधिकार के रूप में वह शस्त्र भारतीय काँग्रेस को प्राप्त हुआ। भारत के मध्यावधि आम चुनावों में जनता ने अकल्पनीय बहुमत से इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व की उसी काँग्रेस को अपना विश्वास सौंपा और अपनी बागडोर थमायी। श्रीमती इन्दिरा गाँधी एकमत से राष्ट्र मन्त्री बनी हैं और उनको वह गाँधी-नेहरू परम्परा प्राप्त है।

इस तरह इन चुनावों ने पाकिस्तान-हिन्दुस्तान को एक नयी सम्भावना के दहाने पर ला खड़ा किया है। विभाजन जिन कारणों से हुआ था, ठीक उनसे उलटे लक्षण जनता के मनो-मन्थन में से प्रकट हुए हैं। उनसे शुभाशा ही हो सकती है। शेख मुजीब और श्रीमती गाँधी जिस मात्रा और सीमा तक जन-मानस और जन-श्रद्धा के प्रतीक बने रहेंगे, वहाँ तक इन दोनों के सम्बन्धों में तनाव आने का प्रश्न ही नहीं उठेगा। जब जनहित के बजाय शासन-सत्ता का स्वाद और मोह प्रधान बनेगा तभी हो सकता है कि ये शक्तियाँ रगड़ में आएँ। अन्यथा ये दोनों शक्तियाँ परस्पर-पूरक ही होंगी। यदि दूसरी दिशाओं में भी, यथा—आर्थिक, औद्योगिक, सामाजिक में—गाँधी-नीति को अमल में लाया जा सके, तो असम्भव नहीं कि विश्व की राजनीति में एक तत्त्व प्रकट हो और वह कैपिटलिज़्म-कम्युनिज़्म के विवाद से अतिरिक्त एक मानवीय मार्ग को खोल आए। अभी तो पश्चिमी-पूर्वी का तनाव है और उस कारण दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ हैं। यद्यपि गुटनिरपेक्ष राष्ट्र हैं, पर वे अशक्त हैं और महाशक्तियों की मुठभेड़ की सम्भावना की अपेक्षा में सर्वथा नगण्य रह जाते हैं। बात बड़ी लग सकती है, पर शेख मुजीब

और इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व सचेत-भाव से परस्पर सहयोगी और पूरक हो सकें, तो यह विस्मय भी सम्पन्न हो आ सकता है। गुटनिरपेक्षता से बड़ी चीज हासिल हो सकती है। अभी मैदान में सरकारें ही काम करती हैं जो निहित स्वार्थों से मुक्त नहीं होतीं। जनहित की व्यापकता के साथ निहित स्वार्थ मेल नहीं खाते। पर सत्ताओं की राजनीति में जनपक्ष कभी सामने आ नहीं पाता है। युद्ध छेड़ती सरकार है जिसमें काम आती जनता है। यों जनता आप अपनी हत्या करना नहीं चाह सकती। इसलिए जन-श्रद्धा से पूरी तरह लैस होकर ये दोनों नये नेता विश्वास के साथ उठें और सैनिक सत्ता के बजाय नैतिक सत्ता के बल पर काम दिखाएँ तो विश्व को एक नूतन दर्शन प्राप्त हो सकता है।

पाकिस्तान और हिन्दुस्तान अपनी बेमतलब की छेड़छाड़ से दुनिया में उपहास के पात्र बन गये थे। वे ही अब चाहें तो दुनिया से विस्मय का कारण बन सकते हैं। सैन्यवाद को जो चुनौती पूर्व बंगाल में मिली है, अभूतपूर्व ही मानी जाएगी। सैन्यवाद ही है जिसने सब मार्ग रोक दिये हैं और विश्व अपने को संकट में अनुभव करता है। पूर्व में जनबल और जनसंकल्प ने तोपों-टैंकों के समक्ष एक नया अचरज घटित कर दिखाया है। वह निहत्थे बलिदान का अचरज है। उसी को अहिंसक सामर्थ्य कहना चाहिए। गाँधीजी की कल्पना थी कि उस सामर्थ्य से दुनिया के सब काम-काज चल सकते हैं—और आदर्श समाज, आदर्श राज वह होगा तो उत्तरोत्तर इस सामर्थ्य से काम लेगा और हिंसा का सहारा कम करता जाएगा।

[21.3.71]

बाँग्लादेश का नरमेध और भारत का भावी दायित्व

बाँग्लादेश में नरमेध जारी हैं। वहाँ शेख मुजीबुर्रहमान के नेतृत्व को पूरे देश ने विश्वास सौंपा। समूचे पाकिस्तान का ही राजनेतृत्व उनके भाग में आया। चुनाव में से जनता की आवाज निश्चित होती है। उसने घोषणा कर दी कि असली शासक शेख हैं, याहिया खाँ काल भरने तक ही हैं। स्वयं याहिया खाँ ने यह आश्वासन पाकिस्तान को दिया था और सदन की बैठक होनेवाली थी।

पर याहिया खाँ ने भुट्टो साहब की सुनी और संसद मुल्तवी की गयी। शेख ने जनमत के इस अपमान पर सविनय अवज्ञा की पुकार दे दी। घोषणा हो गयी कि बाँग्लादेश स्वाधीन होगा, परतन्त्रता की बेड़ियाँ तोड़कर रहेगा।

याहिया खाँ शेख की स्वाधीनता की आवाज को सुन नहीं सके। बातचीत टूटी और याहिया खाँ ने कहा कि शेख राजद्रोह और देशद्रोह के अपराधी हैं। देश की रक्षा में इन बाग़ियों को मिटा देना होगा।

वह मिटता चल रहा है और बाँग्लादेश की भूमि जल रही है। नर-संहार सात लाख की संख्या तक पहुँच गया कहा जाता है। उसकी क्रूर अमानुषिकता की इतिहास में मिसाल न होगी। एक ओर शस्त्रास्त्र से लैस फौज है, दूसरी ओर बलिदान के संकल्प में जूझती जनता। जनता के पास फौज का सामना करने के लिए क्या हो सकता है? बस, वह भुनने के लिए है और टैंक-तोप उन्हें भूनने के लिए। फिर भी खबर है कि मुक्ति सेना जीत रही है, पाकिस्तानी फौज भाग रही है।

याहिया खाँ का अधिकार सैनिक है, शेख का सार्वजनिक। यदि जनमत हुकूमत का पाया हो तो बाग़ी फौज है और उनके अधिपति याहिया खाँ हैं। शासन का अधिकार चुनाव की आवाज के मुताबिक शेख मुजीब के पास ही रहता है। न्याय शासन तक हो, सिर्फ फौजी नहीं तो समूचे पाकिस्तान की शासन-नीति शेख मुजीब के निर्णय की होनी चाहिए। यह कोरी विडम्बना है कि याहिया खाँ लाखों-लाख लोगों के संहार को अपना हक मानते हैं।

लेकिन हक मान लेने का नहीं होता, वह लोक-श्रद्धा में से आता है। इसमें शक नहीं माना जाए कि याहिया खाँ को गिरना होगा और फौजें वहीं-की-वहीं खत्म नहीं होंगी तो खदेड़कर वापस घर भेज दी जाएँगी। बाँग्लादेश स्वाधीन होकर उभरेगा और शेख मुजीब इतिहास-निर्माता के रूप मे अमर होंगे।

एक नया राष्ट्र जन्म पा रहा है। घोर प्रसव-पीड़ा में से उसका उदय हो रहा है। जानकारों का अनुमान है कि जल्दी शान्ति न आएगी। आग जलेगी और अभी न जाने कितनों को भस्म करेगी। पाकिस्तान के फौजी अधिनायक पर नशा अभी चढ़ा है और उतरने तक कितनी जानें और जाती हैं, यह देखना है। बाँग्लादेश पीछे हटनेवाला नहीं है, वह बलिदान से पीछे नहीं हटेगा, न स्वाधीनता के प्रण से च्युत होगा। स्वतन्त्रता की यह वह आकांक्षा है जो लगती है तो बुझती नहीं।

शेख मुजीब पर यह स्थिति थोपी गयी है। जिम्मेदारी सब पाकिस्तानी फौजी शासन की है। शेख की घोषणा अहिंसा की थी, सविनय अवज्ञा की थी। हिंसा की ज्वाला उसमें फूटी तो वह पाकिस्तानी तोपों से वहाँ फेंकी गयी थी।

पाकिस्तान द्विराष्ट्र-नीति पर हिन्दुस्तान में से कटकर बना था। बुनियाद में उसके इस्लामी राष्ट्र का नारा था। उस राष्ट्र की इस्लामियत क्या हुई? मजहब का आधार बिखरा और टूटा पड़ा है। साबित हो गया है कि वह थोथा और झूठा था। भूमि-प्रेम की असलियत को वह पा नहीं सकता था। यह चेतावनी होनी चाहिए उन सबको, जो धर्म से राज्याकांक्षा में ईंधन का काम लेना चाहते हैं।

दूसरी चीज जो साफ हो जानी चाहिए, वह यह कि शस्त्र श्रद्धा की जगह नहीं ले सकते, न वे उस श्रद्धा को जीत या तोड़ सकते हैं। लोक-शक्ति के सामने शस्त्र-शक्ति हेय है और वह मुँहकी खाएगा जो उसी शक्ति पर भरोसा रखेगा।

बाँग्लादेश में जो हुआ है और हो रहा है, उससे सारी मानवता का दिल दहल जाता है। अगर चारों ओर से फौजी सहायता अब तक वहाँ नहीं गयी है तो केवल अन्तरराष्ट्रीयता के विकट व्यूह-सन्तुलन के कारण। पर सहानुभूति सबकी उसके साथ है और वह किसी समय भी सक्रियता को उत्कृष्ट रूप दे सकती है।

स्वाधीन बाँग्लादेश की सरकार बन गयी है और शेख मुजीब अध्यक्ष घोषित हुए हैं। आशा है कि उसको दूसरे देश जल्दी ही मान्यता देंगे और याहिया खाँ को अपनी फौजी नीति को समेटना होगा।

बाँग्लादेश के राष्ट्र गीत में कवि-गुरु रवीन्द्र की वाणी मुखरित हुई है। भारत का राष्ट्र गान भी उन्हीं का दान है। बंगला भाषा भारतीय है, बंगाल का पश्चिमी भाग भारत में है। चारों ओर से भारत भूमि बाँग्लादेश को गोद में लिये लगती है, इसलिए भारत पर दायित्व अधिक है, उससे अपेक्षा भी अधिक है। उसकी

संसद ने एक स्वर से अपनी सहानुभूति, सराहना और चिन्ता व्यक्त की है।

बाँग्लादेश की इस घटना से आगामी इतिहास को और वर्तमान की राजनीति को एक गहरा मोड़ मिल सकता है। माओ के चीन की योजनाओं में स्वतन्त्र बंगाल का कोई स्थान हो तो विस्मय न होगा। पर हर लिहाज से भारतीय भूमि के साथ उसकी एकात्मता है। भारतीय नेतृत्व यदि कल्पना से काम ले सका और कर्तव्य निभा सका तो उसके समक्ष स्वर्णिम अवसर है। कम्युनिज्म, यह या वह, पुराना पड़ गया है। मनुष्य की भावी कल्पना से वह अभी छूट चुका है। भारत ऐसी अवस्था में अपनी संस्कृति में से एक नये विकल्प की भेंट विश्व को दे सकता है और गहरी मानव सेवा कर सकता है।

[4.4.71]

व्याप्त मानवता और सीमित राष्ट्र-राज्य

बाँग्लादेश में जो घट रहा है, वह अघट ही है; तबाही इतनी हुई है कि उसकी कूत नहीं, अभी वह क्रूरता जारी है और आग बुझने तक जाने संहार कहाँ तक नहीं पहुँचेगा!

यह घटना मनुष्यकृत है। कोई जरूरत उसकी नहीं थी और बाँग्लादेश में इस आम चुनाव से उसके भाग्य का अन्तिम निर्णय हो गया था। पूर्व पाकिस्तान के नाम पर पश्चिम के पाँव-तले बहुत काल रौंदा जा चुका था। आम निर्वाचन ने देश-मत को गठित और प्रकट कर दिखाया कि पाकिस्तान पर अब बहुसंख्यक पूर्व की प्रभुता होगी। अपने में तो वह स्वाधीन होगा ही, पूरे पाकिस्तान की स्वाधीनता का प्रहरी भी वही होगा। पर प्रभुता का मद गहरा होता है, उस मद ने यह कहर ढाया कि प्रकृति के प्रकोप की विनाश-लीला भी मानो उसके सामने फीकी पड़ गयी।

सारी दुनिया का दिल इस पर थर्रा आया है, फिर भी उसके हाथ थमे हैं और वास्तविक सहायता कोई वहाँ पहुँच नहीं पा रही है। और-तो-और, प्राथमिक सहायता की सामग्री से भरे इण्टरनेशनल रेड क्रॉस के यान को भी वहाँ नहीं पहुँचने दिया गया। बाँग्लादेश में सांघातिक शस्त्र-यन्त्रों के सामने आदमी की हिम्मत लड़ रही है। आत्म बलिदान को स्वीकार कर ले, तो जान पड़ता है कि आदमी से अजेय इस दुनिया में कुछ नहीं रह जाता है।

युद्धों को हम जानते हैं और सह भी लेते हैं। कारण, दोनों तरफ सेनाएँ लड़ती हैं और शस्त्र लड़ते हैं; वह रणक्षेत्र होता है, वध-स्थल नहीं होता। बाँग्लादेश में शस्त्रधारी फौज एक तरफ है, दूसरी तरफ जनता है। इसलिए यह युद्ध नहीं है, नरमेध है। मानव-मन उसको स्थिरता से सह नहीं सकता।

प्रकृति-प्रकोप की घटनाएँ सिद्ध कर देती हैं कि भीतर मानव मन यहाँ-से-वहाँ तक एक है। अनगिनत विभेद हों ऊपर, पर भीतर की इस एकचित्तता पर कभी आँच नहीं आ पाती है। भूकम्प कहीं हो, दुनिया-भर से सहायता के

हाथ वहाँ जा दौड़ते हैं। कुछ ही पहले इसी पूर्व बंगाल में भीषण तूफान आया था—भारत में विकराल दुर्भिक्ष पड़ा था। मानवता क्या उन पर चुप बैठी रह सकी थी? नहीं, चैन उसके लिए सम्भव न हो सका था। और उस प्रकृति के विरोध में मानो समूची मानवता का पुरुषार्थ तुल आया था।

यह हो सका, क्योंकि प्रकोप प्रकृति का था, किसी राजनीति की उलझन बीच में न थी और मानव पक्ष स्पष्ट था। पर यह मानव पक्ष मानव-निर्मित दुर्घटनाओं में मानो स्वार्थों के व्यूहजाल में ऐसा ढक जाता है कि नजर नहीं आता। हजारों-हजार की संख्या में लोग मौत के घाट उतारे जाएँ तो भी मानव-निर्णय ठिठका और थका रह जाता है। भीतर मन दहला हो, पर ऊपर हाथ निष्क्रिय ही पड़े रह जाते हैं।

बाँग्लादेश की पुकार सब ओर गयी और पहुँची है। सबने उसमें गहरी सहानुभूति उपजायी है, फिर भी ठोस कुछ हो नहीं पा रहा है तो क्यों?

यह बहुत बड़ा 'क्यों' है। इसके उत्तर और उपचार में मानव के उत्कृष्ट पुरुषार्थ को लगना चाहिए। क्यों है कि मन उमड़ता है और तन चेष्टाहीन रह जाता है? क्यों है कि हम बहुत चाहते हैं पर कुछ कर नहीं पाते?

कारण है कि व्यवस्थाएँ हमारी बृहत मानव-परिवार के मनोनुकूल नहीं हैं। मानवता एक है, व्यवस्था राष्ट्र-राज्यों में बँटी है। ये राष्ट्र-राज्य न्यस्त स्वार्थ का रूप ले उठते हैं और स्वार्थ-हित उनके लिए ऊपर हो आता है। सामूहिक और संगठित साधन इन्हीं राजसत्ताओं के अंकुश में और अधीनता में रहते हैं, इसीलिए हो जाता है कि एक ओर मानवता कुचली जा रही है और शेष मानवता अवसन्न है, कुछ कर नहीं सकती।

किन्तु राजतन्त्र अब लोकतन्त्र भी है। राज्य अपने स्वार्थ में भले ठिठका रह जाए, लोक के लिए वैसा बहाना कैसे हो सकता है?

खासकर भारत की लोकतन्त्रता के लिए ललकार है कि सोचे कि अपने बंगला-बन्धुओं की पुकार पर राजनीति के नाम पर क्या स्तब्ध ही रह जाया जा सकता है? या कि उस देश की स्वाधीनता को मान्यता देने के उपरान्त कुछ ठोस कदम भी बढ़ाया जा सकता है?

[11.4.71]

मानवीय माँग और भारत का आत्म-निर्णय

बाँग्लादेश का सवाल मानवीय से राजकीय भूमिका पर फिसल आया है। पहले उसका रूप 'हथियार बनाम इंसान' का था। कुल मिलाकर वह एक भारी जुल्म था जिसमें एक तरफ साफ जालिम था, दूसरी तरफ सिर्फ मजलूम। वह एक जाति-हत्या का प्रश्न था और उसमें दो पक्ष हो सकते थे। ख़ूँखारी बस एक तरफ से थी, दूसरी ओर निरा बलिदान था। प्रश्न की यह स्थिति थी, तब दुनिया का दिल दहल गया और पाकिस्तानी हमले की तरफदारी में कोई आवाज उठ न पाती थी। सब ठिठके रह गये थे और वे भी जो पाकिस्तान के दोस्त थे, चुप्पी ठान गये थे। राजनीति की दलदल से आया वह मानव-नीति का प्रश्न था और लगता था कि दुनिया के लोकमत का दबाव जल्द ही सवाल को हल कर देगा।

पर बात अब उलझ गयी है। सफाई से उतरकर वह खटाई में पड़ गयी है। अब वह जैसे दो दलों की चीज है और राजनीतिक व्यूह के अन्दर आ गयी है। कूटनीति के चक्र ने उसे घेर लिया है और मनुष्यता के वश से निकलकर वह बड़ी शक्तियों की आपसी स्पर्धा के निर्णय पर मानो आ तुली है।

दूसरे देश इस सवाल को राजनीतिक दृष्टि से देख सकते थे। वे दूर थे और उसके साथ उनका परोक्ष हित ही जुड़ा हो सकता था। पर भारत के लिए वह कोई दूर-दृश्य न था। सब ओर से वह देश भारत के भीतर था और कोई रेखा उनके सम्बन्ध को तोड़ न सकती थी। भूमि जुड़ी थी और बोली एक थी। जिस मजहब की बिना पर उसको अलग किया गया था, वह धोखे का साबित हुआ। पाकिस्तान के पश्चिमी भाग से मजहब के जरिये तो उसकी एक राष्ट्रीयता बनायी गयी थी, वह इस बाँग्लादेश को दलित और शोषित रखने के ही काम आती थी। हर तरह यह भाग अधिक था, फिर भी कम था और अपनी ही हुकूमत में उसे जगह न थी। आमदनी यह देता था और घाटे में भी वह रहता था। बहुसंख्या उसकी थी और यथार्थ में राष्ट्रीय कामकाज में अल्प संख्या से भी कमतर उसे बना डाला गया था।

यह स्थिति चल रही थी बाईस वर्षों से। तब कहीं आया चुनाव। उसने सिद्ध किया कि शेख मुजीबुर्रहमान समूचे पाकिस्तान के सबसे लोकप्रिय आदमी हैं। अगर लोकमत का आधार जरूरी हो तो मुल्क के हाकिम वह होंगे। बाकी लोक पीछे रह गये, फीके पड़ गये और शेख मुजीब सारी दुनिया की आँखों में पाकिस्तान के वाहिद नुमाइन्दे बन गये।

पर पाकिस्तानी शासन फौजी था। वह डर आया। ढाका में बातचीत चली, पर वह बातचीत ईमानदारी की एक ही तरफ से थी। शेख पाकिस्तान को तोड़ना नहीं चाहते थे, सिर्फ दमित और दलित पूर्वी बंगाल के भाग्य को स्वाधीनतापूर्वक बना उठाना चाहते थे। तो फिर फौजी शासन का क्या होता? पंजाबी गुमान-अभिमान का क्या होता? यह खौफ याहिया खाँ और जनाब भुट्टो पर छाया था और मार्शल लॉ का ऐलान करके वे ढाका उड़ गये।

इस राजनीतिक स्थिति को सामरिक किसने बनाया? कहा जाता है कि दगाबाजी और गद्दारी के लिए अवामी लीग के नेताओं पर मुकदमा चलेगा। दगा हुआ और गद्दारी हुई तो किस तरफ से? यह पूछने की बात हो सकती है। शेख मुजीब के पीछे आम राय का फैसला था। इससे बड़ी दूसरी सैक्शंस क्या हो सकती थी? वैसा कोई नैतिक बल याहिया के पास न था। इसलिए राय-आमाँ के साथ दगा हुआ या अपमान हुआ, तो जुर्म याहिया खाँ पर आता है।

पर वे सरकार हैं और मुजीब बागी हैं। न्याय का यह उलट-फेर आज सम्भव हुआ है तो इसलिए कि हमारी अन्तरराष्ट्रीयता खुद इंसानी इंसाफ पर कायम नहीं है। वह सशस्त्र ताकतों की गुटबन्दी के हाथ है। इसलिए मुमकिन हो पाता है कि हजारों-हजार, बल्कि लाख की तादाद में कत्ले-आम हो और सवाल किसी रियासत और सियासत का अपना बना रहे, इंसानियत का न बन पाए।

बाँग्लादेश के मामले ने अन्तरराष्ट्रीयता की इस दुर्बलता को उजागर कर दिया है। यह गम्भीर प्रश्न है। अगर जागतिक मानवता को स्व-प्रतिष्ठ होना है, विश्व-मानव को यदि उदय में आना है, तो इस स्थिति में तत्काल अन्तर लाने का उपाय होना चाहिए। यू.एन.ओ. चुप है और महाशक्तियों के रुख पर मौकूफ है। चीन याहिया की तरफ हुआ है तो अमेरिका भी पीछे खिंचकर झिझक आया है। उसके एल.बी. कीटिंग ने भूल से जरा साफगोई से काम लिया कि लगाम उन पर कस दी गयी। यह हालत शर्मनाक ही मानी जाएगी कि शस्त्रास्त्र से लाखों भुन जाएँ और कोई कुछ कह-कर न सके।

समय निकल रहा है। वर्षा शुरू हुई ही समझिए। और यह चीज बाँग्ला-देशवासियों के हक में होगी। फिर भी पलड़े बराबर नहीं हैं। क्या यह सही होगा कि मनुष्य को मशीन का शिकार बनने दिया जाए?

पर शायद समय निकल गया है। अब बात कूटनीति के हाथ है और भारत उस फन्दे से बाहर नहीं है।

क्या यह माना जाए कि समय रहते भारत जो कर सकता था, नहीं कर पाया और शेख को वह समर्थन नहीं मिला, जो ज्यादा कारगर हो सकता था?

सुना जाता है कि रूस के साथ परामर्श चल रहा है। लेकिन भारत के पास अपना निर्णय हो तो रूस को ही नहीं, सारे अन्तरराष्ट्रीय व्यूह को तदनुसार सोचना पड़ सकता है। क्या ऐसा होगा?

[25.4.71]

बाँग्लादेश : विश्व-सन्तुलन और मानव-न्याय

पूर्वी पाकिस्तान पर पश्चिम पाकिस्तान की फौजें चढ़ दौड़ी हैं। उन्होंने वहाँ वह हालत बरपा कर रखी है कि कहा नहीं जा सकता। कहा जाता है कि अभी तक लाखों की तादाद में लोग वहाँ भूने जा चुके हैं। मशीन गनें, तोपें और बम-गोले काम में लाए जा रहे हैं। ऊपर से नापाम बमों से आग बरसायी जाने की खबर है। यह जुल्म थमेगा और आग बुझेगी, तब तक कत्लोगारत कहाँ तक पहुँचेगी, इसका अनुमान नहीं है।

पाकिस्तान एक मुल्क है और इस्लाम के नाम पर भारत में से टूटकर वह बना था, पर इस घमासान में मरनेवाले मुस्लिम हैं और मारनेवाले भी मुस्लिम हैं। इससे यह साबित हो गया है कि मजहब की बुनियाद सियासत के लिए सही और मजबूत नहीं साबित होती। पाकिस्तान के दो टुकड़ों के बीच हजार से ऊपर मील का फासला था। इधर की बोली अलग थी, उधर की अलग; दोनों का ढंग-ढर्रा भी अलग ही था। फिर भी इस्लाम के नाम पर उसको एक मुल्क गरदाना गया और उस एक कौमियत के नाम पर पूरब के वासियों पर पश्चिम के लोग हुकूमत के तख्त से जोर-जुल्म ढाते चले गये।

शासन मुख्यता से फौजी शासन रहा और वह पूरी तरह पश्चिमी लोगों के कसे हाथों में रहा। पूरब में लोग ज्यादा थे, वह हिस्सा आमदनी भी ज्यादा देता था। उस भाग की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी उन्नत थी। पर शासन में उसकी शुमार नहीं की गयी और माना गया कि वह जो दोयम दर्जे का है और दबे रहने के लिए है। पाकिस्तानी कौमियत के नाम पर यह जोर-जुल्म कब तक चल सकता था! फौजी हुकूमत के तले एक अर्से तक वह पामाल रहा। एक ढकना-सा ढका रहा और दुनिया की आँख से असलियत ओझल रही। पर पहले ही मौके पर सच्चाई नीचे से उभर आयी। पहले चुनाव ने ही बता दिया कि हवा का रुख क्या है।

पाकिस्तानी हुकूमत की जेल में रहे हुए शेख मुजीबुर्रहमान की अवामी लीग

भारी बहुमत से जीती। पूरब की नहीं, समूचे पाकिस्तान की किस्मत का फैसला एक तरह शेख मुजीब के हाथों में दे दिया गया। जनता का यही निर्णय था और पाकिस्तान-संसद की बैठक में इसको बाकायदा रूप मिल जानेवाला था। लेकिन पाकिस्तानी शासक इस सच्चाई के उभर पड़ने पर घबरा गये थे। विशेषकर पश्चिम के महाशय भुट्टो के सब ख्वाब टूटने लगे थे। उन्हें अपने हिस्से और दल का बहुमत जरूर मिला था, पर साफ था कि ऊँचा हाथ शेख मुजीब का रहेगा।

भुट्टो साहब को अपनी करनी का मौका नहीं आएगा, उन्हें तो शेख की नीति को मानकर चलना होगा, नहीं तो हुकूमत से बाहर विरोध-पक्ष में रहना होगा। अयूब खाँ के बाद फौजी अधिपति याहिया खाँ को भी दीख आया कि मगरूर पश्चिम के दिन यों लदे जा रहे हैं। पूरब के शेख की राजनीति चली तो शक्ल ही कुछ और हो जाएगी। उसकी फौजी सूरत की जगह जम्हूरियत आएगी, उसमें वे तो शायद गिनती तक के लिए भी न रह जाएँ। उस डर के नीचे भुट्टो के मशविरे से पार्लियामेण्ट की शिकस्त को ही उन्होंने टाल दिया।

यह राय-आमाँ की हतक-इज्जत ही थी। शेख साहब ने सच्चे नेता की तरह ऐलान किया कि पूर्वी पाकिस्तान अब से बाँग्लादेश कहलाएगा और पाकिस्तानी हुकूमत से अपना सब सहयोग खींच लेगा। यह असहयोग सविनय होगा, और बाँग्लादेश का नागरिक मर्यादा में रहकर आत्मनिर्भर होना सीखेगा। इस सविनय असहयोग ने एक बार दुनिया को भारत के महात्मा गाँधी की याद दिला दी, बल्कि बाँग्लादेश ने उससे भी मार्के का दृश्य उपस्थित कर दिया। हाईकोर्ट के जजों ने नये शासक को शपथ दिलाने से इनकार कर दिया, हुक्मरानों को बावर्ची तक मिलने में कठिनाई हो गयी। पश्चिमी पाकिस्तान से बैंक-व्यवसाय का लेन-देन एक झपाटे में ठप्प हो गया और पाकिस्तानी हुकूमत वहाँ देखते-देखते बेदम हो गयी। परिस्थितियाँ तेज से घोर-से-घोरतर होती चली गयीं और मालूम हुआ कि बाँग्लादेश में किसी समय भी समानान्तर सरकार उपस्थित हो सकती है। अपूर्वोत्साह उस बाँग्लादेश के वासियों में था और घड़ियों की बात थी कि पाकिस्तानी सरकार को वहाँ से अपना बोरिया-बिस्तर गोल करना पड़ गया होता।

ऐसे समय याहिया खाँ दौड़े और भुट्टो भी पीछे-पीछे भागकर ढाका पहुँच गये। शेख मुजीब से बातचीत का दौर शुरू हुआ। पर यह सब जाहिरदारी थी, अन्दर-ही-अन्दर उन्हें अपने फौजी इन्तजाम को चौकस और पक्का करना था। शेख मुजीब के पास पूरी शक्ति थी और वह चाहते तो पहले ही अपने बाँग्लादेश को पूर्ण स्वतन्त्र घोषित कर सकते थे; पर शायद, पाकिस्तान को भंग करना उन्हें अभीष्ट न था। यदि बाँग्लादेश को अपने आन्तरिक निर्णय की स्वतन्त्रता हो, तो शेष मुद्दों पर वे उचित समझौता करने को उद्यत थे। पर समझौता चाहता कौन

था? पश्चिम के फौजी हुक्मरानों को भरोसा तो अपनी फौजों और अस्त्र-शस्त्रों का था। उन्होंने रूस से, अमेरिका से, चीन से नये-नये शस्त्रास्त्र प्राप्त किये थे और उन पर नशा सवार था। बातचीत के नीचे उनकी फौजी योजनाएँ एक बिन्दु तक पहुँचीं कि याहिया खाँ और भुट्टो वापस उड़ गये और बाँग्लादेश पर मार्शल-लॉ बोल गये।

मार्शल लॉ में कानून रह नहीं जाता—फौजी काननू ही कानून होता है और बन्दूक उसकी कलम होती है। वही हैवानी कानून वहाँ चल रहा है और लोग ऐसे ही भूने जा रहे हैं, जैसे भाड़ में नाज भूना जाता है :

शेख मुजीब कहाँ हैं, मालूम नहीं। तरह-तरह की अफवाहें हैं और एक है कि उन्हें अटक जेल में यातनाएँ दी जा रही हैं कि वे बांग्ला-देशवासियों को पाक-हुकूमत के आगे हथियार रख देने का वक्तव्य दे डालें। वह जो हो, बांग्ला-देश की मुक्तिवाहिनी के स्वयंसेवक अब तक क्रूर सशस्त्र फौजी चुनौती के समक्ष डटे हुए ही नहीं, बल्कि कई प्रधान नगरों पर उनका कब्जा है और शेष स्थानों पर भी उन्होंने फौज के छक्के छुड़ा रखे हैं। शेख ने जिस स्वतन्त्रता की आग जलायी और ज्योति जगायी है, वह किसी उत्सर्ग से पीछे हटने को तैयार नहीं है और अपना प्रण पूरा करके ही रुकती दीखती है।

लेकिन, अब यह किसी वैध शासन के विरुद्ध अमुक विद्रोही वर्ग का ही आन्तरिक प्रश्न नहीं है। बाँग्लादेश की सरकार की वहाँ घोषणा हो चुकी है और उसे देश के निर्वाचित प्रतिनिधित्व का बल प्राप्त है। उसकी ओर से सब देशों को निमन्त्रण दिया गया है कि वे उसको मान्यता और सहायता दें। संयुक्त राष्ट्र को उन्होंने इसकी सूचना दी है और उसके महासचिव ऊ थाँत को स्वयं अपनी आँखों बाँग्लादेश की हालत को और उसके संकल्प-बल को देख लेने का आमन्त्रण दिया है।

मानव दृष्टिकोण से स्थिति साफ है, किन्तु विकट भी है। लाखों लाशें बीच में रहते अब यह सम्भव नहीं रह गया है कि पाकिस्तान के दोनों पक्षों में एकता हो पाए। पश्चिम को अब स्वयं ही अपने को सँभालना है। पूर्व तो अपने को स्वतन्त्र घोषित कर ही चुका है। निश्चय रखना चाहिए कि आगे-पीछे पश्चिम को अपने को सँभालने के लिए वापस आ जाना होगा, और शायद है कि वह काम उतना आसान न निकले। पूरब के कट जाने के बाद पख्तून, बलोच और दूसरे सूबे चुपचाप टूटे हुए पंजाबी गरूर को सहे नहीं जाएँगे, बल्कि वे भी अपने सिर उठाना चाहेंगे। वह जो हो, पाकिस्तानी प्रभु इसी विघटन के भूत से भय खाए हुए हैं। इसी से उन्हें जरूरी मालूम होता है कि जैसे हो, बंगाल को हाथ से जाने न दिया जाए, नहीं तो कहीं सब-कुछ ही चले जाने की नौबत न आ जाए।

बाँग्लादेश के इस उदाहरण से अब साफ हो गया है कि आतंक के जोर से चलनेवाली हुकूमत, फिर वह शस्त्रास्त्र से कितनी लैस क्यों न हो और मन से कितनी भी निर्मम, अधिक टिक नहीं सकती। जनसमर्थन आवश्यक है और श्रद्धा-बल की जगह शस्त्रातंक का बल कभी नहीं ले सकता। स्वयं डिक्टेटरशिप के लिए व्यापक लोकतन्त्रात्मक समर्थन का आधार आवश्यक होगा।

एक और भी बड़ा सच उससे सिद्ध हो आता है। आज विश्व की स्थिति एक नाजुक और विकट शक्ति-सन्तुलन पर टिकी है। उसको छेड़ने से सबको डर लगता है। आदमी की आवाज उस भय से दबी और दुबकी रह जाती है। अन्तरराष्ट्रीय शक्ति-सन्तुलन भय का ही कारण नहीं है, वह विश्वास का भी कारण हो आ सकता है। विश्व जनमत जैसा एक तत्त्व शनैः-शनैः प्रकट होता जा रहा है। कुल मिलाकर उस जनमत का बल न्याय के साथ है, जुल्म के साथ नहीं। यह एक नया तत्त्व विश्व व्यवस्था के बीच उग रहा है और छोटे राष्ट्र भी यदि उस पर भरोसा रखकर न्याय के नाम पर चुनौती देकर जाग उठें तो केवल शस्त्र-शक्ति से उनको कुचला नहीं जा सकता। विज्ञान ने मरणान्तक शस्त्रों का आविष्कार कर डाला है और निश्चय ही उनका आतंक स्थिति को किंचित सुरक्षा का पुट दिये रहता है। पर यही विकटता है जिससे विश्व युद्ध की सम्भावना से सबको घबराए रहना पड़ता है। अतः न्याय के पक्ष का जल्दी ही निबटारा हो जाता है। अन्याय को इसलिए जोर नहीं पकड़ने दिया जा सकता कि उसमें से कहीं विश्व-विस्फोट ही न भड़क पड़े। फिर तो मनुष्य का भाग्य ही भस्म हो जाएगा।

बाँग्लादेश की हालत इस समय गहरी चिन्तनीय है। एक ओर लैस फौज है और सामने लगभग निहत्थी जनता। सहानुभूति और चिन्ता सारी दुनिया से वहाँ पहुँची है और कुछ ऐसे पदों से भी ताकीद गयी है जो अधिपति के चित्त को विचलित किये बिना न रहेगी। फिर भी सत्ताएँ अपनी-अपनी सीमाओं पर हैं और क्रियात्मक कुछ करने से ठिठक रही हैं। इसमें कत्लेआम कुछ दूर तक और चल सकता है, जिसका दोष विश्व के राजनीतिक अन्तःकरण को स्वीकार करना होगा। फिर भी निश्चय है कि बाँग्लादेश की स्वतन्त्रता दब न पाएगी और अन्त में वह सत्य जीतेगा, जो व्यापक जन-संकल्प के रूप में अपनी अभिव्यक्ति पाता है।

[11.4.71]

विश्व का आगामी मोड़ और भारत के लिए अवसर

प्रश्न जो बाँग्लादेश की साढ़े सात करोड़ की जनसंख्या की आकांक्षा और इसलिए मानवात्मा का था, वह राजनेताओं की कृपा से 'पश्चिम पाकिस्तान बनाम पूर्व पाकिस्तान' का हो गया है। वह कानून और कूटनीति की गिरफ्त में आ गया है। यह कि लाखों अपनी आत्म-प्रेरणा से इधर से विसर्जित और उधर से नृशंस शस्त्रास्त्रों से ध्वस्त हो रहे हैं, यह कि मानवीय स्थिति पीछे पड़ गयी है। उसको ढक दिया है इस वितण्डा और विवाद ने कि प्रश्न पाकिस्तानी हुकूमत का अपना अन्दरूनी है और किसी को दखल का हक नहीं है।

ऐसे स्थिति का मानव पक्ष दृष्टि में से समाप्त कर दिया गया है। वह सिर्फ सत्ता-शक्तियों के आपसी निबटारे का बन गया है। गिरफ्त में आ गया है वह शस्त्र-सेना-व्यूह के जाल के, और मानवीय सन्दर्भ उससे छीन लिया गया है।

पाकिस्तानी सरकार इसमें सफल हुई है कि सवाल को उसने बहुत छोटी सीमा के परिप्रेक्ष्य में घेर दिया है और दुनिया उसी को लेकर व्यस्त है।

शेख मुजीब पाकिस्तानी हुकूमत के कब्जे में हैं और उन पर दंगा और द्रोह का मुकदमा चलनेवाला है।

यह मुकदमा उस पर चलेगा, जिसको पश्चिम और पूर्व के सारे पाकिस्तान ने मिलकर अपना सबसे लोकप्रिय नेता वयस्क मताधिकार से चुना था। उसके सिर पर जनद्रोह और राजद्रोह का अभियोग थोपा जाता है उन लोगों के द्वारा, जिनकी अपनी सत्ता निरी जोड़-तोड़ से बनी हो और बस, सैनिक है। याहिया खाँ की सत्ता का आधार लोकमत से लुप्तप्राय है। फिर भी हाकिम वह है जिसके नीचे बुनियाद नहीं है, और मुल्जिम है वह जिसको जनता ने अपना मार्गदर्शक गरदाना है। यह विपर्यास राजनीति में चल सकता है। सत्य की नीति कोई हो, तो उसमें एक क्षण के लिए भी नहीं ठहर सकता। वहाँ नक्शा पलट जाता है और मुजीब जवाब-तलब करनेवाले हो सकते हैं और याहिया कठघरे में खड़े किये जा सकते हैं। किन्तु स्थिति मूल्यों के ही हाथ में नहीं रहती, परिस्थिति

की व्यवस्था के साथ भी उसे जूझना पड़ता है।

परिस्थिति का संकट क्या है? पश्चिमी पाकिस्तान के पास अत्याधुनिक शस्त्रास्त्र हैं, जो बड़ी शक्तियों से उसे प्राप्त हुए हैं। इस कारण उनका समर्थन भी जाने-अनजाने पाकिस्तानी सरकार के पक्ष में रहने को लाचार है।

पर परिस्थितियों में से ही एक नया आयाम प्रकट हो रहा है। दुनिया निकट आ रही है और लोकतन्त्र की आत्म-वर्चस्ववाली शक्ति खड़ी हो रही है। विश्व-मानवता एक, इकट्ठी बनती आ रही है। सब तरह की मर्यादाओं और विवशताओं के बावजूद भीतर से उभरी ही आ रही है। राष्ट्र संघ के समानान्तर एक विश्व-लोकमत खड़ा होता जा रहा है। अभी तक यह घटना अघट थी, दूसरे विश्व युद्ध के अनन्तर वह अनिवार्य बन आयी है। दूसरे युद्ध ने अब यह सिद्ध कर दिया है कि तीसरा युद्ध अब नहीं हो पाएगा। द्वितीय युद्ध तक परमाणु बम बन नहीं पाया था। एक अभागे जापान पर पहले बने दो परमाणु बम प्रयोग के तौर पर छोड़े गये। तत्काल तो जापान की पराजय हुई और लगा कि शान्ति बन गयी। उस शान्ति का लाभ जापान को इस प्रकार मिला कि वह युद्ध और सुरक्षा के सवाल से निश्चिन्त होकर उद्यमों और उद्योगों पर केन्द्रित हो सका। नतीजा उसका यह निकला है कि जापान की आर्थिक समृद्धि और सम्पन्नता से दुनिया घबरा आयी है। बड़ी शक्तियों तक को भय होने लगा है। आर्थिक अगर सामरिक बनने लग जाए तो क्या होगा, यह विचार दुनिया को उद्विग्न बनाए हुए है। हर तरह से पामाल देश जापान, जिस भी तरह, इन कुछेक वर्षों में महाशक्ति बन गया है, तो प्रश्न पैदा होता है कि क्या शस्त्र-शक्ति अन्त में मानव-अभिक्रम की शक्ति से निरपेक्ष मानी जा सकती है? सिद्ध हो गया है कि मानव-शक्ति अविजेय और सर्वोपरि है, शेष शक्तियाँ उसके उपयोग के लिए रह जाती हैं।

यह प्रश्न पश्चिमी पाकिस्तान को लेकर प्रकट हुआ है। चलेगी मुजीब की, जो अवामी लीग के वाहिद नेता की हैसियत से बाँग्लादेश के हृदय-सम्राट् हैं। याहिया सिर्फ हुकूमत के सरताज और सेनापति हैं।

यह प्रश्न सिर्फ सियासत के वश का नहीं है, वह ऊँचा है और सबका है। उसी भूमिका पर बाँग्लादेश का नहीं, पूरे विश्व के आगामी इतिहास का निर्णय होना है—निर्णय यह कि राष्ट्र संघ को शस्त्र-सत्ताओं का व्यूह चलाएगा या कि विश्व मानव अथवा विश्व लोकमत उसको अपने हाथ में लेगा? भारत ने परमाणु बम बनाने से इनकार किया है। इसलिए शायद हो कि आगामी जगत की लोकतन्त्रता के मार्गदर्शन का दायित्व उसपर आनेवाला हो।

कानूनी दाँव-पेच से ऊपर उठकर भारत को सोचना और अपना फैसला करना है।

दुनिया बाँग्लादेश के पीड़ितों के साथ हमदर्दी रखती हुई भी ठिठक रही है। राजनयिक भूमिका पर अपनी मान्यता उसे कोई दे नहीं पा रहा है। भारत देश न परिस्थिति, न संस्कृति, न अपने हाल के इतिहास के प्रति सच्चा रहकर इस विषय में झिझका रह सकता है। क्या आशा न की जाए कि वह मान्यता देने में पहल करेगा और विश्व की उलझी राजनीति में एक नयी किरण के प्रवेश का माध्यम होगा!

[30.5.1971]

राजमत, जनमत और बाँग्लादेश की मान्यता

बाँग्लादेश के सम्बन्ध में बताते हुए प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने कहा कि भारत को किसी का डर नहीं है, लेकिन मान्यता का प्रश्न विचाराधीन है। विचार के अधीन वह एक अर्से से चल रहा है और याहिया खाँ की पंजाबी फौजें बाँग्ला-देश पर करीब पूरी तरह कब्जा कर बैठी हैं। प्रश्न को विचार से बाहर निकालकर फैसले पर लाने की जरूरत थी और है, तो समय के एक बिन्दु तक। उस समय के पार होने पर प्रश्न क्या बेकार ही न हो जाएगा?

बाँग्लादेश के विस्थापित लोगों की तादाद भारत पर चढ़ती और बढ़ती ही आ रही है। बीस लाख तक वह पहुँच गयी बतायी जाती है। एक मुख्य मन्त्री का अनुमान है कि संख्या एक करोड़ तक पहुँच जाएगी। लाखों हताहतों के बीच सुरक्षा के लिए करोड़ों की भगदड़ मचे, तो इसमें अचरज ही क्या है? जो वहाँ हुआ, उसकी बीभत्सता की चर्चा करने में लाभ नहीं है। वह जग-जाहिर है और जानकार बताते हैं कि इतिहास में वैसी दूसरी मिसाल मिलना मुश्किल है। उन विस्थापितों के लिए सरकार भरसक, जो किया जा सकता है, कर रही है। पर भार भारी है और उसके अकेले बस का नहीं है। सन्तोष है कि सब ओर उस दिशा में सक्रियता है। संस्थाएँ और सरकारें सहायता लेकर दौड़ पड़ी हैं और यू. एन. ओ. भी इस काम के लिए चेत गया है। उसकी ओर से ऊ थाँत महोदय ने स्वयं पूर्व बंगाल की भूमि पर सहायता भेजने के लिए याहिया साहब को लिखा है जिसको उन्होंने अनावश्यक कहकर इनकार कर दिया।

यह सब सहायता हो रही है और हुए बिना रह नहीं सकती। मानव-जाति का जी चैन नहीं पाएगा जब तक वह इस बारे में अपना करतब न निबाहे। खुशी की बात है कि राजनीति इंसानियत को इससे रोक नहीं सकती, बल्कि मजबूर होकर अपने बावजूद इसमें योग ही दे सकती है।

पर क्या करना इतना ही है? जो जीते बच गये हैं, उनको भूखा-नंगा होने से बचाए रखना-भर बस हो जाएगा? हाँ, घाव पर मरहम लगेगा और वह लाजिमी

है। ऐसे शरीर की रक्षा तो होगी, पर उस हृदय का क्या होगा जो छिद और भिद गया है और जिसका जख्म मानव-इतिहास को कभी सोने नहीं देगा? यह सवाल कुछ के जीते रहने या कुछ के मर जाने का नहीं है। यह सवाल है कि क्या सच हारेगा और जुल्म जीतेगा? इंसाफ नहीं रहेगा, ताकत का नाच ही रह जाएगा?

राजमत विचार में रह सकता है, पर जनमत फैसले पर आ चुका है। वह फैसला लोगों के मनों में हो गया है और इतिहास में से उसे पोंछा नहीं जा सकेगा।

राज की अपनी मर्यादाएँ हैं, अपनी मुसीबतें हैं। उनको कम करके देखना गलत है। शस्त्र-सँभार राज्य के पास रहता है। राज्य के उस रूप में पड़ने से, शस्त्रों से लैस सारी राजसत्ताओं का शक्ति-सन्तुलन डगमगा जाएगा? इन्दिरा सरकार शेख मुजीबवाली बंगला सरकार को मान्यता दे तो उसका अर्थ क्या यही न होगा कि उसके पक्ष में बंगला भूमि पर तत्काल अपना शस्त्र-सैन्य भी भेजे? ऐसे क्या युद्ध-स्फोट की चिनगारी ही परिस्थिति में न पड़ जाएगी? और उससे बाँग्लादेश-वासियों का हित होगा? इत्यादि-इत्यादि। राज-विचार राज-मत को ठिठकाए रखता है और उसे अपनी सहानुभूति को नैतिक सहायता की सीमा में ही बाँधे रखना पड़ता है।

कुछ यही विचार होगा जो और देशों को भी आगे बढ़ने नहीं देता। चीन की प्रशंसा करनी चाहिए कि उसने कूटनीति का सहारा नहीं लिया है और न्याय को याहिया के पक्ष में घोषित कर दिया है।

मान्यता का प्रश्न ठीक इसी जगह संगत है। चीन ने मान्यता दी है कि राजनीतिक, सांविधानिक और आईनी तौर पर याहिया खाँ का हक बजानिब है कि तीन हजार मील का चक्कर काटकर उनकी फौजें उन सब तत्त्वों और ताकतों को नाबूद कर दें, जो बंगाल को स्वतन्त्र करना चाहती हैं। पाकिस्तान एक इकट्ठा और मुत्तहिदा राज है और वह इस्लामी राष्ट्र है। बग़ावत और बकवास है यह कहना, कि संस्कृति बंगाल की अपनी होगी। पाकिस्तान के पास फौजी हथियार किसलिए हैं? अगर इसलिए नहीं कि कौम को हर बग़ावत से महफ़ूज रखा जाए और बाग़ियों को हमेशा के लिए कुचल दिया जाए; चुनाँचे उन्होंने तीन हजार मील का चक्कर देखकर भी पंजाबी पलटनें और विदेशी हथियार बंगाल पर चढ़ा भेजे—जिनको हुक्म था कि पाकिस्तान को बचाएँ और अवामी लीग का जड़ तक सफाया कर दें।

जब तक शेख मुजीब की मुक्त सरकार को मान्यता नहीं मिलती, तब तक गोया कानूनी पोजीशन वही रहती है कि यह पाकिस्तान की हुकूमत का अपना मामला है और जरूरत पर वह हुकूमत फौजी कार्रवाई बखूबी कर सकती है। उसमें मरनेवालों की तादाद पर कुछ मौकूफ नहीं है और दुनिया के लिए उससे कोई सवाल पैदा नहीं होना चाहिए।

क्या यह पोजीशन भारत को स्वीकार है? भारत की जनता को एकदम स्वीकार नहीं है। क्या भारत के राज को स्वीकार है? यह बड़ा सवाल है और ग़ौर हो तो इस पर होना चाहिए। यह सवाल एक्सपीडिएंसी के मातहत नहीं है। वह फौजी सियासत पर टिका नहीं है। यह ईमान का सवाल है। आप चाहें तो फौजें न भेजिए, पर कहिए तो ईमान से, आप क्या मानते हैं?

हालात यह है कि आम चुनाव हुआ और शेख मुजीब न सिर्फ बंगाल, बल्कि पूरे पाकिस्तान में बड़ी अक्सरियत से चुने गये। याहिया खाँ ने कहा और दुनिया ने देखा कि पाकिस्तान का असली प्रधान मन्त्री आनेवाला शेख है। अब तक राज पंजाबी था। रिआया बंगाली थी। चुनाव ने पंजाबी हुक्मरानों में खौफ पैदा कर दिया कि क्या अब उन्हें बंगाली के नीचे रहना होगा! ख़ौफ़ज़दा याहिया और भुट्टो बंगाल पहुँचे। पार्लियामेण्ट की होनेवाली बैठक हवा कर दी गयी। बातचीत का स्वाँग हुआ और मार्शल-लॉ बोलकर वे वापस उड़ आये। उसी रात शेख गिरफ्तार किये गये और कत्लेआम शुरू हो गया।

सवाल है कि कानून क्या है? पार्लियामंण्ट की बैठक का सामना भुगतने से क्या हुकूमत को बच निकलने की इजाजत होनी चाहिए थी? क्या पाकिस्तान के लोगों को मिलनेवाले संविधान से वंचित रखना जायज था? क्या याहिया साहब को हक था, मिजाज था कि मुल्क के चुने गये लोकप्रिय नेता शेख से मशविरा न लें, बल्कि उलटे उनपर हाथ डालें? हक असल कहाँ से आता है? क्या वह हक रिआया की राय-आमाँ से नहीं बनता और क्या याहिया साहब उससे महरूम और शेख उससे बहाल न थे?

तब फिर यह उलटा धन्धा कैसे चल सका और दुनिया इस पहलू पर क्यों चुप है? यह सवाल है जिसको भारत की मान्यता दुनिया की निगाह में ऊपर लाकर उभार सकती है। नहीं तो कूटनीति के चक्कर से वह बाहर न निकल पाएगा और इल्ज़ाम भारत के सिर आएगा। मान्यता देने से हालत क्या ज्यादा जटिल होगी? अभी क्या बाँग्लादेश सरकार भारत में आश्रय नहीं पाए हुए है? क्या है जो पाकिस्तानी सरकार ने भारत के खिलाफ कहने से बचा रखा है? कोई हद बाकी नहीं छोड़ी गयी है और पाकिस्तान का प्रचार है कि सब हिन्दुस्तान की करनी है।

फिर अब तो हथियार वगैरा भेजने का सवाल नहीं रह गया है। सवाल सच्चाई को मानने और इंसाफ को परखने का हो गया है। सैनिक न्याय जो भी हो, दुनिया की तरफ से नैतिक न्याय को अभी होना है। क्या हिन्दुस्तान उससे चूकेगा? जन-मत तो साफ है, राज-मत को सोच लेना है!

[16.5.71]

लेखा-जोखा और प्रश्न का राजनीतिक समाधान

पाकिस्तानी पंजाब से हजारों मील लम्बा समुद्र पार कर याहिया की फौजें पाकिस्तानी बंगाल पर जा चढ़ी थीं। वहाँ अपना मार्शल लॉ का काम अब उन्होंने काफी पूरा कर लिया है। पूरे शहरी इलाके पर उनका कब्जा हो गया है, बस छापामारी के लिए इधर-उधर बाँग्लादेश की मुक्तिवाहिनी के लोग रहे होंगे। माना जाता है कि कम-से-कम दस लाख विद्रोहियों या उनके समर्थकों का उन्होंने सफाया कर दिया है, तीस लाख को देश से बाहर खदेड़ दिया है। बाँग्लादेश की हड्डी-पसली तोड़कर रख दी है। और चाहिए क्या था? सैन्य सत्ता का सिक्का बिठाना था, बैठ गया है।

लेकिन क्या याहिया खुश हैं? खुश हो सकते हैं? क्या उन्होंने जो सोचा, वह हुआ है? क्या हालत पहले से सँभली है?

या कि उसका संकट और गहरा हुआ है! सिर-दर्द बढ़ा है और पाकिस्तान की मुसीबतें और चौगुनी हो गयी हैं?

निश्चय ही याहिया साहब हलके दिल से मार्शल लॉ में न कूदे होंगे। जरूर बड़ा ख़ौफ़ और ख़तरा उनके सामने बन आया होगा, जिसे बचाने के लिए उन्हें क़त्लेआम करना पड़ गया। जरूर वह जानते होंगे कि हथियार उनके पास हैं, पलटनें हैं और फौजी दिल भी है। इसके मुकाबले निहत्था बंगाली क्या टिकेगा? आनन-फानन सब हो जाएगा और पाकिस्तान का इस्लामी झण्डा बुलन्द रहेगा। उसकी एक-राष्ट्रीयता अटूट रहेगी और इस्लामी बुनियाद मजबूत बनेगी।

पर क्या ऐसा हुआ है? इस्लाम की आवाज पर पाकिस्तान बना था। मुस्लिम क़ौम मुत्तहिद है, पाकिस्तान उसका घर होगा और राज होगा। इस बिना पर पाकिस्तान कश्मीर पर अपना हक मानता रहा और अन्दर-ही-अन्दर हिन्दुस्तान में रह गये मुस्लिमों को भी अपना भाई-बन्द गरदानता रहा। इस्लाम की वजह से क्या उसे हक नहीं आता था कि हिन्दुस्तानी मुस्लिमों पर वह भरोसा रखे और याद दिलाता रहे कि हिन्दू कौम के मातहत उन्हें नहीं रहना है?

दो कौमियतों की यह बुनियाद क्या बाँग्लादेश के हादसे से मजबूत न हो सकी है या कि उसके परखचे उड़ गये हैं? तीस लाख विस्थापित क्या मुस्लिम नहीं हैं? टैंकों-मशीनगनों से भून दिये गये दस लाख क्या मुस्लिम न थे? फिर क्या मज़हब और मिल्लत का खयाल था जिसने यह सब करवाया?

पाकिस्तान का दावा यही है, प्रचार भी यही है। उसका कहना है कि पीछे इस सब फसाद के हिन्दुस्तान की शरारत है। नहीं तो पाकिस्तान एक है और एक रहेगा। बुनियाद उस एकता की इस्लाम पर खड़ी है, जो हिल नहीं सकती।

शेख मुजीब के साथ की बातचीत नतीजे पर पहुँचने दी जाती तो पाकिस्तानी एकता की तस्वीर दुनिया के मनों में ज्यों-की-त्यों बनी रह सकती थी। बाँग्ला-देश की स्वायत्तता उस तस्वीर पर जरब न आने देती; पर वह नहीं होने दिया गया और अब वह तस्वीर दुनिया के दिल पर से दूर हो गयी है। पाकिस्तान के स्वाधीन भाग की हैसियत से बाँग्लादेश इस खयाल को सबके लिए पक्का कर सकता था, पर अब वह फट गया है और बात दुनिया के सामने आ गयी है कि इस्लाम नहीं था, पश्चिमी गुरूर था जिसने पूर्वी हिस्से को दबा और चूस रखा था। चादर ही मज़हब की थी, नीयत खुदग़र्जी की थी। यह वह क्षति है जो पाकिस्तान की जड़ को कमजोर करती है। यह नहीं हो सकता कि याहिया इस नतीजे के भूत को सामने न देखते हों। शायद वह दंग होंगे कि यह हुआ क्यों?

इस लेखे-जोखे में पाकिस्तान के हक में क्या हाथ आया? अर्थ व्यवस्था वहाँ की एकदम उखड़ पड़ी है। रुपये की कीमत गिर आई है। जूट-चाय-चावल की बदौलत जो रकम मिलती थी, उसकी जमीन उजड़ गयी है। बंगाल खपत की मण्डी के रूप में खत्म हो गया है। करोड़ से ऊपर की रकम हर रोज वहाँ क़ाबिज़ फौजों पर खर्च करनी पड़ रही है। दुनिया-भर से दबाव आ रहा है कि उजड़े लोगों को वापस बुलाओ और बसाओ। मामला जो पाकिस्तान का था, दुनिया के वास्ते का बनने से अब रोका नहीं जा सकता है। हर तरफ से दखल की उँगली पाकिस्तानी हुकूमत की तरफ उठायी जा रही है।

क्या फौजें बंगला-भूमि पर रहे ही चली जाएँगी? ऐसा मुमकिन कहीं और कभी नहीं हो सकता। पाकिस्तान के हाकिम इस झूठे ख्वाब में नहीं रह सकते।

तो फिर? लाखों जानों की क़ीमत में इतनी बेहूदगी और बर्बादी के एवज में मिला क्या? आखिर फैसला राजनीतिक होगा और हथियार के भरोसे जो हुआ, वह कायम नहीं रह सकेगा। भुट्टो कह निकले हैं कि ताकत को फौरन प्रजा के हवाले किया जाए। शायद माँग पश्चिमी पाकिस्तान के लिए है, जहाँ उनके दल का बहुमत है। उनका कहना है कि पूर्व पाकिस्तान की हालत में भी इससे सहूलियत आएगी। बरहाल आगे-पीछे ताकत याहिया और उनके साथियों के हाथ

से जाएगी और कुछ-न-कुछ आज से मुख़्तलिफ़ सूरत वहाँ की राजनीति की बनेगी। शेख़ को छोड़ना होगा और पूर्व पाकिस्तान के भविष्य को उनके हाथ में देना होगा। नहीं तो दुनिया की ताकतों का समीकरण बिगड़ा ही रहेगा और पाकिस्तानी हुकूमत पर उसका दबाव कसता ही जाएगा।

अच्छा है कि वक्त रहते याहिया खाँ और उनके परामर्शदाता यह सब देखें और जल्द-से-जल्द सैन्य-सत्ता का भरोसा छोड़कर स्थिति का सही राजनीतिक समाधान हो जाने दें।

[23.5.71]

राज्य का आधार धार्मिक नहीं, लौकिक

भारत की प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने बाँग्लादेश के सम्बन्ध में कड़ी चेतावनी दी है कि मानव यन्त्रणा से सहानुभूति रखते हुए भी यदि बड़ी शक्तियाँ निश्चेष्ट रहीं तो मानव जाति को संकट का सामना करना हो सकता है।

प्रश्न को कानूनी दायरे में देखा गया है। पाकिस्तान की स्थिति एक राष्ट्र-राज्य की है। फिर उसके विघटन को बाहर की ओर से कैसे उत्तेजन दिया जा सकता है? प्रधान मन्त्री ने कहा कि भारत को कभी वैसा विघटन अभीष्ट न था, न है। उसके दबाव थे, जिनका विस्फोट ही आज की बीभत्स हालत का दायी है।

साफ है कि पाकिस्तान का मामला अन्दर से बाहर फैल गया है। अन्दर हुई जाति-हत्या को अलग भी रखें तो पैंतीस लाख बाहर पड़े विस्थापितों को कैसे ध्यान से ओझल किया जा सकता है? वे भारत की भूमि पर आकर पड़े हैं, पर दुनिया की आँखों के सामने हैं और गहरी मानवीय समस्या उत्पन्न करते हैं।

पर पाकिस्तानी राष्ट्रीयता क्या सचमुच अखण्ड रह सकती है? क्या वह इन तेईस वर्षों में यथार्थ में अखण्ड थी, या कि मात्र वह एक ऐतिहासिक संयोग पर टिकी थी और नीचे से बराबर संदिग्ध बनी आ रही थी?

इतिहास बहुत पुराना नहीं है। ऊपर दिल्ली में विभाजन की योजनाएँ बन रही थीं और हिन्दू-मुस्लिम नेता कलकत्ता में मिलकर बंगाल को अविभक्त बनाए रखने की चेष्टा में लगे थे। शरत बोस, सुहरावर्दी और दूसरे जनों ने स्कीम तैयार की और शरत बाबू ने गाँधीजी को विश्वास में लिया। महात्मा गाँधी ने काँग्रेस की कार्यसमिति के आगे वह सब मसविदा रखा। पर उधर जिन्ना बज़िद थे कि हिन्दुस्तान की पूरी इस्लामी जमायत के वाहिद नेता वह हैं। उधर नेहरू ने साफ कह दिया कि काँग्रेस-लीग के अलावा विभाजन के किसी दूसरे रूप की बात नहीं सोची जा सकती। ऐसे दोनों तरफ से बंगाली हिन्दू-मुस्लिम नोताओं की बात

ठप्प पड़ गयी और गाँधीजी ने ऐसी हालतों में शरत बोस आदि को अपने यत्न स्थगित रखने की सलाह दी।

पाकिस्तान बना और दो खण्ड उसके एक-दूसरे से हजार मील अलग पड़े रह गये। दोनों के एक निज़ाम और हुकूमत के नीचे आने का आधार इस्लाम था। उस नाते पंजाब हाकिम हुआ और बंगाल की आबादी अधिक थी, उपज और आय अधिक थी, पर वही कम था और किसी गिनती में न था।

राष्ट्र का इस्लामी आधार क्या अकृत्रिम था? क्या वह नित्य प्रति काम में आ सकता था? सम्बन्ध हर रोज के रहने-सहने से बना करते हैं। सूत्र उनके आर्थिक होते और धरती पर बनते हैं। मत-मजहब का रिश्ता दिमागी रह जाता है, वह उतना जमीनी और मजबूत नहीं होता। वह बुनियाद नहीं देता है जिस पर दृढ़ राष्ट्रीयता खड़ी हो सके। राजनीति को जैसे नीचे से आर्थिक, सामाजिक और सामूहिक जीवन की एकता का बल और पोषण नहीं मिल पाता।

चुनाँचे इन तेईस वर्षों में पूर्व बंगाल पाकिस्तान के अन्दर और प्रशासन के अधीन तो रहा, पर सिर्फ़ ऊपरी तौर पर, मन से बिलकुल नहीं।

इधर इस्लामवादी राष्ट्रीयता का प्रचार होता रहा है। समझा जाता रहा कि कश्मीर और हिन्दुस्तान के सवाल को सामने रखे रहने से इस्लामी बुनियाद बंगाल में पक्की बन गयी होगी।

खबर है कि पिण्डी का अन्दाज यही था। जरा गुमान न था कि चुनाव बंगला-प्रेम की हवा में बह जाएगा और इस्लाम का नारा उखड़ा दीखेगा। नहीं तो चुनाव की बात आने ही न दी जाती। पर सचाई उघड़ आयी कि राष्ट्र दिमागी अरमानों पर नहीं बनते, वे आपसी और कामकाजी नातों-रिश्तों की घनता से बनते हैं। उनको एकक्षेत्रीयता चाहिए, एकत्रता, सामूहिक हित की एकमेकता चाहिए!

पाकिस्तान अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों के लिहाज से यों जुड़ा तो बना रहा, पर बंगाली के लिए पंजाबी प्रशासक विदेशी था और ग़ैर था। अन्दर-ही-अन्दर उसमें भभक थी और स्फोट को रोका नहीं जा सकता था।

शेख मुजीब सिर्फ एक शख्स नहीं रह गये, वे साढ़े सात करोड़ की आवाज बने दिखाई दिये। इस हकीकत में हिन्दुस्तान कहीं तस्वीर में न था। यह सचाई थी जो पाकिस्तानी सियासत के नीचे पहले रोज दबी पड़ी रह गयी थी। उसको उभरना था और उबलना था। वही है जिसने विश्व-परिस्थितियों में एक नये स्फोट का उदय किया है। बाँग्लादेश की महाजातीयता पाकिस्तान के इस्लामवाद में खोयी और रुकी नहीं रह सकती। दुनिया के लिए इस तथ्य को देखे और समझे बिना कोई दूसरा उपाय नहीं है।

[30.5.71]

ग़ौर-ही-ग़ौर...और हिम्मत नहीं

खबर है कि भारत के तिब्बती सीमान्त के उधर पचास हजार चीनी फौज मोर्चा डालकर तैनात हो गयी है।

पहले खबर थी कि पूर्वी सीमान्त पर पाक फौज ने अपनी छावनी जमा ली है।

पचास लाख लोग पाकिस्तान के सैनिक अत्याचार के त्रास से बचकर भारत के माथे आ पड़े हैं। साथ वे अपनी दीनता ही नहीं लाए, मरणान्तक हैज़े की बीमारी भी लेते आये हैं। बीमारी शरणार्थी-कैम्पों में हर गन्दगी की सुविधा पाकर महामारी की बाढ़ की तरह फैल चली है और न जाने कब पूरे देश को निगल डाले। ख़तरा बड़ा है और अधिकारी चौकन्ने हैं। पर डर असली है और सारी सावधानी कम सिद्ध हो आये तो अचरज नहीं है।

और हम क्या कर रहे हैं? इन विस्थापितों को अपने अन्यान्य प्रदेशों में बसने के लिए बाँटकर भेज रहे हैं, जैसे तय हो कि यह भारत का भाग है और पाकिस्तान हर ख़ता से बरी है! हलकी-फुलकी आवाजें जहाँ-तहाँ से उठी हैं कि पाकिस्तान उन्हें वापस ले, पर वह है कि अपने सैनिक-शासन में मगन है और एक भी कदम पीछे को नहीं लेना चाहता।

और हम कहते 'बाँग्लादेश' हैं, मानते 'पूर्व पाकिस्तान' हैं। पाकिस्तान मान लेने पर कोई ज़रिया हमारे पास नहीं रह जाता कि विस्थापितों की समस्या का अंश भी हम उस पर डाल सकें। डालना सोचें तो कहीं रजानीतिक गिरफ्त न पैदा हो आये!

और बाँग्लादेश को मान भी नहीं सकते, क्योंकि अभी ग़ौर पूरा नहीं हुआ है, गौर हो रहा है और अपने समय पर सब काम होगा।

और हमारा नेतृत्व दुनिया की ताकतों से कहने निकला है कि देखिए और कुछ कीजिए। भारत के विदेश मन्त्री श्री स्वर्ण सिंह सरकारी यात्रा पर निकले हैं। गैरसरकारी मिशन पर श्री जयप्रकाश नारायण पहले ही निकल गये हैं। वह

सर्वोदयी नेता हैं और सोचते हैं कि ताकत माँगने से बाहर से आ सकेगी।

यह है जो यहाँ हो रहा है और पाकिस्तानी फौज पूर्व बंगाल पर कब्जा जमाए बैठी है। छापामार छुटपुट वारदात की खबरें पाकर मन को चैन दे लेने के आगे यहाँ क्या कुछ सार्थक हो रहा है, पता नहीं।

क्या इस नीति से चलेगा? क्या पल-पल के लिए यह नीति भारी नहीं पड़ रही है? क्या इससे अकर्मक और समर्थ नीति कुछ नहीं हो सकती? क्या बचाव की भाषा में ही सोचना और जीना भारत के लिए शेष है? या कुछ आगे बढ़कर भी किया जा सकता है?

श्रीमती इन्दिरा गाँधी को भारत ने अपना पूरा विश्वास सौंपा है। समूची बागडोर उनके हाथ में है। क्या इसीलिए प्रकाण्ड बहुमत उन्हें नहीं मिला था कि वह अग्रगामी नीति अपनाएँगी और साहस का उदाहरण सामने रखेंगी? आशा चुनाव के पूर्व उन्होंने ऐसी ही जगायी थी। साहस का खेल खेला था और लगा था कि देश को अब संकल्पवान का नेतृत्व मिलेगा।

पर सोचा जा रहा है, और सोचा जा रहा है! पाकिस्तानी हमले पर लालबहादुर शास्त्री लाहौर का मोर्चा खोलने की सोचते, और सोचते रह जाते तो? निश्चय ही सोचने की जगह है, पर वह करने को भर नहीं सकती।

सवाल की शक्ल ही तेजी से बदली जा रही है। शेख मुजीब बन्द हैं, लेकिन शेख अब्दुल्ला बोले हैं। मुशव्वरात-इस्लामी का बयान भी सामने आया है। चीज की शक्ल फिरकावाराना दी जा रही है, जैसे शेख मुजीब और बाँग्ला-देश के मुजाहिदीन किसी से कम मुसलमान हों! बाँग्लादेश की सरकार के मेम्बर और मौलाना भासानी इस्लाम की पाबन्दी में याहिया साहब से हेठे हों। यह प्रोपेगण्डा है जिसमें भारत मात खाता दीखता है। यहाँ मुस्लिम आबादी कम नहीं है। साम्प्रदायिक जहर फैला कि इस मुल्क की ख़ैर नहीं।

याहिया यही चाहते हैं। उसी पर दुनिया के सामने पाकिस्तानी निजाम खड़ा रह सकता है, नहीं तो उसे मुँह दिखाने के लिए जगह नहीं है। सब जानते हैं कि मसला बंगाली रिआया बनाम पंजाबी हुकूमत का था, इसी बिना पर लड़ा गया और 97 प्रतिशत से शेख मुजीब की अवामी लीग की फतह हुई और बकाया की हार हुई। कहा जा रहा है कि पूर्व पाकिस्तान के प्राइम मिनिस्टर बनने की जगह शेख ने सिर्फ स्वाधीन बाँग्लादेश की आवाज उठायी तो क्यों? वजह यही कि षड्यन्त्र भारत का था और शेख पाकिस्तान तोड़ने पर उतारू थे। पर शेख की छह मुद्दोंवाली माँग कोई नयी न थी, काफी पुरानी थी और पाकिस्तान को सालिम न रखना होता तो बगावत कभी शुरू हो गयी होती।

दरअसल 'टू-नेशन थियरी' टूट गयी है और ऊपर के जोड़ से अब जुड़

नहीं सकती। वह बुनियाद में ग़लत थी और अन्याय-अत्याचार को ढकने के काम आगे वह नहीं आ सकती।

अगर भारत देश को लोकतान्त्रिक और धर्मनिरपेक्ष रहना है, अगर उस बुनियाद को दुनिया को सामने उसे सही साबित करना है तो इसके सिवा कोई राह नहीं है कि वह हिम्मत के साथ बाँग्लादेश को मान्यता दे और इस सत्य और न्याय के साथ सब जोखिम झेलने को आमादा हो जाए।

भगवान भी नहीं करता मदद उसकी, जो अपनी मदद नहीं करता। न कमजोर का साथी कोई हुआ है।

[13.6.71]

शेख बनाम खान : नैतिक बनाम सैनिक

शरणार्थियों की संख्या अस्सी लाख पर आ पहुँची है, फिर भी लोग भागकर आ ही रहे हैं। जो मर जाते हैं, मर जाते हैं और उनकी भी कम गिनती नहीं होती। जितने भाग पाते हैं, वे ही भारत की धरती पर शरणार्थी बनते हैं।

यह समस्या छोटी नहीं है। इसने दुनिया का चैन भंग कर दिया है और सब ओर से भारत के पास सहायता आ रही है कि उनकी देखभाल की जा सके। भारत ने समस्या को तात्कालिक माना है और खयाल है कि छह महीने में ये सभी वापस अपने बाँग्लादेश पहुँच जाएँगे और उनके यहाँ पुनर्वास की समस्या खड़ी न होगी।

पर वापस वे पहुँचेंगे कैसे? पाकिस्तान के इरादे साफ हैं। हिन्दू-अल्पमत का बाँग्लादेश में वह सफाया चाहता है। बस चले तो अवामी लीग के दल की कमर तोड़कर रख देना चाहता है। इन इरादों के बारे में दो रायें नहीं हैं। तब फिर इन साठ लाख लोगों की वापसी कैसे होगी? और भारत कैसे इस सम्बन्ध में आश्वस्त हो?

आश्वासन का आधार हो सकता है—शक्तियों पर अन्तरराष्ट्रीय दबाव का भरोसा। पर उस दबाव की सीमा है। अन्तरराष्ट्रीयता तो एक व्यूह है और हर एक राष्ट्र-राज्य सम्पूर्ण प्रभुसत्ता का स्वामी है। ऐसी अवस्था में दबाव की मात्रा नैतिक जितनी ही रह जाती है। उसका सैनिक और स्वार्थी मानस पर विशेष प्रभाव क्या पड़नेवाला है!

तो फिर क्या होगा? यह विकट समस्या कैसे निबटेगी? इन्दिरा गाँधी ने ठीक कहा कि कुछेक हजार शरणार्थी इधर-से-उधर हों, तो पश्चिम के देशों में बावेला मच जाता है। यहाँ की तादाद करोड़ तक आ पहुँचे तो अचरज नहीं है। इतनी भारी बात क्या भारत के बूते और पल्ले की ही रह जाएगी, समूची मानव जाति की न बनेगी? राहत के कार्यों में हाथ बँटाने की बात आग में कुछ छींटे छिड़का देने जैसी है। हालत उससे टलती नहीं, बल्कि उलटे वेग से जम आ

सकती है। अन्तरराष्ट्रीय शिष्टाचार कह देगा कि पूर्व बंगाल पाकिस्तानी राष्ट्र का भाग था और उसमें किसी को दखल देने का हक नहीं बनता है यानी कोई बाँग्लादेश नहीं है, सिर्फ पाकिस्तान है या वहाँ याहिया खाँ का आदेश चलेगा। भारत ने शरणार्थी मानकर कुछ लोग अपने बीच धर लिये हैं, तो यह उसका सिर-दर्द है। इसमें वह जहाँ-तहाँ से सहायता ले तो ले—आगे मुँह खोलने की उसे दरकार नहीं है।

साठ लाख लोगों का आ पड़ना किसी सैनिक आक्रमण से क्या छोटा संकट कहलाएगा? भारत पर जिसने यह संकट ला डाला, क्या वह अपराध से बरी रह जाएगा? क्या परेशान सिर्फ भारत को होना होना? अन्तरराष्ट्रीय विधि का न्याय लगभग यही कहता है। वह उस जोर-जुल्म का देखा-अनदेखा कर जाता है, जिसके डर और दहशत से ये लाखों-लाख आदमी भागकर उधर-से-इधर आ गये हैं। जाहिर है और साबित है कि पूर्व बंगाल की नर-हत्या जातीय हत्या के रूप में इतिहास में बेमिसाल है। फिर भी वह पाकिस्तान का अपना मामला रहेगा। हमारी सहानुभूति है आपद्ग्रस्तों के साथ और लीजिए, हम मदद को भी तैयार हैं। पर कानूनन पूर्व बंगाल पाकिस्तान का प्रश्न है—और हिन्दुस्तान अपनी निबेड़ने को आजाद है।

अर्थात् शरणार्थी समस्या भारत की है और पाकिस्तान की आन्तरिक समस्या इस अर्थ में निबट चुकी है कि उसका लश्कर वहाँ काबिज़ है। शेख मुजीब बन्द हैं और उनका गुट तोड़ डाला गया है।

क्या यह स्थिति चल सकती है? विश्व के राजनीतिक शिष्टाचार को मानकर रह जाएँ तो स्थिति यही है। पर यह असत्य और असह्य हो चली है। मानवता उस घाव को लेकर स्वस्थता से कभी जी नहीं सकेगी। अव्वल तो वे तत्त्व पूरी तरह न बुझ पाएँगे जिन्होंने जानें झोंक दी हैं और फिर बलिदान के मार्ग पर आरूढ़ जो स्वतन्त्रता की लड़ाई जारी रखे हुए हैं। पर शस्त्र-सैन्य की ऐसी नृशंस बर्बरता को मानव-जाति पचा नहीं सकेगी और पाकिस्तान को सबक सिखाना ही होगा।

इसलिए प्रश्न शरणार्थियों के आवास-उपचार जितना ही नहीं है, उससे कहीं-कहीं बड़ा है वह 'पाकिस्तान बनाम बाँग्लादेश' का है। प्रश्न के इस रूप को किसी तरह ढका या टाला नहीं जा सकता। यह प्रश्न लोकतन्त्र का है और मानवता का है। तमाम इतिहास इनसे बना है और सिद्ध हो चुका है कि बलिदान की क्षमता शस्त्र की सत्ता को तोड़कर अपने को प्रतिष्ठित कर सकती है और करती आयी है।

लोकमत के बल के आगे अधिनायकता नहीं चल पायी है और न ही चल पाएगी।

यही है जहाँ मान्यता का प्रश्न प्रस्तुत होता है। बाँग्लादेश ने अपनी सरकार घोषित की है। वह सरकार राजनीतिक मान्यता से वंचित है, पर वह है और नैतिक भूमिका पर कम नहीं, अधिक वैध है। शेख मुजीब आम चुनाव में 97 प्रतिशत से जीते हैं और उनका हक याहिया खाँ से ऊँचा ठहरता है। वे याहिया के बन्दी हों, लेकिन उनके हक़ का सिक्का दुनिया के मन पर बैठा है। समाधान का इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है कि शेख मुजीब को रिहा किया जाए और उनके साथ सलाह की बातचीत शुरू की जाए।

मान्यता बाँग्लादेश को देने का मतलब लड़ाई को निमन्त्रण देना ही न मान लिया जाए, यद्यपि पाकिस्तान उसे वही रूप देगा। असल में उस मान्यता का आशय होगा कि हक़ शेख मुजीब का है। पाकिस्तान पूर्व बंगाल देश को अपना कहना और रखना चाहता है तो शेख साहब की रज़ामन्दी पाने की कोशिश उसे करनी चाहिए। इसके अलावा पाकिस्तानी दावा बाँग्लादेश के बारे में झूठा और अलोकतान्त्रिक ही रहेगा।

[20.6.71]

सवाल 'हथियार बनाम इंसान' का

याहिया खाँ का बयान आ गया है और बाँग्लादेश के सवाल की जमीन काफी साफ हो गयी है। पाकिस्तान पर सेनाधिकारियों की सत्ता है और उसके इरादे इस बयान में से साफ झलकते हैं। पाकिस्तान में संविधान के निर्माण के लिए नेशनल असेम्बली का चुनाव हुआ था, जिसमें शेख मुजीब को पूरा बहुमत मिला था। पूर्व में तो शेख साहब का कहीं सर्वमत ही था। पश्चिम में बहुमत भुट्टो साहब के दल को हासिल हुआ था और आशा बन गयी थी कि सैन्य सत्ता वहाँ जनसत्ता को जगह देगी और नागरिक अपने अधिकार में आएगा।

किन्तु निर्वाचित नेता और भावी विधाता शेख मुजीबुर्रहमान ने इसी समय बाँग्लादेश का प्रश्न उठाया। बस, बातचीत के नाम पर सेना वहाँ आ टूटी और मार्शल लॉ में जो हुआ, उसको दोहराने की जरूरत नहीं है।

मामला पाकिस्तान का था, पर सेना के जोर-जुल्म की दहशत से बेतादाद लोग भागकर भारत की शरण आये जो अब पैंसठ लाख पर पहुँचते होंगे। पाकिस्तान ने अपने भीतर उठी आजादी की माँग की समस्या को टैंक और मशीनगन के बेतहाशा उपयोग से अपने लिए अगर लगभग निबटा लिया तो हिन्दुस्तान के माथे पर हर दिन बढ़ती जाती विस्थापितों की समस्या को ला पटका। सवाल इस तरह दो देशों के बीच का हो गया—और उस रूप में वह मानो आपसी सैन्य युद्ध के तापमान तक जा पहुँचा।

दुःख है कि सवाल की बुनियादी शक्ल ओझल हो गयी है और उसकी बनावटी सूरत दुनिया के सामने ला खड़ी की गयी है। वही है जिसने दुनिया के ज्यादातर मुल्कों को रोक रखा है और इतनी बड़ी ऐतिहासिक घटना को मानो ऊपरी मरहम-पट्टी की चीज बना दिया है।

पर बात गहरी है और उपचार वहाँ तक नहीं पहुँचेगा तो न पाकिस्तान को चैन मिलेगा, न दुनिया को ही अमन मिल पाएगा। एक नया नासूर उस विश्व-स्थिति में पैदा हो जाएगा जो अभी तनावों और तकाजों से लथमलथ है।

शान्ति के और सर्वोदय के नेता श्री जयप्रकाश नारायण दुनिया को बताने गये और फिर अधिकृत राजदूत के रूप में विदेशमन्त्री श्री स्वर्ण सिंह भी पहुँचे। स्वर्ण सिंह काम की यह खबर लाये कि अमेरिका से शस्त्र-सहायता पाकिस्तान को न देने और रोक देने का वचन मिला है, पर बात कानों तक पहुँचते-पहुँचते खबर मिली कि तीन जहाज शस्त्रास्त्र से लदे वहाँ से पाकिस्तान के लिए रवाना हुए हैं और अब सूचना है कि शस्त्र भेजने के इनकार की कीमत पर पाकिस्तान को समझाने का उसका कोई इरादा नहीं है।

जयप्रकाश बाबू जो समाचार लाये हैं, वह यह है कि हिन्दुस्तान को अपनी मदद खुद करनी होगी, दूसरे हमदर्दी से ज्यादा कुछ न दे सकेंगे और इन्दिराजी को अब एक पल नहीं खोना चाहिए।

इन्दिराजी ने साफ कह दिया है कि भारत देश उतावली में न पड़ेगा। बंगला सरकार की मान्यता बाहर किसी को कल्पनीय नहीं हुई है, न इन्दिराजी ने उसे माना है। फिर भी संकल्प बताया है कि विस्थापित वापस होंगे, और भारत की सहायता की एक हद है।

यहाँ है, जहाँ हिन्दुस्तान-पाकिस्तान इन दो राष्ट्रों के बीच का सवाल खड़ा है।

याहिया खाँ का बयान साफ कर देता है कि जनसत्ता लाने की बात जो थी, अब नहीं है। सत्ता तो सैन्य की ही रहेगी; जनसत्ता को किसी कदर पाकिस्तान के संविधान में जगह मिल सकती है तो इस शर्त पर कि सैन्य सत्ता के अधीन वह पालतू बनकर रहे। मार्शल लॉ जारी रहेगा। उनके अपने विशेषज्ञ विधान गढ़ने का काम कर रहे हैं। पाकिस्तान इस्लाम के उसूल के नीचे होगा और किसी की अपनी आजादी की बात बर्दाश्त न की जाएगी।

और बाँग्लादेश? उसकी बात करनेवाले की जगह एसेम्बली में न होगी। वह राजद्रोह होगा और पाकिस्तान के पूर्व भाग की एसेम्बली में पूर्व-निर्वाचित वे ही सदस्य होंगे, जो इस वफादारी की कसम लेंगे। बाकी जगहों का फिर चुनाव होगा। पर साफ है कि मार्शल लॉ बरक़रार रहेगा। नागरिक शासन को सैन्य शासन सही सीमा में रखेगा।

शरणार्थी उनमें जो आना चाहें, आएँ, बाकी भारत भुगते । यह है जो होना विचारा गया है। रूस का रुख साफ है। भारत शेख मुजीब को बाद देकर किये गये किसी समझौते को न मानेगा और राष्ट्र संघ में सवाल उठाएगा। रूस समर्थन देगा। इंग्लैण्ड और अमेरिका पाकिस्तानी बयान को काफी नहीं मानते हैं, पर...दूसरे कुछ देशों में क्षोभ है, घर में भी...।

पाकिस्तानी हथियार ने बाँग्लादेश के आदमी को रौंद डाला है, पर आत्मा

मर नहीं गयी है, आवाजें उठ रही हैं और छापामारी चल रही है। पूर्व बंगाल के गर्भ में ये तत्त्व हैं और सक्रिय हैं।

राजनीतिक समझौता वह कैसे होगा, कैसे चलेगा, जो मुजीब साहब को हिसाब में न लेना चाहेगा? दूसरी बाजू जिसमें हो नहीं, वह फैसला क्या राजनीतिक होगा, व्यवहार्य होगा? क्या यह मुमकिन है कि हुकूमत पाकिस्तानी सेना की रहे और उसके डर से जो भागे, फिर वापस आ जाए?

पर मामला उलझा है। शस्त्र को शस्त्र से, सेना को सेना से भिड़ाने से वह सुलझेगा नहीं। राष्ट्रों की भूमिका पर सवाल को बहकाए जाने से जो होगा, वह यही है। इसलिए उसकी जमीन से अलग और बड़ी जमीन उस सवाल को देनी होगी। इन्दिराजी को उसके लिए ललकारना नहीं होगा। वह प्रधान मन्त्री हैं और निश्चय ही उन्हें नहीं चाहिए कि वे लड़ाई छेड़ें। यह लड़ाई फौज बनाम आदमी की न होगी, बल्कि दोनों तरफ से फौजी हथियारों का उपयोग होगा। क्या ही अच्छा होता अगर फौजी और हथियारी ताकत के मुकाबले बाँग्लादेश की तरफ से सिर्फ इंसानी और बलिदानी ताकत लड़ी होती! तब कभी न हो सकता था कि इन्साफ और हक का सवाल घपले में पड़ता। अब भी रास्ता यही दीखता है कि पाकिस्तानी सैन्य को हिन्दुस्तानी नहीं, इंसानी ललकार मिले। हिन्दुस्तानी चुनौती सरकारी हो जाएगी; इंसानी ललकार सामाजिक, सार्वजनिक और जागतिक हो सकेगी। सब ओर से स्वयंसेवक आ सकते हैं। असम्भव नहीं कि पश्चिमी पाकिस्तान में से भी ऐसे कुछ साहसिक स्वयंसेवक निकल आएँ, और फिर क्यों न वे पचास-साठ हजार विस्थापितों के जत्थे लेकर बंगला-भूमि पर कूच कर जाएँ?

पर यह तब होगा जब पाकिस्तान के लिए मन में वैर न हो, भाई-चारा हो। उसके फौजियों को भी ईजा पहुँचाने की तबीयत न हो, बल्कि उनके हाथों खुद मर जाने की तैयारी हो।

माना कि गाँधी नहीं हैं, पर सर्वोदय तो है? क्या वह इन्दिराजी की तरफ देख सकता है, खुद चेत नहीं सकता?

[4.7.71]

बंगला-कांड : ध्वंस का अन्त और रचना का आरम्भ

बाँग्लादेश का सवाल अब-तब करता जा रहा था। अब उसके ढीलने का वक्त आ गया है। विध्वंस जरूरी था, उतना हो चुका, फौजें पूर्व बंगाल पर जम गयी हैं। विप्लवी दसेक लाख की संख्या में मार डाले गये और कोई सत्तर लाख के करीब निकाल भगाए गये। ये अब विप्लवी तो क्या रहे होंगे, पर याहिया खाँ की फौजें जड़ तक को साफ कर देना चाहती थीं। इतना कि आगे चुनाव हो तो बाँग्लादेश का नामलेवा कोई न रह जाए।

इस भीषण काण्ड पर मनों में खलबली कितनी भी मची हो, पर अन्तरराष्ट्रीय विधि-विधान की रू से वहाँ दखल कौन दे सकता था? पाकिस्तान स्वतन्त्र राष्ट्र-राज्य था और उसको अखण्ड प्रभुसत्ता प्राप्त थी। यह कि अवामी लीग और शेख मुजीबुर्रहमान को चुनाव में लगभग समूचे पूर्व पाकिस्तान का मत मिला, किन्तु फौजी शासन के लिए तनिक भी सोच-विचार का कारण न हो सका। शेख ने पश्चिम पाकिस्तान की पराधीनता को चुनौती देते हुए पूर्व की स्वाधीनता की माँग की, तो ऊपर से बातचीत का ढोंग हुआ और भीतर से जाने कितना अपार खर्च करके हजारों मील दूर से शस्त्रास्त्र-समेत सेना को वहाँ ला उतारा गया। फिर सैनिक स्वतन्त्रता और निरंकुशता से जो किया जा सकता था, सब किया गया। मानवता थर्रा और दहला उठी, पर फर्क बाल-बराबर न आया और संहार चलता रहा।

पड़ोसी हिन्दुस्तान भी क्या करता? विस्थापितों के कारवाँ-पर-कारवाँ आते गये तो भी क्या करता? अन्तरराष्ट्रीय आचार-संहिता के मुताबिक किया यही तो जा सकता था कि हो-हल्ला मचे और प्रचार हो और देशों की आँखें खोली जाएँ। वह सब हुआ और हो रहा है। देशों की आँखें बन्द थीं भी नहीं, पर स्वार्थों के ताने-बाने का अपना एक तर्क था और पाकिस्तान को हथियार मिलते रहे और मिलते रहते दीखते हैं।

यह प्रश्न थम गया है और अन्तरराष्ट्रीय कूटनीति के हाथों आ गया है। सम्भव नहीं है कि पश्चिम की फौजें पूरब में सदा के लिए जमी बैठी रहें। नागरिक

शासन को आना और जिन्दगी को बहाल होना होगा। उसके लिए जोड़-तोड़ चल रहे हैं और पाकिस्तान पर दबाव भी काफी आ रहे हैं। साफ है कि बातचीत चलेगी और फौज हटेगी। विस्थापितों की वापसी के लायक हवा और हालत बनने देनी होगी। फौज की जगह कोई कठपुतली सरकार बना देने से नहीं चल पाएगा। शासन पूर्व में चलेगा तो वह, जिसमें शेख मुजीबवाली अवामी लीग का हाथ होगा। बात शेख मुजीब से चलेगी, तो ही वह निबटारा हो सकेगा जो हालात को सुलझाए और खुद में टिक सके। उसके अलावा कोई सूरत बनती नजर नहीं आती है।

जनरल याहिया खाँ की घोषणा से संविधान का प्रारूप तैयार हो चुका कहा जाता है। उसमें किसी स्वाधीन बाँग्लादेश की सम्भावना के लिए गुंजाइश नहीं रह जाती है। पाकिस्तान से अलग-अलग घटक बन जाते हैं और अगर पूर्व बंगाल को उसमें से खुद सिर्फ एक घटक बनने में उज्र हो, तो वह भी अपने को कई हिस्सों में बाँट सकता है। लोअर हाउस में घटकों का आधार होगा अवर सदन। केन्द्र में पाकिस्तान की संयुक्तता सुरक्षित होगी। निर्वाचन पृथक होगा। यह नहीं कि मुस्लिम कोई हिन्दू-समर्थन से चुन जाए। समूचे पाकिस्तान की लिपि एक होगी, भाषाएँ चाहे प्रादेशिक हों, इत्यादि।

यह खाका पूर्व को स्वीकार हो तो माना जाएगा कि बलिदान व्यर्थ हुए और सिर्फ शस्त्र सार्थक हुए। बलिदान इस आधार पर हुए थे कि इस्लाम हमारा धर्म हो, देश बंगला है। धर्म हिन्दू होने से उसका देश बदल नहीं जाएगा। इस्लाम के नाम का मतलब यह नहीं है कि पंजाब बंगाल को अपना गुलाम बना डाले। नर-संहार का आधार यह था कि देश पाकिस्तान है, बाँग्लादेश की बात को मुँह पर लाना राजद्रोह है।

इन दोनों ध्रुव संकल्पों के बीच लड़ाई ठनी थी। अब सुलह बनेगी तो याहिया खाँ का प्रस्तावित विधान काम नहीं देगा। काफी हद तक बंगला मुक्तिकामियों को अवकाश देना होगा। शस्त्र का तो दखल नहीं हो सकता था, पर नैतिक दबाव से पाकिस्तान बच नहीं पाएगा। विश्व का जनमत जगा है और स्वयं पाकिस्तान के लिए आवश्यकता बन आयी है कि विदेशियों को आमन्त्रित करके उनकी साक्षी को अपने समर्थन में प्राप्त करे। पर ऐसे जो निष्पक्ष गवाही प्राप्त हुई है, उससे पाकिस्तान का पक्ष मजबूत नहीं होता, उलटे वह काफी कमजोर पड़ गया है।

कुल मिलाकर दो परिणाम साफ हो आते हैं :

(1) राष्ट्र की प्रभुसत्ता होते हुए भी विश्व के व्यूह से कोई देश बाहर नहीं है और इसलिए विश्व के जनमत को न कोई ठग सकता है, न उससे निरपेक्ष रह सकता है। आपस में स्वार्थ के सूत्र भी इस उगती और उभरती विश्व-मानस की एकता को अधिक बाँधकर नहीं रख सकते हैं।

(2) हुकूमतों की अपनी सेना-शक्ति चाहे तो अन्तरंग का प्रश्न कहकर मर्यादा लाँघ सकती है और मानस-संकट उपस्थित कर सकती है, किन्तु राजकीय सदाचार दूसरे राष्ट्रों को इस परिस्थिति में कुछ कर पाने से लाचार और नपुंसक बनाए रहता है। यदि ऐसे दृश्य आने असम्भव करने हों, तो शासन-निरपेक्ष किसी मानवीय यन्त्र का उदय आवश्यक है जो अहिंसक प्रतिकार के अंकुश से हर सत्ता को सीमा-मर्यादा में रखे।

क्या भारत, जिस पर बंगला-काण्ड का सारा भार पड़ा है, इसमें पहल करने की सोचेगा?

[24.7.71]

बाँग्लादेश : स्वाधीनता और लोक-नीति

बाँग्लादेश के सवाल को उठे हुए यह चौथा महीना है। वहाँ हत्या जारी है और भगदड़ भी जारी है। आधे लाख के आस-पास की संख्या में शरणार्थियों का ताँता भारत की सीमा पर हर रोज आता है। फौज का जुल्म चल रहा है और छापामार कार्रवाइयाँ भी बढ़ रही हैं—यह तो है सवाल की अन्दरूनी कैफियत!

बाहरी सूरत में भी कुछ पेच बढ़े ही हैं। प्रेसिडेण्ट निक्सन की पीकिंग-यात्रा निश्चित और घोषित हुई कि उसने विश्व की महाशक्तियों के त्रिगुट-सन्तुलन और व्यूह में डगमगाहट ला दी है, जैसे अब नक्शे का पुनरवलोकन और पुनरायोजन होगा और नीतियाँ उस दृष्टि से निर्धारित की जाएँगी। बाँग्लादेश का प्रश्न विश्व-शक्तियों के समीकरण के हिसाब से हल किया जाएगा। वहाँ हिन्दुस्तान की इकाई पाकिस्तान के समतुल्य होगी और अगर पाकिस्तान चीन के साथ अनुबद्ध दीखेगा तो वह भारत में भारी गिना जाएगा।

प्रश्न में इस तरह तिहरे फेर हैं जैसे पाकिस्तान की एकता, बाँग्लादेश की स्वाधीनता और भारत पर शरणार्थियों की चढ़ाई—यही तीन प्राथमिक मुद्दे प्रतीत होते हैं। निर्णय जो भी होगा, इन मुद्दों को सँभालनेवाला होगा। पर वह अन्तिम सन्धि-समझौता पाकिस्तान, अवामी लीग या भारत के आपसी संवाद में से ही बन जानेवाला नहीं है। अब वह बड़े व्यूह का अंग है और विश्व की राजनीति के आवर्त में आ गया है।

स्पष्ट है कि फौजी या छापामार कार्रवाई लगातार नहीं चल सकती, उसका एक दिन अन्त आएगा। इसीलिए नहीं कि ये दोनों एक-दूसरे को काटती हैं; बल्कि इसलिए भी, कि यह स्थिति अन्तरराष्ट्रीय मानव-समाज को सहन नहीं हो सकती; अर्थात यदि भारत का शस्त्र-सैन्य इधर से अपना बल या दखल देने जा पहुँचता है तो इससे समाधान में कुछ सुविधा नहीं होती, प्रत्युत मामला और कस आता है। हैरत तब होती है जब दलीय राजनीति ही नहीं, प्रत्युत सर्वोदय नीति भी इस प्रकार के वातावरण में योग देती दीखती है।

किन्तु जिसको राजनीतिक समाधान कहा जाता है, वह समाधान सिद्ध होगा, इसमें संशय है। शस्त्र की शक्ति की छाया में ही वह हुआ होगा और उसमें भीतर असमाधान के तत्त्व पड़े रह जाएँगे। हिंसा के ऊपर ढकना ही आएगा, भीतर की धधक नहीं बुझेगी। शस्त्र की शक्ति और सत्ता एक सीमा तक ही सहायक होती है। सरकारों के पास उस बल से दूसरा बल नहीं होता। इसलिए वहाँ पर छोटी शक्ति को बड़ी के आगे दब जाना पड़ता है और जो परिणाम आता है, वह निरंकुशता को समाप्त नहीं करता, बल्कि ऊपर एक बड़ी निरंकुशता की स्थापना कर जाता है। मान लिया जाए, अमेरिका, चीन और रूस आपस में किसी सहमति पर पहुँच कर बाँग्लादेश के प्रश्न पर कुछ मरहम-पट्टी का रास्ता निकाल लेते हैं। याहिया खाँ के प्रस्तावित संविधान को तनिक हेर-फेर के साथ जमा दिया जाता है। अवामी लीग को कुछ ले-देकर चुप कर दिया जाता है। भारत की विशेष सुनी नहीं जाती है और आधे-परधे शरणार्थी लौटाने पर सब मान लिया जाता है—तो क्या रोग मिट जाएगा?

इसलिए आवश्यक है कि प्रश्न सत्ताओं के आपसी स्वार्थों के समीकरण के अधीन न रहे, बल्कि एक लोक-सत्ता और लोक-नीति का व्यवहार्य रूप उदय में आए जो इसको हाथ में ले। संयुक्त राष्ट्र संघ का उदाहरण समक्ष है। वह विश्व की केन्द्रीय संस्था है, पर है सरकारी स्वार्थों के अधीन। इसलिए राहत आने के मौकों पर वह विशेष काम की साबित नहीं होती। ऊ थाँत महोदय अपनी ओर से ज्यों-त्यों वह प्रश्न उस सभा के आगे समक्ष ला भी सके, तो परिणाम क्या आ जाएगा?

अर्थात, जिस विश्व-लोकमत का प्रतीक राष्ट्र संघ को माना जाता है, किन्तु जिसका रक्षण वह स्वयं नहीं कर पाता, वह लोकमत अपने में समर्थ, सक्रिय और साभिक्रम हो सके, इसका कुछ उपाय होना चाहिए। यह उपाय स्पष्ट है, सशस्त्र न होगा, न अस्त्र-सत्ता के अधीन ही होगा, फिर भी अमोघ वह इसलिए होगा कि विश्व के अन्तःकरण का उसे अनुमोदन होगा।

सरकारें समाज के हाथ की साधन-यन्त्र हैं; उनकी निरपेक्ष सत्ता नहीं है। इसलिए आगे-पीछे उस सत्ता को उदय में आना ही है जो सशस्त्रता और उसकी उपयोगिता को सीमा में रखे। वह उदय सरकारी स्तर से न होगा, सत्याग्रही स्रोत से ही हो सकेगा।

बंग-बन्धु शेख मुजीबुर्रहमान की प्राथमिक माँग स्वायत्तता की थी। अब लाखों लोगों के बीच में आ पड़ने से पूरी विलगता और स्वाधीनता के सिवा दूसरा कुछ सम्भव नहीं है। पर राजनीतिक समझौता वहाँ तक न जा पाएगा। मौलाना भासानी यही चिल्ला रहे हैं; पर वह चिल्लाहट ही रह जाएगी अगर भरोसा

भारतीय या अन्य किसी शस्त्रायात का होगा। स्वाधीनता के लिए शस्त्र का सहारा लेते ही बात ऊपर राजनीतिक चक्र-कुचक्र के चंगुल में पहुँच जाती है। तब नीचे के बलिदान की ज्वाला पर सत्तापतियों की हाँडी पकने लग जाती है—सारा इतिहास यही बताता है।

इसलिए वे कि जो स्वाधीनता चाहते हैं—मनुष्य की, देश की, समूचे मानव-समाज की स्वाधीनता चाहते हैं—उन्हें सोचना है कि राजनीति से ऊपर या बाहर लोक-नीति क्या और कैसे कर सकती है?

[10.8.71]

हिंसक मुठभेड़, अहिंसक प्रतीकार

'नयी दिल्ली, 8 सितम्बर, बाँग्लादेश के दिल्ली-स्थित प्रतिनिधि श्री शहाबुद्दीन ने बताया कि बाँग्लादेश की मुक्ति वाहिनी के पास अब न तो हथियारों की कमी है, न सैनिक ट्रेनिंग का अभाव है और न सहायकों की कमी है। देश का बड़ा भाग मुक्तिवाहिनी के अधिकार में आ गया है तथा पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने में ज्यादा देर नहीं रही।'

पाकिस्तान के फौजी शासन के खिलाफ जाँबाजों के मुकाबले और मुठभेड़ की यह कहानी है। यह मुक्तिवाहिनी अहिंसा से बँधी नहीं है और हिंसा से घबराती नहीं है। अभी तक बाँग्लादेश की मुक्ति और निर्मिति का मोर्चा इसी के हाथ रहा है; इसी के पक्ष में दुनिया के सब देशों से सहायता और समर्थन की माँग हुई है और मान्यता का सवाल किया गया है।

देशों का रुख इस बारे में अब तक बँटा हुआ रहा है। अधिकांश ने पाकिस्तानी कार्रवाई को धिक्कारा और उसकी मदद से इनकार किया है। कुछ ने निर्दयता की निन्दा तो की है, पर पाकिस्तान राष्ट्र के प्रति राजनीतिक अनुमोदन और सहायता जारी रखी है। कुछ का पूरा समर्थन याहिया खाँ को प्राप्त है और कारण, उसमें दक्षिण एशिया पर व्याप्त शक्ति-व्यूह का विचार ही प्रमुख है।

मेरा मानना है कि अगर हिंसक कार्रवाई सिर्फ एक ओर होती और सामने उसके डटकर खड़ा हुआ मुक्ति फौज का अहिंसक रूप होता, तो विश्व मत इस प्रकार फट नहीं सकता था। हर प्रकार की शक्ति की राजनीति के आर-पार हो वह सुनिश्चित होता—एक और एकाग्र होता। कारण, तब एक तरफ शुद्ध बर्बरियत दिख आती, दूसरी तरफ खालिस इंसानियत; पर वैसा अगर नहीं हुआ तो अवामी लीग को, स्वयंसेवकों को दोष देने की हिम्मत कोई नहीं कर सकता। दोष है तो उस कर्तव्य का है जो अहिंसा चाहता है, पर खतरा उठाने को तैयार नहीं होता।

इससे ढाढ़स बँधा, जब 'ओमेगा अभियान' की खबर मिली। उस दल को पाकिस्तान पहुँचकर चाहे वापस जाना पड़ा, पर फिर वह पाकिस्तान की सीमा

में पहुँचा और उसका एक भाग वहाँ अपना काम पूरा करके ही रहा। उसने पचास गाँव घूमे और साथ की सब सामग्री वितरित कर दी। दूसरे के विषय में सुना जाता है कि उस पर जैसोर की फौजी अदालत में मुकदमा चलनेवाला है।

पर बड़ी खबर कलकत्ता से मिली है, यह कि इसी अक्टूबर महीने में किसी समय पूर्व बंगाल की ओर से एक 'मुक्ति-यात्रा' आरम्भ होनेवाली है। वह व्यवस्था गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान की ओर से होगी। हजार-हजार के जत्थे में निर्वासित जन अपनी जन्मभूमि की ओर प्रयाण करेंगे और कुल इनकी संख्या एक लाख होगी ही। ये स्वतन्त्र बाँग्लादेश के नागरिक होकर अपने क्षेत्र का प्रशासन स्वयं करेंगे, और पाकिस्तान को सहयोग न देंगे। ये शान्ति-दल खुले रूप और खुले मार्ग से आगे बढ़ेंगे। आशा है कि अनेक देशों के शान्ति-सेवक इस यात्रा में शामिल होंगे जिनमें दो अमेरिकी एतदर्थ भारत पहुँच भी गये हैं। ओमेगा-सदस्य भी सम्भवतः योग देंगे। शान्ति प्रतिष्ठान ने बाँग्लादेश के युवकों में से पचास का चुनाव कर भी लिया है। उनमें हर-एक हजारवाले जत्थे की कमान हाथ में लेगा। प्रश्न के सभी पहलुओं पर विचार किया जा रहा है और यह भी कि पाकिस्तानी सेना मार्ग रोके या दूसरी कार्रवाई करे तो उन्हें क्या करना चाहिए।

इस सूचना से गाँधी सचमुच जी जाते हैं। याद उनकी थी, पर लगता था कि उनके नाम पर बनी निधि हो या दूसरे संस्थान-प्रतिष्ठान हों, पर गाँधी उठे तो उठ ही गये हैं। चिनगारी जहाँ-तहाँ फूटती थी, जिससे प्रतीत होता था कि सुलग शेष है और उनका सन्देश मानव के अन्तःकरण में अब भी जग और जल रहा है। पर चारों ओर टूट-फूट, हिंसक संघर्षों को देखकर वह प्रतीति झुलस जाती थी और निराशा घेर लेती थी। साफ था कि हिंसा से और शस्त्र से फैसला होता नहीं है। रोग दबकर पीछे और भी विषम रूप से फूट आता है। पर राह दूसरी न सूझती थी और जगत अपनी पुरानी लीक पर चला आ रहा था कि बाँग्लादेश का प्रश्न चमका।

शेख मुजीब को आम चुनाव ने निन्यानबे प्रतिशत अपना समर्थन दिया, पर फौजी शासन ने इसमें खतरा देखा और वह कहर बरपा किया कि अस्सी लाख से ऊपर आदमी डर-भागकर भारत में शरण पाने जा पहुँचे। खुद बंगला-भूमि पर कत्लोगारत का जो काण्ड मचा, उसकी क्या कहिए! प्रश्न वह राजनीति से बड़ा था और इंसानियत का समझा जाना चाहिए था, पर उनका ढंग बना नहीं और कुल मिलाकर वह सवाल राजनीतिक आवर्त में फँसकर रह गया।

गाँधी शान्ति-प्रतिष्ठान का कदम उसे अब राष्ट्रीय से अन्तरराष्ट्रीय और मानवीय स्वरूप दे जाता है और यह शुभ है। लेकिन गाँधी को भी इस सन्दर्भ में पूरी तरह ध्यान में लिये रहना आवश्यक है। गाँधी-युद्ध हमेशा दो स्तरों पर

चलता था—ऊपर बातचीत और पत्राचार, नीचे प्रतिरोध और प्रतिकार। निर्वैर और निर्भय रहकर शुद्ध सत्याग्रह हो तो स्वाद की यह भूमिका कभी अस्वस्थ नहीं होनी चाहिए। आशा की जानी चाहिए कि शान्ति प्रतिष्ठान के नेतृत्व की ओर से पाकिस्तान सरकार से अभी चिट्ठी-पत्री शुरू हो गयी होगी। पाकिस्तान को मौका होना चाहिए कि अपना पक्ष वह सामने करे और सत्याग्रह को भी अपने इरादे और नक्शे खुलकर समझाकर देने चाहिए। अहिंसक युद्ध इनमें से किसी सिरे पर कोताही नहीं कर सकता। स्पष्ट होना चाहिए कि शान्ति यात्रा का पक्ष भारतीय नहीं, राष्ट्रीय नहीं है, वह सर्वथा नैतिक और जागतिक है।

[12.9.71]

झगड़ों का राजनीतिक फैलाव नहीं, मानवीय निपटारा

भारतीय मन्त्री ने बताया कि भारत में बाँग्लादेश-निवासियों की संख्या दो या तीन महीनों में सवा करोड़ हो जाएगी। आज (6 अक्टूबर को) उनकी संख्या 91,46,000 और 4 हजार व्यक्ति रोज सीमा पार करके भारत आते जा रहे हैं। भारत को 500 से 600 करोड़ रुपया इस वर्ष के अन्त तक निर्वासितों पर व्यय करना हो जाएगा। अगस्त की समाप्ति तक सरकार 120 करोड़ तक खर्च कर चुकी है। उन्होंने आगे बताया कि कुछ अन्तरराष्ट्रीय संस्थानों और विदेशी सरकारों से 115 करोड़ रुपये की सहायता के वचन मिले हैं, पर प्राप्त 18.95 करोड़ ही हुए हैं। यू.एस.एस.आर. ने हाल में पचास हजार टन चावल, तीन हजार टन वनस्पति तेल और तीन हजार टन औषधि आदि के दान की सूचना दी है।

यह है बाँग्लादेश की समस्या का वह पहलू, जिसका भारत पर सीधा भार है। समस्या का शेष राजनीतिक अंश उससे भी अधिक उलझन में है। सवाल खिंचता ही जा रहा है। सूरत समाधान की नजर नहीं आती। ले-देकर कुछ हो पाएगा तो वह होगा जिसको राजनीतिक हल कहा जाता है; अर्थात वह हल होगा तो लँगड़ा, ऊपरी और वक्ती होगा। अन्दर उसके बखेड़े के बीज रहेंगे जिनका स्फोट ऊपरी अंकुश और इन्तजाम की अधीनता बचाए रखा जाएगा।

झगड़े-बखेड़े तो मानव-समाज में होते रहे हैं और हुआ ही करेंगे—उनसे भुगता गया है, छोटे या बड़े युद्धों द्वारा। इसमें एक पक्ष की तबाही पर दूसरा पक्ष जीतता आया है। झमेलों के निपटारे की यह पद्धति अब से कुछ पहले तक तो काम देती आयी है, किन्तु अब आकर वह विफल और व्यर्थ हो गयी है। और तो और, मामूली-से वियतनाम का झमेला ताकत के बूते निबट नहीं सका है, वह ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। कारण, कोई लड़ाई अब खुलकर हो नहीं सकती, और छोटी-से-छोटी भी जरा से मोड़ में विश्व युद्ध में परिणत हो सकती है। इसलिए युद्ध का उपाय आज की राजनीति से बाहर हो गया है। शस्त्रास्त्र हर देश डर में, बचाव में, अपने लिए जमा करता जा सकता है, पर उनके भरपूर

उपयोग और लीला का अवसर किसी के लिए आनेवाला नहीं है।

शस्त्रों के निर्यात से अमुक देश लाभान्वित होते हों, पर उनका आयात करनेवाले देशों की समस्या उनसे जरा भी हल नहीं होती, बल्कि दो पड़ोसी देशों की शस्त्रों की जरा खड़खड़ाहट पर मामला अन्तरराष्ट्रीय शक्ति के चक्रव्यूह में फँस जाता है। तब शत्रुता में ठने वे छोटे-मोटे देश बड़ी शक्तियों के पंजों के नीचे बस असहाय बने एक-दूसरे को घूरते और कोसते रह जाते हैं।

यही हो रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ की परिषद में विवाद चल रहे हैं; आरोप-प्रत्यारोप, घात-प्रतिघात के पैंतरे आजमाए जा रहे हैं। पर बात कसती है, खुलती नहीं है। अगर बाँग्लादेश की भूमि पर उठा हुआ विवाद निर्णय के लिए वाशिंगटन-मास्को धुरी पर जा अटकता है तो और क्या होनेवाला है?

पाकिस्तान कहता है कि हमारी हिन्दुस्तान से बात हो जाए। हिन्दुस्तान कहता है कि हम पर एक करोड़ निर्वासित लद गये हैं। इतना ही हमसे सवाल का वास्ता है, बल्कि बंगाल की समस्या से तुम्हें खुद निपटना है। तुमने उठायी है, तुम्हारा मामला है; हमारे पास से तो इन अपने करोड़ आदमियों को तुम्हें वापस लेना है। हाँ, यह हम जरूर जानते हैं कि शेख मुजीब को अगर बंगाल ने, बल्कि पूरे पाकिस्तान ने, बहुमत से चुना है तो उनकी बात तुम्हारे मुल्क में सर्वोपरि होनी चाहिए यानी पाकिस्तान सरकार को जेल में न रखकर शेख को मशवरे में, बल्कि फैसले की जगह पर आने देना चाहिए।

इसी बीच 'भारत-रूस सन्धि' हुई है, पर संयुक्त वक्तव्य में शब्द 'पूर्व पाकिस्तान' रहा, 'पूर्व बंगाल' तक नहीं आ सका। 'बाँग्लादेश' का तो प्रश्न ही नहीं। इससे प्रकट और प्रमाणित है कि सरकारी तल पर सरकार ही मान्य होती है, दूसरे का पक्ष स्वीकार्य नहीं होता। कोई जनआन्दोलन पहली सरकार गिरा दे, दूसरी सरकार बना डाले, तो ही उपाय, अन्यथा नहीं। अगर जन-क्रान्ति इस दिशा में कोई सफल हो सकती है तो वह शस्त्र के रास्ते से नहीं, सत्याग्रह के मार्ग से ही सफल हो सकती है।

पाकिस्तान चौबीस वर्ष पहले हिन्दुस्तान का भाग था। विभाजन में भारतीय काँग्रेस, मुस्लिम लीग और बर्तानी ताज—ये तीन पक्ष थे। एक गाँधी थे, जिन्होंने चार बार कहा कि तीसरे पक्ष को बीच से हट जाने दो; अँग्रेज को पहले बाहर जाने दो। झगड़ा जिनमें है, वे खुद निपटने को आमने-सामने रह जाएँ। चाहे फिर वे समझदारी से निपटें, या खून की होली खेलकर निपटारा करें। वही निपटारा टिकेगा। फिर एक दिन उसमें से भाईचारा भी निकलेगा। तीसरा अगर बीच में रहा तो दुश्मनी कायम होगी और फिर निस्तार नहीं है। गाँधी की बात गहरी मानव नीति की थी, पर राजनीति दिमाग पर छायी थी और उसका भोग अब भी भोगा जा रहा है।

ये करोड़-सवा करोड़ भाई अपना घर-बार छोड़कर क्यों पाकिस्तान से भाग आये हैं? डर के मारे ही तो! पर उस डर से क्या हुआ है? क्या मरनेवालों की संख्या घटी है? क्या मौत से बदतर बदहाली में ही उन्हें नहीं जीना पड़ रहा है? तो क्या यह नहीं हो सकता कि डर उनके मन में से भगा दिया जाए, वे इंसान की तरह खड़े हों और पूरी शक्ति-कदमी से, लेकिन एकदम दृढ़ और निःशस्त्र, अपने हक के लिए पाँव-पैदल, फिर पाकिस्तान में चल पड़ें? यह छिट-पुट या लुक-छिप गुरिल्ला कार्रवाई न होगी; इसमें से जन-विप्लव निकलेगा, जिसके आगे सेना या सत्ता ठहर नहीं सकती। पर यह सच्चा पराक्रम अहिंसक ही हो सकता है। यही मार्ग है कि जिससे मानव का प्रश्न राजनीति के चंगुल से बाहर होगा और मानव की अपनी मुट्ठी में आ जाएगा।

[10.10.71]

उद्धरेदात्मनात्मानम्!

इतिहास की शिक्षा है और जीवन का भी अनुभव है कि अपनी मदद खुद ही करनी होती है। दूसरे पर आस या आसरा डालने से पीछे हाथ ही मलते रह जाना पड़ता है; काम नहीं बनता। प्राचीन शास्त्र भी यही सीख देते हैं।

बाँग्लादेश का सवाल उलझ गया है तो इसी भूल के कारण, और निबटेगा तो उसी सोच के अमल के आधार पर।

सवाल तो उठेंगे और उन पर तनाजे-झगड़े भी होंगे। प्रश्न राष्ट्रों के बीच का होगा तो वह युद्ध का रूप ले लेगा। इन संघर्षों में अधिकांश नंगी शक्ति से काम लिया जाता रहा है और तत्काल की जय-पराजय पर सब-कुछ मौकूफ मान लिया गया है। पर इतिहास साक्षी है कि उस ढंग से झगड़े की जड़ खत्म नहीं हो जाती। विष-बेल भीतर-ही-भीतर फैलती रहती है। और परिणाम में मनुष्य जाति को युद्धों की परम्परा का भोग भोगना पड़ा है। हाल की ही बात तो है कि धन और युद्ध से मित्रों ने शत्रु को नेस्तनाबूद कर डाला, पर मरे और हारे मुल्क में से फिर आग फूटी और पहले से भी विकराल युद्ध दुनिया के माथे पर आ टूटा।

युद्धों की यह परम्परा जीवन के अन्त तक तो चलनेवाली नहीं है। भविष्य इतना अन्धा नहीं हो सकता। मनुष्य को इसके पार जाना और आत्म-नाश से आत्म-निर्माण के युग में चरण रखना है। प्रतियोगिता से सहयोगिता पर आना है। मार्ग में भी अगर प्रतिस्पर्धी तत्त्व आ मिलें, तो उनके लिए भी हिंसक से किसी दूसरे उपाय का आविष्करण कर लेना है। हिंसा के शस्त्रास्त्र के विधान में आदमी इतना बढ़ गया है कि आगे वह राह बन्द है। कोई दूसरी राह समय पर नहीं पा ली गयी तो प्रलयान्तक सर्वनाश ही सामने आ सकता है।

बाँग्लादेश के प्रश्न में प्रमुख पक्ष पाकिस्तान की लश्करी सरकार है। उसके पास आधुनिकतम शस्त्रास्त्र हैं। वे उसे चीन से, अमेरिका से मिले हैं और रूस से भी मिल गये हैं। पाकिस्तान के पूर्व भाग का अनुभव पक चुका था कि वह

मात्र उपनिवेश है। शासन उस पर पश्चिम का है। पककर वह अहसास फूटने पर आ ही चला था कि तभी निर्वाचन आया और मालूम हुआ कि आगामी व्यवस्था में प्रजाजन का भी भाग होगा, उसकी आवाज सुनी और मानी जाएगी। निर्वाचन से जो निष्कर्ष सामने आया, उसने फौजी हुक्मरानों को चौंका दिया। शेख मुजीबुर्रहमान उस चुनाव में से मुल्क के वाहिद अवामी नेता साबित हुए। बंगला-भूमि पर तो उनका बहुमत निन्यानवे प्रतिशत था।

इस ऊँचाई पर से शेख ने कहा कि बाँग्लादेश को स्वायत्तता देनी होगी। स्वायत्तता रूप से उस बाँग्लादेश ने, शेख की आज्ञा के अधीन, अपना आचरण भी आरम्भ कर दिया। सफल और व्यापक ऐसे असहयोग के दृश्य उपस्थित हुए कि पश्चिम पाकिस्तानी सरकार वहाँ बेकार पड़ गयी। ऐसे समय अधिशासक याहिया खाँ सन्धि के नाम आये और शेख को गिरफ्तार कर बाँग्लादेश पर मार्शल लॉ लाद गये।

बंगलावासी स्वतन्त्रता चाहते थे। याहिया खाँ ने अपने तन्त्र के हठ में कत्लो-गारत का वह प्रोग्राम शुरू किया कि जिसकी मिसाल नहीं। बंगलावासी निहत्थे थे, पर वे स्वतन्त्रता चाहते थे, तो क्या डर के मारे भाग भी सकते थे? पर हुआ यही। जनता को सिर्फ भागना सूझा। कुछेक शस्त्रधारी बंगाली पुलिस और फौज के तथा दूसरे राजनीतिक मुट्ठी-भर जन रह गये जो मुकाबले में थोड़ा-बहुत जमे।

अन्यथा पड़ोस के भारत में निर्वासित जन आते गये, जो अब करोड़ तक पहुँच गये हैं। यही उन्होंने अपनी सरकार कायम की और जगह-जगह से हथियार पाने की कोशिश जारी की। भारत ने निर्वासितों को राहत दी। दूसरी मदद से भी वह पीछे नहीं रहा। उसमें विदेशों ने भी भरसक योग दिया। उस सब बूते मुक्तिवाहिनी अपना काम कर रही है और छापामारी कार्यक्रम चला रही है।

पाकिस्तान सरकार को गुस्सा है हिन्दुस्तान पर। रह-रहकर पाकिस्तान मिसमिसा जाता है। लड़ाई की चेतावनियों की गूँज उठती है। उस तरफ से दुनिया को कहा जाता है कि सब-कुछ पीछे करनी भारत की है। बाँग्लादेश का कहीं वजूद नहीं है। सब मुल्क पाकिस्तान है और सवाल अगर जन-राज का हो तो लीजिए, यह विधान आ रहा है, बाई-इलेक्शनवाली जगहों के लिए हो जाने पर नये नुमाइन्दों-वाली राष्ट्र-सभा व्यवस्था को सँभालेगी, इत्यादि।

और भारतभूमि पर पड़े ये करोड़ जन? पाकिस्तान कहता है कि वे बखुशी आएँ, पर उन्हें रोक तो भारत रहा है और करोड़ वगैरा की बातें तो मनमानी हैं, वे कुछेक लाख से ज्यादे नहीं हैं। कई लाख तो वापस अपने घर-बार में जाकर बस भी गये हैं।

मसला अब यह विश्व के आँगन में आ गया है। रूस-भारत सन्धि हुई

है और चीन-अमेरिका पाकिस्तान का पक्ष सँभालते हैं। इस तरह सब मामला खटाई में पड़ा दीखता है। राजनीतिक हल की बातें चल रही हैं। दिग्गजों के बीच की बातें हैं इसलिए गज-गति से ही वे चल सकती हैं।

यहाँ वह शिक्षा संगत है जो जीवन से मिलती है, इतिहास से मिलती और शास्त्र से भी मिल जाती है। बाँग्लादेश को मान्यता कहीं से भी नहीं मिल पायी। कैसे मिलती? ताकतें क्या ताकत के सिवा कुछ भी और जानती हैं? फौजी ताकत जनता के पास कहाँ से हो सकती है? पर उसके पास जो ताकत है, हमेशा से रही है और हमेशा अमोघ साबित हुई है, वह है कुर्बानी की ताकत! उस बल को अहिंसक सत्याग्रह का बल भी कह सकते हैं। कुर्बानी की कीमत दिये बिना जनता के हित में कुछ हासिल नहीं होगा। और अगर यह सबक सीख लिया जाता है तो मुक्तिवाहिनी मुट्ठी-भर की नहीं रहेगी, लाखों-लाख की हो आएगी। वह ऐसी मुक्तिमेदिनी बन उठेगी कि कोई भी मद-मत्त उसके आगे न ठहर सके।

मगर...

[14.10.71]

पक्ष-विपक्ष के आर-पार जा सकनेवाली नीति ही सच्ची राजनीति

हमारे देखते-देखते इतिहास नया मोड़ ले रहा है। विश्व समुदाय की एकत्रता अब स्वप्निल नहीं रह गयी, वास्तविक बन गयी है। मानव जाति में व्याप्त ऐक्य-भावना को मानो शनैः-शनैः एक मूर्त अन्तःकरण का आधार मिलता जा रहा है। यू.एन. का संगठन यद्यपि उसका अब तक सही प्रतीक नहीं बन सका है, तो भी विश्व-मत की अमोघता सिद्ध हो आयी है।

हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की सीमा-रेखाओं के दोनों तरफ फौजें तैनात हैं और वे सन्नद्ध हैं। युद्ध की तैयारी है और वातावरण अनुकूल है। फिर भी यदि युद्ध नहीं होगा, और वह नहीं ही होगा, तो मानव जाति के इतिहास में इस हो रहे अभिनव विकास के कारण। अब जान पड़ता है कि शत्रुता बनायी, पाली-पोसी जा सकती, पर उसको युद्ध के स्फोट तक बढ़ने नहीं दिया जा सकता। हर एक को इस सम्बन्ध में संयम सीखना होगा। राष्ट्र-शक्तियों को तो अनिवार्यतया इन मर्यादाओं में रहना होगा। दो पड़ोसी राष्ट्र आपस में कितने भी उलझें और झगड़ें, पर झगड़े ने रक्त-युद्ध का रूप लिया कि दुनिया बीच-बचाव के लिए आ उपस्थित होगी और दोनों के मन-की-मन में रह जाएगी; अर्थात् शत्रुता की दिशा में अब मनमानी नहीं चल पाएगी। इसलिए उन्हें उस उन्माद को भी वश में रखना सीखना होगा जो युद्ध भड़काता और लाखों-लाख जानों की कीमत पर अपने किसी स्वार्थ को साध लेना चाहता है।

'भारत को कुचल डालो' की आवाज पाकिस्तान में भड़कायी जा रही है। शुभ है कि वैसा कोई पागलपन भारत में नहीं देखा जाता। हिन्दू पाकिस्तान के लिए हिक़ारत की चीज हो सकते हैं और हिन्दुस्तान नफरत के लायक; पर भारत हिन्दू-मुस्लिम में भेद नहीं कर सकता और बाँग्लादेश को, जो किसी से कम मुस्लिम नहीं है, सहायता और समर्थन से वंचित नहीं कर सकता। इसलिए खेद

है कि पाकिस्तान को कुचलने का वह मौका पूरी तरह मिल नहीं सकेगा। और तो और, नफ़रत का जवाब यहाँ से नफ़रत की शक्ल में उसे लौटाया नहीं जा सकेगा। भारत कूटनीति में जो भी हो, चाहे वह वहाँ किसी से कम न हो, पर यह उसकी सांस्कृतिक विशेषता मानी जाएगी कि ऐसी दुर्गम स्थिति में भी उसने धीरज नहीं खोया है और अपशब्द पर नहीं उतरा है। खुद प्रेसीडेण्ट याहिया खाँ के मुँह से चाहे अशोभन शब्द निकले, पर भारत की प्रधान मन्त्री ने एक भी हलकी बात नहीं कही। विश्व के आगामी मोड़ के प्रति इससे संकेत मिल जाना चाहिए कि दोनों देशों का भाग्य और भविष्य क्या होनेवाला है। स्पष्ट है कि टिकेगा और चमकेगा वह, जो मनुष्यता की मर्यादाओं को जानेगा और निबाहेगा।

दुनिया की चार बड़ी शक्तियों ने दोनों देशों को युद्ध के बारे में जल्दी न भड़कने की सलाह दी है। अमेरिका ने भी अलग से भारत को नसीहत देनी चाही है। वह सब अपनी जगह ठीक हो सकता है, लेकिन एक करोड़ आदमी जो भारत के माथे पर उतरे हैं, उनका भार तो और किसी पर नहीं है। कौन और देश है जो ऐसी घटना पर नीचे उखड़ने या टूटने से बच सकता था? ये जन जब पाकिस्तानी हमलावर फौज के जुल्म और डर से खदेड़े जाकर यहाँ शरणार्थी बने हैं, वह क्या आक्रमण से बड़ा आक्रमण नहीं है? इस मुसीबत का फौरन इलाज होना चाहिए। वक्त की गुंजाइश नहीं है। और अगर विश्व-शक्तियों की राजनीति इसमें धीमी चाल से चलती है तो विस्फोट होने पर क्या दोष उसी का न माना जाएगा?

निश्चय ही युद्ध उपाय नहीं है, वह निरुपायता का ही उपाय है जिसमें किसी का भला नहीं है, इसलिए समय रहते कुछ होना चाहिए। उस 'कुछ' के विषय में दो विकल्प भी नहीं हैं। शेख मुजीबुर्रहमान की रिहाई में अब देर की गुंजाइश नहीं है और उनकी अवामी लीग और पाकिस्तान के दरमियान बातचीत शुरू हो जानी चाहिए। युद्ध हो, तो भी अन्त में बातचीत ही होगी। निबटारे में बचे-खुचे शत्रु के साथ सन्धि वार्ता पर ही आना होता है। इससे दूसरा कोई ढंग हो नहीं सकता।

क्या हो रहा है दुनिया में? अमेरिका के अध्यक्ष के दूत किसिंगर पीकिंग आये बैठे हैं और चाऊ-एन-लाई से दोनों अध्यक्षों की भेंट की व्यवस्था बिठा रहे हैं। सब सरकारों के अध्यक्ष अब तक की शक्ति-नीति और कूटनीति के आर-पार होकर वार्ताओं का क्रम चला रहे हैं। कोसिजिन महोदय जाने कहाँ-कहाँ भटक रहे हैं। सभी प्रबुद्ध राजनयिक अब अपनी और स्वहित की नहीं, बल्कि परस्पर की और भावी हित की बात सोच निकले हैं।

ठीक है कि शेख मुजीब से बात को पहले होना है। लेकिन बात में याहिया खाँ या उनके उत्तराधिकारी से इन्दिराजी को बात करने में गुरेज़ नहीं रखना होगा,

बल्कि अभिक्रम दिखाना होगा।

सारांश, शत्रुताएँ नहीं चलेंगी, उनमें बातचीत की गुंजाइश को शेष रहने देना होगा। यह अन्तरराष्ट्रीय पट की यथार्थता है। क्या इसी के अनुरूप राष्ट्र के अन्तर्गत राजनीतिक दलों में भी इस समाई का और शत्रुता के परिहार का विकास सम्भव हो सकता है? भारत के शासनस्थ दल को इस सम्बन्ध में अब सोचना है।

[21.10.71]

पाकिस्तान के लिए एक ही मार्ग—शेख मुजीब की रिहाई और सुलह की बातचीत

श्रीमती इन्दिरा गाँधी की यूरोप और अमेरिका की यात्रा अभिनन्दनीय रही। यों स्थिति वहीं-की-वहीं है, पर विश्व-मत स्पष्ट हुआ है और भारत की साख बढ़ी है। बाँग्लादेश के प्रश्न पर धुन्ध छायी थी। सवाल जैसे पक्षगत राजनीति में बँट गया था। उसकी जकड़ अब भी छूटी नहीं है, पर हवा काफी साफ हुई है और प्रश्न को देखने की दृष्टि भी सँभली है।

ऊपरी तौर पर झमेला पाकिस्तान-हिन्दुस्तान का समझ लिया जाता था। ऐसा हो तो शक्ति-सन्तुलन के बीच वह उलझ रहता है और उसका नैतिक पहलू ओझल हो जा सकता है। पाकिस्तान का प्रचार यही था कि मदाख़लत हिन्दुस्तान की है और शुरू से वह पाकिस्तान को तोड़ने की तदबीर करता रहा है। बात जैसे पच चली थी और देश इसीलिए तरफदारी से बच रहे थे। हल के लिए आवश्यक था कि राजनीति से प्रश्न नैतिक तल पर आए।

यही हुआ। इन्दिरा जी की प्रश्न की पकड़ सही और पक्की रही। उनके व्यक्तित्व और वक्तव्य का सुखद प्रभाव पड़ा। सबने उनमें भव्यता देखी और लक्ष्य में एकाग्रता और दृढ़ता। उन्होंने बताया कि पाकिस्तान की सैन्य-सत्ता को लोक-निर्णय स्वीकार्य नहीं हुआ। आम चुनाव ने भारी बहुमत से शेख मुजीब को अपने शास्ता के पद के लिए चुना था। शेख की अवामी लीग की माँग उसे सहन न हुई। नतीजा जो हुआ, वह सबके आगे है। भारत पर नाहक यह दण्ड पड़ा कि पूर्व बंगाल का लगभग एक करोड़ आदमी यहाँ आ पड़ा। निश्चय ही अपनी लोकतन्त्रता पर गर्व करता है और हर समय उसकी प्रतिष्ठा चाहता है। पाकिस्तान की असुरक्षा उसकी अपनी बनायी है। विस्मय है कि दुनिया क्यों नहीं देख पाती कि एक व्यक्ति, जो वहाँ सेनाधिपति है, अपने देश को तोड़े दे रहा है, इत्यादि।

राष्ट्रों की सरकारें अपने हित और स्वार्थ से जकड़ी रहती हैं। वे अपने पहले के गठबन्धन से सहसा बाहर नहीं आ सकतीं। कुल मिलाकर, इसलिए, सारांश

यह है कि सबके अन्त में अपने बल-बूते रहना और निबटना है। बाहर से दम-दिलासा मिल सकता है और कीमत पर शस्त्रास्त्र भी, पर आवश्यक है कि अन्दरूनी फटाव न हो और मार-धाड़ का मौका न आए। पाकिस्तान के पश्चिम भाग ने पूर्वी को जो दबाये रखा, उसका नतीजा आना ही था। मजहब के नाम पर इंसान को कहाँ तक ज़ेर रखा जा सकता था!

इसकी तोहमत हिन्दुस्तान नहीं ले सकता। जरूरी है कि बाँग्लादेश के सर्वमान्य नेता शेख मुजीबुर्रहमान से याहिया खाँ बात करके अपना फैसला कर लें। दूसरा कोई तरीका नहीं बचा है, जिससे ये करोड़ आदमी अपने घर-बार में वापस जाने को राजी हों और वहाँ सलामती की सूरत बने। बाकी तरकीबें झूठी पड़ेंगी और संकट सिर पर खड़ा ही रहेगा।

भारत की स्थिति को दुनिया ने अब समझा है। उस बोझ का भी उसे अन्दाज हुआ है जो नाहक उस पर आ पड़ा है और उसके सारे जीवन को तोड़े दे रहा है। यह हमले से बड़ा हमला है और विश्व-परिवार जल्दी ही कुछ नहीं कर सका तो विस्फोट को फूटने से बचाया नहीं जा सकता।

पाकिस्तान का मान निश्चय ही इन्दिराजी के धैर्य और स्थैर्य के कारणा काफी नीचे आ गिरा है। अवश्य उसे अनुभव हो आया है कि शस्त्रास्त्र का बूता काफी नहीं होता। कोई और चीज भी है जो गिनी जाती है। हथियार ने अपना खेल खेल डाला कि लाखों मौत के घाट जा उतरे। पर अगर सैनिक तानाशाह सोचें कि ऐसे सवाल का सफाया हो जाएगा, तो वे भूल में हैं। वह भूल भारी पड़ रही है और अचरज है कि याहिया खाँ अब भी चले ही जा रहे हैं। शायद वजह यह है कि इस मौके पर याहिया खाँ का उतरना हुआ, तो इज्जत खाक हो जाएगी।

हल साफ है और सिवा उसके दूसरा नहीं है। बाँग्लादेश और पाकिस्तान के बीच रिश्ता बाहमी रहे, तो वह सन्धिपूर्वक ही हो सकता है—सन्धि शेख मुजीब के साथ। शेख को मनाया जा सके तो पाकिस्तान की चौहद्दी बरकरार भी रह सकती है। तब वैर नहीं रहेगा, मुकाबला भी नहीं रहेगा और इस्लाम का नाम दोनों को शायद जुड़ा भी रखेगा। नहीं तो बीच में लाशें इस कदर बिछ गयी हैं और जारी रहनेवाला जुल्म इस कदर फाट को चौड़ा कर रहा है कि इलाज नामुमकिन होगा और पाकिस्तान के पल्ले पछतावा-भर रह जाएगा।

चीज एकदम साफ है। फिर भी अगर हालत बँध गयी है, फर्क उसमें आ नहीं रहा है, फौजें दोनों ओर तैनात हैं और छेड़खानी जारी है, तो इसलिए कि निगाह में इंसान नहीं है, दिमाग पर सियासत छायी है। बाजी शतरंज की और खेलनेवाले याहिया और इन्दिरा हों, तो चाल इस वक्त इन्दिरा की कमाल की पड़ी है। पर सच यह है कि खेलनेवाले हाथों के पीछे दूसरे दिमाग हैं और उन्हें

न एक से लेना है और न दूसरे को देना। उन्हें तो अपनी कौड़ी चित करनी है। रूस और चीन में बनती नहीं है तो अनबन में से दो पड़ोसी देश भी उनमें एक-एक के साथ लग गये हैं। अमेरिका के सुदूर पूर्व में अपने गड़े स्वार्थ हैं, और इसलिए, वियतनाम के अनुभव के बाद ज्यों-त्यों उसे चीन से बना ही लेना है।

उस बड़े व्यूह में पहुँचकर सब-कुछ चकरा जाए, तो अचरज नहीं है। पर मानव-स्थिति मानती है कि फौरन पाकिस्तान को होश हो, मजबूरन उसे होश में लाया जाए और शेख मुजीबुर्रहमान से—अगर वह जिन्दा हों तो—बात चलायी जाए। चारों ओर से पाकिस्तान पर इस बारे में जोर आ रहा है और हम आशा करें कि समझ भी आएगी।

[14.11.71]

वास्तविकता और पाकिस्तानी एकता

पूर्व बंगाल में जो हुआ और हो रहा है, वह सब इस दावे पर कि पाकिस्तान मुल्क की एकता की रक्षा करनी है—रक्षा करनी है पाकिस्तानी फौजी हुकूमत को। पर उसी हुकमत ने वे काम किये जिनसे पाकिस्तान का जरूरी होना चला गया। पाकिस्तान एक था मजहब के जरिये। सिर्फ मजहब की बुनियाद कच्ची थी। खासकर जबकि पाकिस्तान के पूर्वी और पश्चिमी हिस्से एक-दूसरे से हजार से ऊपर मील दूर थे। फिर भी एकता निभ सकती थी अगर शासन लश्करी न होता, लोकतन्त्रीय होता। इसका मौका था। शेख मुजीब की अवामी लीग बेहद बहुमत से जीती तो फिर उसने अपनी छह मुद्दोंवाली माँग की शक्ल में यह अवसर पाकिस्तान के हुक्मरानों को दिया। पर पश्चिमी पाकिस्तान इस जीत से डर आया। याहिया डरे, भुट्टो डरे और रहा-सहा वह आखिरी मौका खत्म हो गया जो पाकिस्तान की अखण्डता बरकरार रख सकता था। पर फौजी डिक्टेटर को भरोसा सिर्फ फौज का था। इस नशे में शेख को गिरफ्तार कर लिया गया और फौज बेदर्दी से बंगालियों पर टूट पड़ी। नतीजा सामने है। लाखों मरे हैं। करोड़ के करीब भागे हैं और जोर-जुल्म जारी है। इससे मालूम नहीं, क्या तस्कीन पाकिस्तानी शासन को पहुँचती होगी। क्योंकि अब पूर्व पाकिस्तान रह नहीं गया है, वह 'बाँग्लादेश' हो गया है। बंगाली दबने और गिरने के बजाय मुक्तिवाहिनी की शक्ल में अपने बाँग्लादेश में गहरे-से-गहरा धँसता जा रहा है। पाकिस्तान का लश्कर वहाँ है पर उसके एक बड़े भू-भाग पर स्वाधीन बाँग्लादेश का झण्डा फहरा रहा है। यह करनी और करतूत, कि पाकिस्तान का पूर्वी भाग टूट गया है, पश्चिम की दूसरी इकाइयों में भी बिखराव दिखता है, अगर है तो खुद पाकिस्तानी फौजी समझ की है। उससे नहीं सँभल सकी अपनी हुकूमत और बंगाल को ज़ेर बनाए रखने के सिवा उसे दूसरा न सूझा। अपना भण्डा हिन्दुस्तान के माथे अब वह फोड़ना चाहे तो बात दूसरी है, नहीं तो साफ है कि इस हुकूमत के बस का सवाल वह नहीं है। यह हुकूमत फौजी भाषा और फौजी तर्क से आगे

कुछ जानती नहीं और सवाल ने पेचीदगी इख्तियार कर ली है। फौजी हल उसका हो नहीं सकता। बंगाल में जज़्बात यही नहीं पैदा हुए कि हम बंगाली हैं, बल्कि यह भी कि हम पर हुकूमत करनेवाला पंजाबी है और गैर है। पंजाबी और बंगाली में इस कदर अजनबियत पड़ गयी है कि ताकत के भरोसे अब उसे फिर से जोड़ लाना मुमकिन नहीं है। मुमकिन हो सकता है तो इस एक ही तरीके से कि शेख मुजीब रिहा हों। वह बंगाली हैं और नमाजी मुस्लिम हैं। उनके साथ बात चले और शायद है कि पंजाब और बंगाल के दरमियान इस्लाम के रिश्ते की जमीन कुछ बने।

नहीं तो अन्तरराष्ट्रीय शक्ति-व्यूह के जाल मे फँसकर यह सवाल कसता ही जाएगा और दो पड़ोसियों में कभी बाहरी ताल्लुक बनने की नौबत न आएगी। हो यही रहा हो। फौजें आमने-सामने हैं और हमले जारी हैं। युद्ध घोषित नहीं है, पर है। यह भी नहीं हो सकता कि लड़ाई एकदम खुलकर हो जाए। विश्व यह न सहेगा, क्योंकि फिर तो सब-कुछ विश्व-युद्ध में बदले बिना रह न सकेगा।

इधर अमेरिका का दबाव सिर्फ भारत पर जान पड़ता है। नहीं मालूम कि निक्सन महोदय की उस कोशिश का क्या नतीजा हुआ जिससे उन्होंने याहिया साहब से शेख की रिहाई की माँग की थी। कोई वजह न थी कि इस बारे में पाकिस्तान की हुकूमत पर दबाव हलका होने दिया जाता और इस मामले में उन्हें बरी मान लिया जाता। चीन की तरफ से भी ऐसा सुझाव बताया गया था। साफ है कि करोड़ आदमियों का बोझ कम नहीं होता। फिर राजनीतिक बातचीत शुरू होने के मौके की शुरुआत भी न हो पायी। शेख मुजीब बन्द हैं तो बन्द हैं। क्या पता कि जिन्दा भी हैं कि नहीं! ऐसी हालत में पाकिस्तान पर पंजाबी फौजों और बंगाल की मुक्तिवाहिनी के बीच दुश्मनी और घमासान का ही रास्ता रह जाता है। विस्थापितों के नाते भारत को भी इसमें खिंचना पड़ रहा है। पाकिस्तान युद्ध पर आमादा हो और जब-तब उसकी ललकार गूँजती रहे, तो हिन्दुस्तान चुप तो नहीं बैठ सकता। मुक्तिवाहिनी से सिर्फ सहानुभूति है और मदद भी हो सकती है। पर अन्तरराष्ट्रीय-समाज को समझना चाहिए कि पाकिस्तानी शोषण और दूषण से जो बंगला समस्या पैदा हुई है, उसका दायित्व भारत पर कैसे डाला जा सकता है? पहला काम अन्तरराष्ट्रीयता का यह है कि पाकिस्तानी सरकार को फौजी रवैये से मोड़े और उसे बाँग्लादेश के प्रतिनिधियों से बात करने को विवश कर दे।

ऐसा नहीं होता है तो भारत को अपने माथे बेजारी का बोझ लेकर नहीं जीना है और अपने बिगड़ैल पड़ोसी को सीमा से बाहर नहीं उफनने देना है।

[2.12.71]

विश्व-प्रस्ताव : युद्धबन्दी या स्थायी शान्ति

आज शुक्रवार है और मुक्तिवाहिनी के साथ भारत की फौजें ढाका के द्वार पर जा पहुँची हैं। इधर राष्ट्र संघ ने प्रस्ताव किया है युद्धबन्दी का। साथ हिदायत है कि दोनों ओर की फौजें वापस अपनी-अपनी जगह पहुँच जाएँ।

बाँग्लादेश बन गया है। उसकी सरकार बन गयी है। और एक दिन का अन्तर मालूम देता है कि वह सरकार ढाका की राजधानी से बाँग्लादेश का प्रशासन सँभाल ले। तब क्या होगा? प्रस्ताव का क्या होगा? विश्व-शक्तियों का सन्तुलन क्या स्वरूप लेगा?

ऊपर राष्ट्र-शक्तियों में चर्चाएँ चल रही हैं और भारतीय प्रायद्वीप में रण चल रहा है। राष्ट्र संघ के प्रस्ताव के पीछे ताकत मुख्य अमेरिका और चीन की है। चीन का कहना है कि बाँग्लादेश का अस्तित्व नहीं है और जो है, वह भारत का तमाशा है। ढाका में नयी सरकार बन भी बैठेगी तो भी उसका वजूद न होगा और यह तमाशा दिखानेवाले भारत को इसका कड़वा फल भोगना होगा।

जो होगा, वह तो भविश्य जाने, पर अन्तरराष्ट्रीय समाज क्या चाहता है? फौजी युद्धबन्दी से उसका काम चल जाएगा? या वह स्थायी शान्ति की व्यवस्था चाहता है? किसी ऊँची ताकत के भरोसे हम मामले को यहीं रोक सकते हैं तो क्या होगा? क्या झगड़े की जड़ मिट जाएगी? जंग का अन्देशा दूर हो जाएगा?

जड़ असल में है क्या? पाकिस्तान पचीस बरस पहले हिन्दुस्तान था। तब राज्य अँग्रेजी था। अँग्रेज गये तो चलते-चलते इस बिना पर पाकिस्तान उसमें से अलग बना गये कि मुस्लिम कौम अलहदा है। इस तरह मुल्क का जो बँटवारा हुआ, उसमें से बेहद आग भड़की। लाखों मरे और फिर लाखों ही इधर-से-उधर हुए। उस वक्त की याद करते हुए इतिहास थर्राता है।

फिर भी कुछ गैर-मुस्लिम पाकिस्तान में रह गये, काफी मुस्लिम हिन्दुस्तान में कायम रहे।

तब से पाकिस्तान करीब वह हुकूमत रहा है जो सिर्फ फौजी है। उस फौजी

हुकूमत में बंगाली हिस्से की कोई गिनती न थी और पंजाब का पूरा बोलबाला था। इसको पाकिस्तान की अन्दरूनी बात कह दीजिए तो भी उस हुकूमत को मजहब के जनून पर पाला-पोसा गया। हिन्दुस्तान की तरफ उँगली दिखाकर बताया गया कि यहाँ से हमें खतरा है। यह हमारा दुश्मन है। इस दुहाई पर सबसे हथियारी मदद ली गयी और दुश्मनी का पैंतरा अपनाया गया। पाकिस्तानी हुकूमत ने माना कि इसी रुख से मुल्क इकट्ठा रह सकता और ताकतवर बन सकता है।

इस्लाम का मतलब शान्ति होता है। उस इस्लामे-पाक की मजहबियत के साथ क्या यह बेवफाई न मानी जाएगी कि उसको शान्ति की बुलन्दी से उतारकर नफरत और जनून की गैरत तक ला पटका जाए? पर फौजी हुक्मरान को दूसरा तरीका अपने को इकट्ठा और मजबूत बनाने का सूझ न सका। और इस तरह मुसलमान में यहाँ के लिए नफरत का जज़्बा पैदा करने के हरबा ही वह पैनाता गया।

उसके मुकाबले भारत एक प्रजातन्त्र था और सब धर्मों के लिए यहाँ एक-सा स्थान और एक-सा आदर था। करीब छह करोड़ मुसलमान उसकी गोद में था। हिन्दू-मुस्लिम-विद्वेष की बात उसकी जड़ों को काटती थी। पर ठीक वही चीज थी जिसपर पाकिस्तान जन्मा और जीना चाहता था। उसी बूते दावा वह कश्मीर का करना चाहता था और हिन्दुस्तान के सारे मुसलमानों को हिन्दुस्तान से ज्यादा अपना मानने का दम भरता था।

इन हालतों में उधर से हमले अगर तीन हुए तो गनीमत मानिए। बौछार तो कायम ही थी। यह जो अब चल रहा है, अजब हमला था। हुकूमत के लिए जरूरी हुआ कि फौज से उतारकर उसे थोड़ा जनता तक लाया जाए और पाकिस्तान में पहली मर्तबा चुनाव होने दिया गया। नतीजा जो हुआ, उससे सरकार हैरत में रह गयी। शेख मुजीब के पाकिस्तान के प्राइम मिनिस्टर होने की नौबत आ जाने से जो हुआ सो हुआ, लेकिन बंगाल पर हमले से लाखों-लाख शरणार्थी जो आ पड़े, उनकी न पूछिए। उनकी संख्या करोड़ के पास आ पहुँची है। दिन गुजरते गये और गुजरते गये। आठ महीने बीत गये। दुनिया ने इस हमले को देखा-अनदेखा किया। भारत ने धीरज से काम लिया। इस धीरज की सबने तारीफ की। पर इन्दिरा गाँधी ने दुनिया को और पाकिस्तान को छह महीने का वक्त दिया। भारत की कमर टूट रही थी—बोझ से और हमले से। पर छह महीने गुजरने पर भी हिन्दुस्तान ने सीधी कोई कार्रवाई न की। इन्दिरा गाँधी गयीं दुनिया के लोगों के पास कि देखो इस नरमेध को, उद्दण्ड ताण्डव को! हिन्दुस्तान कमजोर नहीं है। और उसकी बर्दाश्त को गलत न समझा जाए। उन्होंने कहा कि याहिया खाँ की सरकार के जुल्म ने जिनको मारा, उन मरों को तो चाहे छोड़ दीजिए, पर मुकाबले के लिए

उसी ने गुरिल्ला फौज को जनमा दिया है। वह मुक्तिवाहिनी पूर्वी पाकिस्तान की है। और अब अगर वह बाँग्लादेश की बनी है तो याहिया खाँ की बदौलत। मामला उनका है और हमारा सिर्फ इतना कि हम पर लाखों-लाख आदमी आ लदे हैं। उनको वापस लीजिए और बसाइए, नहीं तो हिन्दुस्तान आप अपनी मदद करनेवाला है।

इस इतिहास से अलग करके वर्तमान वास्तविकता को समझा नहीं जा सकता, छुआ नहीं जा सकता, छेड़ा नहीं जा सकता।

शायद कुछ समय की बात है। यह छपे, इसके पहले वह घड़ी आ सकती है कि बाँग्लादेश की सरकार ढाका में बैठ जाती है, तो यह बाँग्लादेश इण्डोनेशिया के बाद दुनिया का सबसे बड़ा इस्लामी मुल्क बन जाता है। और यह वह इन्तजाम होगा जो विद्वेष पर नहीं, शान्ति पर खड़ा होगा। इस तरह अगर इतिहास बाँग्ला-देश के जन्म की घटना को पचा लेता है तो इस्लाम सदा के लिए नफरत और जनून के इल्जाम से बच जाता है और समस्या हमेशा के लिए सुलझ जाती है। स्थायी शान्ति का नहीं तो इसके सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

[10.12.71]

स्वाधीन बाँग्लादेश : एक शिक्षा और परीक्षा

कल बृहस्पतिवार था और दिसम्बर की 16 तारीख। इस दिन 4 बजकर 31 मिनट पर पाकिस्तान की पूर्वी कमान के जनरल नियाज़ी ने बेशर्त अपनी फौजों के साथ आत्म-समर्पण कर दिया और जो कानूनन पूर्व पाकिस्तान था, वह यथार्थ में स्वाधीन बाँग्लादेश बन गया। वह हिन्दुस्तान से अलग मुस्लिम राष्ट्र होगा। इस द्विराष्ट्र-नीति पर 25 बरस पहले अँग्रेज की चतुराई से पाकिस्तान का मुल्क बना था। उसका पश्चिमी भाग इस पूर्व की बंगला-भूमि से हजार से ऊपर मील दूर था। दो राष्ट्र की बुनियाद पर और अँग्रेज के अधीन होने के कारण पाकिस्तान का पश्चिम के साथ गठजोड़ तो और भी बनावटी था। इस साम्प्रदायिक बँटवारे की जद्दोजहद इधर के प्रान्तों में तीखी थी। बंगाल में तो बल्कि सोहरावर्दी और दूसरे हिन्दू नेताओं के बीच स्वतन्त्र बंगाल की चर्चा हो निकली थी। पर इन चौबीस से ऊपर वर्षों से इस्लाम के नाम पर बाँग्लादेश पश्चिमी फौजदारों के चंगुल में था। यह बड़ा भाग था और यही हीन मान लिया गया था। आखिर डिक्टेटरशिप ने भी जग-दिखाई के लिए चुनाव का मौका दिया और शेख मुजीब बंगाल ही नहीं, पूरे पाकिस्तान के वाहिद नेता चुने गये। इस घटना पर याहिया खाँ की फौजों ने जो क़हर ढाया, उसका दौर नियाज़ी के और उसके दस्तों के हथियार डाल देने के साथ खत्म होता और एक नये स्वाधीन राष्ट्र का जन्म होता है।

इस राष्ट्र का उदय निश्चय ही इतिहास को नया मोड़ देगा। विश्व का शक्ति-सन्तुलन बदला दिखाई देगा। और हो सकता है कि अब आगे उसका भार-केन्द्र यूरोप और अमेरिका से हटकर एशिया की ओर सरक आये।

बाँग्लादेश तो विश्व के राष्ट्र-परिवार में एक नये सदस्य के रूप में आगे-पीछे सम्मिलित होगा ही, उसी के साथ भारत का भाग्य और मान-मूल्य भी विश्व की सभा में ऊँचा चढ़ेगा। कारण बाँग्लादेश की इस विजय में भारत का पराक्रम यदि अद्वितीय रहा है तो उसका संकल्प अडिग और उदार भी सिद्ध हो सकता है।

पाकिस्तानी समर्पण और पराजय के तत्काल बाद भारत की प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी का वक्तव्य उसका प्रमाण है। उसमें कहीं शेखी नहीं है, न उछाल है बल्कि नम्रता और दायित्वशीलता है। साथ ही प्रेसीडेण्ट याहिया खाँ के उद्‌गार अब भी वही जंगी ज़हनियत के हैं। इन्दिराजी ने ऐलान किया कि 17 तारीख की शाम से भारतीय सेनाएँ युद्ध-विराम कर देंगी। प्रतिपक्ष के याहिया खाँ साहब ने कहा कि जंग जारी रखा जाएगा, पश्चिमी हिस्से में ही नहीं, पूर्व बंगाल में भी, कि जब तक पाकिस्तान को पहले-जैसा अखण्ड नहीं बना लिया जाता।

माना जाता होगा कि जीत हथियार की है। पाकिस्तान की हुकूमत हथियार का ही भरोसा रखती रही और उन्हें ढेर-का-ढेर जमा करती रही। अमेरिका भी उसे हथियारों से लैस करके मानो अपना यही विश्वास जतलाता रहा। उसके सातवें समुद्री बेड़े का बंगाल की खाड़ी में आ धमकने का नहीं तो दूसरा अर्थ क्या हो सकता है? ताकत की यह हेकड़ी और उसकी भोंडी प्रदर्शनी अब पुरानी चीज बन जानी चाहिए। अगर पाकिस्तान और अमेरिका और दूसरे मुल्क इतिहास की इस शानदार घटना से इतना भी सबक ले लेते हैं तो यह भारी बलिदान बेकार गया नहीं समझा जाएगा।

इस भूल की ऊँची कीमत अमेरिका को चुकानी होगी। उसकी साख को भारी चोट पहुँचेगी और दुनिया के दरबार में उसकी डींग आगे उतनी नहीं चलेगी और अजब न होगा कि पाकिस्तान के लोग पहचान लें कि फैजी जहन से आगे काम नहीं चलनेवाला है और याहिया खाँ जैसे शख्स उसकी हुकूमत पर नहीं रह सकते हैं। अचरज न होगा, अगर बचा-खुचा पाकिस्तान अब धर्मनिरपेक्ष और जनतन्त्रात्मक होने की दिशा में सोचे और जनरलों की जुन्ता से खुद निजात पा ले। युद्ध के डंके ने उसको सँभाला नहीं है बल्कि उसको तीन-तेरह करके रख दिया है।

पाकिस्तान को अब अगर गिनती के लायक रहना है तो बजाय अपने हिस्सों को दबाए रखने के उन्हें हुकूमत में शामिल रखना सीखना होगा। सबको नुमाइन्दगी देनी होगी और मजहब को सियासत के काम में नहीं बल्कि इख़लाक और खिदमत के काम में लाना होगा।

भारत सही करता है अगर वह जीत अपनी नहीं, सिद्धान्तों की मानता है। इन्दिराजी ने बार-बार कहा कि लड़ाई सिद्धान्त की है और हर बार यह सच है कि जीत सच की होती है। और सत्य वह नहीं है जो हथियार की शक्ल के बाहर दिखाई देता है। सत्य अन्दर है और वह है जिससे अटूट और अनन्त बलिदान की प्रेरणा प्राप्त होती है।

जुल्म होता रहा और शरणार्थी भारत की शरण में आते रहे। उनकी तादाद करोड़ तक आ पहुँची। महीनों-पर-महीने गुजरते गये, दुनिया ने सुनी-अनसुनी की और तब भारत की वीरांगना इन्दिरा ने अपनी मदद आप ही करने का फैसला किया। यह चीज थी जिसने जीत दी और यही है जिससे बेखौफ कह दिया गया भारत की तरफ से कि हम युद्ध-विराम करते हैं। इम्तिहान अब दूसरे का है कि क्या वे भी ऐसा कर सकते हैं?

[19.12.71]

रचना की चुनौती और पाकिस्तान का विकल्प

युद्ध बीत गया। युद्ध को जारी रखने की बातें भी, खुशी है, बीतती जा रही हैं। श्री रोजर्स और श्री भुट्टो का स्वर मध्यम पर आ गया है। सपना टूट चुका है, तथ्य उभर आया है। पाकिस्तान की एकता इस्लाम की दुहाई पर कायम रखी जा रही थी। मज़हब का यह इस्तेमाल ढानेवाला और झूठा था। अन्दर उसके एक गिरोह का पूरे बाँग्लादेश पर जुल्म और सितम का मन्सूबा था। बंगाली कौम को पस्त और हेच मानने की भूल की कीमत इस तरह अगर पाकिस्तान को देनी पड़ी है तो उम्मीद करनी चाहिए कि आगे सबक लिया जाएगा और मज़हब को किसी गरूर या नफरत का बायस नहीं बनाया जाएगा।

श्री जुल्फिकार अली भुट्टो अमेरिका से अपने मुल्क के लिए चले तो उन्होंने कहा कि मशरिकी पाकिस्तान मुस्लिम होकर हिन्दुस्तान से दबा नहीं रहेगा। अब वापस आकर भुट्टो साहब को अगर अपने मुल्क को बचाना और सँभालना है तो यह भाषा उन्हें हमेशा के लिए भूल जानी होगी। बाँग्लादेश में जो हुआ है, उस पर वहीं के मुसलमान निवासी खून का घूँट पिए बैठे हैं। और अब भारत की बदौलत ही पाकिस्तानी मुसलमानों की जान बचाए रखी जा रही है। नहीं तो बदले का जज़्बा इतना तेज है कि वहाँ जो हो जाए, थोड़ा है।

यह है जो वास्तविकता है। इस्लाम की छतरी के नीचे जोर-जुल्म का बर्ताव नहीं निभ सका, आगे भी वह नहीं चल सकेगा। गनीमत है कि उस तरह की आवाज अब धीमी है। भुट्टो साहब ने पाकिस्तान की बागडोर हाथ में ली है और जंग से जो बरबादी वहाँ हुई है उस सबको सँभालने का बीड़ा उन्होंने उठाया है। हम इस कोशिश में उनकी सफलता चाहते हैं। पाकिस्तान की जनता वही है जो हिन्दुस्तान की है। यहाँ मुस्मिल तादाद पाकिस्तान से ज्यादा है। बाँग्लादेश में तो दोनों से भी ज्यादा है। इस तरह अगर एशिया के इस हिस्से को शान्ति से रहना और तरक्की करना है तो जरूरी है कि उनमें आपस में सही समझ पैदा हो और पड़ोसीपन पनपे। इसका तरीका आपसी मन-मुटाव कायम रखकर बाहर की मदद से अपनी ताकत

बढ़ाना नहीं हो सकता है। तीसरे की दखल से दो पड़ोसियों में मेल नहीं हुआ करता, बल्कि इस तरह उनमें हमेशा दूरी पड़ जाया करती है।

इस जंग से नतीजा एक यह भी आया है कि पाकिस्तान सिर्फ मोहरा रह गया है। हिन्दुस्तान कभी यह नहीं चाहेगा कि पाक दूसरों के हाथों नाचीज बना रहे और सिर्फ 'पिछलग्गू' कहलाए। निःसन्देह जंग के नतीजे में भारतवर्ष की साख एक मोल बहुत ऊँची हो गयी है। और साफ है कि दुनिया के सबसे बड़े जनतन्त्र की हैसियत से उसका बड़ी ताकतों में शुमार हुए बिना न रहेगा। रूस के या किसी के इशारे पर नहीं चलना है। रूस के साथ हुई सन्धि का मतलब यह नहीं है कि उसकी गुटनिरपेक्षता की नीति खत्म होती है। यह सच्चाई किसिंजर साहब भाँप चुके थे और अब अमेरिका को भी इसका भरोसा होता जा रहा है। ऐसी हालत में भुट्टो साहब को चीन का पल्ला सँभाले रखने की मजबूरी नहीं होनी चाहिए। श्री जगजीवन राम ने दावत भी दी है कि सीधी बातचीत शुरू हो और एक तरह की चेतावनी भी है कि आगे सब मसले दबाव से नहीं, बल्कि आपसी मशविरे से फैसले होंगे। अगर भुट्टो साहब पक्का अमन चाहते हैं कि मध्य और दक्षिण-पूर्व एशिया के देश नगण्य से गणनीय बन आएँ और विश्व की राष्ट्र सभा में अपना स्वाधीन स्थान सँभालें, तो उनको इतिहास के इस संकेत को समझना चाहिए।

उन्हें बड़ी ताकतों का शायद जरूरत से ज्यादा भरोसा है। पर साफ हो गया है कि उनके बीच आज के दिन छोटों को भी गिनती से बाहर नहीं समझा जा सकता है। बड़ी ताकतें अपना शक्ति-समीकरण सही बिठा नहीं सकी हैं, न आगे ही यह सम्भव होनेवाला है। तब अन्य स्वाधीन राष्ट्रों को अपने में मिलकर दुनिया को अन्तिम युद्ध की विभीषिका से मुक्ति देने का भार उठाना होगा। पाकिस्तान चाहे तो इसमें भारत का साथ दे सकता है। इस उजले मुस्तकबिल को छोड़कर भुट्टो साहब की इस सदारत में अगर पाकिस्तान कठपुतली बने रहने में अपनी सलामती देखता है तो वह जाने, क्योंकि साफ है कि अमेरिका का रुख पहले-जैसा नहीं है।

यूनाइटेड नेशंस को इस संघर्ष में भारी धक्का सहना पड़ा है। अमेरिका का मान भंग हुआ है। समय है कि अमेरिका जागे और समझे कि किसी शक्ति और साँठ-गाँठ के भरोसे तीन अरब की मानव-जाति को हाथ में रखने का इरादा उसका चल नहीं सकता है। आखिर भौतिक ताकत ही सब-कुछ नहीं है। हक़ और सच और न्याय की शक्ति उससे कहीं अजेय है। भारत का तो विरुद ही है— 'सत्यमेव जयते!' इस प्रण के सामने वह किसी कठिनाई को बड़ा नहीं मानेगा और अपने मार्ग से एक पग नहीं हिलेगा।

[24.12.71]

और अब युद्ध गरीबी से....

हथियारवाला युद्ध तो बाँग्लादेश के उदय के साथ लगभग समाप्त हो गया। 'लगभग' इसलिए कि पाकिस्तान की सीमाओं पर से फौजें अभी हटायी नहीं जा सकतीं। यूँ पाकिस्तान का मन आधा मर-सा चुका है, पर फिर भी अमेरिका और चीन की राह उससे अपने बावजूद क्या न करा ले जाए। इधर भुट्टो साहब के वक्तव्यों में सरहद की लकीरों के बारे में भारत के साथ बातचीत की सम्भावना का सुर भी कभी-कभी निकल आता है। स्वतन्त्र बाँग्लादेश के अस्तित्व की वास्तविकता इतनी उजागर है कि उसे अब टालना बन नहीं सकता। पाकिस्तान की फौजों ने बाँग्लादेश में हथियार डाले और पनाह माँगी, तो यह घटना पाकिस्तान के लोग और हुक्मरान निगलने को तैयार न थे। पर अब वहाँ उसकी फिल्म खुली दिखायी जा रही है। माना जाता है कि नतीजा इसका सिर्फ याहिया खाँ और उनके साथी जनरलों के खिलाफ ही जाएगा, भुट्टो साहब की ताकत में तो इजाफा होगा। खुद पाकिस्तान में खुली आवाजें उठने लगी हैं कि बाँग्लादेश को बाकायदा मान्यता दे देनी चाहिए, फिर से लड़कर पाकिस्तान को इकट्ठा कर देने की बात ख़ामख़याली है। इस ख्वाब में पड़ना मुल्क के लिए ख़तरनाक हो सकता है। मसले पाकिस्तान के सामने कई हैं और कठिन हैं और बजाय शेखचिल्लीनुमा बातों के, हमें अपने घर को सँभालना है और बचे-खुचे पाकिस्तान को सही निज़ाम देने में लग जाना है।

भुट्टो साहब के हाथ में पाकिस्तान की बागडोर आयी है और उन्हें बहुत होशियारी से चलना पड़ रहा है। सब जानते हैं कि अगर शेख मुजीबुर्रहमान को चुनाव की जीत के बावजूद जिम्मेदारी नहीं मिलने दी गयी, बल्कि गिरफ्तारी मिली, तो इसमें याहिया के साथ उनका भी पूरा हाथ था। बल्कि कौन जाने कि शेख मुजीब को जेल में लेकर बाकी बाँग्लादेशभक्तों को एक-एक कर साफ कर डालने की सूझ खास उन्हीं की हो। फिर भी अब उन्हें अपने को पाक-साफ, दरियादिल और इन्साफ-पसन्द दिखाना है।

चुनाँचे वे कुछ भी दाँव खेल सकते हैं। शेख मुजीब ने साफ और सख्त शब्दों में जता दिया है कि पाकिस्तान के साथ अब बाँग्लादेश के वास्ते का कोई सवाल नहीं है। वह अपने खुश रहे, हम इधर अलग हैं और हर कीमत पर स्वतन्त्र रहेंगे। दूसरों के इशारों पर उन्होंने कुछ शरारत की, तो यह शेख अपने खून की आखिरी कतरे तक उसका मुकाबला करेगा। पर भुट्टो हैं कि मानते हैं कि ये उनके असल और अन्तिम शब्द नहीं हैं और शेख के मन में कुछ और है।

फिर भी विश्व-मत का रुख देखते हुए कहा जा सकता है कि खूनी लड़ाई का मुकाबला इमकान नहीं रह गया है और वह मोर्चा एक अरसे तक शान्त रहनेवाला है।

बचा है मोर्चा वह, जो नागरिक है। वही असल है और वही पेचीदा है। वह मोर्चा कुछ वक्त के लिए नहीं खुलता, बल्कि सदा ही सरकार के लिए वह सिर-दर्द पैदा किया करता है। हर सरकार को उसी मोर्चे पर जूझना और फेल होने पर टूटना पड़ता है।

प्रहार और संहार की लड़ाई से तो, चलो, जोश-खरोश से निपट लिया जा सकता है। कारण, जंग कुछ दिन या महीनों तक ही चल पाती है, महायुद्ध हो तो चलिए कुछ साल तक भी उसमें लग सकते हैं, पर आखिर भुगतने को वही नित्य के सामाजिक और आर्थिक सवाल रह जाते हैं—और वही है कि जहाँ के पुरुषार्थ से मानव जाति का सांस्कृतिक इतिहास पनपा या बना करता है। इतिहास अभी हाल तक मानो राजाओं की लड़ाइयों का बखान समझ लिया जाता था। सन्देह नहीं कि घटना के रूप में लड़ाई स्मरणीय और उल्लेखनीय हो पड़ती है।

उसकी जीत पर गर्व और हार पर बदले की भावना गहरी आती है, पर मालूम होता जा रहा है कि इतिहास का सार घटनात्मक से अधिक रचनात्मक होता है और जो प्रधान है, वह नागरिक जीवन, लोकजीवन है।

समाज के अन्तरंग में समाए स्वार्थ और प्रमाद और आलस्य शरीर पर नाना प्रकार की विषमताओं और कुरूपताओं के रूप में फूटा करते हैं। ऊपर दीखनेवाली गरीबी इसी अन्तरंग रोग का लक्षण है। ऐश्वर्य का दम्भ और दर्प भी यों दीखने में उलटे हों, पर उसी व्याधि के परिचायक हैं। गरीबी कौन मिटाएगा? क्या वे, जो अमीर हैं? या वे, जो हाकिम हैं? तो मैं कहना चाहता हूँ कि इनके मिटाए वह मुफलिसी और गरीबी कभी मिटनेवाली नहीं है।

अमीरी और अफसरी का बाना और जामा सामनेवाले में हीन भाव पैदा किये बिना न रहेगा। इस हीनता में से भले क्रोध निकले, द्रोह निकले, हिंसा और विनाश निकले, निर्माण और समाधान कभी निकलनेवाला नहीं है। इसलिए कानूनी और

कागजी से कुछ अधिक चाहिए। शायद श्रम-साधना चाहिए! अर्जन की जगह विसर्जन चाहिए!

अत: एक नम्र प्रश्न और प्रस्ताव है : क्या 'गरीबी हटाओ' के घोष को तनिक संशोधित होने दिया जा सकता है? कैसा रहेगा उसे यदि 'अमीरी न चाहो' कर दिया जाए? क्या तभी वह संकल्प कहीं अधिक सार्थक और सारगर्भ न हो पाएगा?

[16.1.72]

राजतन्त्र और लोकतन्त्र

पूर्व में पाकिस्तान का अन्त हुआ है और बाँग्लादेश उदय में आ गया है। इतना ही नहीं, पश्चिम के पाकिस्तानी गढ़ में भी दरारें हैं। बुनियाद थी इस्लाम की दावेदारी, जिसके आधार पर अँग्रेज के हाथों भारतवर्ष दो टूक किया गया था। गाँधी-नेहरू के नेतृत्व में भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस ने अहिंसक युद्ध छेड़ा और अटूट बलिदान देकर देश की स्वतन्त्रता की भूमिका का निर्माण किया था। अँग्रेजी साम्राज्य को वापस लौट जाना ही था। ठीक इस ऐन मौके पर हिन्दू-मुस्लिम सवाल का भूत बनाकर ऐसा खड़ा किया गया कि उसको टालने के लिए अपने बावजूद काँग्रेस ने विभाजन मान लिया। अकेले गाँधी थे, जिनका आग्रह कायम रहा कि गलत चीज किसी कीमत पर नहीं मानी जानी चाहिए। इस गलती के लिए अन्दाज है कि तीस और चालीस लाख के बीच जानों की कीमत देनी पड़ी है। आखिर गलती कटी है और सिद्ध हो गया है कि 'दो राष्ट्र' का सिद्धान्त झूठा था। और आगे भी अगर मज़हब को कभी राष्ट्रीयता का आधार बनाया गया, तो नतीजा खतरनाक होगा।

पाकिस्तान के पराभव की यह घटना अगर हम चाहें, तो आगे के लिए बहुत ही शिक्षाप्रद हो सकती है। इतिहास के सारांश को नाना रूपों में समझा और बताया गया है। पाकिस्तान की पराजय की व्याख्या भी नाना रूपों में की गयी है। कारणों का विश्लेषण हुआ है और अधिकांश सैनिक कार्रवाई को श्रेय दिया गया है। वह श्रेय मिथ्या भी नहीं है। पर क्यों ऐसा हुआ? क्यों आधुनिक आयुध पाकिस्तानी हाथों में बेकार रह गये और उनकी लम्बी तैयारी किसी काम न आयी? माना जाता था कि पंजाबी मुस्लिम जन्म का ही सिपाही होता है, और कि भारत का आदमी उसके सामने क्या ठहरेगा, पर अगर सब शस्त्रास्त्र और सब बहादुरी और तैयारी और बेरहमी देखती ही रह गयी और नतीजा उलटा हुआ, तो वजह कुछ गहरी रही होगी। शायद उस गहराई में जाने की आवश्यकता है और वहाँ से गहन मर्म हाथ आ सकता है।

आजकल आदर्श के प्रति अश्रद्धा है। माना जाता है कि वह चीज हवाई है। काम पैसे से होता है, बल से होता है, संगठन से होता है। ये सब चीजें पाकिस्तान के पास नहीं थीं, यह नहीं कहा जा सकता है; बल्कि इससे ज्यादा भी कुछ था, नीति का कपट था और सहृदयता का एकदम अभाव था। क्रूरता और नृशंसता से वहाँ किसी तरह का डर न था। पर यही चीजें थीं और यही आदर्श का दीवाला था जिसने उन्हें मुँहकी खिलायी। अगर फिर उसी ताकत और तरीके का भरोसा भुट्टो साहब और आगे आनेवाले पाकिस्तान के हुक्मरानों का रहा, तो नतीजा कुछ बेहतर न होगा। तब अजब नहीं कि पाकिस्तान का वजूद ही हवा होने लग जाए।

पाकिस्तान के पास मार्शल लॉ था और मार्शल ही तानाशाह था। हुकूमत को सौ फीसदीवाला राजतन्त्र ही कहिए। जनतन्त्रता उसे छू नहीं गयी थी। एक सिद्धान्त और ईमान है, जो मानता है कि राज को यदि होना ही है, तो उसके तन्त्र को एकदम पक्का और चौकस राजतन्त्रीय ही होना चाहिए। हवा में जनतन्त्र शब्द की गूँज है, तो चलो, उस किस्म के लबादे का इन्तजाम किया जा सकता है। चुनाव का यह या वह रूप जारी किया जा सकता है। लेकिन सैन्य सत्ता, राज सत्ता, अर्थ सत्ता और प्रभु सत्ता को तो संघटित भाव से एक जुट में, जुण्टा में केन्द्रित हुआ रहना चाहिए। इस नीति पर कई देश अपने को मजबूत बनाने में विश्वास रखते हैं। उद्योग वहाँ बढ़ रहे हैं। विज्ञान बढ़ रहा है और आधुनिक दौड़ में वे पीछे भी नहीं हैं और धन-सम्पदा भी बढ़ती दीख रही है।

पर भारत की श्रद्धा अपनी अलग मालूम होती है। जनतन्त्र में उसका विश्वास ऊपरी ही नहीं, भीतरी भी है। सबको मानना पड़ रहा है कि इस युद्ध की जय का श्रेय सबसे प्रथम और प्रमुख रूप में किसी एक को जा सकता है तो वह भारत की प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी को, और इन्दिराजी ने हर बार और बार-बार कहा कि लड़ाई यह आदर्श और सिद्धान्त की थी। जीत भी आदर्श और सिद्धान्त की ही है। यह बात सिर्फ कहने की ही नहीं है। प्रचार के और नारों के लिए नहीं है, पर गम्भीर ऐतिहासिक सार्थकता और सत्यता की भी है।

असम्भव नहीं कि इस हिन्द-पाक युद्ध से और बाँग्लादेश के जन्म से विश्व के शक्ति-सन्तुलन में और अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के चक्र में कुछ नये परिवर्तन हों और इतिहास एक नया मोड़ ले। आगे-पीछे ऐसा नया आरम्भ अवश्यंभावी ही है। कारण, अणु-आयुध, अगर प्रलय ही नहीं आनेवाली हो तो चलेंगे नहीं, फटेंगे नहीं, बल्कि बेकार जाएँगे और उन्हें अन्त में समुद्र के तल में डुबा देना होगा। सब मानते हैं कि डराने से आगे उनका कोई उपयोग नहीं; अर्थात् आगे स्वरूप पानेवाली दुनिया महाशक्तियों के दम-दिलासे और उस तर्क से नहीं चलेगी,

न शस्त्र-सम्भार के भरोसे ऊपर से उसे चलाया जा सकेगा। नहीं, अगली शक्ति अब उत्तरोत्तर जनतान्त्रिक होगी, जन-स्फूर्ति की होगी और इस व्यवस्था की बागडोर राज से अधिक प्रजा के तन्त्र के हाथ में होगी। निश्चय ही प्रजातन्त्र हो सकता है, जो राजतन्त्र-जैसा एकदम न हो। आज अभी उसकी स्पष्ट परिकल्पना नहीं है, उदाहरण तो कहाँ से हो? फिर भी जनता स्वाधीन चेतना प्राप्त करती जा रही है और छोटे देश, जिनकी बहुलता एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों में है, सभी सहयोग में आपस में मिल जाते हैं, तो उस इष्ट और भावी दिशा की प्रगति को कोई नहीं रोक सकता।

क्या आशा की जाए कि भारत की रीति और नीति आगे वही होगी और उस भवितव्य एवं दायित्व का सेहरा वही सँभालेगा?

[23.1.72]

शस्त्र का नहीं, शास्त्र का मार्ग

बाँग्लादेश में पाकिस्तानी फौजों के हार मानने और हथियार डाल देने के एकदम बाद भारत की प्रधान मन्त्री ने एकतरफा युद्धबन्दी का ऐलान कर दिया। यह अद्‌भुत उदारता और शूरवीरता का काम था और भारत का भाल इससे ऊँचा हुआ। सामरिक विजय से भी ज्यादा इस नैतिक भव्यता ने और देशों की निगाह में उनका मान बढ़ाया। मेरे निज के मन में भारतवासी की हैसियत से एक गर्व का भाव पैदा हुआ—और मैंने इस नये नेतृत्व में चमत्कारी सम्भावनाएँ देखीं।

उधर याहिया खाँ गिरे और भुट्टो साहब पाकिस्तान की अध्यक्षता पर ऊपर आये। मालूम ऐसा हुआ कि वे धीरे-धीरे पाकिस्तान को हिन्दुस्तान के नजदीक लाना चाहते हैं। इधर से साफ कह दिया गया था कि किसी देश की एक इंच धरती की भी हमें चाह नहीं है। अतः लगता था कि इस शुरुआत से दोनों देशों के सम्बन्ध सामान्य हो चलेंगे और पड़ोसियों के बीच दुश्मनी नहीं रहेगी। चुनाँचे बात शिमला सम्मेलन तक आयी और इधर का जीता हुआ भूमि का बहुभाग विधिवत् वापस उनको पहुँचा दिया गया।

पर पाकिस्तान के इन नये सदर श्री भुट्टो को अपनी होशियारी का कुछ अधिक ही भरोसा मालूम होता है। उनकी बातें नयी-से-नयी करवटें लेती हैं, और क्षण-क्षण रंग और रूप बदलती दिखती हैं। साफ है कि वहाँ के हालात उनके काबू से बाहर होते जा रहे हैं। न वे अब अपने मालिक कहे जो सकते हैं—चीन और अमेरिका की नीतियों के हाथों मानो वे मोहरे हैं। ऊपर मुँह से कुछ भी कहते रहें, असल में करतब में शायद जरा भी आजाद नहीं हैं।

जनसंघ ने तब आवाज उठायी थी कि यह सरकारी उदारता भारत को भारी पड़ सकती है। मुझे उनकी यह संकीर्णता प्रतीत हुई थी। लेकिन सामने भुट्टो महाशय के वक्तव्यों को देखकर मालूम होता है कि वह आवाज सर्वथा तर्कहीन नहीं थी। और कदाचित अपनी नीतियों के सम्बन्ध में हमें गम्भीर पुनर्विचार की आवश्यकता है।

स्वयं मेरे मन में दुविधा हो चली है। दिखता है कि शस्त्र-नीति और शास्त्र-नीति के बीच घोटाला नहीं हो सकता। शस्त्र से लड़े जानेवाले युद्ध में उदारता का उपयोग कूटनीति से आगे अगर हो, तो वह शस्त्र से मिली जय को पराजय तक बना दे सकता है।

भारतीय इतिहास में इसके प्रचुर प्रमाण हैं। हाल में जवाहरलाल नेहरू ने चीन से धोखा खाया ही था। पंचशील का उन्होंने निर्माण किया और समय पर वह पंचशील ही उन्हें ले बैठा। पाकिस्तान के नये रुख से लगता है कि शिमला-सम्मेलन की हवा अब गायब है, और सम्बन्धों को सामान्य बनाने की इच्छा शायद एकतरफा रहती जा रही है।

और एशिया अब कोरा एशिया नहीं है—वह विश्व-शक्तियों का मानो आवर्त-केन्द्र बनता जा रहा है। यूरोप से सरककर भार-केन्द्र दुनिया का इधर झुक आया है। पक्षों का योगायोग यहाँ अब स्पष्ट-से-स्पष्टतर बनता जा रहा है। भारत को अगर रूस का सहारा है, तो चीन और अमेरिका पाक की पुश्त पर हैं। महाशक्तियों के इस त्रिगुट के खेल की बिसात एशिया में बिछ चली है। यों भारत की नीति गुटनिरपेक्षता की रही हो, पर स्थितियाँ तदनुकूल नहीं मानी जा सकतीं।

इन परिस्थितियों में तनिक ठिठककर गम्भीरता से अपनी नीतियों के बारे में फिर सोच लेना अयुक्त न होगा। बजट खुल ही चुका है। अपनी राजनीति और अर्थ नीति के चेहरे की झलक उससे मिल जाती है। आगे के रुख का भी कुछ पता चलता है। पाकिस्तान का प्रतिरक्षा-खर्च बढ़ा है और भारत का भी तनिक बढ़ा ही कहा जा सकता है। इन दोनों देशों की आर्थिक दशा पर वह व्यय भार-रूप ही माना जाएगा। क्या इसमें सुधार नहीं आ सकता?

ध्यान में रखिए कि चीन के बराबर जापान भी है। उसकी नयी समृद्धि, नये सामर्थ्य से अमेरिका तक घबरा रहा है। एशिया में भारत का स्थान नगण्य नहीं हो सकता, यह तो ठीक, भूगोल के नाते ही यह असम्भव है। किन्तु फिर उसकी गणनीयता किस रूप में होगी—सामरिक सत्ता के रूप में या ऐश्वर्यशाली औद्योगिक शक्ति के रूप में?

नहीं, उस प्रतिद्वन्द्विता में भारत ऊपर नहीं आ सकता। वह इसकी प्रगति और संस्कृति के अनुकूल भी नहीं है। उसकी अपनी साधना भिन्न प्रकार की रही है। उसकी शक्तिमत्ता का प्रकार भी अलग रहा है। उससे हटने से गुण से गणना पर, क्वालिटी से क्वाण्टिटी पर, आ जाने से भारत उबरेगा नहीं। प्रत्युत अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं के तुमुल में वह फँसेगा। जगत में पनप रहा ध्रुवीकरण ही एक मार्ग नहीं—प्रत्युत भारत के पास अपना निज का मार्ग हो सकता है। शायद वही है, जिसकी विश्व को आवश्यकता है। राष्ट्रीय से आगे मानवीय मार्ग और प्रौद्योगिकी

से भिन्न विकेन्द्रित उत्पादन और अर्थायोजन का मार्ग। शायद यह शस्त्र का नहीं, शास्त्र का मार्ग है। किन्तु वह अपने में समग्र और समर्थ है। उसका प्रयोग गाँधी ने यहाँ किया था और क्राइस्ट ने इतिहास में। उस मार्ग पर निर्बल नहीं चल सकता, उसके लिए निष्ठा की प्रबलता चाहिए।

पर अगर भारत के लिए सम्भव न हो, जैसा कि किसी और देश के लिए नहीं है, तो फिर उदाराशयता के फेर में भी उसे नहीं पड़ना है।

गाँधी को मरे पच्चीस वर्ष से ऊपर का समय हो गया है। कोई जरूरत नहीं है कि उसकी याद को पोसा जाए और उसके उदाहरण को सिर पर लिया जाए। बड़ी आसानी से इस शिष्टाचार को छोड़ दिया जा सकता है। नहीं तो वह मार्ग है, जिसको अपनाना हो, तो पूरी तौर पर अपनाना होगा। यानी नेतृत्व को स्वयं ऊँचाई से उतरकर सामान्यता के लिए उदाहरण बनना होगा। और राष्ट्र के तल पर नाहक बर्बादी के बजाय मितव्ययिता को प्रतिष्ठित करना होगा। योजनाओं का मुँह देहात की ओर मुड़ेगा और उद्योग-व्यवसाय भी जनता के निकट आएगा। वह दृष्टि अगर नहीं है, तो उदारता इत्यादि का रुख जतलाना खतरनाक हो सकता है।

[1.3.1973]

वृत्त विहार—तीन

शुभाकांक्षा

एक लम्बी मुद्दत से मेरा 'वृत्त-विहार' स्थगित रहा। कुछ तो स्थितियाँ विषम आती गयीं। कुछ यह भी कि चलती घटनाओं का महत्त्व साहित्य की दृष्टि से विशेष नहीं होता।

चुनाव लोकतन्त्र में होते ही रहते हैं। पर हाल का चुनाव साधारण नहीं, एकदम असाधारण हुआ है। वह इतिहास का मोड़ बनेगा, उसका आशय भारत के लिए ही नहीं, पूरे भूमण्डल के लिए गहरा अर्थ रखेगा। भारत का लोकतन्त्र पूरे तौर पर पश्चिम का अनुसरण नहीं कर सकेगा। पश्चिम की लोकतन्त्र की धारणा दलात्मक रूप से आगे नहीं जाती। इस निर्वाचन के महारथी श्री जयप्रकाश नारायण प्रत्याशी नहीं थे, न आगे कभी होनेवाले हैं। उनका संकल्प प्रकट हुआ है कि वे ऐसी ग्राम सभाएँ संगठित करेंगे जिनसे दल अनावश्यक हो जाएँ और ऊपर से प्रत्याशियों के नामांकित होने की आवश्यकता समाप्त हो जाए। यानी सत्ता शीर्ष में सिमटी न रहे, उतरती-उतरती धरातल तक व्याप्त हो जाए।

जनता पार्टी ने राज्य की बागडोर सँभाली, तो पहले राजघाट पर समाधिगत महात्मा गाँधी के समक्ष पार्टी के नेताओं और विधायक सदस्यों ने शपथ ली कि वे उनके मार्ग पर चलेंगे और उनके स्वप्न के भारत के निर्माण में लगेंगे।

यह बहुत बड़ी प्रतिज्ञा है। बड़ी परीक्षा में से गुजरकर ही उस ओर कदम बढ़ाया जा सकेगा। अब तक निर्वाचित प्रतिनिधि अपने को विशिष्ट मानने की सुविधा का भोग करते आये हैं। गाँधी की लाज रखने के लिए उन्हें उन सब सुविधाओं को तजने के लिए तैयार रहना होगा। अपने रहन-सहन को भरसक नागरिक समता पर ले आना होगा। भूल जाना होगा कि वे राजसिंहासन के ऊपर या आसपास हैं, बल्कि मानना होगा कि उस सिंह-आसन पर विराजमान तो जनता है; वे बस उसके नियुक्त सेवक मात्र हैं। मुश्किल है यह काम। कारण, राज्य का हर पद अधिकार का होता है। अधिकार पाकर मद भी क्यों न हो, पर यही गर्व है जिसने श्रीमती इन्दिरा गाँधी जैसी समर्थ और प्रवीण राजनेत्री को कहा-से-कहाँ ला दिया। इन्दिराजी जवाहरलाल नेहरू की पुत्री होने के कारण प्रधानमन्त्री

के पद पर पहुँची थीं, पर यह उनकी अपनी योग्यता थी जिसने विश्व के सबसे शक्तिशाली नेताओं की पंक्ति में उन्हें जा बिठाया। कृपया उन्हें गलत न समझा जाए। उन्होंने जो भी किया, भारत के हित में समझकर ही किया। पूर्ण तो कोई होता नहीं। अपूर्ण होने का हक किसी से कम या अधिक उनका नहीं है। पर चूक हुई तो उनसे यह हुई कि राजशक्ति के बल पर उन्होंने लोकतन्त्र को बलिष्ठ बनाना चाहा। यह कभी होगा नहीं, हो सकता नहीं। हाकिमशाही ही लोकशाही के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। असल में शासकीय मानसिकता ही लोकपक्ष से विपरीत पड़ती है। गाँधी ने मरते-मरते काँग्रेस को सलाह दी थी कि वह हुकूमत न बने, पर सलाह मानी नहीं गयी और आज हुकूमतशाही ही उसे ले बैठी है।

राज्य का आसन अगर सिंहासन हो जाता है तो इस चुनाव से पता चल गया है कि जनता रूपी सिंह अपराजेय है। बड़ा ही दुर्गम और दुर्धर्ष है वह। जनता की पार्टी अपने में इतनी पार्टी बन जाती है कि जनता उसे दूर पड़ने लग जाए, तो याद रखना है कि सिंह भड़क उठेगा और अपने आदिमस्वरूप पर आ जाएगा। राजकर्ताओं की सेज इसीलिए गद्दीदार होकर भी सदा काँटों की ही होती है। स्थायित्व के गुण के लिए राजनीति और राजपद हैं ही नहीं। वहाँ द्वन्द्व चलेगा और उछाड़-पछाड़ की बाजी लगी ही रहेगी।

इसलिए गाँधी समाधि पर जिन्होंने, शपथ ली है, उन्होंने गहरी परीक्षा में अपने को डाला है। राजनीति, कहते हैं, कूटनीति से चलती है। मानो इन्होंने बीड़ा उठाया है कि नहीं, वह धर्मनीति से भी चल सकती है। कैसे चल सकती है, यह दिखा पाना आसान नहीं होगा। पर किंचित मात्रा में भी यदि श्री मोरारजी भाई के नेतृत्व में जनता पार्टी यह दिखलाने में सफल हो सकी तो विश्व के आगे एक नया उदाहरण प्रस्तुत हो सकेगा। वहाँ महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा है और घोर संघारक शस्त्रास्त्र का अम्बार दोनों तरफ बढ़ता जा रहा है। उसमें कमी लाने की बातें होती हैं, कोशिशें होती हैं, पर अन्त में वे बेकार रहती हैं। कारण यही कि राजसत्ताओं का आधार सबका सैनिक है, नागरिक या सही अर्थों में लोकतान्त्रिक नहीं है। गाँधी का सपना था कि भारत इसी असम्भव को सम्भव बनाकर दिखा सकेगा।

श्री मोरारजी देसाई की सरकार उस श्रद्धा और संकल्प को लेकर शासन पर आयी है। सबसे बड़ा आश्वासन यह है कि उसके पृष्ठ पर जयप्रकाशजी का सम्बल है। जयप्रकाशजी को सत्ता की चाह नहीं है। चाह है तो वह सिर्फ जन-जन की सत्ता को जगा उठाने की है। उनके मार्गदर्शन में, जनता पार्टी की जय के अनन्तर, इस तीर्थ की ओर की प्रस्थान-यात्रा पर राष्ट्र के साथ हम अपनी समस्त शुभाकांक्षा अर्पित करते हैं।

[मार्च, '77]

शासन की अनोखी गाँधी-विधि

'सख्ती के बिना शासन न कभी हुआ है, न हो सकता है?'

यह कहनेवाले सज्जन जनता पार्टी के बड़े पक्षधर रहे हैं। वे माने हुए बुद्धिजीवी हैं और उस हैसियत से इन्दिरा सरकार को नीचे लाने में उनका बड़ा योग भी रहा है। पर मानते हैं कि परिवर्तन आवश्यक था और नयी मोरारजी सरकार आयी है तो ठीक ही हुआ है। लेकिन हर हालत में गाँधी का पल्ला पकड़े रही तो उस सरकार को जल्दी बैठ जाना होगा। शासन, शासन के तरीके से चलता है। नैतिकता का आग्रह एक हद तक ही वहाँ निभ सकता है। क्या श्री मोरारजी इस सम्बन्ध में समझौता कर सकेंगे?

दूसरे भी अनेक नीतिज्ञजन हैं, जो मानते हैं कि श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने इमरजेंसी से बढ़ती हुई अराजकता को सफलतापूर्वक रोका था। अब जनता सरकार हर हालत में जनता को खुश रखना चाहेगी तो देखेगी कि अनियमितता और अराजकता नीचे से उठती आ रही है और उपाय प्रशासनिक दमन से दूसरा कोई है नहीं। उनका मानना है कि आप लोकतान्त्रिक तरीके से शासन पर आ तो सकते हैं, पर उन तरीकों से शासन कर नहीं सकते यानी कितना ही कह लीजिए, लोकतन्त्र अमल में तो राजतन्त्र ही रहनेवाला है और राजकीय दमन के बिना अन्त तक काम चलनेवाला है नहीं।

बहुत तथ्य है इस बात में और सचमुच लोकतन्त्रीय कसौटी पर किसी सरकार के लिए पूरी तरह खरा उतरना लगभग असम्भव है। इसीलिए गाँधी में मानने वालों की सरकार भले हो जाए, गाँधी नीति का पालन एक मात्रा तक ही उससे हो सकेगा। इसलिए आवश्यक है कि उस प्रकार की आस्था रखनेवाले लोग राज के अधिकारों के पद से दूर जनता की सेवा में रहें। वहाँ से ही गाँधीय गिने जानेवाले राजतन्त्र को जनतन्त्र होने की दिशा के प्रति जाग्रत और अभिमुख रखें।

कारण, राज्यासन का अन्तिम बल शस्त्र-सैन्य है और इस बल के अभाव में आज के दिन किसी राष्ट्र-राज्य की कल्पना भी असम्भव है। और ठीक इसी जगह जीवन व्यवस्था और समाज व्यवस्था का सबसे विकट प्रश्न भी आ खड़ा

होता है। वह प्रश्न है कि क्या शासन अहिंसक हो सकता है? इसका उत्तर यदि कहीं से, अध्यात्म और धर्म में से, नहीं आता है तो कहा जा सकता है कि वह अध्यात्म और वह धर्म जीवन से विमुख है यानी कि अहिंसा की नीति के पास जीवन-सम्बन्धी समाधान है ही नहीं।

किन्तु ऋषियों ने धर्म को शासन भी कहा है। सचमुच जो शासन नहीं है, वह धर्म भी क्या है? लेकिन उस शासन द्वारा व्यक्ति शासक नहीं, शास्ता बनता है। शासक और शास्ता में अन्तर यह है कि शास्ता 'स्व' का होता है, शासक 'पर' का; अर्थात् सच्चा शासन अनुशासन होगा, वह आत्मानुशासन होगा।

पिछले दिनों अनुशासन शब्द की बड़ी छीछालेदर हुई। जहाँ देखिए 'अनुशासन पर्व' की पट्टी लगी हुई है। जैसे शासन की मनमानी उस पट्टी की ओट से सही बन जाती हो। यह तो बहुत बाद में हुआ कि विनोबा ने साफ किया कि अनुशासन आचार्यों का होता है, राज्य का तो शासन ही हुआ करता है!

अनुशासन आचार्यों का मान्य क्यों? शायद केवल इसलिए कि वे आत्मशासित होते हैं।

शिस्त के बिना तो कुछ भी टिक नहीं सकता। यह सबकी आन्तरिक अनिवार्यता है। गाँधी के आश्रमों और संस्थाओं में शिस्त की तनिक भी त्रुटि सह्य नहीं होती। लेकिन जिस विधि यह सम्भव होता था, वह एकदम अनोखी थी। दोष किसी का हो, गाँधी दण्ड अपने को देते थे; अर्थात् सबसे पहले और सबके लिए दोष वह अपना मानते थे। कुछ यह प्रक्रिया उनकी परम्परा में भारतीय राज्य के स्तर पर भी देखी गयी। लालबहादुर शास्त्री ने रेल मन्त्री पद से इस्तीफा दे दिया जब कि उनका दोष दुर्घटना में दूर तक कहीं नहीं था। इससे शास्त्रीजी का मान बढ़ा और सचमुच रेल विभाग में शिस्त की मात्रा बढ़ी। कुल मिलाकर देश का नैतिक मान ऊँचा हुआ।

मानना होगा कि काँग्रेस की शासन पद्धति में इस नैतिक दृष्टिकोण का सम्मान रह नहीं गया था। उसमें दमन या दण्ड जनता पर पड़ता था, शासक छुट्टी पाये रहता था।

श्री देसाई की सरकार के नये शासक वर्ग की परीक्षा इसी में है कि कितना वे अपने को कसते हैं और जनता के अभिक्रम (इनीशिएटिव) को कितना मुक्त कर पाते हैं। साठ-पैंसठ करोड़ की जनता का अभिक्रम जाग उठता है तो फिर क्या रह जाता है, जो न हो सके? तब यह भारतवर्ष विश्व भर में अग्रगण्य बन सकता है। इन्दिराजी की शासन पद्धति को जनता ने यदि अभूतपूर्व निश्चय के साथ अमान्य किया है तो आशय उसका यही हो सकता है कि अब एक नूतन शासन विधि का सूत्रपात होगा, गाँधी से प्रखर और सफल शास्ता हमें इतिहास

में कोई दूसरा मिलेगा नहीं। किन्तु उनमें किसी का शासक बनने के प्रति घोर अनासक्ति थी। काँग्रेस की सामान्य सदस्यता से उन्होंने अपने को इसलिए अलग कर लिया था कि उन्हें लगा कि काँग्रेस उनके अधीन और उन पर निर्भर बनती जा रही है।

ऊपर से उलटी दीखनेवाली पर अमोघ यह शासन विधि क्या नवनिर्वाचित शासकों को सुलभ हो सकेगी? पद और स्थान को लेकर जो तीन-चार रोज तक नयी दिल्ली में तमाशा हुआ, उससे लोगों का चित्त डिग आया है। क्या नयी कैबिनेट के मन्त्री-गण अपने चरित्र और व्यवहार से लोगों की डिगती हुई आस्था को फिर पुष्ट कर सकेंगे? उन्हें याद रखना होगा कि उनके दलतन्त्र को सिद्ध करना है कि वह सही अर्थों में लोकतन्त्र है और 'काँग्रेस फॉर डेमोक्रेसी' का बाहर अलग अस्तित्व है भी तो उसमें जनता से अलगपन का आशय बिलकुल नहीं है।

[अप्रैल, '77]

शासन क्षमाशील नहीं हो सकता

श्री मोरारजी देसाई के इस वचन का पालन होगा कि सरकार किसी बदले की भावना नहीं रखेगी, इसमें संशय का अवकाश नहीं है। लेकिन शासन के स्वधर्म पर मर्यादा है। उस मर्यादा के कारण शासन क्षमाशील नहीं हो सकता।

हम क्षमा के विश्वासी हैं। क्षमा में दण्ड से बड़ा दण्ड समाया है। मामूली दण्ड का आघात ऊपर से पड़ता है। क्षमा की चोट भीतर में लगती है। ऊपरी दण्ड से दुष्ट मिट सकता है, परन्तु दोष मिटने के बदले फैलता और गहरा होता है।

महात्मा गाँधी बच जाते तो निश्चय ही गोडसे को फाँसी नहीं लगने देते। तब सम्भावना हो सकती थी कि गोडसे को पछतावा हो, पहचान हो कि जिस हत्या को उसने पुण्य माना, वह घोर पाप ही था। मनुष्य की सम्भावनाएँ अमित हैं। भीतर मर्म में गहरी चोट बैठे तो उससे आदमी का दुर्जन कट सकता और सज्जन उदय में आ सकता है। इस आकस्मिक हृदय परिवर्तन के उदाहरण इतिहास में कम नहीं मिलते।

लेकिन शासन के वश और अधिकार से यह ऊपर की बात है। इस अधिकार को कड़ी साधना और तपश्चर्या से अर्जित करना होता है। राज्य का गुण-स्थान वह है नहीं, हो नहीं सकता है। समाज की ओर से उसको नियमन और नियन्त्रण के निमित्त एक तन्त्र सौंपा गया है। यथावश्यक उपकरण भी उस तन्त्र के अंग के रूप में उसके अधिकार में दिये गये हैं। शासन अगर उदारता का बाना ओढ़ेगा और अपने न्याय तन्त्र का यथेष्ट उपयोग नहीं करेगा, तो वह स्वधर्म से च्युत होगा।

नयी सरकार को आम निर्वाचन से जो आदेश प्राप्त हुआ है, वह स्पष्ट है। सच यह कि जनमत जनता पार्टी के पक्ष में उतना न था जितना गत काँग्रेसी शासन के विरोध का था। हाकिमशाही देश को सर्वथा अमान्य है। निर्वाचन के परिणाम ने भर्त्सना की उस राज-पद्धति की, जिसमें अधिकार सब शासक के पास पहुँच जाते हैं और केवल कर्तव्य रह जाते हैं नागरिक के पास। यह शासन नागरिक रह नहीं जाता, सर्वथा पुलिस का या सैन्य का हो चलता है। जनतन्त्र के नाम

पर और टेढ़े-सीधे उसके समर्थन से यह किया जाता है, तब दोहरा अनाचार होता है। तानाशाही वैधानिक बनती है तो और भी जघन्य हो जाती है। यह राष्ट्र को बर्दाश्त नहीं होती। राष्ट्र की माँग है कि उस प्रकार के शासनशाही मनोभाव सदा के लिए समाप्त हों। पाठ मिल जाए उन नेताओं और हाकिमों को कि भारतीय जनतन्त्र और जन-मानस अफसरशाही के प्रतिकूल है। जड़मूल से उस मनोवृत्ति को समाप्त कर देना है, जिससे आगे कभी उस दुस्सम्भावना के अंकुर न फूटें।

इस शान्त क्रान्ति के बाद जो नयी सरकार बनी है, उसको हम लोकतन्त्र मान लेते हैं। ध्यान रखना चाहिए कि अन्त में वह दलतन्त्र ही है। जिस दल का बहुमत है, उसके हाथ में ह्विप रहता है और वही सरकार बनाता है। इस प्रकार एक अर्थ में लेजिस्लेटिव पक्ष भी एक्जिक्यूटिव के अधीन आ जाता है और कानून कार्यकारी पक्ष के अनुकूल बनता रह सकता है। पिछला प्रमाण हमारे समक्ष है। संविधान की 142वीं संशोधन धारा और नहीं तो क्या है? नये शासकों की ओर से आश्वासन दिया गया है कि ऐसा आगे कभी नहीं होगा। उनके व्यवहारवर्तन से आश्वासन को बल भी मिलता है। लेकिन शासन के कभी भी हाकिमशाही का रुख लेने का खतरा तो है ही।

इसलिए आवश्यक है कि बाहर विचार और विवेकशील तत्त्व जाग्रत और सावधान रहें। अपने लोकतन्त्र को दलतन्त्र के रूप तक आकर ही नहीं रुक जाने देना है। उसे उत्तरोत्तर भारतीय परम्परा और संस्कृति के अनुकूल ढालते जाना है। असली लोकतन्त्र वह होगा जिसमें दलतन्त्र नहीं, प्रत्युत राष्ट्र-तन्त्र प्राप्त हो। इस राष्ट्र-तन्त्र के रूप को क्रमशः स्पष्ट और सिद्ध करना होगा। यहाँ तक कि राज्य केवल व्यवस्था का रूप रह जाए और सेवा से आगे अधिकार के सूत्र उसके पास रही न जाएँ।

आज तो तमाम जीवन के सूत्र राज्य के हाथ हैं। इससे सत्ता और सम्पदा का महत्त्व जीवन में अनुपात से बहुत अधिक हो जाता है। सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों की हानि होती है और शक्ति में दम्भ भरता है। तत्त्व जो विवेक के प्रतीक हैं, कीमत खो रहते हैं, और एक गुटवाद-समूहवाद चल पड़ता है।

अभी हमारा तन्त्र पश्चिम की नकल पर बना है। वहाँ जीवन बहिर्मुखी है। इस कारण यद्यपि वे देश समृद्ध और समर्थ हैं, पर उनकी समृद्धि और शक्ति सम्भव बनती है इस आधार पर कि अन्य देश दीन और अधीन रहें। विकसित और विकासशील देशों के बीच का आज का सम्बन्ध स्वस्थ नहीं कहा जा सकता है। अगर भारत उस दिशा में ही देखता रहा तो विकसित और समृद्ध माने जानेवाले देशों की आपसी शक्ति-स्पर्द्धा के जाल से वह बच नहीं सकता। उसकी गुटनिरपेक्षता सदा ही सशंक रहेगी। आवश्यक है कि भारत अपनी मूल निष्ठा प्राप्त करे और

अपनी प्रकृति और संस्कृति के अनुसार अपने तन्त्र और नीति का निर्माण करे।

उधर की आर्थिक सभ्यता प्रकटतः टूट रही है। जैसे-जैसे नये देश अपनी अस्मिता और स्वतन्त्रता को पहचानते हैं, उतनी ही शक्ति-समृद्धिशालियों की कठिनाई बढ़ती है। मूलतः वह शोषण पर खड़ी है। भारत को अगर शोषित नहीं रहना है, न शोषक बनना है, तो उसको, नकल में प्राप्त हुई राजनीतिक प्रथाओं और प्रणालियों से ऊपर होकर, सोचना होगा।

देसाई सरकार गाँधी के आशीर्वाद की छाया में बनी है। उनके अनुगमन की उसने शपथ ली है। आशा है, गाँधी को स्वीकार करने के कारण वह मार्ग प्रशस्त कर सकेगी जिससे दुनिया को नया संकेत मिले।

[अप्रैल, '77]

जे.पी. प्रस्ताव और उससे आगे?

श्री जयप्रकाश नारायण ने जो प्रस्ताव रखा है, ऐतिहासिक महत्त्व का है। केन्द्र में और दूसरे सब राज्यों में लोकपाल (क) समिति यदि बनती है तो यह राजशक्ति के समक्ष राज्य-स्वीकृत उस शक्ति संस्थान के प्रयोग का आरम्भ होगा जो मूलतः राज्य के अधीन तो होगी ही नहीं, प्रत्युत उसके समीक्षण और निरीक्षण का काम करेगी। यह प्रयोग लोकतन्त्र के लिए ही नहीं, पूरी राजनीति के इतिहास में एकदम नया होगा। यदि यहाँ यह प्रयोग सफल हो जाता है तो भारत एक बार ही विश्व में अग्रणी मार्गदर्शक की स्थिति पा जाएगा।

सभ्यता का इतिहास हजारों वर्षों में कहीं एक चरण उठा पाता है। महात्मा गाँधी से उस इतिहास ने एक मोड़ लिया था। उन्होंने बताया कि राजशक्ति बाहरी और ऊपरी होती है। वह दबाती है, अभिक्रम को उभारती नहीं है। समय आया है कि इस शासनवादी और दमनवादी शक्ति का ही राज आगे न रहे। अब तक तो यह निभ सकता था। युद्ध सम्भव थे और उनमें हार-जीत भी सम्भव थी। लेकिन विज्ञान के उत्कर्ष से परमाणु का छेदन हो गया है और पता चल गया है कि उस आणविक शक्ति की भीषणता का पार नहीं है। एक सीमा पर जाकर रचनात्मकता वहाँ से गायब हो जाती है। और वह शुद्ध नकारात्मक रह जाती है। तब उसकी विनाशलीला की सीमा नहीं रहती। उस महासंहार से मनुष्य जाति को बचना है तो अपने लोक-व्यवहार में, व्यवस्था, संरचना में काम आ सकनेवाली उस नयी शक्ति का आविष्कार कर लेना होगा जो भौतिक के विरोध में नैतिक है।

सभ्यता हठात मानव जाति को इस नवाविष्कार की दिशा में उत्प्रेरित करती आयी है। राजतन्त्र के साथ समय पर प्रजातन्त्र शब्द का निर्माण हुआ। इंग्लैण्ड में और अन्य कई देशों में पार्लियामेण्ट है, पर राजा भी है। पार्लियामेण्टरी डेमोक्रेसी कुछ उससे आगे बढ़ी और राजा की जगह पर निर्वाचित अध्यक्ष आसीन हुआ। इस सब प्रक्रिया में मालूम हुआ कि प्रजातन्त्र को एक राजतन्त्र के रूप में ही काम करना पड़ता है। शक्ति यद्यपि सिद्धान्ततः प्रजा में मानी जाती है, किन्तु व्यवहारतः

रहती है वह राज में; अर्थात् प्रजातन्त्र का आशय उससे पूरा सिद्ध नहीं होता। प्रजा असहाय ही अपने को अनुभव करती है और राज को सर्वसहाय रूप में देखने को विवश रहती है। इससे व्यवस्था का समूचा खिंचाव शीर्ष के प्रति ही रहता है और इस व्यवस्था का बोझ नीचेवाले मनुष्य को पीसे रखता है। जनतन्त्र शब्द में ध्वनि है कि वह अन्तिम मनुष्य उसकी शक्ति का स्रोत होगा, पर अमल में वही उस व्यवस्था का अन्तिम आखेट सिद्ध होता है। परिणामतः व्यवस्था मनुष्य के शोषण पर खड़ी होती है और अन्त में हिंसक साधनों का आधार उसे स्वीकार करना पड़ता है।

गाँधी की धारणा अहिंसक समाज की थी यानी एक मनुष्य दूसरे का सहारा होगा। उनमें सम्बन्ध संशय का नहीं, विश्वास का बनेगा।

परमाणु शस्त्र बनने के साथ स्पष्ट हो गया कि भय और आतंक की नीति शासन की अधिक काल नहीं रह सकती। किन्तु क्या इसके अभाव में समाज में अनियन्त्रण ही न छा रहेगा? आपाधापी न मच जाएगी? इस शंका का उत्तर कार्ल मार्क्स ने प्रलितारियत डिक्टेटरशिप की अनुमति के रूप में दिया। आदर्श स्वप्न उनका भी था—वही शासन-मुक्त, श्रेणी-मुक्त समाज—पर स्वप्न और भी स्वप्न हो रहा और कम्युनिस्ट यथार्थ बिलकुल उससे उलटा ही बना गया।

इसलिए प्रश्न भौतिक शक्ति जो दमनात्मक ही हो सकती है, उससे हटाने या बदलने का उतना नहीं है, जितना उसके अभाव को भरने के लिए नीचे से नैतिक शक्ति जगाने और उदय में लाने का है। जयप्रकाशजी का निरीक्षण समितियोंवाला सुझाव व्यर्थ और अधर में रह जाएगा अगर नैतिक जागरण का कार्य शिथिल पड़ेगा। निगाह अभी सत्ता पर है, इसलिए अधिक-से-अधिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर। सत्ता गौण है, कारण उसका रूप सदा प्रतिस्पर्द्धात्मक है। नैतिक शक्ति के उभार के लिए आवश्यक है वह वर्ग, जो सत्ता के प्रश्न से लगभग निरपेक्ष रहे और सत्ता के पद से सर्वदा विमुख, केवल सेवा-रूप कर्तव्य में उनका ध्यान हो और जो इस प्रकार राष्ट्र चरित्र में उत्कर्ष एवं राष्ट्र नागरिकों में एकीभाव ला सकें।

[अप्रैल, '77]

संविधान का शब्द और भारत की आत्मा

गृह मन्त्री श्री चरण सिंह ने नौ राज्यों के मुख्य मन्त्रियों को सलाह दी है कि वे अपनी विधान सभाओं को भंग करने की ऊपर सिफारिश करें। तब से संविधान की धाराओं और शब्दों को लेकर बड़ी खींचतान हो निकली है। इसके पीछे दलहित और दलस्वार्थ है, यह तो कहने की आवश्यकता नहीं है।

शब्द से उसी के आशय की हत्या किये जाने के उदाहरण बहुतेरे मिलते हैं। राजनीति के क्षेत्र में तो खास तौर से ऐसे दृष्टान्तों की कमी नहीं है। पर शब्द सच नहीं होते, उनमें सच का संकेत-भर होता है। धर्म के क्षेत्र में यही होता रहा है और जिसका जन्म एकता के लिए हुआ था, शब्द-पूजा और शब्द-आग्रह के निमित्त से, उसी को अनैक्य का आधार बना डाला गया। धर्म पर सम्प्रदाय बन गये हैं और धर्म की आत्मा की हत्या वहीं विशेष देखी जाती है।

निश्चय ही राष्ट्र का संविधान संघीय है, लेकिन मतलब यह नहीं कि राष्ट्र विभक्त है। एक पाकिस्तानी विभाजन का दुर्भाग्य ही देश के लिए बहुत-बहुत काफी है। उसके दुष्परिणाम अब भी देश को भोगने पड़ रहे हैं। भविष्य में कब उनसे छुटकारा मिलेगा, कहा नहीं जा सकता है। कश्मीर भारत का अंग है, फिर भी वह और प्रदेशों के पूरी तरह समान नहीं है, प्रत्युत अ-समान है!

क्या अच्छा होता कि कुल नौ के बजाय सभी राज्यों में उनकी विधान सभाओं का नया चुनाव होता। कहा जाता है कि प्रान्तीय चुनाव प्रान्तीय मुद्दों पर होते हैं, जब कि लोकसभा का निर्वाचन राष्ट्रव्यापी मुद्दों पर हुआ करता है। तो लोकसभा के मतदान के चित्र को बहुत अधिक विचार में लेने की आवश्यकता न थी किन्तु यदि गृह मन्त्री ने नवनिर्वाचन के लिए केवल उन नौ राज्यों को चुना जिनका मतदान काँग्रेसी अपशासन के जड़-मूल से विरोध में अत्यन्त दृढ़ और असंदिग्ध था तो इसमें जनता पार्टी की सरकार की ओर से अतिरिक्त सौजन्य और औचित्य भी देखा जा सकता था। उलटे काँग्रेस पार्टी ने अपने मन्त्रियों को केन्द्रीय सरकार के परामर्श का विरोध करने का आदेश दिया है। आशा थी, और काँग्रेस के संसदीय नेता श्री चव्हाण का आश्वासन भी था, कि दलगत द्वन्द्व की मनोवृत्ति का प्रदर्शन

न होगा और राष्ट्र हित में पूरा रचनात्मक सहयोग रहेगा। पर जो दिख रहा है, उससे आगे गहरी चिन्ता का कारण बनता है।

नैतिक दृष्टि से स्वाभाविक यह होता है कि आपात काल में जिन्होंने केन्द्रीय शासन की मनमानी को अपनी भी मनमानी का पूरा योग दिया था, जनमत के निर्विवाद फैसले को देखकर, वे स्वयं त्यागपत्र देकर अपनी सरकार के साथ अपनी धारा सभाओं को पदच्युत हो जाने देते। क्या राष्ट्र-निर्णय मात्र इन्दिरा सरकार के लिए ही था? यह मानने का अवसर संविधान को संघीयता की ओट लेकर जो अपने लिए निकाल रहे हैं, वे भारी भूल कर रहे हैं। राष्ट्र इसको अपनी मानहानि मान सकता है। राष्ट्र के अवयवों को यह मानने का मौका नहीं कि वे सर्वथा स्वाधीन हैं और राष्ट्रीय आत्मा के निर्देश से एकदम निरपेक्ष हैं। वह सम्भव नहीं है। इस नये लोकनिर्वाचन ने अपने और सबके सम्मुख सिद्ध कर दिया है कि भारत राष्ट्र मेरुहीन और आत्महीन नहीं है। केवल वह शरीर नहीं है कि अंगो-पाँग उससे स्वायत्त होने को मचल सकें। उसका एक आत्मवान अखण्ड व्यक्तित्व है और इस दृष्टि से अवयवों के स्वतन्त्र होने का कोई प्रश्न नहीं है।

सोचने की आवश्यकता है कि केन्द्र में और राज्यों में विसंगति हो तो राष्ट्र व्यवस्था का क्या होगा? क्या हर पग पर संकट खड़ा न दीखेगा? इन्दिरा सरकार के कृत्रिम संकट काल से कहीं बड़ी यह संकटापन्न अवस्था होगी। हर हालत में उसे बचाना है, और नहीं हो सकता कि संविधान में उस मुसीबत को बचाने की राह ही न हो।

संविधान का एक प्रयोजन है। वह प्रयोजन है, राष्ट्र की सुरक्षा और सुव्यवस्था। इस दुनिया में हर तरह की अनेकताएँ हैं। ये अनेकताएँ आपस में टकराएँ नहीं और हिंसा यदि अनिवार्य हो तो सीमा में रहे—इसके लिए वैधानिक मर्यादाओं का निर्माण किया जाता है। वे मर्यादाएँ होती हैं, अनैक्य 'पर', और ऐक्य 'के लिए'। राष्ट्र ने इस बार, चाहे तो निषेध की घोषणा के लिए ही हो, एक अभूतपूर्व ऐक्य दिखलाया है। इस सम्बन्ध में उत्तर और दक्षिण के मत चित्रों को बीच में न लाया जाए। निश्चय ही उससे राष्ट्र को खण्डित बना मान लेना भारी भ्रम पोसना है? राजधानी दिल्ली उत्तर में है और वहाँ से चलनेवाले अनाचार के भोग का अनुभव भी उत्तर को विशेष मिला है। अन्यान्य कारण भी हो सकते हैं। पर राष्ट्र एक है, अमोघ है, गाँधी-युग के बाद यह पहली बार प्रत्यक्ष हुआ है। इस घोष को अब चुनौती नहीं दी जा सकती है।

नयी सरकार को देश को दलगत भावना से ऊपर लाना है। किसी दलीय हठवाद से, धमकी से, उसे अपनी दायित्व यात्रा में ठिठक नहीं रहना है। जनता पार्टी का निर्माण कई दलों के विसर्जन से हुआ है। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का

भी निर्माण आदि से जनतान्त्रिक ही रहा था। यह तो इन्दिराजी की नीति थी कि काँग्रेस जनतान्त्रिक से ऐकान्तिक हो चली। जनता पार्टी गाँधी की साक्षी में शपथ लेकर आयी है तो उसे राष्ट्र को दलीयता से उबारकर राष्ट्रीयता में संप्रतिष्ठ करने तक बीच में कहीं रुकना नहीं है। तरह-तरह की राजनीतिक चालबाजियों से रास्ते में उसे मुठभेड़ लेनी होगी। पर मोरारजी की विशेषता है कि वे चालबाज नहीं हैं। अब तक की राजनीति में यही उनका दोष बना हुआ था, पर पता चल गया है कि वैसी राजनीति भारत में नहीं चलेगी। अब भारत को उधार नीति पर नहीं चलना है, उसे अपनी आत्म-नीति का आविष्कार कर लेना होगा और मजबूत कदमों से दृढ़ होकर उसी मार्ग पर बढ़ते जाना होगा।

और बड़ा भरोसा है इस घटना का कि शासन के सब पदों से दूर भारत में एक जयप्रकाश नारायण हैं जो अचूक भाव से सही दिशा का देसाई सरकार को संकेत देते रहनेवाले हैं। साथ उनके आचार्य कृपलानी हैं जो गाँधी-विचार के परखे हुए पारखी हैं। हमें विश्वास है कि सब प्रकार की पदस्थता से रहित ये दोनों व्यक्ति स्वयं अपने हृदयस्थ गाँधी से अपने हर काम के लिए मार्ग निर्देशन प्राप्त करते रहेंगे। गाँधी का भारत ही होगा जो विश्व को नया प्रकाश और विकसित लोकतन्त्र के निर्माण की सूझबूझ दे सकेगा।

[अप्रैल, '77]

राजनीति : विसर्जन की ओर?

इधर दो घटनाओं ने राष्ट्रव्यापी चिन्ता पैदा कर दी थी। नौ राज्यों की विधानसभाओं के भंग के जनता सरकार के निर्णय पर कार्यवाहक राष्ट्रपति काँग्रेसी दबाव के कारण दस्तखत करने में ठिठके रह गये। सरकार ने सख्ती का रुख दिखाया तब हस्ताक्षर हुए। सी.एफ.डी. के जनता पार्टी में विलीनीकरण में अनिश्चय रहते जाने के कारण भी देश में काफी क्षोभ था। चारों दल जो जनता पार्टी के नाम पर संयुक्त हुए थे, विधिवत उसमें अपने को विलीन कर चुके थे। सी.एफ.डी. का अब रस्मी विलय ही शेष है, यों उसके विसर्जन का भी निर्णय हो चुका है। चलिए, अन्त भला सो सब भला।

पर ये दोनों घटनाएँ गहरी सूचक हैं—सूचक विरोधी और प्रतिस्पर्धी राजनीति की और इससे आगे भी आनेवाली कठिनाइयों की।

राजनीति की भूमि स्वभावत: स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा की होती है। प्रतियोगिता में पक्ष मानो हर पग पर बल परीक्षण के लिए उद्यत रहते हैं। परिणामत: राजनीति का क्षेत्र सदा ही अस्थिर देखा जाता है। वहाँ कब ताप और उत्ताप हिंसा का रूप ले उठें, कहा नहीं जा सकता। नीचे से हिंसा अनियन्त्रण और उत्पात की, और ऊपर से दमन और दण्ड की—राजनीति की यह प्रवृत्ति सब कालों और सब देशों में समान ही रही है।

विकास के साथ लोकतन्त्र की धारणा का निर्माण हुआ और माना गया कि इसमें राजनीति को नया मोड़ मिलेगा। संविधान बने और आवश्यक हुआ कि शासन के ऊपर शासितों की ओर से भी कुछ मर्यादाएँ लागू हों। यानी अधिकार शासन पक्ष के हों तो उसके समक्ष विरोध-पक्ष का भी कुछ अधिकार रहे। ऐसे संविधान पक्ष-विपक्ष दोनों को मर्यादाओं के नियमन में रखेगा और राजनीति की अस्थिरता में भी कुछ स्थिरता आ सकेगी।

प्रयोग यह चल रहा है और शक्ति का हस्तान्तरण कई देशों में शान्ति और सुविधा के साथ हो जाता रहा है।

इन देशों में भी भारत का अनुपम स्थान माना जाएगा। यह अनुपमता भारत

को मिलेगी महात्मा गाँधी के कारण। राजनीति में, जनतान्त्रिक राजनीति में भी, अधिग्रहण को मूल्य के तौर पर स्वीकार किया जाता है। तुम (उनचास) 49 रह गये हो, हम (इक्यावन) 51 बन गये हैं। इसलिए तुम अपदस्थ और हम पदस्थ। हर हालत में सत्ता का पद काम्य बना रहता है और पक्ष-विपक्ष में भी उसी को लेकर सदा ठान ठनी रहती है।

गाँधीजी ने पहली बार राजकारण में एक नूतन तत्त्व को दाखिल किया। वह तत्त्व था अहिंसा। उसके कारण अधिग्रहण के आग्रह का स्थान विसर्जन के मूल्य ने ले लिया। गाँधीजी अफ्रीका से आये और भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस के लिए सर्वथा वे नये थे। जिस नीति से वह देखते-देखते काँग्रेस के, साथ देश के, एकच्छत्र नेता बन गये, वह जानी-मानी राज की नीति नहीं थी, बल्कि वह धर्म की नीति थी, आत्म-विसर्जन की नीति थी। उसमें लिया नहीं जाता, सब दिया और होमा जाता है। गाँधी-परम्परा स्वराज्य के बाद भी बहुत अंशों में कायम रही, यद्यपि काँग्रेस गाँधीजी के परामर्श का अंगीकार नहीं कर सकी थी कि वे राजनीति का मार्ग अब छोड़ें, सेवा-मार्ग अपनाएँ, तो भी नेहरू और पटेल अन्त तक अपने बीच घोर प्रकृति-भेद होते हुए भी परस्पर में समावेश सिद्ध करते रहे। इस परम्परा में पहली बार भंग पड़ा जब इन्दिरा गाँधी के कारण काँग्रेस को फटकर दो टूक हो जाना पड़ा। यह प्रवृत्ति इन्दिरा काल में इतनी बढ़ी कि मानो काँग्रेस में से समावेश की शक्ति ही लुप्त हो गयी। उसका जनतान्त्रिक रूप ही खतरे में पड़ गया। काँग्रेस संस्था से भी अधिक केन्द्रीयकरण स्वयं काँग्रेसी सत्ता में हो चला।

इस स्थिति में ही आम चुनाव आ गया। प्रधान मन्त्री (इन्दिराजी) को भरोसा यह था कि चुनाव में खतरा जब कि है नहीं, तब निश्चय है कि उनकी राजशैली को अतिरिक्त जनतान्त्रिक समर्थन मिल जाएगा।

पर दमन में से यह परिणाम न आया है और न आ सकेगा। मानव प्रकृति के मूल में ही अन्तिम कुछ है जो निर्दलित हो सकेगा नहीं। मनुष्य मनुष्यत्व से विहीन, चाहे तो भी, नहीं बन सकता है। कौन तानाशाह अपनी अधीनता कायम कर पाया है! वह विफलता स्वयं शक्ति के तर्क में बीजवत समायी हुई है।

किन्तु इस चुनाव ने राजनीति में गाँधी परम्परा को फिर से जिला दिया। देखा गया कि राजनीति में कितनी भी अपनी खींचतान हो, पर विसर्जन का तत्त्व भी वहाँ उदित हो सका है। निर्वाचन से पहले माना जा सकता था कि जनता पार्टी में चारों घटक अपने-अपने स्वार्थों को लेकर सम्मिलित हुए हैं। पर अब यह विलयन और विसर्जन जो हुआ है, उसमें उन चारों को और साथ पाँचवें सी.एफ.डी. को भी अपनी अस्मिताओं की आहुति दे देनी पड़ी है। निश्चय ही एक युग के बाद भारत की राजनीति ने विसर्जन की नीति की दिशा में यह नया

मोड़ लिया है और यह अत्यन्त शुभ लक्षण है!

पर शासन को विसर्जन से मिलाए रखना बेहद दुर्वह कार्य है। यह एक तपश्चर्या है। राजा क्या तपस्वी हो सकता है? अपने शास्त्र कहते हैं कि हो सकता है। अँग्रेजी की कहावत उलटी है और गलत भी नहीं है `Power Corrupts'। राजशक्ति की इस Corruption की क्षमता की चुनौती को जनता-मन्त्री झेल ले गये तो बड़ी बात होगी। श्री मोरारजी भाई के नेतृत्व में यह असम्भव नहीं होना चाहिए। लेकिन... ?

[मई, '77]

दलगत भाव : लोकतन्त्र का जोखिम

हाल के चुनाव से भारत के लोकतन्त्र की प्रतिष्ठा बढ़ी है। उससे देश में एकता आयी और कई पार्टियाँ अपने को विसर्जित कर एक सम्मिलित जनता पार्टी के रूप में उदित हुईं। जनता पार्टी के हाथ में अब राज की बागडोर है और नौ की जगह एक साथ चौदह राज्यों में विधान सभाओं का चुनाव होनेवाला है।

आशा की जाती है कि धीरे-धीरे भारत में भी क्रमशः दो पार्टियों की जनतन्त्र प्रणाली उदय में आ जाएगी। काँग्रेस की तैयारियाँ हैं कि सभी सीटों पर वह अपने प्रतिनिधि खड़े करेगी। पर साफ है कि काफी लोग उससे अपना सम्बन्ध तोड़कर जनता में आते जा रहे हैं और कदाचित बची-खुची काँग्रेस संस्था द्विदल प्रणाली तक पहुँचने में राष्ट्र को पर्याप्त सन्तुलन न दे पाएगी।

माना जाता है कि निर्वाचन-प्रणाली प्रजातन्त्र का मूल लक्षण है। इस अर्थ में रूस जैसे देश यह मान सकते हैं कि उनके जन-प्रतिनिधि लगभग शत-प्रतिशत मतों से चुने जाते हैं, इसलिए सबसे सही और प्रबल जनतन्त्र उनका है। पर दूसरे लोग इस एक पार्टी प्रणाली को डिक्टेटरशिप का नाम देते हैं।

मान लीजिए कि विधान सभाओं में जनता पार्टी के प्रतिनिधि बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित हो जाते हैं। यहाँ तक कि विरोध पक्ष नगण्य बनकर रह जाता हैं, तो क्या उस स्थिति में भारतीय जनतन्त्र को आदर्श लोकतन्त्र माना जा सकेगा? समक्ष यदि प्रतिशत न हो, तो राजपक्ष को अपनी मनमानी से रोक सके और व्यवस्था को सन्तुलित रख सके, तो भी क्या उसे स्वस्थ जनतन्त्र कहा जा सकेगा?

हम यह भी देखते हैं कि दो या अधिक दलों के क्षेत्र में रहने के कारण राजनीतिक स्थितियाँ अस्थिर बनी रहती हैं। लोकमानस अपने-अपने नागरिक, गुटीय, सामुदायिक, साम्प्रदायिक, वर्गीय और क्षेत्रीय आदि अधिकारों के प्रति इतना सावचेत हो उठता है कि अपने कर्तव्यों के प्रति उपेक्षाशील हो चलता है। अधिकारों के लिए आन्दोलन होते हैं और तरह-तरह के तनावों से समाज चहका-सा रहता है। रचना और निर्माण का काम स्वार्थों से रंग जाता है और राष्ट्र-चरित्र गिरने लग जाता है। दलों के द्वन्द्व में मानव मूल्य शिथिल पड़ते हैं और दल के समक्ष

मनुष्य मूल्यहीन हो रहता है।

यह स्वीकार करना होगा कि जनतान्त्रिक व्यवस्था ही सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत व्यवस्था है। कारण, वहाँ शासक और शासित का भेद नहीं रहता है। समाज में आत्मानुशासन का भाव जाग्रत होता है और हिंसा की उपयोगिता, समाज की सुरक्षा और सुव्यवस्था के निर्मित लगातार कम होती जाती है। सिद्धान्त रूप से यह ठीक मानकर भी उसके यथार्थ को देखते हुए आवश्यक जान पड़ता है कि लोकतन्त्र की संरचना, उसकी सम्भावना और भवितव्यता के बारे में गहराई और गम्भीरता से विचार किया जाए।

आम अनुभव है कि जनता पार्टी की जीत के बाद नीचे से आपाधापी बढ़ती आ रही है। अपराध की रेखा ऊपर चढ़ रही है। कीमतें उछलती जा रही हैं। जनता पार्टी में विसर्जित होनेवाले दल अपने-अपने लिए अधिक-से-अधिक सीटों का दावा कर रहे हैं और आत्म-विसर्जन में से जो अभीष्ट एकता प्राप्त हुई थी, उसमें दरारें पड़ रही हैं।

जनतन्त्र के प्रयोग जो हुए, अधिकांश विफल रहे। अनेक देशों में उनका स्थान सैनिक तानाशाही ने ले लिया। यद्यपि बाद में प्रयत्न भी अवश्य रहा कि वह नागरिक राजशाही का रूप ले सके।

सच यह है कि समूचे राजनीतिक दृष्टिकोण को ही नये सिरे से परखना होगा। जनता पार्टी तो गाँधी के मार्ग की शपथ लेकर ही आयी है। उधर काँग्रेस की अखिल भारतीय सभा की बैठक में शुरू में केवल महात्मा गाँधी की तस्वीर देखी गयी। यह तो बहसा-बहसी के बाद हुआ कि जवाहरलाल और इन्दिरा गाँधी भी उनके दायें-बायें बिठाए गये!

तो इन गाँधी का कहना था कि जो अन्तिम मनुष्य है, सही और सच्ची व्यवस्था में विचार के लिए वही प्रथम पुरुष होगा। लोक मानस राजनीतिक बनता है तो परिणाम उलटा आता है। तब निगाह चोटी पर अटकती है और नीचे उसके जो पिसा और पिचा हुआ व्यक्ति है, उसका बोझ बढ़ता ही जाता है। सूक्ष्मता से देखें तो इस व्यवस्था के शरीर में हिंसा का मूल्य व्याप्त हुआ रहता है, और वही अन्त में युद्ध और उसकी तैयारियों की ओर मानव जाति को ठेलता रहता है। बुनियादी काम इसलिए समाज में, और अनिवार्य संघर्षों में भी, अहिंसा के मूल्य की प्रतिस्थापना है।

गाँधी के बाद आशा थी कि सर्वोदय आन्दोलन इस मूलभूत आवश्यकता को पहचानेगा और राजनीतिक गाँधी के साथ-साथ आध्यात्मिक गाँधी को जीवन्त रखेगा। आश्चर्य का विषय है कि सर्वोदय सेवक, जो हाल में बम्बई में एकत्र हुए, वे ऊपरी राजनीतिक द्वन्द्व के प्रति तो सचेत रहे, पर दूसरे, और उससे कहीं

अधिक गहरे, आयाम के बारे में जाग्रत नहीं दिखाई दिये। संघर्ष की राजनीति अहिंसा के मूल्य से विहीन बनेगी तो समाज और राष्ट्र को खा जाएगी। तब भारत की गुटनिरपेक्षता भी संदिग्ध बनेगी और उसकी लोकतन्त्रता भी खतरे से खाली नहीं हो पाएगी।

[मई, '77]

प्रश्न नहीं, महा प्रश्न

नये निर्वाचन के परिणाम से प्रतीत हुआ था कि भारत ने शान्त क्रान्ति कर दिखायी है। इसमें अत्युक्ति भी न थी। पर उस क्रान्ति को क्या सिर्फ राजकीय-भर रह जाना था? एक दल गया, दूसरा दल आ गया। क्या मात्र उतना ही उसका आशय होना था? दीख कुछ ऐसा ही रहा है। मूल्य क्रान्ति का तत्त्व तनिक भी इस राज-परिवर्तन में खोज पाना कठिन है।

क्रान्ति कुछ सचमुच हुई समझी जाती अगर यह प्रतीति लोगों के मन में उतर पाती कि शक्ति ऊपर दीखनेवाला सत्ता के पदों में नहीं है, वह जनता के अपने हाथों में है। पर राज्य विधान सभाओं के लिए टिकट पाने की जो भद्दी होड़ दिखाई देती है, उससे लगता है कि लोगों की निगाह बुनियाद की तरफ सही तौर पर मुड़ नहीं पायी है। निगाह अब भी वहीं पर टिकी है जहाँ असली शक्ति तो है नहीं, मात्र कृत्रिम और औपचारिक शक्ति है। जिसने वह शक्ति सौंपी है अगर वह सामान्य नागरिक अपने को अशक्त और असहाय अनुभव करता है, और सरकारी विधायक और नौकर का ही आसरा तकने लगता है, तो इसमें दृष्टि का मूलभूत अन्तर क्या हुआ?

श्री जयप्रकाश नारायण सम्पूर्ण क्रान्ति की बात कहते थे। अब भी कहते हैं। उनके द्वारा उठाए गये आन्दोलन की दिशा वही होनेवाली थी। अब गहराई के साथ सोचने की आवश्यकता है कि उनकी जनता पार्टी के उदय और विजय के बाद भी यह स्थिति क्यों है कि टिकटों के पीछे स्वयं जनता पार्टी के बिखरने का खतरा पैदा होता दिख रहा है? स्वयं सर्वोदय के लोगों में टिकटों की माँग ही नहीं जिद तक है। अगर हाल यही रहा, मनुष्य नीचे और कुर्सी ऊपर रही, तो क्या माना जा सकेगा कि जयप्रकाशजी और उनकी जनता पार्टी गाँधी को तनिक भी फिर से जिला सके हैं? गाँधी ने प्रतिरोध में जितने आन्दोलन उठाए, सबका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि शक्ति का आभास पद से हटा और यथामात्रा नागरिक के पास आया। मनुष्य का अपने सम्बन्ध में विश्वास बढ़ा और उसने अनुभव किया कि उसका भाग्य ऊपर से नहीं बनेगा, अपने खुद के बनाने से ही बन सकेगा।

चुनावों में खूब पैसा खर्च होता है। इस बार विस्मय घटित हुआ कि इन्दिरा काँग्रेस की ओर से बेहद रुपया बहाए जाने पर भी नतीजा उलटा आया। फलत: मालूम हो आया कि राजसत्ता और अर्थसत्ता के मुकाबले कोई दूसरी सत्ता भी है जो उनसे बढ़ करके सिद्ध होती है, उसे लोकसत्ता कहिए। चाहे तो नैतिक सत्ता कहिए। हर मनुष्य के भीतर कुछ है, जो सांसारिक प्रलोभनों से परास्त नहीं होता। वह उसका अन्त:करण है, उसकी आत्मा है। मनुष्य की उस आत्मसत्ता का आज क्या हाल है? उसे भूलकर, उसके भरोसे को मिथ्या जानकर, अगर वह टिकट के लिए मन्त्रियों की कोठियों का चक्कर लगाने में ही अपने भाग्य का निपटारा देखता है तो इस स्थिति को क्या कहिएगा? क्या उसे क्रान्ति कह पाइएगा?

गाँधी के बाद गाँधी नीति का उत्तराधिकार सर्वोदय और सर्वसेवा संघ ने सँभाला। सर्वोदय ने गौरव माना कि उसने इन्दिराजी की इमरजेंसी को गिराया और मोरारजी भाई की गाँधी सरकार को सत्ता के आसन पर पहुँचाया। गर्व की बात यह हो भी सकती थी, पर यहाँ और सरकार के सम्बन्ध के विश्लेषण में जाने की आवश्यकता है।

स्वराज सरकार दिल्ली में बनी और महलों में उसका लम्बा-चौड़ा सेक्रेटेरिएट जमा। पर गाँधी का अस्तित्व, उसके प्रतिरूप, अपने में स्वल्प से स्वल्पतर होता गया था। अपने प्रति गाँधी की सख्ती इतनी बढ़ी कि सहायकों का परिकर भी उसमें छूटता गया। दिल्ली पत्थर की थी तो उनकी सेवा ग्राम की कुटिया घासफूस की थी। इससे हर भारतवासी को और सारी दुनिया को भी प्रकट होता गया कि असली सत्त्व कहाँ है। तमाम विश्व और मानव-जाति के समक्ष जैसे एक नया और सम्यक दर्शन स्पष्ट हुआ। यह दर्शन कि साम्राज्य की सत्ता कितनी भी प्रचण्ड हो, पर वह भौतिक है, इसलिए तुच्छ है। उस सत्ता के आगे जो आत्मिक, इसलिए नैतिक है, वह सत्य है। उस सत्य के सम्यक दर्शन का आज क्या हाल है? क्या वह आज ध्वस्त हुआ और धूल में लिथड़ा पड़ा नहीं दिखता है?

यह प्रश्न है जिसका सामना भारत को करना है। उन सबको करना है जो गाँधी का नाम लेते हैं और उन्हें फिर से जीता हुआ देखना चाहते हैं।

भारत कोई अलग-थलग नहीं है। वह दुनिया का भाग है। अमेरिका के राष्ट्रपति श्री कार्टर अभी यूरोप की चोटी की दो बैठकों से लौटे हैं। मालूम होता है कि युद्ध की तैयारियाँ आगे कुछ और वेग पकड़ेंगी। उधर पोलैण्ड की राजधानी बारसा में विश्व शान्ति परिषद भी बड़े पैमाने पर हुई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पोलैण्ड मास्को की पंक्ति का कम्युनिस्ट देश है। इससे अनुमान हो सकता है कि महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा के बीच में विश्व की स्थिति क्या है? भारत यों गुटनिरपेक्ष देश है, पर क्या वह स्थितियों का मात्र आखेट ही रहनेवाला है,

या कि भारत के पास से कुछ इस चुनौती का उत्तर भी जा सकता है? क्या गाँधी का उत्तर जा सकता है? गाँधी के जमाने में सबने माना था कि वर्तमान राजनीतिक सभ्यता के संकट का उत्तर यदि है तो वह एक गाँधी है।

क्या गाँधी की शपथ लेकर आयी देसाई सरकार और गाँधी को राष्ट्र पिता के रूप में स्वीकार करनेवाला भारत राष्ट्र प्रश्न को इस गहराई पर लेगा और उसके उत्तर की ऊँचाई तक उठने का यत्न करेगा?

[मई, '77]

राजनीति, राष्ट्र नीति, मानव नीति

राज्य राष्ट्र नहीं है। इस स्पष्ट बात को बार-बार दुहराने और याद रखने की आवश्यकता इसलिए पड़ती रहेगी कि राष्ट्र के नाम पर राज्य ही सामने होने को रह जाता है। राष्ट्र स्वयं में राजनीतिक से आगे एक सांस्कृतिक घटक भी होता है। जो भारत इतिहास की सब ऊँच-नीच में से सहस्रों वर्षों से अक्षुण्ण और अखण्ड रहता आया है, वह सांस्कृतिक भारत है। भौगोलिक भारत में कभी काबुल तक था, आज लाहौर भी नहीं है, तो इससे भारत की आत्मिक अस्मिता में अन्तर नहीं आ गया है। देशों की सीमान्त रेखाएँ बदल सकती हैं, राज्य में और राजनीति में उलट-फेर आ सकता है। पर राष्ट्र स्थायी सच्चाई है। राजनीति को ही राष्ट्र नीति मानकर चल देने में इसलिए बड़ा खतरा है।

राज्य के अधिकारों के पदों पर पहुँचने और रहने की नीति को राजनीति समझा जाता है। इस तरह उस तल पर सदा ही टूटन और बिखरन दीखती रही है और दिखती रहेगी। जो राष्ट्र राजनीति पर ही अपना दारोमदार रखेगा, अपनी संस्कृति और आत्म नीति के बारे में सचेत और सावधान न रहेगा, वह अस्थिर ही रहेगा। उसका स्वस्थ, सुस्थिर आत्म रूप उबर नहीं पाएगा, न वह इसलिए विश्व में गणमान्य हो सकेगा।

गत लोकसभा के आम चुनाव ने एक बार स्पष्ट कर दिया था कि राजनीति की अनीति को भारत कभी स्वीकार नहीं करेगा। यह भारत का आत्म-मन्तव्य इस दृढ़ता से प्रकट हुआ कि विश्व चकित रह गया। राज्य की अनीति के विरोध ने राष्ट्र को अभूतपूर्व एकता दे डाली। किन्तु अब विधान सभाओं के आसन्न-निर्वाचन पर फिर वही राजनीति की लीला चल निकली है और राज्याधिकार में अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने की हविस ने उस एकता को मानो छिन्न-भिन्न कर डाला है।

कारण क्या यह न माना जाए कि विरोध के आन्दोलन में राष्ट्र के सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष की उपेक्षा बरती गयी और सारे आन्दोलन की निगाह सत्ता पर अटका दी गयी थी। मुट्ठी भर हैं जो सत्ता पर पहुँच सकते हैं। करोड़ों-करोड़ों

देशवासियों की निगाहें भी अगर हठात वहीं टँगी रहेंगी तो रचनात्मक भारत का क्या होगा? क्या वे करोड़ पाँच-सात वर्षों में एक बार अपना मत देकर अपने माने गये नेताओं के नीचे उसी प्रकार मूक और पंगु बने रह जाएँगे? यदि भारत के लोकतन्त्र के इस नये प्रयोग का चरितार्थ भी इतना ही रहता है तो उसका भविष्य आगे के लिए कैसे उज्ज्वल बन सकेगा?

राजनीति का एक सूत्र है अवसरवाद। उसको लेकर जल्दी-जल्दी गिरोह इकट्ठा और गठित हो जाता है। पर इसमें चरित्र का क्षय होता है। जिसके लिए व्यक्ति-चरित्र असंगत ठहरे, वह राजनीति लोकतान्त्रिक नहीं हो सकती; अर्थात् सच्चे लोकतान्त्रिक विकास के लिए दलीय पद्धति उतनी उपयोगी अन्त तक नहीं ठहरेगी। दलीय लोकतन्त्र का रूप पश्चिम से हमें प्राप्त हुआ है। पश्चिम में सम्भव हो सकता था कि आर्थिक दृष्टि नैतिक पर विजय पा जाए, पर भारत के लिए यह असम्भव है। उसका समूचा इतिहास दूसरा है। भारत कभी आक्रमणशील नहीं हुआ। भौतिक यहाँ नैतिक पक्ष पर हावी नहीं हो पाया। यहाँ की सामाजिक संस्थाएँ स्वायत्त बनी रहीं और राज्य को समग्र (टोटल) रूप कभी नहीं मिल पाया। राष्ट्र की नीति मानव नीति से कभी निरपेक्ष नहीं हो सकी। सन्त-साधुओं और ऋषि-मुनियों से देश को सदा सही मूल्य-दर्शन मिलता रहा। राजा के लिए आवश्यक रहा कि वह इन नीति-निर्णायकों के समक्ष झुका रहे।

पश्चिम युद्धों से पार नहीं पा सका है। इसलिए युद्ध की कला का जितना विस्तार और विकास वहाँ देखा जाता है, उतना कहीं और सम्भव नहीं है। शीत युद्ध की विभीषिका से कौन अपरिचित है! अभी अमेरिका के राष्ट्रपति श्री कार्टर ने क्रेमलिन को चेतावनी दी है। तैयारी दोनों खेमों में इतनी तेजी पकड़ रही है कि क्या होगा, नहीं कहा जा सकता। यह परिणाम है इसका कि राजनीति ने उन देशों की राष्ट्र नीति को छा लिया है और उन महाशक्तिशाली देशों की राष्ट्र नीति ने मानो समूचे विश्व की मानव जाति की नीति को ही ग्रस लिया है। जैसे स्वतन्त्र मानव नीति जैसी कोई वस्तु ही न हो। स्पष्ट रहे कि मानव जाति एक परिवार है, उसे एक परिवार होना है। अवश्य उसकी व्यवस्था में राष्ट्र अनेक हैं, अलग हैं, और सभी अपने में प्रभुता-सम्पन्न हैं। लेकिन अपनी-अपनी सम्पूर्ण स्वाधीनता के बावजूद विज्ञान और व्यवस्था-व्यवसाय आदि की विवशताएँ उन्हें निकट ला रही हैं और विश्व को एक बना रही है। ऐसी घड़ी में यदि आदमी के पास राज की नीति ही एक मात्र नीति रही और समय रहते सहयोग और सद्भाव की मानव नीति उसका स्थान नहीं ले सकी तो पता नहीं, प्रलय कब तक टाला जा सकेगा!

गाँधी ने भारत में यह काम करके दिखाया था। राजनीति को राइट-लेफ्ट के दल-द्वन्द्व से उठाकर राष्ट्र नीति का अनुगत बनाया था और राष्ट्र नीति को

मानव नीति से सापेक्ष रखने की दिशा में भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस को दीक्षा दी थी।

गनीमत है कि भारत के प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई हैं जो प्रश्न के इस पहलू के प्रति जाग्रत हैं। अब तक उनका रिकॉर्ड उज्ज्वल रहा है। आशा है, इस नये चुनाव के बाद दल-द्वन्द्व की धूल शनैः-शनैः बैठेगी और भारत विश्व में गाँधी दर्शन का अपने में एक दृष्टान्त बनकर दिखा सकेगा।

[मई, '77]

दलवादी नहीं, दृष्टि जनवादी

उड़ीसा निर्वाचन में जनता पार्टी की ओर से श्रीमती नन्दिनी सतपथी खड़ी हैं तो मुकाबले में श्रीमती मालती चौधरी हैं जो सर्वोदय की जानी-मानी कार्यकर्त्री हैं। श्री जयप्रकाश नारायण ने अपना समर्थन मालतीजी को दिया है, जब कि जनता पार्टी के सब नेताओं का आग्रह नन्दिनी सतपथी के पक्ष में ही है।

यह घटना गहरी सूचक है। ऐसे मतभेद आगे भी आएँगे और अनेक आएँगे। कारण, यह व्यक्तियों का नहीं, दृष्टियों का भेद है।

श्री जयप्रकाश नारायण का कहना है कि जनभावना का आदर करते हुए नन्दिनी सतपथी को चुनाव से हट जाने की सलाह मिलनी चाहिए। इसको जनवादी दृष्टिकोण कह सकते हैं। प्रतिपक्ष में दृष्टिकोण दलवादी है और उसके लिए आवश्यक बस यह है कि दल ही विजयी हो। उसके लिए इस या उस व्यक्ति का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है आगामी दल की सरकार बनाने का। इसमें आदमी अच्छा नहीं, अपना चाहिए। प्रत्याशी की पात्रता का पैमाना ही वहाँ नैतिक से अधिक लौकिक हो जाता है। उस सिद्धान्तवादी व्यक्ति का हमें क्या करना है, जिसका भरोसा उतना भी नहीं हो सकता है कि वह दल का अनुशासन मानेगा और सदा उसी के हक में हाथ उठाएगा!

यह दो दृष्टियाँ, नैतिक और लौकिक, परस्पर को चुनौती देती हुई चलती रही हैं, और आगे भी चलेंगी। राजनीति को जब तक राज्य (करने) की ही नीति रहना है तब तक दल-संघटन की कला को सर्वाधिक महत्त्व मिले बिना न रहेगा। इस दलीय पद्धति में मनुष्य का अपना मूल्य कम होगा। यह नहीं देखा जाएगा कि वह कितना चरित्रवान है। देखा यह जाएगा कि वह कितना मूल्यवान है, अर्थात् समाज-मूल्य ही चारित्रिक और नैतिक की जगह व्यावहारिक और लौकिक होता जाएगा।

यह समस्या जल्द निबटनेवाली है नहीं। समस्या यह जागतिक है और जीवनव्यापी है। विनोबा आध्यात्मिक और नैतिक के आग्रह में यहाँ तक पहुँचे हैं कि मान बैठे कि संगठन मात्र हिंसा पर आधारित है। गाँधीजी ने कहा था कि

संगठन अहिंसा की कसौटी है। आदमी को यदि अपने प्रति सच्चा होना है तो संगठन की प्रतिबद्धता उससे कैसे निभ पाएगी? किन्तु अकेला रहकर आदमी सोच सकता है, भावना रख सकता है और कल्पना भर सकता है। पर कर्म तो मिल-जुलकर ही होता है। जो पवित्र हैं और एकाकी हैं, उनका समाज बनाए तो क्या बनाए? उन्हें वह प्रणम्य अवश्य मान लेगा, पर उससे आगे किसी गिनती में नहीं लेगा।

यह कठिनाई पार होनेवाली नहीं है। सन्तजन राजनीति से विमुख रहते आये हैं। पर इससे राजनीति जीवन के लिए अनावश्यक नहीं हो गयी है। मनुष्य इस शर्त पर नहीं जी सकता कि वह भला-ही-भला हो। यह भी संदिग्ध है कि सर्वथा भला होना सम्भव भी है। आदमी में गुण के साथ दोष भी न हो तो पुरुषार्थ की आवश्यकता ही उसके लिए न रह जाए। इसलिए इस जगत में गुण-दोष का विग्रह देखने में आता है और इसी में से, क्या आध्यात्मिक और क्या सांसारिक, सबको अपनी जीवन-यात्रा चलानी होती है।

संगत प्रश्न यह है कि राजनीति को किस दिशा में बढ़ना और उठना है। लोकतन्त्र जो प्रचलित हैं, उन्हें सब कहीं दलीय आधार ही प्राप्त है। जे.पी. की स्थिति इस समय दलोत्तीर्ण है, यद्यपि भारत की जनता पार्टी का जनक उन्हें माना जा सकता है। पर इससे क्या होता है! मोरारजी भाई जो प्रधान मन्त्री और संसदीय दल के नेता हैं और चन्द्रशेखर जो दलाध्यक्ष हैं, वे स्वयं जे.पी. की सलाह सिर पर कैसे ले सकते हैं? सलाह नहीं मान सकते, लेकिन जे.पी. के परामर्श के साराशय से आगे-पीछे उन्हें मुठभेड़ अवश्य लेनी होगी। लोकतन्त्र को विकास पाते जाना है और अन्त तक यह पद्धति चलनेवाली नहीं है कि मतदाता केवल उन्हीं को मत दे सकें जिनकी नियुक्ति किसी केन्द्रीय दल द्वारा हुई है। यदि चुनाव की शैली यही रही तो मतदाता और उसके प्रतिनिधि के बीच वह आत्मिक और घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रहेगा तो लोकतन्त्र के बल के लिए बुनियादी आधार है।

अर्थात राजनीति को उस दिशा में उठना होगा जिसका परिणाम नीति का राज्य हो सके। गाँधीजी इसीलिए राजनीतिक शब्दावली को लाँघकर रामराज्य की ही बात दुहराते रहे। तन्त्र अपने में निर्दोष नहीं हो सकेगा। सदोष अथवा निर्दोष वह उसी मात्रा में होगा जिस मात्रा में पदस्थ और अपदस्थ के बीच समता और सौहार्द होगा।

जनता पार्टी में जनता की भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली। उसके लिए अवसर नहीं है कि वह संकीर्ण दलीय दृष्टि से राष्ट्र के प्रश्नों पर विचार करे। अभी वह परीक्षण के काल में है, लेकिन राष्ट्रीय से हटकर उसकी भूमिका दलीय

ही बनी रही तो जनता की आशाएँ निराशा में परिणत होंगी और तब जो न हो, थोड़ा है।

आखिर दल की परीक्षा होगी उसके व्यक्तियों से। व्यक्ति प्रामाणिक की जगह अवसरवादी उसमें दीखेंगे तो राष्ट्र का विश्वास वहाँ से हट जाएगा। इसलिए स्वयं यह दल के हित में है कि उसकी निष्ठा लौकिक से उठकर उत्तरोत्तर नैतिक होती जाए।

[जून, '77]

गरीबी का सवाल, नेहरू और गाँधी

गाँधी-नेहरू नाम एक साँस में लेने की आदत चली आ रही है। इन्दिरा काँग्रेस ने इस रिवाज को और मजबूत किया है। लेकिन जैसे-जैसे समय गुजरेगा, भ्रम नष्ट होगा। बल्कि जितनी जल्दी दोनों का अन्तर स्पष्ट हो, उतना शुभ हो।

विशेषकर उनमें दो ध्रुवों का-सा अन्तर है गरीबी के सवाल पर। गरीबी हटाओ का अभियान जोर-शोर से चलाया गया है नेहरू और इन्दिरा-राज्य में; पर गरीबी हटी नहीं है, बल्कि शायद बढ़ी है। इसमें शक है कि नेहरू-नुस्खे के प्रयोग से कभी गरीबी कट सकेगी।

गाँधी ने कहा कि भारत के मन्त्रियों को, राजदूतों को, अफसरों को, प्रतिनिधियों की हैसियत से इतर शेष भारतवासियों के जीवन मान से समान स्तर रहना चाहिए। पर नेहरू भारत की शान को नीचे नहीं आने देना चाहते थे। इसलिए उनके लिए आवश्यक था कि उनके मन्त्री, राजदूत और अफसर उस ढंग से रहें कि उनका रोब पड़े। उनको अगर काम करना है तो कैसे कर सकेंगे, अगर ऊपर से ही उनका प्रभाव न पड़े! इससे सरकारी खर्च बढ़े तो क्या हर्ज है! एवज में उसका असर भी तो बढ़ेगा।

साफ है कि सरकार अमीर होगी तो नागरिक को गरीब रहना होगा। लेकिन इन दोनों के बीच का यह सम्बन्ध नेहरू के लिए साफ नहीं हो पाता था। और उनके समय से अब तक देखा जा रहा है कि सरकारी अमला बराबर बढ़ता और फैलता जा रहा है और इसी हिसाब से खर्चीला होता जा रहा है। उसी अनुपात में सामान्यजन दीन बन रहा है!

दूसरे, उनका मानना था कि दौलत देश की बढ़ेगी तो गरीबी उसकी अपने-आप कम होगी। इसलिए उद्योग बढ़े और वे भारी-से-भारी होते गये। मानना होगा कि दौलत भी बढ़ी यानी अमीरी बढ़ी। लेकिन साथ-साथ गरीबी भी बढ़ती चली गयी और अमीरी-गरीबी के बीच की बढ़ती हुई विषमता में से तरह-तरह के सामाजिक रोग उपजे। उत्पादन के साथ अगर वितरण की प्रणाली को सँभाला

नहीं जाता है तो दूसरा क्या परिणाम आ सकता है?

गरीबी के प्रश्न पर गाँधी का रुख बिलकुल दूसरा था। उन्होंने अपने से गरीबी हटायी नहीं, बल्कि अपनायी। जिस चीज को अपने पास से वे संकल्पपूर्वक हटाते चले गये, वह चीज अमीरी थी। बैरिस्टर थे और खासी आमदनी थी। वह सब वे छोड़ बैठे। शब्द के पूरे अर्थों में वे अकिंचन बन गये। जरूरतें अपनी कम-से-कम कर दीं। कोशिश की कि अपने को घटाते-घटाते शून्य कर लें।

तो ये दो रास्ते हैं। गरीबी का डर आप अपने में रखते हैं और दूसरे में पैदा करते हैं तो दूसरे शब्दों में आप अपने में और दूसरों में अमीरी की चाह पैदा करते हैं। इसीलिए देखा गया कि जो गरीबी हटाने चले थे, उन्होंने शुरू में कम-से-कम अपनी गरीबी तो हटा ही ली। देखते-देखते हमारे काँग्रेसी नेता देश की गरीबी हटाने-हटाने में खुद मालदार बनते चले गये। क्या उनको सामने रखकर अधिकारपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि गरीबी सचमुच ही उनके पास से हट गयी है?

यह विडम्बना इस कारण हुई कि हमने गरीबी को नीचा माना और अपने को उसका उपकारी मानना चाहा। गाँधी ने ऊँची श्रेणीवालों को कहा कि तुम्हीं नीचेवालों पर सवार हुए बैठे हो। पहला काम यह है कि उतरो वहाँ से और देखो कि तुमने ही उन्हें नीचा बना रखा था। उनके प्रति तुमने जो पाप किया है, उसका तुम्हें प्रायश्चित्त करना है। उनके प्रति कुछ करते हो तो उपकार का दावा न रखना। वह तो तुम्हारा प्रायश्चित्त है।

हमारा-तुम्हारा नेता और व्यवस्थापक इसी जगह भूलता है। वह गरीब के सिर पर बैठकर उसे उठाना चाहता है। इस तरह जितनी कार्यवाही वह करता है, उससे धन तो पैदा होता है, पर वह सब धन जाकर धन से ही चिपक जाता है। परिणाम में धनिक और धनिक होता है तथा गरीब और गरीब हो जाता है।

नेहरू और इन्दिरा के जमाने के आर्थिक कार्यक्रम इस विषम चक्र को बढ़ाते ही चले गये। अब भी यदि राजनीति उसी अर्थनीति और अर्थदृष्टि के अधीन रही तो गरीबी का सवाल हल होने के बजाय और उलझकर विकट ही होता जाएगा। हम देश की गरीबी को नापेंगे आँकड़ों से और पाएँगे कि देश का धन जितना बढ़ता है, उतनी ही उस देश की निर्धनता भी बढ़ती जाती है। जब-जब धन को नापेंगे हम सामान की तरफ से और कोरा सामान बढ़ाते जाने में निर्धनता का उपचार देखेंगे तो हठात पाएँगे कि एक तरफ अभाव है तो दूसरी तरफ आसीयश और अतिशयता है और दोनों के बीच में कोई तारतम्य नहीं है। जाकर देखिए फाइव स्टार होटल और फिर आइए निपट देहात में, तो इस तुलना पर आप सिर पर हाथ मारकर रह जाइएगा। अब तक सरकारी स्तर से गरीबी के नेहरू-नुस्खों

को आजमाया जाता रहा और फल सामने है। क्या अब संकल्प और साहस होगा कि गाँधी के अपरिग्रह के औषध की ओर ध्यान जाए और उसका प्रयोग कर देखा जाए? भारत गुटनिरपेक्ष देश है। उसकी यह निरपेक्षता सम्भव नहीं रह सकेगी। उसको युद्ध की तैयारियों का जाने-अनजाने अंग बनना होगा, उसकी अर्थव्यवस्था विषम और अस्थिर तथा पर-निर्भर रहेगी अगर गाँधी को भुला दिया जाएगा और पश्चिम की नकल में राष्ट्र की अर्थदृष्टि को नीति-निरपेक्ष रहने दिया जाएगा।

[जून, '77]

धन पर जन की प्राथमिकता-1

भारत विकासशील देश होने से विकसित माने जानेवाले देशों के प्रति प्रार्थी है, यह धारणा हमने स्वीकार कर ली है, यद्यपि थोपी हुई है यह हम पर उन्हीं देशों द्वारा जो अपने को बढ़ा-चढ़ा मानते हैं। क्यों हैं वे बढ़े-चढ़े? और क्यों भारत उनसे हीन है? केवल इसलिए कि उनकी और हमारी निगाह में धन ऊपर है, जन नीचे है। उनके पास धन है, भारत के पास विपुलता जन की है। अगर जन किसी पद्धति से धन के ऊपर आ जाता है तो सम्भवतः भारत देश नीचे नहीं रह जाएगा, बल्कि धनाढ्य माने जानेवाले देशों से प्रथम उसकी गणना होने लग जाएगी। क्या यह सम्भव है?

मनुष्य जाति का प्रथम प्रश्न और प्रथम पुरुषार्थ यही होना चाहिए कि धन साधन के स्थान पर आये और साध्य का केन्द्र मनुष्य हो।

जिसको उद्योगवाद कहा जाता है, उसकी ही महिमा है कि मनुष्य मशीन के नीचे आ गया है। सचमुच मशीन की ताकत बहुत-बहुत-बहुत बड़ी है। लेकिन उस ताकत को 'हार्सपावर' के हिसाब से गिनना होता है यानी ताकत है अवश्य, पर मानविक नहीं, पाशविक है। वह ताकत जब तक प्रधान बनी रहेगी, तब तक उस बल से बली देश ही विश्व में प्रमुख बने रहेंगे। सबल और प्रबल वह होगा जिसके पास शस्त्रास्त्र की संहारक शक्ति प्रचण्ड होगी। उसका आतंक होगा और सब अपनी सुरक्षा के लिए उससे शस्त्र-सामग्री चाहेंगे, उसकी शरण चाहेंगे।

इस ढंग से विश्व की स्थिति दो महाशक्तियों की स्पर्धा के बीच तुली हुई है। इस सन्तुलन में अन्तर आया कि युद्ध की स्थिति बन आयी समझिए। इसलिए आज का सबसे बड़ा राजनीतिक अभीष्ट है कि ये दोनों शक्तियाँ समतुल्य रहें, सन्तुलन विचलित न हो। दुनिया के चोटी के राजनेताओं की कारगुजारी इसी में समा जाती है। सारे अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन उसी की रक्षा के विचार के नीचे मिलते और काम करते हैं।

भारत अपनी जनसंख्या की चिन्ता के नीचे बेचैन है यानी वह मान बैठा है कि आदमी उसके लिए धन नहीं, ऋण है। इस चिन्ता में आतुर बनी इन्दिरा

सरकार की ओर से संजय ने वह घनघोर काम किया कि नतीजा सारी इन्दिरा सरकार को भोगना पड़ा।

कारण यही कि जिस सभ्यता में हम जी रहे हैं, उसके केन्द्र में धन को ऐसा बिठा लिया गया है कि जन वहाँ से दूर कट गया है। इस अर्थकेन्द्रित, इसलिए शस्त्र-केन्द्रित सभ्यता को आगे-पीछे समाप्त होना होगा, अगर मनुष्य को अपने स्थान पर आना और आत्मनिर्माता बनना है। अभी उसकी चेतना और चिन्तना स्वाधीन नहीं, यन्त्राधीन है और वह नहीं सोच पाता है कि हर कुछ वर्षों के बाद उसे एक-दूसरे के विनाश में क्यों जूझना ही पड़ता है।

भारत में आयी जनता सरकार से प्रतीत होता है, इस चालू क्रम से हटकर अपनी योजना को मानवाभिमुख करना चाहती है। उसके गृह मन्त्री ने साहसपूर्वक कहा है कि नेहरू को प्रधान मन्त्री बनाने में गाँधीजी ने गलती की।

स्पष्ट है, नेहरू के सोचने की दिशा गाँधी से एकदम अलग नहीं, उलटी थी। फिर भी उनकी अहिंसा ने यदि उनसे नेहरू को स्वतन्त्र भारत का प्रथम प्रधानमन्त्री बनवाया, तो आशा थी कि भारतवासी के हित के नाते नेहरू दायित्व पाकर गाँधी का मार्ग अपनाएँगे। वह नहीं हुआ और अब तक नहीं हुआ। अब मानो सचेत भाव से जनता सरकार नेहरू-नीति को त्यागकर गाँधी-दृष्टि की ओर मोड़ लेना चाहती है।

मशीन से उत्पादन अधिक हो, लेकिन आदमी बेकार होता है। अगर बेरोजगारों की संख्या बढ़ती जाए तो उससे समाज और देश का खतरा भी बढ़ता है। बेरोजगार भार हो जाता है अपने लिए और सबके लिए। उसी के हाथ में काम आ जाए और वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके तो यही समाज के लिए उपयोगी और मूल्यवान बन चलता है। इसलिए व्यवस्था को सबसे पहले ध्यान यह रखना है कि प्रत्येक जन अपने में ही धन बन सके।

यह प्रश्न सिर्फ भारत देश का नहीं है। फैलकर यह समूची दुनिया का हो जाता है। दुनिया में इस समय उद्योगवाद की धुन है। वैज्ञानिक प्रदूषणों की बात कहते हैं। विचारक प्रकृति से अलगाव आदि के खतरे की बात बताते हैं, तत्त्वज्ञ सुझाते हैं कि आदमी उस कारण स्वयं अपने से अलग हुआ जा रहा है। वह बिखर रहा है और समाज का गठन टूट रहा है। परिवार, जो समाज को बाँधे रखता था, फट रहा है और मूल्यों की हानि हो रही है। मगर इन सब चेतावनियों के बावजूद उद्योगवाद अपने ही बल पर मानव जाति पर इस कदर हावी हुआ जा रहा है कि लगता है, किसी नये युद्ध का विस्फोट ही उसे इस सम्बन्ध में जगा सकेगा।

किन्तु युद्ध की सम्भावना ही दिल को दहला देती है। शस्त्र इतने संहारक

बन चुके हैं कि आगामी युद्ध में किसी की हार-जीत सम्भव नहीं होगी, सारी मानव-जाति को एक साथ स्वाहा हो जाना होगा।

हमारी आज की अर्थ व्यवस्था और समाज व्यवस्था परस्पर स्पर्द्धा और विद्वेष को जन्म देती है। कैसे हो कि सारा हमारा लोक-व्यवहार और कर्म-व्यवहार सहयोग और सामंजस्य को जन्म दे! कैसे हो कि हिंसा के उपकरणों के हाथ निर्णय न रह जाए और मनुष्य के अन्तिम निर्णय परस्पर परामर्श से हो सके? भारत में जनता शासन भी अन्त में शासन ही है। यह सांत्वना है कि गाँधी में उसने श्रद्धा व्यक्त की है और उसी मार्ग पर चलने का संकल्प प्रकट किया है।

बहुत बड़ी और इतिहास के लिए भी अद्वितीय बात यह हुई है कि जनता पार्टी ने अपने संविधान में स्वयं सत्याग्रह को वैध स्वीकार किया है। स्वयं शासक ने सिर्फ इस शर्त पर कि वह अहिंसक हो अपने ही प्रति विद्रोह को जायज ठहराया, यह एकदम अद्भुत घटना है! जनता शासन की अपनी समस्याएँ हैं और अन्दरूनी खींचतान है। आखिर भूमिका उसकी राजनीतिक है और नाना प्रकार की विषमताओं से उसे जूझना है। लेकिन अपनी पूर्ववर्ती काँग्रेस सरकार के विपरीत यदि उसने व्यक्ति, प्रेम और न्याय तन्त्र की स्वतन्त्रता का खुला ऐलान किया है तो यह साहसिक और सन्तोषजनक आरम्भ है, और अधिक सन्तोष की बात यह है कि देश की आर्थिक समस्या को वह शासन मनुष्य को विचार के केन्द्र में रखकर हल करना चाहता है।

[जून, '77]

धन पर जन की प्राथमिकता-2

जन और धन का सम्बन्ध अटूट है। हो सकता है कि कोई आत्म-शास्त्र व्यक्ति को धन से विमुख और उत्तीर्ण देखना चाहे, दूसरी तरफ अर्थशास्त्र अपने को स्वायत्त और निरपेक्ष रखना चाहे; पर इस आग्रह में दोनों ही अयथार्थ बने रहेंगे और जीवन्त नहीं हो पाएँगे, तो शरीर रहते मनुष्य को उसकी आवश्यकता रहेगी ही जो अनात्म है और जिसका प्रतीक पैसा है।

प्रश्न इनकी परस्पर सम्बद्धता का है। आज के दिन अर्थाभिमुख मनुष्य की पैदावार बढ़ रही है। उस मनुष्य की सारी जीवन-नीति ही अर्थोन्मुख है। केन्द्र में पोलिटिकल इकोनॉमी, बाकी सब परिधि पर। यह हाल सारी सभ्यता अर्थात सारे विश्व का है।

साफ है कि अर्थ आगे होता है तो मनुष्य पीछे रहता है। विकसित और सम्पन्न माने जानेवाले देशों में यह समस्या उत्कृष्ट बनी देखी जाती है। मनुष्य वहाँ साधन हुआ जा रहा है पोलिटिकल और वार-ए इकोनॉमी का। सबसे बड़ा उद्योग आज दुनिया में युद्ध का उद्योग है। शायद सारी मानव जाति की उपज और खपत के तीन-चौथाई का उपयोग उस दिशा में होता है। रचनात्मक सब कुछ मानो विध्वंसात्मक की पुष्टि के लिए है। मनुष्य की सफलता धनार्जन की क्षमता पर तौली जाती है; अर्थात धन मनुष्य को सार्थक करता है। अर्थहीन मनुष्य नितान्त व्यर्थ है।

यह विडम्बना इस कारण बनी है कि मनुष्य हमारे दर्शन के केन्द्र में से हट गया है और वहाँ पदार्थ जम बैठा है। परिणाम उसी का है कि मानव-मूल्य और नैतिक-मूल्य उखड़े जा रहे हैं। तमाम मानव-सम्बन्धों में स्पर्द्धा और प्रतिस्पर्द्धा व्याप्त हुई जा रही है। समाज फट रहा है और हरेक को अपनी-अपनी पड़ी है।

यदि विचार के केन्द्र में मानव आ जाता है तो प्रधानता उद्योग से हटकर कृषि और ग्रामोद्योग पर आ टिकती है। विज्ञान के उत्कर्ष से उद्योगों ने विराट रूप धारण किया और धन की प्रचुरता हुई। लेकिन उतनी ही भूख और गरीबी बढ़ती गयी। कारण, अन्न जो जीवन को धारण करता है, गौण पड़ गया और धन जो सामान बटोरता है, ऊपर आ गया; अर्थात ज्यों-ज्यों सम्पन्नता और सुविधा के उपकरण फैलते गये हैं, त्यों-त्यों बेरोजगारी भी फैली है। सम्पन्न और विपन्न के बीच की खाई उतनी ही चौड़ी होती गयी।

कहने को विकसित देश इस खाई को पाटना चाहते हैं पर हाल में ही विकसित और विकासशीलों की मिली-जुली कॉन्फेरेंस कामयाब नहीं हो सकी। देनेवाला यदि दानी रहेगा तो लेनेवाले की मनुष्यता उस दान को कठिनाई से ही ग्राह्य और स्वीकार कर सकेगी।

यदि भारत अपनी अर्थनीति को मानवाभिमुख रखना चाहता है, जिसके लक्षण प्रतीत होते हैं, तो उस हिसाब से इसकी उद्योग नीति और विदेश नीति में भी अन्तर आना चाहिए। अभी बड़े उद्योगों के पीछे पड़कर भारत पश्चिम के देशों के प्रति अपने को गौण मानने को विवश रहा है। यदि उसकी व्यवस्था और व्यवसाय-दृष्टि और नीति में अन्तर आता है तो उसके और विश्व के राजनीतिक मानचित्र में भी मौलिक परिवर्तन आना अनिवार्य हो जाएगा। शायद तब युद्ध की विभीषिका से भी मानवता को त्राण मिल सके।

मनुष्य की बहुतायत पूरब में है तो पश्चिम के पास धन बहुत है। इधर पश्चिम-पूर्व की जगह उत्तर-दक्षिण की भाषा उपयोग में आने लगी है। इन दोनों भाषाओं को स्वीकार करें तो कहा जाएगा कि आज विश्व का भार-केन्द्र पश्चिमोत्तर देशों की ओर झुका हुआ है। आशय समृद्ध और विकसित देशों की ओर। यदि तनिक धुरी बदलती है, धन से वह जन की ओर सरकती है, तो उसी के अनुसार दुनिया का भार-केन्द्र भी बदल जाता है। यूरोप से हटकर वह एशिया की तरफ, और अमेरिका से हिलकर अफ्रीका की तरफ झुक आता है यानी एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के अनगिनत देश प्रमुखता में आते और अपनी हीनता से मुक्त होते हैं। एक तीसरी शक्ति खड़ी होती है जो महाशक्तियों की आपसी प्रतियोगिता के बीच बड़ी सन्तुलनकारी सिद्ध हो सकती है।

भारत देश को अपनी परम्परा में सर्वथा मानविक और नैतिक जीवन-दर्शन के प्रतीक महात्मा गाँधी प्राप्त रहे हैं। उनसे समूची मानव जाति को ढाढ़स मिला था। सब देशों के क्रान्तिदर्शी विचारक उन्हीं की ओर आशा से देख आये थे। भारत की विदेश नीति क्या इन पिछड़े माने जानेवाले देशों को प्रमुखता नहीं दे सकती है? विशेषकर क्या चीन के साथ उसके सम्बन्ध इतने नहीं सुधर सकते हैं कि सार्थक सहयोग का मार्ग खुले? अमेरिका और रूस दानशील होने को उद्यत हैं। नाना प्रकार की सहायताएँ उनसे प्राप्त हो सकती हैं। उनमें भी प्रमुख सामरिक सहायता। लेकिन वह सब सहायता ही न माने जानेवाले देशों पर भारी पड़े बिना न रहेगी। तब क्या 'अविकसित और विकासशील' देशों के लिए यही हितकर न होगा कि वे स्वाश्रयी अर्थ-नीति अपनाएँ और आपसी हितों की राजनीति में जुड़कर एक नयी मानव-नीति और मानव-शक्ति का प्रादुर्भाव कर दिखाएँ?

[जुलाई, '77]

आवश्यकता एकता और समग्रता की

जम्मू-कश्मीर के चुनाव परिणाम आ गए। अप्रत्याशित नहीं है यह कि शेख अब्दुल्ला की नेशनल कॉन्फ्रेंस को पूरा बहुमत मिला है और जनता पार्टी को बहुत कम स्थान मिल सका है।

जम्मू-कश्मीर और राज्यों की तरह नहीं है। उसकी खास और अलग स्थिति है। चाहा गया कि कश्मीर भी और राज्यों के समान हो जाए लेकिन चुनाव से पूर्व जनता सरकार को आश्वासन देना पड़ा कि ऐसा कोई इरादा सरकार का नहीं है। कश्मीर का कुछ भाग अब तक पाकिस्तान के अधिकार में है। पाकिस्तान का दावा बराबर यह भी रहा है कि मुस्लिम बहुमत के कारण हक कश्मीर पर पाकिस्तान का है।

भारत का विभाजन धार्मिक सम्प्रदाय के आधार पर हुआ। मुस्लिम होमलैण्ड की माँग पर भारत में से कटकर पाकिस्तान बना। लेकिन अब भी भारत मुस्लिम आबादी के लिहाज से दुनिया में दूसरा नहीं तो तीसरा स्थान रखता है; अर्थात धार्मिक अल्प मत का प्रश्न आज भी भारत की राजनीति के समक्ष है और काफी उलझा हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नेशनल कॉन्फ्रेंस की जीत और जनता की हार में साम्प्रदायिक भावना का योग रहा है।

मध्य प्रदेश में अब भी दुविधा बनी हुई है। मन्त्रि मण्डल पूरा बन नहीं पाया है और अन्दरूनी तनाव है। जनता पार्टी में जो दल मिले थे, वे अपनी-अपनी राजनीतिक धारणाएँ रखते थे। यद्यपि चुनाव घोषणा पत्र एक था और सब ने गाँधी समाधि पर गाँधी-मार्ग की शपथ ली। लेकिन पृष्ठभूमि उनकी अलग रही और अलग है। उस कारण कठिनाइयों का सामना पार्टी को बराबर करना पड़ रहा है और आगे भी डर है कि तरह-तरह के पेच पैदा होते रहेंगे।

लोकतान्त्रिक राजनीति के लिए यह विविधता अनोखी बात नहीं है। लेकिन कसौटी बड़ी सख्त है। विविधता के कारण शासन में ढील आ सकती है। और यह ढील जनसामान्य के लिए बड़ी संदिग्ध बन जा सकती है। नेतृत्व के लिए दिशा की एकता और दृढ़ता आवश्यक है। निश्चित दिशा के अभाव में शासन

और प्रशासन दुश्चिन्तता और डगमगाता हुआ तक बन सकता है।

उद्योग नीति, अर्थ नीति, राजनीति और विदेश नीति, सबके लिए आवश्यक है नेतृत्व में दृष्टि की एकता और समग्रता। जनतन्त्र में विविधता और परस्परता का निर्वाह आवश्यक है। पर उसका अर्थ यदि गति की शिथिलता हो जाता है तो लोकतन्त्र जनता का श्रद्धाभाजन नहीं रह जाएगा। जनतन्त्रों के प्रयोग में अधिकांश विफलता यदि मिली है तो कारण यही बना है। अनेक देशों ने एकाधिपत्य को फिर से पसन्द किया है।

गाँधी-नीति को स्वीकार कर लेना कठिन नहीं है, पर राज्य स्तर से उससे अमल में लाना बहुत-बहुत कठिन हो सकता है। सुरक्षा बजट में जनता सरकार ने तनिक कटौती सुझाई पर पक्ष-विपक्ष में दोनों ओर से उसका विरोध हुआ। ठीक भी है, सुरक्षा का प्रश्न हलका नहीं है। उसके प्रति असावधानी नहीं बरती जा सकती है।

पर गाँधी-मार्ग पर चलना हो तो सुरक्षा के लिए शस्त्र की शक्ति से भी अधिक संकल्प की शक्ति को जगाना और जुटाना होगा। शासन और शासक यह कर नहीं सकता। इस द्विविधा से निबटने का उपाय यह है कि जनता सरकार से बाहर जनता पार्टी के लोग राष्ट्र-संकल्प को जाग्रत करें। इन लोगों के काम की सीमा अवश्य रहेगी। क्योंकि आखिर यह सरकारी दल के ही रहेंगे। अतः सच्ची लोकशक्ति और लोक-संकल्प के उदय के काम का दायित्व उन पर आएगा जो राजनीति में लिप्त नहीं हैं फिर भी लोक-जीवन के प्रति जाग्रत और समर्पित हैं।

यह निश्चय शुभ है सरकार का कि पहला लक्ष्य हर आदमी को काम देना है। बेरोजगारी खत्म कर देनी है। बेरोजगारी दूर करने के लिए नौकरियाँ पैदा नहीं करनी हैं बल्कि ठेठ गाँवों में कुटीर-उद्योग जारी करने हैं। कृषि को प्राथमिकता और भरपूर सहायंता देनी है। सामान्य उपभोग की वस्तुओं के क्षेत्र से बड़े उद्योगों को बाहर रखना है।

किन्तु इसके साथ-साथ दूसरे आयामों में भी उसी दृष्टि को अमल में लाने पर ध्यान जाना चाहिए। तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, कश्मीर, गोआ, पाण्डिचेरी में कई सरकारें जनता की नहीं हैं। शायद पूरी अनुकूल भी नहीं हैं। अन्य नये राज्य भी जनता के पक्ष में नहीं। इससे केन्द्र और उन राज्यों के सम्बन्ध का प्रश्न उपस्थित होगा। संविधान भारत का सांघिक हैं फिर भी पर्याप्त अर्थों में केन्द्रीय अल्प मत के वर्गों के साथ यह राज्य-केन्द्र के सम्बन्ध का प्रश्न है, जटिलता पैदा करेगा। उद्योग नीति में भी सामंजस्य के सवाल उठेंगे। तदनुसार विदेश नीति को भी सन्तुलित ही नहीं, अग्रगामी बनाने की आवश्यकता प्रतीत होगी।

यह सब काम नेतृत्त्व में आस्था की एकता और समग्रता चाहेंगे। राजनीतिक नेतृत्त्व लोकतान्त्रिक होने के कारण उतना आस्थाशील नहीं हो पाएगा। उसको समझौतों में से ही चलना होगा; अर्थात् राज नेतृत्व से अलग राष्ट्र को एक सेवाभावी राष्ट्र नेतृत्व की आवश्यकता होगी। वह भारत के जन-सामान्य के साथ तादात्म्य साधेगा और राज पर अपने राजद्वन्द्व से तटस्थ रहेगा। राजकारक के स्तर पर बहुत-सी विवशताओं से समझौता करना पड़ता है। वहाँ आस्था से अधिक मूल्य व्यवहारज्ञता का हो जाता है। जोड़-तोड़ की कला ऊपर आ रहती है। सांस्कृतिक नेतृत्व और शासन वर्ग स्पर्द्धा अथवा ईर्ष्या में नहीं पड़ेगा, उसकी निगाह भारत की धरती और भारत की आत्मा की ओर अडिग रहेगी।

कहने की आवश्यकता है कि भारत लम्बे अरसे तक अँग्रेजों का गुलाम रहा है और अब भी अँग्रेजियत से दबा हुआ है। लेकिन भीतर प्राणों में अब तक वह स्वस्थ है। इसका प्रमाण हाल के दो निर्वाचनों ने दे दिया है। भारत के उसी आन्तरिक स्वास्थ्य में आस्था रखनेवालों को अपने दायित्व में असावधान नहीं होना है। राज्य पर जाकर सत्ता का स्वाद व्यक्ति या दल को अपनी मूल आस्था से डिगा सकता हो, पर भारतीय संस्कृति के व्रती पुरुष जब जागरूक रहते हैं तो राष्ट्र के भविष्य के बारे में शंका नहीं रह सकती। भारत अब भी वह देश है जो अपनी धुरी से डिगा नहीं है। दूसरा कोई ऐसा देश अब बचा नहीं रह गया है। इसलिए यह जगमगाहट वाली और चौंधियाने वाली सभ्यता दिखने को होगी तो कदाचित यही देश नये भविष्य का अग्रदूत बनने को रह जाएगा।

[जुलाई, '77]

राष्ट्रभाषा का सवाल और हिन्दी

भाषा को लेकर इधर काफी गर्मी पैदा हुई है। श्री राजनारायण ने कहा कि भारत में हिन्दी में ही बोलने की उनकी प्रतिज्ञा है। इस पर तमिलनाडु के मुख्य मन्त्री ने आग्रह के साथ कहा कि हिन्दी का आरोपण कभी स्वीकार नहीं किया जाएगा। बिहार के मुख्यमन्त्री की इस घोषणा पर भी कि बिहार राज्य के सब काम केवल हिन्दी में किये जाएँगे, उन्हें सख्त आपत्ति हुई। हिन्दी के सम्बन्ध में इस तरह दो प्रतिकूल आग्रह बन गये हैं और लगता है, रास्ता एक यही रह जाएगा कि भारत की राजभाषा अँग्रेजी रहे।

राजभाषा अँग्रेजों के जमाने से अब तक अँग्रेजी ही रही है। स्वराज्य के तीस-पैंतीस वर्षों में हिन्दी कागज पर राष्ट्र भाषा भले रही हो। यथार्थ में राष्ट्र भाषा का काम तो अँग्रेजी से ही लिया गया है। राष्ट्र और राज्य की भाषा क्या दो हो सकती हैं? हो सकी तो हैं, और आगे भी हो सकती हैं लेकिन तब कहना होगा कि राष्ट्र स्वाधीन नहीं, पराधीन है। राष्ट्र के पास अपनी कोई भाषा नहीं है, तो मानिए कि उसमें रीढ़ ही नहीं है। साफ है कि अँग्रेजी यहाँ की है नहीं, इसलिए राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती। सदियों की कोशिश के बाद भी आज अँग्रेजी मुश्किल से यहाँ के दो-ढाई प्रतिशत लोग जानते होंगे। क्या शेष अट्ठानवे प्रतिशत को भुलाकर उनको पिछड़ा-दबा छोड़कर राष्ट्र अपने को स्वाधीन मान सकता है?

जहाँ दो ऊपर और अट्ठानवे उनके नीचे मूक बने रहने को विवश हों, उस राष्ट्र को क्या कहा जाएगा? क्या वह दुनिया की गिनती में आ भी सकेगा? उसका स्वाभिमान स्वप्रतिष्ठ रह सकेगा?

भाषा का विवाद—इस तरह प्रश्न भाषा से हटकर राष्ट्र का हो जाता है। भारत राष्ट्र जगत में अकेला है जिसकी संस्कृति हजारों वर्षों से अटूट चली आयी है। उसका अतीत अत्यन्त गौरवशाली रहा है। उस आधार पर वह आशा कर सकता है कि फिर उसे विश्व में अग्रणी स्थान प्राप्त होगा। उसके हाल के इतिहास के राष्ट्र पुरुष गाँधी थे, जो एक साथ महात्मा भी थे। यह आश्चर्य और कहीं सम्भव नहीं हो सकता था। इसमें विश्व के मनीषियों को जागतिक समस्याओं के समाधान

के लिए प्रकाश का स्रोत भी दिखाई देता है। उसी भारत राष्ट्र की राष्ट्रीयता का यह प्रश्न है और उसे भाषा विवाद में उलझा देना बहुत ही अनिष्ट होगा।

हिन्दी वह भाषा है जो भारत के बड़े भाग में बोली जाती एवं लगभग सब जगह समझी जाती है। यह घटना इतिहास के विकास में से घटित हुई है और राजकर्ताओं के बावजूद घटित हुई है। घटित इसलिए हो सकी है कि वह कभी सत्ता की भाषा नहीं रही, सदा सेवा की भाषा रही है। सन्त-साधु आदि काल से सारे भारत में विचरण करते रहे हैं और लोगों में आना-जाना, मिलना-जुलना होता रहा है। इस व्यापक सम्पर्क व्यवहार में से इस भाषा का उदय हुआ है। नाना आंचलिकताएँ और प्रादेशिकताएँ बिना अपने निजत्व को खोये उसमें अपने को लीन करती आयी हैं। कभी किसी प्रकार से अभिमान का अवकाश उसके पास नहीं हो सका है और सबका दान उसे स्वीकार्य रहा है। नाना धाराओं के मिलन और योग में उसने निर्माण पाया है। अत: सबके प्रति वह विनम्र और कृतज्ञ ही हो सकती है।

हिन्दी और उर्दू—लेकिन स्वराज्य से पहले, उस स्वराज्य की लड़ाई में नेताओं ने देखा कि देश की अपार जनता का काम एक सामान्य भाषा हिन्दी में ही चल सकता है। अगर हिन्दी में पक्ष समझा जाता हो तो उसे चलो हिन्दुस्तानी कह दो यानी भारत की सर्वभाषा के रूप में उन्होंने हिन्दी को माना और उभारा। बहुत पहले गाँधी ने मद्रास में हिन्दी प्रचार शुरू किया और अपने बेटे देवदास तक को इसमें लगा दिया।

पर इस कारण हिन्दी को एक राजनीतिक सुविधा और गरिमा मिलने लगी। राष्ट्र नेतृत्व के लिए वह सहारा तक बन चली। हिन्दुस्तानी में उर्दू भी समा जाती थी। हिन्दुस्तान की आम बोली की उत्तर की एक शैली उर्दू थी, बाकी बुनियाद में हिन्दी से अलग वह नहीं थी। लिपियाँ दो थीं और हिन्दुस्तान में दोनों स्वीकार थीं।

पर मालूम हुआ, हिन्दी का एक अपना अलग पक्ष है। उर्दू के समावेश के लिए उसके स्वत्वाधिकारी तैयार नहीं हैं। उर्दू में भी इस प्रकार की जिद देखी गयी। इसी समय राष्ट्रीय काँग्रेस और मुस्लिम लीग में दुराव और फटाव आ रहा था। नतीजा हुआ कि भाषा का सवाल साम्प्रदायिकता में अटका रहा है। लोगों को आज विश्वास न होगा, पर टण्डनजी भाषा के सवाल पर गाँधीजी के विरोधी हो गये। वहीं से हिन्दी राष्ट्र भाषा के मंच से नीचे आ गयी। उसकी स्थिति राष्ट्रीय से प्रादेशीय हो गयी। राष्ट्र नेताओं का समर्थन उसे नहीं रह गया। उसका स्वत्व टण्डनजी के मार्फत सम्मलेन तक सिमटकर राष्ट्र की व्यापकता से विमुख हो गया।

स्वराज आने पर किसी को कल्पना तक न थी कि राष्ट्र भाषा के सवाल

पर तनिक भी दुविधा अनुभव होगी। लेकिन हिन्दी-उर्दू की बीच की दरार में से उत्तर-दक्षिण का प्रश्न झाँक आया और राह एक अँग्रेजी में ही दिखाई दी।

वह कठिनाई अब तक चली आ रही है तो इस कारण कि हिन्दी सेवा से हटकर सत्ता से जुड़ती गयी। सत्ता पर खेल राजनीति का चल पड़ता है और सबमें अपने-अपने स्वार्थ की चिन्ता ऊपर हो जाती है। हिन्दी नेतृत्व का दोष इसमें कम नहीं है। अगर दावेदारी से वे अपना सिक्का जमाना और फैलाना चाहेंगे तो अन्य सब भाषाओं में अपने-अपने दावे की लगन पैदा होगी। प्रादेशिक भाषाओं में तो क्या, आँचलिक बोलियों तक में अपना आग्रह उभरेगा। यही होता रहा और होता आया है। हिन्दी अवसर देती थी कि उसके द्वारा एक अंचल अथवा प्रदेश का वासी देशव्यापी हो सकता है। हिन्दी में से सबके स्वार्थ का साधन और विस्तार ही होता है। तब हिन्दी को सबका प्रेम भी प्राप्त था। लेकिन हिन्दी में जब अपना आग्रह और अभिनिवेश प्रकट हुआ तो सम्बन्ध उलट गया। हिन्दी के फैलाव में उन्हें अपनी असुरक्षा दीखने लगी। उनमें संशय-विरोध उत्पन्न हुआ। यहाँ तक कि हिन्दी में सम्मिलित बोलियाँ अपने में पृथक् भाषा होने का दावा करने लगीं। फलतः राष्ट्र का समग्र जीवन छिन्न-विच्छिन्न हुआ और आपसी तनाव बढ़े। लोक-जीवन के लिए मानो अँग्रेजी का आसरा अनिवार्य होता गया। उसके अभाव में लगा कि देश की एकता को खतरा है।

विडम्बना—भारी विडम्बना की बात है कि एक मात्र जिससे भारत को एकता प्राप्त हो सकती थी और हो सकती है, वही उस एकता के लिए खतरा समझी जाती है। हिन्दी के पक्षधरों को इस पर गम्भीरता से सोचना होगा, क्या संख्या के और सत्ता के बल से वे दक्षिण को झुका लेना चाहेंगे? अथवा कि उसका प्रेम और विश्वास जीतना चाहेंगे? हिन्दी अब तक फैली है तो सेवा के मार्ग से। किसी दूसरी विधि का उपयोग लिया गया तो निश्चय है कि फैलाव की जगह उसमें सिमटाव आएगा। तब लोगों में उसके प्रति अभिरुचि नहीं बढ़ेगी, प्रत्युत आशंका जागेगी।

आशा है, हिन्दी-नेतृत्व भारत की जनता सरकार के काम में कठिनाई उत्पन्न नहीं करेगा, प्रत्युत सुविधा उपजाएगा। जनता सरकार का विश्वास साफ है। नीति भी साफ है। विश्व में उसे राष्ट्र की प्रतिष्ठा को बढ़ाना है। अपनी भाषा के बिना राष्ट्र अपंग है। किन्तु भारत के लोकतान्त्रिक नेतृत्व को सबका योग और सहयोग जीतकर काम करना है। किसी के मताग्रह को अवकाश देकर अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकेगा।

[जुलाई, '77]

नयी शक्ति : अन्तिम मनुष्य

मानव इतिहास अब नये चरण में प्रवेश कर रहा है। अब इस शक्ति की नीति चलती आयी थी और वह कारगर भी होती थी। अब इस शक्ति के महाप्रचण्ड रूप का विकास हो आया है। प्रकट हुआ है कि अणु में महाविस्फोटक शक्ति बन्द है। परमाणु के संहार की सीमा अपार है। वह बम संहारकता में एकदम पिछड़ गया है जो जापान के हिरोशिमा पर गिरा था। उससे सहस्र गुणी क्षमता के शस्त्र निर्माण पा गये हैं।

इस वैज्ञानिक और तकनीकी विकास ने संहारशील शक्ति के आगे स्वयं एक प्रश्नचिह्न लगा दिया है। प्रश्न की क्या उस शक्ति की नीति आगे काम दे सकती है? स्पष्ट है कि नहीं, आगे उस आधार पर नया युद्ध नहीं हो सकेगा। होगा तो समूची सभ्यता ध्वंस हो जाएगी। मानव जाति का ही खात्मा हो जाएगा।

पर शक्ति के बिना जीवन चल नहीं सकता। हर गति के लिए उसकी माँग है। हर परिवर्तन में उसकी अपेक्षा है। स्वयं मूल्य-परिवर्तन अनायास नहीं होगा। उसके लिए पुरुषार्थ चाहिए, साधना चाहिए, यज्ञ चाहिए। उस सबकी क्षमता के लिए प्राणों की ऊर्जा आवश्यक होगी।

अब स्पष्ट है कि शक्ति के नये रूप का आविष्कार चाहिए। आविष्कार वह हो तो चुका है, सिर्फ प्रयोगशाला से अभी बाहर नहीं आया है। अपनी रसायनशाला में ही उसे पूरी तरह प्रयोगों द्वारा सिद्ध और प्रमाणित कर लिया गया है। कहा जा सकता है कि विचार और विज्ञान के क्षेत्र में तो वह क्रान्ति हो चली है। यथार्थ के राजनीतिक क्षेत्र में प्रकट होना उसके लिए शेष है।

परमाणु शक्ति का आविष्कार हुआ चुनौती के दबाव के नीचे। आत्म रक्षा के लिए आवश्यक माना गया कि शत्रु नष्ट हो। आत्म रक्षा और स्वत्व रक्षा तो मानव का प्रकृत धर्म ठहरा। उसी आधार पर विज्ञानों ने विकास प्राप्त किया है। जीवन के लिए युद्ध तो अनिवार्य बना रहा है। उसमें विजय-साधन के निमित्त इन विज्ञानों का उपयोग हुआ। उसी साधना में अणु को टूटना और अपने भीतर की शक्ति को प्रकट करना पड़ा है।

इस असीम हिंसक शक्ति के उपयोग से अमेरिका जीत पाया और सर्व प्रमुख राष्ट्र बना। पर वह परामणु विज्ञान वहीं सीमित नहीं रह सका; अन्य भी कुछ राष्ट्र उस मन्त्र को पा गये और बम बनाने में सफल हो गये। आज विश्व की राजनीति इसी बिन्दु पर तुली है कि वह परमाणु विज्ञान फैले नहीं, यहीं तक सीमित बना रहे। सम्भव हो तो सब विस्फोटों को बन्द किया जाए और आगे जाकर बमों को ही समाप्त कर दिया जाए।

कोशिश हो रही है, पर यह होता नहीं दीखता। भारत ने अपनी तरफ से विस्फोट बन्द रखने का आश्वासन दिया है, लेकिन जब तक औरों के पास यह विज्ञान और अस्त्र हैं तब तक रोक पर सहमत होने से उसने इनकार किया है।

इस तरह दुनिया थमी हुई है उस भीषण शक्ति के समीकरण पर। सन्तुलन कब बिगड़े और प्रलय कब आ जाए, कहा नहीं जा सकता। प्रलय से डर कितना भी हो, उसके बादल ऊपर से यों ही छँट जानेवाले नहीं हैं। प्रकृति अभाव नहीं सहेगी। यदि हिंसक शक्ति भरी हुई है वातावरण में तो एकाएक वहाँ रिक्त नहीं आ जाएगा। किसी दूसरी शक्ति को उपजना होगा जो उसकी जगह ले और मनुष्य के मानस को अपनी प्रेरणा से भर दे।

हम डर के नीचे दबकर आक्रामक बनते आए हैं। डर अपनी जान-माल का। पर एक वह जीवनादर्श भी है, वह जीवन-नीति, जिसमें जान बचायी नहीं जाती, खुशी से दे दी जाती है। वह जीवन-दृष्टि पहचानती है कि आक्रामक डर के मारे ही आक्रमण पर तुल आया है। इसलिए वह नीति आक्रान्ता को अभय देती है कि मेरी तरफ से तुम्हारा अनिष्ट होनेवाला नहीं है, तुम चाहो तो भले मेरी जान ले लो, पर डर में इंसान से हैवान न बने रहो। यह नीति आत्म-रक्षा से उलटे व्यक्ति को आत्मोत्सर्ग के लिए सन्नद्ध करती है। आत्म-रक्षण के भाव से उद्भूत पराक्रम में से अगर हिंसा की अमित शक्ति निकलती है तो आत्मोत्सर्ग की निडरता में से कहीं-कहीं अधिक अहिंसक शक्ति का सृजन हो सकता है। यह है प्रबलतर किन्तु नैतिक शक्ति। सिद्ध हो चुका है कि यह नैतिक सैनिक शक्ति से बढ़कर है। विभक्त अणु से अपने में संयुक्त मानव बेहद शक्तिशाली होता है।

कोई सम्राट या अधिनायक जनता की मान्यता के बिना हो नहीं सकता। जनता डर छोड़ देती है तो ऊपर सवार तानाशाह नीचे आ गिरता है यानी हिंसा की शक्ति तभी तक शक्ति है जब तक समक्ष निडरता नहीं है। उधर निर्भय होकर प्राण होम देने की तैयारी में से एक ऐसी नैतिक शक्ति का उदय होता है कि सामने हिंसक बल में लिपटी कायरता प्रकट हो आती है।

जनता सरकार के नेताओं ने गाँधी की शपथ ली है। गाँधी-संस्थाओं के

रचनात्मक कार्यकर्ताओं के सम्मेलन में प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने उपदेश में कहा कि वे निर्भीक बनें। सरकार स्वयं कानून का भय पैदा करके अपना काम चला पाती है। शासन की इस मर्यादा को समझ लेना होगा; अर्थात शासन पर से गाँधी के अहिंसा-दर्शन को प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी। अहिंसा के मूल्य की प्रतिष्ठा के लिए और तद्नुकूल क्रान्ति के लिए गाँधी में आस्था रखनेवालों को राज्य के शीर्ष पर से अपनी निगाह को हटा लेना होगा। टिकाना होगा उसे उस बुनियादी आदमी पर जो श्रम करता और इसीलिए इस औंधी व्यवस्था में सबसे नीचे और अन्तिम बना रहता है।

[जुलाई, '77]

शासन का विकट बीहड़ तन्त्र

शासन पर नेताजन मतदान के आधार पर आते हैं। उस समय तो प्रत्येक मत का मूल्य होता है और जनता के नाम पर जन-जन की भी पूछ होती है। पर एक बार चुनाव हो जाने के बाद, खासकर शासन के पद पर पहुँचकर, जन के साथ नेता का यह प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। केवल मात्र उसके विचार के लिए परोक्ष जनता रह जाती है, प्रत्यक्ष जन अविचारणीय बना रहता है।

गाँधी ने अन्तिम मनुष्य की बात उठायी थी और अन्त्योदय शब्द दिया था। लेकिन प्रजातन्त्र होकर भी राजतन्त्र विकट और बीहड़ बना रहता है। इस तन्त्र में प्रथम पंक्ति के पुरुषों और अन्तिम पंक्तियों के आदमियों के बीच नौकरशाही और बिचभइयों का इतना बड़ा जाल फैल जाता है कि मानो प्रथम और अन्तिम एकदम विमुख ही हो। देखिए राष्ट्रपति भवन को और फिर देखिए उसको कि जिस पर फूस की छत भी नहीं है, तो यह अन्तर नहीं मालूम होगा, सीधा विरोध ही प्रतीत होगा।

आज की भारतीय सरकार जनता सरकार है, पर जनता पार्टी और जनता में अन्तर है। जनता पार्टी से उठकर अगर सरकार को ही खुद जनता की बनाना हो तो उसे काफी फासला तय करना होगा। कोशिश करनी होगी कि बीच में से तन्त्र की बीहड़ता को कम किया जाए और अफसर बने नौकरों को अनुभव होने दिया जाए कि जनता मालिक है; वह वेतनभोगी नेता और जनता के बीच में उसे अन्तराय न बनने दिया जाए। लेकिन क्या यह हो सकता है?

लगता है, आसानी से यह सम्भव न हो पाएगा। इन पंक्तियों का लेखक एकदम अज्ञात व्यक्ति नहीं है। उसने दो मन्त्रियों को तीन-तीन बार फोन किया। वे फोन कहाँ डूब गये, पता नहीं। अकसर फोन लेनेवाले पी.एस. के कोई पी.ए. होते थे। मन्त्री परिचित ही न थे, सम्बन्ध उनसे अनौपचारिक भी था। निमित्त इस लेखक का भला वैयक्तिक क्या हो सकता था? वह सार्वजनिक था यद्यपि राजनीतिक नहीं। अधिक सम्भव यही है कि मन्त्रियों को पता तक न हो। मन्त्री-गण हृदयहीन नहीं हैं, जनता के प्रति वे अर्पित हैं। पर शायद अपने बस में नहीं जितने तन्त्र

के बस में हैं। हो सकता है कि आपकी पहुँच पी.एस. के. पी.ए. क्या, पिओन तक भी न हो पाए! चारों तरफ मन्त्रियों के इतना बढ़ा और घना सुरक्षा परिकर है कि आपका प्रवेश दरबार तक तब तक असम्भव है जब तक राजनीतिक आन्दोलनकारी दल से आपका सम्बन्ध न हो।

यह स्थिति चिन्तनीय होनी चाहिए। पर यह तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक नागरिक स्वाधीन और स्वावलम्बी नहीं बनता। और यह परिवर्तन नहीं आ सकता जब तक व्यवस्था के केन्द्र में अर्थ है और श्रम केवल बाहर परिधि पर चकराते रहने के लिए है। सिक्का (परचेजिंग पावर)—वह पावर सब कुछ खरीद सकती है। राज्य की पावर जब तक यह परचेजिंग पावर बनी रहेगी तब तक मनुष्य खरीदा जाता रहेगा और चाटुकारों की भीड़ से मन्त्रियों को कभी मुक्ति नहीं मिलेगी, न कभी भ्रष्टाचार खत्म हो पाएगा। खत्म होना दूर, कम भी न होगा। कृपया जनता सरकार अपने को बहलाए नहीं कि भ्रष्टाचार घटती पर है। उसके और सामान्य जन के बीच, मध्यवर्तियों की जितनी तहें रहेंगी, भ्रष्टाचार उतना विपुल हुए बिना भी न रहेगा। मध्यवर्ती नौकर-अफसर ही नहीं, दल के एम.पी., एम.एल.ए. और दूसरे राजनीतिक कार्यकर्ता भी हो सकते हैं।

गाँधी ने एक बार कहा था कि फाइलों को जला दो। बेहूदी बात लग सकती है यह। लेकिन राज्य फाइलों का है, आदमी और सरकार के बीच नाता कागजी और दफ्तरी है। वह हार्दिक नहीं है, क्योंकि तान्त्रिक है। यहाँ तक कि आदमी और आदमी के बीच का रिश्ता दस्तावेजी बनता जा रहा है। जैसे उनको कानून जोड़ता है और कानून अलग करता है। शासन की यह विवशता सहज हटेगी नहीं और अनिवार्य बना रहेगा कि जनमत पाकर सत्ता पर बैठनेवाले नेता और आदमी के बीच इतनी ड्योढ़ियाँ रहें कि वहाँ तक उसकी रसाई न हो सके। मैं मानता हूँ कि आज के दिन यह सर्वथा आवश्यक है। नहीं तो नेता और अफसर काम ही अपना न भुगता सकेगा।

नेहरू ने एक बार कहा था कि सेक्रेटरिएट जंगल है, जंगल को साफ करने की हिम्मत करनी होगी। उसके बीहड़पन को कम करना होगा। सम्बन्धों में प्रत्यक्षता लानी होगी। सच यह कि राजचक्र और अर्थचक्र में ही बुनियादी परिवर्तन लाना होगा।

जयप्रकाशजी के विकेन्द्रीकरण के आग्रह में सार अभिप्राय यही है। आदमी सरकार से जुड़ता है तो सरकारी कर्मचारी या पार्टी कार्यकर्ता के द्वारा; अर्थात वह योग-सूत्र शोषण का बना रहता है। निर्वाचन पद्धति के द्वारा भी दबाव जनता का सरकार पर नहीं आता, उलटे इन योग-सूत्रों से शासन का ही दबाव जनता पर डाला जाता रहता है। इस विधि ग्राम-जीवन या नागरिक-जीवन स्वाधीन और

स्वनुशासित कैसे हो सकता है! मूल आत्मनिर्णायक? ग्राम-सभाएँ हों तो ही शासन स्वशासन और सच्चे अर्थों में लोकतान्त्रिक हो सकता है।

चीन के माओ-त्से-तुंग ने यह पहचाना और अपने को विशिष्ट मान चलनेवाले पार्टी नेताओं की गतिविधि देखकर सांस्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। यह सिद्धान्त भर नहीं रह जाना चाहिए कि शक्ति जनता में है, राज्य के पास केवल उतनी है जितनी उसे सौंपी जाती है। जब तक यथार्थ इससे उलटा रहेगा, लॉ एण्ड ऑर्डर की समस्याएँ उत्पन्न होती रहेंगी। प्रधान मन्त्री मोरारजी भाई निडर हो जाने की सीख बराबर देते आये हैं। पर डर की जगह लेने को जन-विश्वास नहीं उपजेगा तो इस निडरता में से सरकार के लिए उलटे संकट ही पैदा होता रहेगा। कीमतें बढ़ी ही जा रही हैं। हड़तालें आए दिन की चीज हैं। शिक्षालयों में उत्पात और उपद्रव फिर होने लगे हैं। इस निडरता का सामना आगे-पीछे कानून का डर बताकर ही करना पड़ जाएगा।

सरकार ने गाँधी की शपथ खायी है। टुकड़ों-टुकड़ों में गाँधी को लेना खतरनाक होगा। गाँधी को लेना हो तो बीच की तन्त्र की जटिलता को साहस के साथ तोड़ना होगा। अपने राजनीतिक कार्यकर्ताओं के मन में उतारना होगा कि पराधीनता हटने के बाद राजनीति को अब अनावश्यक समझें। अब शुद्ध समाज-रचना पर ध्यान दें। गाँधी ने कहा था कि रचनात्मक कार्य है जिसके द्वारा राजनीतिक स्वराज्य को पूर्ण स्वराज्य बनाया जा सकेगा।

[जुलाई, '77]

गाँधी-नीति और चाणक्य-नीति

यहाँ चाणक्य-नीति प्रसिद्ध है। पश्चिम में उसी जोड़ के हुए हैं मेक्यावेली। दोनों ने राजाओं की नीति-निर्देश के लिए कुछ सिद्धान्त बताए। सिखाया कि राजनीति की रक्षा के लिए विरोध और विरोधी को जड़-मूल से नष्ट कर देना चाहिए।

उस जमाने में अब की लोकतन्त्र की धारणा नहीं थी। गणतन्त्र थे पर वे क्षेत्रीय भर थे। राष्ट्रव्यापी भारतीय लोकतन्त्र जैसी कल्पना भी तब के लिए सम्भव नहीं थी।

अब भी लोकतन्त्र अपने परीक्षा-काल से पार नहीं हुआ है। प्रयोग हुए हैं और अधिकांश विफल हुए हैं। मालूम होता है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में नागरिक स्वतन्त्रता की मात्रा अनुपात से कुछ अधिक हो जाती है और नियन्त्रण का उपचार मात्रा में कम। सरकार आखिर हुकूमत के लिए है। जिसे उसकी योग्यता न हो, उसे शासन की बागडोर ही हाथ में क्यों लेनी चाहिए। शासन सख्ती से होता है। आप नरम बने रहना चाहते हैं तो कृपया शासन से हटिए। ठीक है कि आप लोकमत के बल पर शासनाधिकार पर आये हैं, पर क्या वे लोग, जिसे आम तौर पर नेता जनता कहता है, वे वोट के दाँव से क्या शासक बने अपने नेता पर हाबी बने रहेंगे? तो क्या यह अव्यवस्था का, अराजकता का राज ही न हो जाएगा?

इस तरह की बात, सोचने-विचारनेवाले लोगों के मन में ही नहीं, मत देनेवाली जनता के एक खासे भाग में भी उठी है। क्या जनता राज्य का मतलब है कि हड़तालें होती जाएँ? शिक्षालयों में अनियमितता बढ़े? कीमतें चढ़ती रहें और व्यापारी अपने लाभ की मात्रा बढ़ाते ही जाएँ? स्वयं जनता सरकार मानती है कि स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है और उसका यह बेजा लाभ नहीं लेने दिया जाएगा। सब भ्रष्टाचार का कानून की सख्ती से मुकाबला किया जाएगा।

लोकतन्त्र में विरोध पक्ष को होने ही नहीं दिया जाता, मान्य मानकर उसे पनपाया भी जाता है। नाम ही जब उसका विरोध पक्ष है, तो शासन पक्ष की जड़ों को काटने के काम से वह क्यों कतराएगा? आखिर होड़ है उठा-पटक की, तो सब दाँव वहाँ क्यों नहीं आजमाए जाएँगे? नीचे से उभरते हुए अनियन्त्रण में अगर

विरोध पक्ष का भी हाथ हो तो इसमें अचरज के लिए कहाँ गुंजाइश है? भला इसमें अजूबा और अनोखा भी क्या है?

अनोखी बात है तो यह है कि जनता पार्टी गाँधी की शपथ लेकर शासन पर आये! गाँधी-नीति चाणक्य-नीति निश्चय ही नहीं है। चाणक्य-नीति का तो निरन्तर राजनीति में पालन होता आया है। लगभग पूरी तरह मान लिया गया है यह कि शासन को निष्कंटक रखना चाहिए, विरोध का काँटा किसी उदारता की नादानी में रहने दिया जाएगा तो शासन की नींव को वह कुतरता-खाता रहेगा; अर्थात् सच्चे शासन की नीति ढीली नहीं होगी, उतनी सख्त होगी जितनी कि हो सके।

यह सख्ती आज के विज्ञान के जमाने में सिर्फ कानून के बल से चल नहीं सकती। शासन का तन्त्र कितना भी फैला हो, अन्त में होता सीमित ही है। सर्व सत्तात्मक शासन केवल अपने तन्त्र के बल पर नहीं चलता। उसे एक व्यापक दल की भी जरूरत रहती है। इस दल की जड़ें धरती में भीतर-ही-भीतर दूर-दूर तक फैली होंगी; यानी शक्ति केन्द्रित के साथ पूरी तरह विकेन्द्रित और व्याप्त भी होगी, अर्थात पार्टी गवर्नमेण्ट का कार्यकारी यन्त्र ऊपर होगा तो भीतर गहरे पर काम करने के लिए पार्टी का तन्त्र होगा यानी पार्टी का महत्त्व सरकार से बढ़कर है।

यह है प्रोलातारियत डिक्टेटरशिप का स्वरूप। यह एक साथ तानाशाही और लोकशाही का समन्वित स्वरूप है।

आज का भारतीय जनता शासन क्या है? चाणक्य की नीति शायद वह अपना नहीं सकता। कम्युनिस्ट स्वस्प, चाहे नमूना उसका रूसी या चीनी हो, भी अपनाने की दिशा उसकी प्रतीत नहीं होती। लोकतान्त्रिक उदाहरण कुछ हैं, लेकिन जहाँ वह परम्परा चल रही है, उन देशों की परिस्थिति भिन्न है। राजनेता और नागरिक के जीवन मानों में वहाँ उतना अन्तर नहीं है। भारत की स्थिति एकदम दूसरी है। अभी एक आदमी बेहाल है तो दल के सहारे से उछलकर वह एकदम निहाल हो जा सकता है। इसलिए टिकट की और पद की यहाँ बेहद खींचतान है।

क्या गाँधी-नीति इस हालत में चल सकती है? यह सवाल जनता पार्टी के सामने है। और गलत न होगा अगर उस गाँधी-नीति को एक साथ तज दिया जाए। खुलकर काँग्रेस के अवशिष्ट उन तत्त्वों को निर्मूल होने दिया जाए जो इमरजेंसी के उत्तरदायी थे। अन्यथा गाँधी को हठात साथ रखना ही हो तो हिम्मत करनी है जनता नेताओं को कि वे कानून को तो अपनी राह चलने दें, पर स्वयं सच्चे और पूरे मन से सेवा और तपस्या की राह पकड़ें।

[अगस्त, '77]

भारत राष्ट्र किस ओर?

विचार के लिए प्रश्न है : विश्व किस ओर, विश्व-मानव किस ओर? वही व्यवहार के लिए हो जाएगा कि राष्ट्र किस ओर, भारत किस ओर?

समाचार सुनने में आया है कि जयप्रकाश नारायण वर्ग-हितों में विग्रह मान चले हैं, और वर्ग-संगठन का काम उठानेवाले हैं। एक पत्र के सम्पादकीय का मन्तव्य है कि वे गाँधी और सर्वोदय का चक्कर काटकर अपनी उसी पुरानी मार्क्सवादी लीक पर लौट आये हैं।

श्री जयप्रकाश जनता पार्टी के निर्माता और पथ-प्रदर्शक हैं। उस पार्टी के निर्वाचित प्रधान मन्त्री मोरारजी भाई ने अन्य सब संसद सदस्यों के साथ स्वयं जयप्रकाशजी के नेतृत्व में गाँधी समाधि पर गाँधी आदर्शों की शपथ ली थी और कदाचित उसी पर दृढ़ हैं।

वर्ग-विग्रह पश्चिम से आयातित बाम चिन्तन का प्रमुख लक्षण है। मार्क्स ने उसी आधार पर बुद्धि-जागरण किया और कम्युनिस्ट क्रान्ति हुई। गाँधी का विचार उसके अनन्तर आया। उसमें वर्ग-संघर्ष की जगह वर्ग-सहयोग मान्य रखा गया। गाँधी के लिए अहिंसा एक निरपवाद अखण्ड सिद्धान्त रही। आर्थिक-सामाजिक आदि क्षेत्रों में अन्ततः गाँधी-नीति का फलित भी भिन्न आया, उद्योगवाद उस कसौटी पर असमर्थित रह जाता है। उसमें सत्ता के केन्द्रीकरण से उलटे उसके उत्तरोत्तर विकेन्द्रीकरण की माँग रहती है। स्वयं जयप्रकाश सत्ता विकेन्द्रित किये जाने के परम आग्रही हैं।

इस तरह कुल मिलाकर राष्ट्र की दिशा के सम्बन्ध में प्रश्न और विभ्रम पैदा होता है जब वर्ग-चेतना को जगाने की बात आती है।

अभी गृह मन्त्री श्री चरणसिंह का दृढ़ मन्तव्य प्रकाश में आया है, कि गाँधी-नेहरू और गाँधी-मार्क्स का नाम एक साथ लिया जाना गलत है, एकदम गलत है, और स्पष्ट देखा जा सकता है कि अहिंसा के मूल्य के सम्बन्ध में गाँधी की दृढ़ता उन्हें एक साथ दोनों से अलग कर देती है। अहिंसा की शर्त पर वह किसी तरह का समझौता करने को तैयार नहीं थे। उनका मानना था कि लोकतन्त्र का

भविष्य अहिंसा के साथ है, उसी के हाथ है। देखा भी जा सकता है कि यदि लोकतन्त्र के भीतर से अहिंसक लोकशक्ति का उदय नहीं होता तो लोकतन्त्र निरा शक्ति-तन्त्र बनकर रह जाता है। सत्ता शक्ति को हठात केन्द्रित होते ही जाना पड़ेगा। यह बात दूसरी है कि निर्वाचित प्रधान को अधिपति कहा जाए या नहीं। यों भी तानाशाह या डिक्टेटर आजकल विधानपूर्वक ही होते हैं। असल में शक्ति का अपना तर्क होता है और यदि उस शक्ति का प्रकार नैतिक और अहिंसक नहीं है तो हठात उसे आगे-पीछे किसी व्यक्ति में या गुट में केन्द्रित होते ही जाना होगा। शक्ति जो संस्थागत होने की आवश्यकता में न पड़ेगी, पूरे अर्थों में जन-जन में व्याप्त रहेगी और इस तरह जनतन्त्र को सच्चा आधार दिये रहेगी, अहिंसक ही हो सकती है। शस्त्र-सैन्य की बुनियाद उसे जरूरी नहीं होगी, या कम होगी।

यही है जो आज के आदमी की समस्या है। राष्ट्र की और अन्तरराष्ट्रीयता की भी समस्या यही है। भारत गुटों से और सब सैन्य-सन्धियों से निरपेक्ष रहना चाहता है। विश्व-विचार और विश्व-व्यवहार यदि आज आक्रान्त है तो युद्ध की विभीषिका से। महाशक्तियों का व्यूहातंक सब ओर छाता जा रहा है। सच्ची गुट-निरपेक्षता असम्भवप्राय हुई जा रही है। हर राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था विवश है कि किसी-न-किसी पक्ष की अपेक्षा में आ रहे। उस अर्थ-व्यवस्था का सूत्रपात ही नहीं हुआ है जो मानव-मात्र और मानव जाति की कही जा सके और सही अर्थों में स्वतन्त्र और निरपेक्ष रह सके।

प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई ने 15 अगस्त को लालकिले में राष्ट्र को अपना सन्देश देते हुए दोहराया कि हम सबने गाँधी की शपथ ली है। आशय कि राष्ट्र-नीति गाँधी-नीति होगी। उसके लिए वाम-दक्षिण का प्रश्न नहीं रहेगा। किसी विग्रह को बढ़ानेवाली या उसे आधारभूत माननेवाली वह नीति नहीं होगी। वर्गों को एक बार स्वीकार भी किया जाए, तो भी उनके हितों को परस्पर विरोधी मानकर नहीं चला जा सकेगा। अल्पमत और बहुमत है आज, और अर्थगत ऊँच-नीचता भी है। उन स्वार्थों में टकराहट तो होती रहेगी पर समाधान के लिए क्या उनके अलग हितों और स्वार्थों को संगठित करके उनके विग्रह में तीव्रता लाने में उपाय देखा जाएगा? क्या इस प्रकार सामाजिक या अन्य विषमता को कम किया जा सकेगा?

हरिजन का ही प्रश्न लीजिए। अम्बेडकर उनके सर्वोच्च नेता रहे। वह वर्ग उनकी पूजा करता है। पर हरिजन-उद्धार में गाँधी का योगदान किसी से कम नहीं है। उस प्रश्न पर उन्होंने जान की बाजी लगा दी थी और उस वर्ग के पृथक निर्वाचन को मान्य नहीं होने दिया था। गाँधी सवर्ण थे और अम्बेडकर महोदय जैसा आत्मीयता का दावा उनका नहीं हो सकता था! फिर भी वह दावा उनका

था और उसकी प्रामाणिकता में किसी शंका की गुंजाइश नहीं है। पर उस दावे का प्रकार दूसरा था। वह लौकिक से अधिक आत्मिक था और उसमें लाभ लेने की जगह वृत्ति अर्पित हो जाने की थी।

जनता सरकार एक मत-क्रान्ति की घटना के बल पर आयी है। उसने हाकिमशाही का अन्त किया है। उससे नये सिरे से एक गहरी जनतन्त्रता का उदय हुआ है। अब अवसर है भारत और भारतीय शासन के लिए कि वह सच्चे लोकतन्त्र का नूतन उदाहरण प्रस्तुत करें। अब तक लोकतान्त्रिक चिन्तन द्विदल-पद्धति तक आ पाया है। वह पद्धति उस सम्बन्ध में निश्चय ही अन्तिम शब्द नहीं है। लोकतन्त्र जड़ नहीं, प्रत्युत विकासशील धारणा है। भारत को द्विदल विचार तक रुककर नहीं रह जाना है। सदनों की हालत हम जानते हैं। उनके हाथों में मानव का भविष्य बन्द रह जाएगा, इस आशंका का कोई कारण नहीं है। भारत को एक नयी शक्ति के आविष्कार और उदय का दायित्व वहन करना है। यह देश उस गाँधी का है जो किसी पद या दल का नहीं था और न किसी सदन का प्रत्याशी होनेवाला था। फिर भी जिसके पास शक्ति थी कि पद, दल या सदन तुलना में थोथे पड़े रह जाते थे।

यह चीज दुनिया के लिए नवीन थी। शस्त्र-सैन्य की सत्ता को या धन की सत्ता को सब पहचानते हैं। लेकिन गाँधी की उस निरुपाधिक सत्ता को समझना और पहचानना होगा जिसके बल पर उन्होंने भारत जैसे महाराष्ट्र को जीवन-भर एकच्छत्र नेतृत्व दिया। क्या गहरे अर्थ में वही आदर्श लोकसत्ता न थी? यह वह है जिसे वोटों की गिनती की आवश्यकता नहीं रहती और जो अनायास लोकान्तःकरण में अपनी जगह बनाए रहती है।

[अगस्त, '77]

लोकतन्त्र, न्यायाधिकरण और सत्याग्रह

शासन की ओर से अगर सामाजिक और आर्थिक न्याय न प्राप्त हो और असामाजिक तत्त्वों को उचित दण्ड न मिले तो शासन की इस असमर्थता का उपचार क्या हो, कहाँ से हो?

लोकतन्त्रीय शासन के लिए शायद सीधा उत्तर हो कि इस त्रुटि के आवश्यक इलाज के लिए बुनियाद में लोकसत्ता है, लोकशक्ति है।

हरिजन और अन्य दलित और दीन वर्गों की स्थिति चिन्तनीय है। आये दिन उन्हें अत्याचारों का शिकार होना पड़ता है। इसलिए सर्वोदय कार्यकर्ताओं को जयप्रकाशजी ने सलाह दी है कि वे वर्गों को इस आधार पर संगठित करें और आवश्यक हो तो सत्याग्रह का भी सहारा लें। ध्यान इतना रखना है कि हिंसा न हो। इस काम में युव-शक्ति को उठना और लगना है। राष्ट्र को उन्हीं का भरोसा हो सकता है, इत्यादि।

सत्याग्रह शब्द गाँधी के प्रयोगों में से आया। असहयोग, कानून की सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह के शस्त्रों के उपयोग से उन्होंने इतिहास के सबसे बड़े बर्तानी साम्राज्य को परास्त किया। निश्चय ही इन सत्याग्रही आयुधों में अपार शक्ति है। लेकिन इस शक्ति का स्वरूप एकदम अलग है। गाँधी की ओर से वह सर्वथा तप की शक्ति है, जिस्मानी शक्ति न होकर आत्मिक शक्ति है।

भारत की स्वतन्त्रता के युद्ध के अन्तिम चरण में उन्होंने विश्व का आह्वान किया कि 'बूट फोर्स' के समक्ष इस 'सोल फोर्स' के संग्राम के अभियान को अपना मानसिक सहयोग दें।

गाँधी ने बड़े-बड़े संगठनों का निर्माण किया था। पर उनमें किसी का आधार वर्ग नहीं हो सका। वर्गों के स्वार्थ टकरा सकते हैं पर समाज में, अन्त में, सब वर्गों को लीन हो जाना है; अर्थात हित मूल में सबका अभिन्न और एक है और वह सर्वोदयी है। यों साफ दीखता है कि मजदूरों और महाजनों के हित परस्पर विरोधी हैं, लेकिन गाँधी-प्रणीत संगठन का नाम हुआ 'मजूर-महाजन संघ' । डॉ. अम्बेडकर ने हरिजनों का वर्गीय नेतृत्व किया, पर गाँधी ने सवर्णों को उनके

प्रति अपने कर्तव्यों के बारे में जगाया और उनकी पृथक्ता का खण्डन किया।

इसलिए श्री जयप्रकाश नारायण के परामर्श पर ठिठककर सोचना आवश्यक है। नक्सल पंथ कुछ प्रबुद्ध युवकों से आरम्भ हुआ था। जीवन उनका सर्वथा नि:स्वार्थ था और अप्रमत्त, आदर्श के प्रति पूरी तरह अर्पित। शोषण और अन्याय की हद पार होती हुई उन्होंने पायी तो सोचा कि क्या यह सब देखते रहना होगा? उनकी आत्मा उन्हें इसकी अनुमति नहीं दे सकी। लेकिन न्याय क्रोधवश नहीं किया जा सकता। इसलिए उन्होंने अपनी अदालत बनायी। निर्णय किया तो ठण्डे विचार से निर्णय किया। निर्णय मिलने के बाद कर्तव्यवश ही किसी को मृत्यु-दण्ड देना पड़ा तो दिया गया।

यह हत्या नहीं थी, दण्ड था। पर यह दण्ड का अन्तिम स्वरूप है और उसमें हिंसा देखी जा सकती है। लेकिन अगर किसी भूमिदार की जमीन फालतू पड़ी है तो छीनकर उसे कृषि में ले आने में कौन-सी हिंसा है, इस तरह उन्होंने अपनी समझ से न्यायोचित से अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया। फिर भी यह कार्रवाई क्या लोकतन्त्र में मान्य हो सकती है? दर गुजर की जा सकती है?

सीधी कार्रवाई का शब्द गाँधी-युग में भी उपयोग में आया था। पर उसके विनम्र, अहिंसक और एकदम खुली होने पर गाँधी का अनिवार्य बल था। आत्यन्तिक सावधानी थी कि सत्याग्रह के प्रयोगों में काम आयी प्रेरणा गहरे तक आत्मिक हो, अनासक्त हो।

क्या वह सावधानी राजनीतिक बन सकनेवाले आन्दोलन में होगी? या रह सकेगी? यदि नहीं तो शासन के समानान्तर एक दूसरी सरकार बनाने जैसी बात हो जाएगी। जनता सरकार का शब्द पहले सुना भी गया था। लोकतन्त्र में क्या इस पद्धति का सत्याग्रह स्थान पा सकेगा?

जनता पार्टी की सरकार के प्रधान मन्त्री मोरारजी भाई उसके मार्गदर्शक जयप्रकाशजी से हाल ही में मिले हैं। दोनों के सामने यह प्रश्न है जो समय पर गम्भीर हो सकता है!

[सितम्बर, '77]

विश्व की प्रगति, देशों की गति

ज्ञान-विज्ञान के विकास और व्यवसाय के विस्तार के साथ दूरियाँ हट गयी हैं और दुनिया छोटी पड़ती जा रही है। संचार के साधनों ने सबको एक-दूसरे के पास ला दिया है और देशों का अलग-थलगपन मिटता जा रहा है। मानव विकास के इतिहास का यह क्रम अमोघ और अनिवार्य है। इसे किसी तरह उलटा नहीं जा सकता।

मालूम होता है कि आदमी की व्यवस्था बुद्धि और राजनीतिक वृत्ति इस काल-गति का साथ नहीं दे पा रही है। देश अपने-अपने राष्ट्रवाद में ग्रस्त चले जा रहे हैं और अधिसंख्य राष्ट्रों की धारणा 18वीं सदी की परम्परा में वैसी ही जातिगत अथवा धर्मगत बनी हुई है।

श्रीलंका के स्फोट का उदाहरण केवल नया है। प्रवासियों का प्रश्न इससे पहले भी संकट का रूप धारण करता रहा है। बाँग्लादेश से आये विस्थापित कम नहीं हैं। बर्मा से भारतीयों को हटाना पड़ा है। दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया का प्रश्न विश्व के राजनेताओं के गले में बुरी तरह अटका है। वहाँ के अधिसंख्य निवासी काले हैं, राज्य गोरों का है। अरब और इसराइल का सवाल खड़ा का खड़ा ही है। युगाण्डा से अँग्रेजों और भारतीयों को निकलना पड़ा। ब्रिटेन और अमेरिका में प्रवासियों के लिए कानून में सख्ती की जा रही है। रूस में यहूदियों को कृपा पर जीना होता है। हिन्दू पाकिस्तान और बाँग्लादेश में हैं, तो बतौर दोयम किस्म के ही नागरिक हैं। अमेरिकी नीग्रो कम अमेरिकन नहीं हैं, पर विदेशी से भी बदतर व्यवहार उन्हें मिलता है।

इस तरह विश्व की प्रगति के साथ देशों की गति अनमिल दीखती है। लगता है कि राष्ट्रों की अपनी-अपनी प्रभुसत्तात्मक धारणा ही मूल में अपर्याप्त है। इसके सिवा दूसरा कुछ आधार विश्व-व्यवस्था के पास नहीं है। जातीय राष्ट्रवाद चल नहीं सकता, फिर भी उसके अतिरिक्त व्यवस्था के तल पर दूसरी बुनियादी धारणा आज उपलब्ध नहीं है। राष्ट्र संघ का निर्माण हुआ है, लेकिन वह केवल वैसी इकाइयों का समूह है। द्वन्द्वात्मक शक्ति का ही तर्क वहाँ भी चलता है।

सोचना होगा मनीषियों को कि प्रतियोगिता के आधार-मूल्य पर खड़ी यह सभ्यता आगे कैसे चल पाएगी? अब तक मनुष्य के पास प्रतिपक्ष को हराने या हटाने की क्षमता थी और अन्तिम निर्णय में वह काम आ भी जाती थी। लेकिन अब वह क्षमता इतनी बढ़ गयी है कि प्रतिपक्ष के नाश और विनाश का सिद्धान्त ही व्यर्थ हो गया है। युद्ध आगे असम्भव हुआ पड़ा है। कारण, कि उसमें हार-जीत का फल निकालने की सम्भावना सम्भव नहीं रह गयी है। क्या कल्पना की जा सकती है कि आज की बड़ी ताकतों में से दोनों ओर जो अणु बमों के ढेर लगे हैं, उनके विस्फोट पर कुछ या कोई भी बचा रह जाएगा? अर्थात कोई एक नाश की ओर बढ़ेगा तो एक साथ दूसरे के हाथों वह स्वयं विनाश पा जाएगा।

नहीं प्रतीत होता कि इस समय प्रतिद्वन्द्विता और प्रतियोगिता के सूत्र से अलग उन्नति का कोई दूसरा सिद्धान्त है भी। उसी सूत्र पर हमारी उन्नति होती आयी है और अपने चूड़ान्त शिखर पर आ पहुँची है। विस्मय होता है उसकी उपलब्धियों पर। उस उन्नति का वेग अब भी वैसा ही तीव्र है, बल्कि पहले से भी त्वरित है। पर सामने कोई गन्तव्य शेष नहीं रह गया है। गली मानो आगे बन्द है।

और उस उन्नति की प्रतिक्रिया भी नजर आने लगी है। युवगण उठ रहे हैं जो कुछ नहीं मानना चाहते हैं। माना गया सब कुछ उन्होंने देख डाला और उधेड़ डाला है। उन्नति से प्राप्त सब सुविधाएँ उन्हें सुलभ हैं, पर वे हठपूर्वक उनसे मुँह मोड़ रहे हैं। मानी गयी सभ्यता के आगे मानो वे आग्रह के साथ विद्रूप-स्वरूप बन गये हैं।

यह प्रश्न पूरे विश्व का है, साथ हर राष्ट्र का है। सबको उपाय पा लेना है जिससे समाज को सामंजस्य प्राप्त हो।

श्रीलंका में से सब तमिलों को उखाड़ दिया जा सकेगा, यह सम्भव नहीं है, जैसे कि पाकिस्तान बनने से सब मुसलमानों का निकल जाना सम्भव नहीं हुआ। हिन्दू-मुस्लिम और लंकाई-तामिली को अन्त में साथ रहना सीखना होगा। लेकिन मतवादी राष्ट्रवाद इसी संस्कार को सम्भव नहीं बनने देगा।

लोकतन्त्र में सिद्धान्ततः इस सामंजस्य की स्वीकृति है। लेकिन लोकतन्त्र की भूमिका बहुमतवादिता और प्रतिद्वन्द्विता की बनी रही तो यह सामाजिक सामंजस्य कभी सम्भव न हो पाएगा। लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था को जगह-जगह जो टूटना पड़ता है, सो इसी कारण। असहिष्णुता को मान्य तो नहीं माना जा सकता, पर यह दस्तावेजी कानून का प्रश्न नहीं है। प्रश्न गहरा है और हृदय का है। वह राष्ट्रीय चरित्र और संस्कारशीलता का है।

भारत में काँग्रेस सरकार को उखाड़कर शान्त निर्वाचन से जनता सरकार शासन पर आयी है। वह उदाराशय रहना चाहती है। नागरिक और प्रेस की

स्वतन्त्रता को उसने बहाल किया है। न्याय तन्त्र को ऊपर के अंकुश से मुक्त किया है। शासक के रूप में अवश्य उसके लिए सम्भव नहीं है कि दोष सिद्ध होने पर वह दण्ड देने से बच सके। पर उससे पहले हर नागरिक का सम्मान उस शासन में सुरक्षित माना जाना चाहिए।

प्रश्न होता है कि क्या उदार एक पक्ष रहे और विपक्ष को मनमानी करने की छूट रहती चली जाए? ठीक इसी जगह स्थिति विकट बन जाती है। शक्ति की नीति के पास इससे उबरने का कोई रास्ता नहीं बचता। और यही संकट है जिसमें हर राज्य और उसका शासन अटका और उलझा रह जाता है।

हमने आशा की थी और अब भी आशा रखते हैं कि भारत की राजनीति एक नया उदाहरण प्रस्तुत करेगी। गाँधी को जनता पार्टी ने अपना आदर्श स्वीकार किया है। अवश्य यह अन्तर है कि वे महात्मा थे और शासन के दायित्व से मुक्त थे। जनता पार्टी को शासन का दायित्व वहन करना है। पर कुर्सी का गुमान या मोह उसमें देखा गया तो पिछली सरकार से छाँटकर उसे अलग करने और मानने का कोई कारण जनता के पास नहीं रह जाएगा। अभी थोड़ा समय ही मिला है। परीक्षा का काल बीता नहीं है। राजनीतिक प्रश्न अभी उसे उलझाए रहे हैं। रचनात्मक को अपने ध्यान के केन्द्र में लेने का अवकाश उसे कम ही मिल पाया है। ये सब दलीलें दी जा सकती हैं। फिर भी लोगों को सान्त्वना मिलनी चाहिए, आशा की किरण प्राप्त होनी चाहिए, कि जिस प्रतिद्वन्द्विता के भाव से समूची राजनीति रुग्ण बनी हुई है, उससे मोरारजी भाई का गाँधीवादी शासन यथासम्भव स्वस्थ और उत्तीर्ण दीखेगा। उससे प्राप्त हो सकेगी वह दिशा कि जिससे राज्य की नीति को नैतिक संस्कार मिले और सभ्यता के संकट में से पार होने का गाँधी-उपाय विश्व के अनुमान में आ सके।

[सितम्बर, '77]

भ्रष्टाचार क्या और क्यों ?

एक सम्भ्रान्त सज्जन ने बताया, ''मैं रिश्वत को गलत मानता था, और मैं बेवकूफ था। अब अनुभव से जानता हूँ कि अगर बरबादी से बचना है तो रास्ते-भर पैसा देते हुए अपना काम निकालना चलना है।''

सुनकर मैंने उन्हें देखा। वे मुस्कुराए, बोले, ''मुझ पर छप्पन लाख टैक्स लग गया था। कोई मेरा उतना बड़ा कारोबार तो है नहीं। मैं इशारा समझ गया और छप्पन सौ में सारा काम निबट गया। जरा ईमानदारी जताने चलता तो पूरे छप्पन लाख मुझ पर ठुके हुए होते और मैं आज दाने-दाने के लिए मोहताज होता।''

थोड़ी देर के लिए सरकार और कानून को अलग रहने दीजिए। इन बन्धु ने उस अफसर का भला किया कि उसकी जेब में कुछ एक हजार रुपये पहुँचाए। उसने इनका भला किया कि भारी जुर्माने से इन्हें बचाया। परिणाम यह है कि दोनों समाज के शिष्ट, सभ्य वर्ग के सदस्य हैं और सन्तुष्ट हैं कि अपने परिवार के प्रति उन्होंने अपने कर्त्तव्य का उचित पालन किया, इस अर्थ में कि उन्हें कुछ विशेष सुविधा और सम्मान के स्तर तक उठाया।

सरकार का प्रश्न बीच में तब तक नहीं आता जब तक मामला अदालत से नहीं गुजरता। कोई कारण नहीं कि अदालत बीच में अड़े। फाइल की भरपाई हो चुकी है, कागज सब सही हैं। शिकायत अफसर को नहीं है, व्यवसायी को नहीं है, फिर भ्रष्टता कहाँ है? सब ओर शिष्टता-ही-शिष्टता है!

मैं सोच में पड़ जाता हूँ। इस दिल्ली शहर में क्या कोई हो सकता है जो तीन-चार हजार रुपया मासिक खर्च की क्षमता न रखता हो और फिर भी शिष्ट वर्ग का सदस्य माना जा सकता हो? नहीं, यह सम्भव नहीं है। आपके पास ढंग का ड्राइंग रूम नहीं है जहाँ अभ्यागत की चाव से खातिर की जा सके, फ्रिज नहीं है, टी.वी. नहीं है, कार नहीं, अच्छा अपार्टमेण्ट नहीं है, तो आप शिष्ट किधर से हैं? सम्माननीय कैसे हैं? बताइए कि जनता का मन्त्री आपके यहाँ क्योंकर आए? आपको ही उसके पास जाने का साहस कैसे हो? शिष्टता के स्तर तक उठे बिना आप शिष्टाचार तक का निर्वाह नहीं कर सकते। यदि आप समाज के

माननीय नागरिक बने रहना चाहते हैं, तो आवश्यक है कि कम-से-कम चार हजार मासिक व्यय से ऊपर की व्यवस्थाआपके पास हो।

इज्जत कौन नहीं चाहता? उसके बिना जिन्दगी हराम है। इज्जत के लिए जरूरी है कि जरूरी चीजें आपके पास हों। चीजें खरीदी जाती हैं पैसे से। इसलिए अन्त तक इज्जत भी पैसे से खरीदी जाने की चीज हो जाती है।

और वही चक्कर चल रहा है। सबको इज्जतदार बनना है। इसलिए सभी को आवश्यक पैसा बटोर लेना है। कुछ तरीके पैसा बनाने के जायज समझे जाते हैं, कुछ दूसरे नाजायज माने जाते हैं। अलग समाजों के अलग-अलग नियम हैं। सोशलिस्ट देश जो मानते हैं, डेमोक्रेटिक वे नहीं भी मान सकते यानी जायज और नाजायज के बीच की रेखा व्यवस्था की अपनी मानी और बनायी हुई है। आदमी के मन के अन्दर वह साफ नहीं है। फिर भी यह साफ है कि इज्जत पैसे से बनती है।

अर्थात भ्रष्ट कुछ तभी है जब अदालत की तरफ से वैसा उसे दाग़ दिया जाता है। उससे पहले-पहले वह शिष्ट है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति की ओर से शिष्ट वर्ग में बने रहने के लिए ही वह आचार होता है जिसे हठात पीछे कानून को भ्रष्टाचार कहना पड़ता है।

भष्टाचार को दूर करने की बराबर और पूरी कोशिशें हो रही हैं। पहली सरकार में भी हुई थीं, अपनी सरकार भी कर रही है। हुकूमत की सख्ती पहले इमरजेंसी के नाम पर हुई थी, अब भी किसी-न-किसी कानून के मातहत वह आयद की जाएगी। आज ही कानून मन्त्री का वक्तव्य है कि मीसा को हटाने से पहले कोई कानून की धारा ऐसी बना लेनी होगी जिससे असामाजिक तत्त्वों को सीधे धर लिया जा सके। इमरजेंसी के जमाने में खतरा ज्यादा था। इसलिए यही मित्र बताते थे कि भ्रष्टाचार कुल मिलाकर कम तो नहीं हुआ था; हाँ, धन की दर ऊँची हो गयी थी। जहाँ दस से काम चलता था वहाँ सौ का नोट लगता था! यानी ऊपर की सख्ती से भ्रष्टाचार को रोका नहीं जा सकता है, उसमें कमी तक नहीं लायी जा सकती है। कारण, कानून के मुकाबले के लिए वह नहीं होता, वह व्यवहार समाज में इज्जत पाने के लिए होता है। मुनाफाखोरी, जमाखोरी, घूसखोरी कानून में क्रान्ति चाहने और लानेवाले नहीं करते हैं। करते वे हैं, जिन्हें समाज में इज्जत बनानी और रखनी होती है।

साफ आशय यह कि भ्रष्टता को मिटाने के लिए शिष्टता के साथ उसकी नातेदारी को तोड़ना होगा। पैसे के समाज-मूल्य को समाप्त करना होगा। चीजें तो हमेशा पैसे के माध्यम से बेची-खरीदी जाती रहेंगी, पर इज्जत की बेच-खरीद भी पैसे के हाथ रहेगी तो जिस-तिस तरह पैसा हथियाने की चेष्टा में कोई कमी

आनेवाली नहीं है।

ऊपर गिनाए तीनों अपराध सभ्यवर्गीय हैं। अब तो डकैती के कारनामों में भी अधिकांश जेण्टलमेन पाए जाते हैं। ठगी तो बिना सम्भ्रान्त वेश के की ही नहीं जा सकती है; अर्थात् असामाजिक तमाम अपराध समाज-मान्य वर्ग में बढ़ने और चढ़ने के लिए होते हैं।

अगर सचमुच चाहा जाता है कि भ्रष्टाचार समाप्त हो तो शासन व्यवस्था और समाज-व्यवस्था को, साहसपूर्वक सार्वजनिक जीवन की धुरी को ही बदलना होगा। काँग्रेस ने चुनाव-फण्ड में करोड़ों-करोड़ रुपया जिन-तिन तरीकों से जमा कर लेना जरूरी समझा, क्या जनता पार्टी या किसी दूसरी पार्टी के लिए भी यह उसी भाँति आवश्यक न होगा? संग्रह के बिना सामूहिक जीवन का काम नहीं चल सकता। लेकिन यह अवश्य हो सकता है कि गाँधी के अनुकरण में समाज मूल्य और सार्वजनिक मूल्य-संग्रह की जगह अपरिग्रह हो। और यह हो सके, इसके लिए आवश्यक होगा कि समाज-नेता और राजनेता उस दिशा में स्वयं दृष्टान्त बनें।

[सितम्बर, '77]

नीति, राजनीति और संस्कृति

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का नाम लिये बिना श्रीमती इन्दिरा गाँधी का कोई वक्तव्य रह नहीं पाता है। संघ के बारे में जनता पक्ष के कुछ प्रमुख जनों का आग्रह है कि उसे उनके दल में विलीन हो जाना चाहिए। श्री जयप्रकाश ने भी कहा कि संघ की अब अलग से आवश्यकता नहीं है।

इसके उत्तर में संघ के अधिकारियों का कहना है कि संघ का काम और आधार सांस्कृतिक है। इसलिए किसी राजनीतिक दल में उसके विलीन हो जाने का सवाल नहीं उठता है।

यहाँ दो प्रश्न विचारणीय हैं। एक व्यावहारिक, कि क्या संघ यथार्थ में सांस्कृतिक है? दूसरा तात्विक, कि राजनीतिक और सांस्कृतिक में क्या सम्बन्ध और तारतम्य हो?

यह स्वीकृत है कि जनसंघ के पीछे बल का अवलम्ब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ था। जनसंघ अब पृथक अस्तित्व में नहीं रह गया है, जनता पार्टी में पूरी तरह मिल गया है। पार्टी के अन्य घटकों के लिए आपत्ति का अवकाश रहता है कि जनसंघ पार्टी के अन्दर होकर भी यदि उस-इसके द्वारा बाहर भी फैलाव रखता है तो यह उचित नहीं है। इस सबमें यह स्वीकृत है कि बल की दृष्टि से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रभाव नगण्य नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि चिन्तनीय है।

राजनीतिक दलों को सोचने की आवश्यकता है कि यदि आर.एस.एस. इतना बल अर्जित कर पाया तो उसका भेद क्या है? संघ शाखाएँ चलाता है, स्वयंसेवकों का निर्माण करता है, तो यह प्रवृत्ति किस प्रेरणा से इतनी शक्ति संग्रह कर सकी? खुलकर राजनीतिक न होने से इसके पास सत्ता, सम्पत्ति का प्रलोभन देने के उपाय तो है नहीं। फिर उस काम के सातत्य की प्रेरणा कहाँ से आती है? सब जानते हैं कि संघ के पास समर्पित अनेक कार्यकर्ता हैं। उनमें समर्पण का भाव कैसे भर आता है? राजनीतिक दलों के पास ऐसे कार्यकर्ता क्यों नहीं हो पाते हैं?

किन्तु इतने से इस प्रश्न का निर्णय नहीं होता कि संघ क्या वास्तव में सांस्कृतिक है?

यदि उसका बल सर्वथा संगठनात्मक है तो उसे अराजनीतिक कहना कठिन होगा। संस्कृति का सम्बन्ध विवेक से है और विवेक संगठित नहीं होता। उसका स्रोत अन्तःकरण है और सामुदायिकता अधिकांश अन्तःकरणहीन होती है। समुदाय का अन्तकरण अमुक व्यक्ति हो तो उससे उस समुदाय की प्रवृत्ति का स्वरूप निश्चित होता है; अर्थात् यदि संघ में संगठनात्मक पक्ष से ऊपर और प्रधान चिन्तनात्मक पक्ष नहीं है तो उसे विवेकशील संस्कृति का प्रतीक नहीं माना जा सकेगा। तब उसे एक शक्ति संस्थान या राजनीतिक संस्थान ही कहना पड़ेगा। लोग कह सकेंगे कि शाखाओं में स्वयंसेवकों को लाठी चलाना वगैरह सिखाया जाता है तो क्या आशय उसका अपनी एक सेना खड़ी कर लेना ही नहीं है?

बहरहाल यह प्रश्न संघ का अपना है। यदि अपने सांस्कृतिक स्वरूप का दावा उसे प्रमाणित करना है तो उसमें चिन्तनात्मक पक्ष को उभरकर प्रत्यक्ष में ऊपर आना होगा। चिन्तक का सन्दर्भ मनुष्य होता है, राष्ट्र का सन्दर्भ उसको व्यवहार के स्थल पर आने पर ही मिल पाता है। अभी तक आम धारणा है कि राष्ट्र से आगे चिन्तन का कोई सन्दर्भ संघ को प्राप्त नहीं है। ऐसी हालत में राजनीतिक दल संघ के अराजनीतिक होने के बारे में आश्वस्त न हों तो वह स्वाभाविक है। तब एक शक्ति केन्द्र के रूप में आगे-पीछे राजशक्ति को उससे सुलझने के सम्बन्ध में सोचना हो ही जाएगा। यदि राजसत्ता सदा-सर्वदा के लिए स्वयं उसे अग्राह्य हो तभी संघ को मूलरूप से सांस्कृतिक माना जा सकेगा। अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि राजनीति इतिहास के लिए साधन-सामग्री में अधिक नहीं है, जबकि संस्कृति उस इतिहास का सार और निष्कर्ष है। राजनीति का वृत्त छोटा है। संस्कृति की व्यापकता उसमें समा नहीं सकती है। इसलिए यह दावा कि राजनीति संस्कृति को अधीनता में ले, मिथ्या दम्भ है। प्रचलित केन्द्रित राज्यसत्ता का विचार ऐसा साहसी दावा करता दीखता है। इसी को अधिनायकवाद कहा जा सकता है जो मानव विवेक को कुण्ठित और उसकी सत्प्रेरणाओं को दलित करता है। इतिहास में ऐसी सत्ताओं को सदा गिरना हुआ है, गिरते रहना होगा। कारण, इतिहास की सार्थकता मानव-सांस्कारिता के उन्नयन में है।

दुःख की बात है कि संस्कृति का इधर घोर अवमूल्यन हुआ है। पण्डित नेहरू के समय से कुछ ऐसा भाव बनता गया है कि नृत्य, संगीत, नाटकवाला कार्यक्रम ही सांस्कृतिक कार्यक्रम कहला सकता है। संस्कृति की यह छीछालेदर असह्य होने के निकट आ गयी है। राजनीति की कोशिश संस्कृति की क्षमता को इस तरह हीन बना रखने की होती आयी है। किन्तु संस्कृति ही है जो राजवाहक को यथोचित संशोधन दे सकती है। भारतीयता के इतिहास में राजशक्ति कभी

ऐसे अंकुश से हीन नहीं हो पायी। अर्वाचीनता में अवश्य अन्तर पड़ा, लेकिन गाँधी ने उस युग में भी राजनीति को फिर से नैतिक मूल्यों से जुड़े रहना सिखाया। गाँधी-विचार से अब भी आशा है कि वह राजनीति का अनुयायी नहीं बनेगा और यदि संघ को उस दिशा में अग्रसर होना है तो गाँधी-नीति के लिए उसे अपने में अधिकाधिक समावेश करते जाना होगा।

[अक्टूबर, '77]

सदाशयता और अधिनायकता

क्या सचमुच यह सिद्ध किया जा रहा है कि शासन में उदाराशयता का कोई स्थान नहीं है? इन्दिरा-नेतृत्व के तेवर से यही प्रतीत होता है। अपने शासन काल में उन्होंने विरोध पक्ष की प्रवृत्तियों के लिए स्थान नहीं छोड़ा। हो सकता है, उस विरोध में कुछ उग्रता की मात्रा रही हो। गाँधी-भाषा का शुद्ध सत्याग्रह तो वह नहीं ही था। फिर भी उसमें लोकतान्त्रिक मर्यादा का ऐसा भंग नहीं दीखता था। यदि उसमें उत्कटता आयी तो इलाहाबाद के उच्च न्यायालय के फैसले के बाद, जिसने इन्दिरा गाँधी को भ्रष्टाचार का दोषी पाया था। इन्दिरा शासन ने मध्यवर्ती न्याय संस्था के लिए अवकाश नहीं छोड़ा और असहमति को सर्वथा निषिद्ध कर डाला। मीसा कानून जारी हुआ, जिसमें सुनवाई न थी और विरोधी को अनियतकाल के लिए अन्दर कर दिया जाता था।

संयोग कि निर्वाचन आया और भारत ने अपने भारी और कठोर बहुमत से उस नीति का अपवाद किया। अधिनायकता वैसे भी भारत के कभी अनुकूल नहीं रही। इतिहास में दो राज सबसे व्यापक रहे हैं—एक, अशोक का और दूसरे, अकबर का। दोनों सेनानी थे और सम्राट थे, पर अन्त तक दोनों को भारत की प्रकृति के अनुकूल उदाराशय होना पड़ा।

गाँधी के जमाने से अदालत या जेल जाने में किसी प्रतिरोध की बात सोचना असामान्य रहा है। कानून की अवज्ञा हुई तो सविनय हुई है। गिरफ्तारी पर किसी ने कभी कोई प्रतिवाद नहीं किया। भारतीय राजकारण की यह स्वीकृत परम्परा रही है। इन्दिरा-नेतृत्व क्या इसमें भंग लाना चाहता है?

निर्वाचन से जनता पार्टी शासन में आयी। उसने जनतन्त्र की रक्षा की शपथ ली। बार-बार आश्वासन दिया कि बदले की कोई भावना उनमें नहीं आ पाएगी। हाँ, दायित्व का निर्वाह होगा और सामान्य कानून की पूरी रक्षा की जाएगी। कानून के समक्ष छोटे-बड़े का विचार नहीं रखा जा सकेगा। सब तरफ से दबाव आया कि संविधान की अवज्ञा बड़े से बड़ा अपराध है। आचार्य कृपलानी की भाषा तो इस सम्बन्ध में और भी कठोर रही, पर जनता शासन ने हठपूर्वक राजनीतिक

कारणों से कोई कदम उठाने से इनकार किया। खुद इन्दिराजी की ओर से चुनौती आई। पर वह शासन के सन्तुलन को डिगा नहीं सकीं।

अन्त में जब जाँच के परिणामस्वरूप कुछ प्रमाण मिले और अभियोग सिद्ध होता दीखा, तब आदेश जारी हुआ। मजिस्ट्रेट ने उन्हें बरी किया तो भी कोई सीधी कार्रवाई नहीं की गयी। बात केवल उच्च न्यायालय के सामने पेश की गयी। शायद पहली बार यह घटना हुई है कि सदन में विरोध पक्ष के नेता को मन्त्री-पद के समान स्वीकृति दी गयी है। स्पष्ट है कि देसाई सरकार खतरा उठाकर भी सरकारी ज्यादती को जगह नहीं देना चाहती।

पर सवाल है कि क्या सरकार के लिए ऐसा खतरा पैदा किया जाता रहेगा? अपराधों से निबटने के लिए तो उसके पास कानून है और कानून का चौकसी से पालन उसका कर्तव्य है। असामाजिक तत्त्वों से उसके जरिये भरपूर निबट लिया जा सकता है, पर क्या राजकारण में पड़े हुए व्यक्तियों और नेताओं की ओर से भी वह खतरा पैदा किया जाएगा? जगह-जगह के समाचार हैं कि पक्ष-विपक्ष में आमने-सामने जमकर खासी भिड़न्त हुई है। काँग्रेस नेतृत्व में गहरी गरमागरमी है। इन्दिराजी के साथ बड़ा दल है और उसमें वे भी हैं, जिनके पीछे सार्वजनिक सेवा का जरा भी इतिहास नहीं है। इन्दिराजी को और काँग्रेस को सोचना है कि क्या भारत के राज्य के लोकतान्त्रिक रूप को रखना है, या उस रूप को बदल डालना है? ये प्रदर्शन जहाँ जिन्दाबाद और मुर्दाबाद आये-रोज आपस में टकराए जाते हैं, कब तक चलेंगे और चलने दिये जाएँगे?

माना कि राजनीति बड़ा खेल है, पर है तो खेल ही। खेल के नियम होते हैं। नियम न रहे तो खेल, खेल न रहे, वह हुल्लड़ हो जाए। राजनीति की मुसीबत यह है कि वहाँ कोई नियम नहीं रहता है, न नियामक रहता है। स्पर्धा तो हर खेल का लक्षण रहेगी ही, वहाँ हार-जीत भी होगी। लेकिन कोई अम्पायर होगा, रेफरी होगा। जनतन्त्रात्मक रूप आज जो प्राप्त है, वह संसदीय पद्धति का है; अर्थात् शक्ति-स्पर्धा का स्वरूप वहाँ सौम्य रहेगा। नागरिक मर्यादाओं का उल्लंघन वहाँ नहीं होगा।

किन्तु प्रतीत होता है कि निरी शक्ति का पन्थ उन मर्यादाओं को मन से स्वीकार नहीं करता। परिणाम अपने ही आसपास हमें साफ दिखाई दे रहे हैं। आशा थी और है कि भारत उन दुष्परिणामों से बचा रहेगा। आखिर यह गाँधी का देश है। लेकिन आसार कुछ दूसरे दिखते हैं। शक्ति का तर्क विवेक की सुनना नहीं चाहता है। राजकारण में सीधे बल-परीक्षण की हविस छायी जा रही है। अगर निर्णय शक्ति की स्पर्धा में से ही आनेवाला है तो निश्चय है कि राज को अन्त में पुलिस-राज बनना होगा। सैन्य की अधिनायकता कोई नयी चीज नहीं

है। अगर बदाबदी के गृह युद्ध में से ही निपटारा होना हो तो न्याय आखिर डण्डे के हाथों में आकर रहेगा और लोकतन्त्र की सारी कल्पना को उसके समक्ष टूट रहना होगा।

समय है कि राजनीति और राजनेता चेतें।

[अक्टूबर, '77]

अधिकारों का चक्रव्यूह

अधिकारों का सवाल सदा उलझन पैदा करता रहा है। लड़ाइयाँ उसी पर होती आयी हैं। सवाल वह और भी नम्बर एक हो गया जब से अमेरिका के राष्ट्राध्यक्ष श्री कार्टर ने मानव अधिकार की आवाज उठायी है। कुछ व्यवस्थाओं को वह दखल मालूम देता है और नतीजे में उससे अन्तरराष्ट्रीय तनाव बढ़ता प्रतीत हो रहा है।

दूसरी ओर शंका की जाती है कि क्या खुद अमेरिका में मानव अधिकार प्रतिष्ठित है? काले और गोरे वहाँ समान हैं?

कहा जा सकता है कि हाँ, कानून में समान हैं; बल्कि पिछड़े होने के कारण इस काले वर्ग के लिए कुछ अतिरिक्त रियायतें भी कानून से वहाँ दी गयी हैं। लेकिन एक गोरे अमेरिकी नागरिक ने अदालत में दावा दायर किया है। उसका कहना है कि पिछड़े होने के नाम पर नीग्रो वर्ग के लिए रियायतन जो अमुक प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे गये हैं, उसके कारण मेरे मानवाधिकार का हनन हुआ है। परीक्षा में मैंने अधिक अंक प्राप्त किये, लेकिन सिर्फ इस कारण कि मैं काला नहीं, गोरा हूँ, मुझे प्रवेश नहीं मिल सका।

सभी जगह अल्पसंख्यकों का प्रश्न मौजूद है। स्वीकार किया जाता है कि उनको विशेष सुरक्षा मिलनी चाहिए। किन्तु किसी एक के प्रति यदि अधिक न्याय करने की कोशिश से अन्य के प्रति अनजाने अन्याय हो जाता है, तो उसका क्या उपाय है? प्रतीत होता है कि इस उलझन से पार पाने का कोई भी उपाय नहीं है।

लोकतन्त्र में वयस्क मताधिकार की बात कहकर मानो मनुष्य-मनुष्य की समानता की घोषणा कर दी गयी है। अमीर को एक वोट तो गरीब को भी। भेदभाव का कहीं अवकाश नहीं। आप पढ़े हो सकते हैं, दूसरा अपढ़, लेकिन लोकतन्त्र में मूल्य दोनों के बराबर हैं।

लेकिन इस समानता से काम नहीं चलेगा। कारण जनसमाज सागर नहीं है। उसमें भँवर हैं और अलग-अलग पोखर भी हैं; जाति हैं, वर्ग हैं, दल हैं

और अन्यान्य नामों पर जुटे अलग-अलग समुदाय हैं। कोई उनमें अल्पसंख्यक है तो कुछ अधिसंख्य; अर्थात वयस्क मताधिकार के आधार पर जो उनके साथ समान न्याय होता है, वही उनके अलग-अलग के प्रति अन्याय बन जाता है।

अधिकार के बँटवारे के प्रश्न से न्याय सदा जूझता रहा है और नये-नये कानून बने हैं। कानूनों से लगा है कि अधिकारों के बीच समीचीन सामंजस्य बिठा दिया गया है, पर व्यवहार में वैसा होता नहीं दीखता है। कानूनी न्याय और व्यवहारगत अन्याय दोनों साथ-साथ चलाने के दृश्य देखे जा सकते हैं।

दलितों और हरिजनों का प्रश्न लीजिए। जयप्रकाशजी कहते हैं कि उनको वर्गीय आधार पर गठित करना होगा और उचित अधिकारों को उन्हें प्राप्त कराना होगा। शायद वे ठीक कहते हैं। लेकिन एक का अधिकार दूसरे के प्रति होता है और इसलिए उसके विरोध में हो जाता है। तभी इनके अधिकारों की जमीन पर सदा ही झगड़ा बनता आया है। विलायत के मशहूर चिन्तक एच.जी. वेल्स ने मानव अधिकार के सवाल को गहरी बुनियाद पर उठाया और एक चार्टर तैयार किया था। उसे दुनिया के गिने-चुने चिन्तकों के साथ सम्मति के लिए वह चार्टर गाँधी को भी भेजा गया था। गाँधी ने लिख दिया कि चार्टर तो इससे बेहतर भी बन सकता है, मैं ही बना सकता हूँ, पर अमल में बनना वह कर्तव्य का चाहिए। गाँधी ने हरिजनों के सवाल पर जान की बाजी लगा दी। हरिजन सेवक संघ बनाया; मगर संघ में अधिकांश सवर्ण जन रखे गये। डॉ. अम्बेडकर हरिजनों के अनन्य नेता थे और उनका रुख बनाम का रहा : असवर्ण बनाम सवर्ण। प्रश्न तो अन्त में सम्बन्ध का आता है, और हर सम्बन्ध में दो सिरे होते हैं। बनाम का रुख एक सिरे को दूसरे के विरोध में डाल देता और इस तरह प्रश्न को तीखा कर देता है। अन्त में तो तनावों को समाप्त होना है और सम्बन्ध में से शोषण और हिंसा के भाव को दूर होना है। बीच में बनाम डाल देने से सम्बन्ध के कभी भी न्यायोचित और स्निग्ध बनने की सम्भावना दुष्कर हो जाती है। गाँधी ने सवर्ण और असवर्ण, महाजन और मजूर के बीच में अपने को डाला तो इसलिए कि परस्पर प्रतिकूलता का भाव खत्म हो और दोनों आपसी निर्भरता की अनिवार्यता पहचाने। उनकी संस्था का नाम इसलिए 'मजूर महाजन संघ' हुआ।

हिन्दू-मुस्लिम सवाल भी भारत में उत्तरोत्तर अधिकार का बनता गया और विभाजन की दुर्घटना में उसका अन्त हुआ। काँग्रेस और लीग के बीच आकर गाँधी ने कोशिश भी की कि दोनों अपने धर्म को पहचानें और वहाँ से अपने कर्तव्य का निर्णय पाएँ, पर राजनीति में उतना धैर्य कहाँ था? दृष्टि भी गहरी उसके पास कहाँ थी? और उस जमीन पर वह सवाल दोनों पक्षों को अब भी परेशान कर रहा है।

हर व्यक्ति कहीं किसी-न-किसी वृत्त से जुड़ा है। यह अपने और अपने वर्ग के लिए स्वीकृति का दावा कर सकता है, पर वह अपने में और अपने वर्ग में सीमित न रह जाए तो वही बड़े वृत्त का भाग बन जाता है। मैं जैनेन्द्र हूँ, जैन हूँ। लेकिन क्या यह होकर भारतीय नहीं हो सकता? आगे क्या विश्व-नागरिक भी नहीं रह सकता? अधिकार मुझे सीमित बना छोड़ेगा—सीमित, अहंमन्यता की सीमा तक। लेकिन मैं ही अगर सबको मानता हूँ और सबके लिए अपने को मानता हूँ तो समस्या मुझ पर से कटती जाती है और तब शायद 'मैं' रोग नहीं रहता, उपचार बनता जाता है।

प्रतीत होता है कि अधिकारों के बीच शायद समाधान का भाव आने में सहायता उससे मिलेगी जो अधिकार चाहता नहीं, भोगता नहीं, अधिकार सब 'ईश्वर' को दिये रहता है।

[नवम्बर, '77]

लोकतन्त्र और रचनात्मकता

अपनी सफाई में कानूनी ढंग का जो पत्र शाह कमीशन को श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भेजा है, वह कुछ दूरगामी महत्त्व के प्रश्न और मुद्दे उठाता है।

आपातकालीन स्थिति को राष्ट्रपति के अनन्तर संसद की स्वीकृति मिल चुकी थी। इस तरह वह आगे किसी विचार या अदालती निर्णय का विषय नहीं रहता है। संसद राष्ट्र की सर्वोच्च सत्ता है और वहाँ से निकले निर्णय की वैधता को चुनौती नहीं दी जा सकती।

राजनीति द्वारा स्वीकृत वैधानिक सत्ता का निर्णय इतिहास दे सकता है अथवा लोकतन्त्र में निर्वाचन के जरिये उसमें अदल-बदल लाया जा सकता है, अन्यथा उपाय केवल वह है जिसे क्रान्ति कहते हैं।

क्रान्तियाँ हुई हैं। लेकिन उनका परिणाम अभीष्ट नहीं आया है। अधिकांश उनका अन्त तानाशाह द्वारा हुआ है। यह उन क्रान्तियों का इतिहास है जो बलपूर्वक की जाती हैं। इस भारत में अभी एक क्रान्ति हुई जो शान्त मतदान द्वारा सम्पन्न की गयी।

किन्तु मतदान का समय पाँच साल बाद आता है। यदि कानून विधान-सम्मत हो, पर असह्य और अनुचित हो तो इस बीच क्या किया जाए? जनता क्या करे? प्रजा क्या करे?

यह प्रश्न है जो इन्दिरा का पत्र खड़ा करता है, और यह बहुत बड़ा प्रश्न है। इन्दिराजी का कहना है कि बाकायदा निर्वाचित विधानसभाओं को बलात भंग किया जा रहा था। कानून तोड़ा जा रहा था; तोड़ने को उकसाया जा रहा था उन वर्गों को, जो शासन के अंग हैं। राष्ट्र को बाहर के षड्यन्त्रों के साथ, और अलग, इस तरह के भीतरी षड्यन्त्रों का भी मुकाबला करना था। प्रधानमन्त्री की हैसियत से मुझ पर राष्ट्र की रक्षा का दायित्व आता था और आपातकालीन स्थिति के कदम को राष्ट्र की सर्वोच्च सत्तात्मक संस्था ने मान्यता दी थी। बागी आन्दोलन से मुझे लोकतन्त्र की रक्षा करनी थी और इमरजेंसी के द्वारा उचित एवं वैध रूप से वह रक्षा की जा सकी और राष्ट्र अराजकता से बच गया।

यह प्रश्न उठता है कि लोकतान्त्रिक पद्धति से, जो पूरी तरह विधानसम्मत है किन्तु अनुचित है, उसके निराकरण के लिए उपाय क्या हो? और उसकी मर्यादा क्या हो?

लोकतन्त्र के आविष्कार द्वारा मानव समाज ने यह विधान किया कि दण्ड और उसमें गर्भित दमन अथवा हिंसा का एकाधिकार शासन सत्ता को अर्पित किया जाएगा और कोई नागरिक कानून को हाथ में नहीं ले पाएगा। जनाधिकार इस तरह जनतन्त्र द्वारा स्वेच्छा से सीमित कर लिया गया।

तो क्या जनतन्त्र में जनता पाँच-छह साल की अवधि तक अपनी सहायता में सर्वथा निरुपाय हो जाती है? इस बड़े प्रश्न का सही और सच्चा जवाब गाँधी के पास से आया। अमेरिका के फक्कड़ चिन्तक थोरो ने सविनय अवज्ञा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और वैसा प्रयोग भी किया। किन्तु वह वैयक्तिक रहा। इतिहास में पहली बार गाँधी द्वारा उसका राष्ट्रव्यापी प्रयोग हुआ। उन्होंने सत्याग्रह का आविष्कार किया और अवज्ञा के व्यक्तिगत नहीं, प्रत्युत समूह एवं राष्ट्रगत अधिकार को प्रतिष्ठित किया। किन्तु दोनों जगह कृत्य और शब्द को ही नहीं, विचार को, अहिंसा को भी अनिवार्य बताया गया। आग्रह के साथ सत्य और कानून की अवज्ञा के साथ सविनय की शर्त अपरिहार्य रखी गयी।

इस प्रकार राजनीति में एक नये आयाम का प्रवेश हुआ, अर्थात राजनीतिक द्वन्द्व को नैतिक भूमिका मिली और उसका स्तर उठा।

क्या जनता पार्टी की मुहिम या उसके उदय के पहले का जे.पी. आन्दोलन राजनीतिक से अधिक नैतिक रह सका? तब इलाहाबाद हाई कोर्ट से मिली बीस दिन की मोहलत का क्यों सम्मान नहीं किया गया? क्यों जिद रही कि इन्दिरा गाँधी फौरन गद्दी छोड़ें, मकान छोड़ें और क्यों उस दावे और धमकी के अधीन रैलियाँ चढ़ायी गयीं? क्या प्रतिपक्ष के प्रति मानवीय सम्मान की भावना के यह अनुकूल था? क्या सम्भव न था कि इन्दिरा गाँधी को इस आक्रामक नीति से अपनी जान का डर हो आये और आत्मरक्षा में वह जो बने, कर गुजरें?

गाँधी के आन्दोलन की पहली विशेषता थी कि प्रतिपक्ष को सम्पूर्ण अभय का विश्वास रहता था। स्वपक्ष के लिए तो सब प्रकार के कष्ट सहन का ही आह्वान था। कष्ट विपक्ष को देने की तनिक भी अनुमति न थी।

और आन्दोलन का परिणाम क्या आया? क्या राजनीति का नैतिकीकरण हुआ? उसका स्तर उठा? क्या टिकटों और पदों के होड़ में कमी आयी? दृष्टि क्या रचना की ओर मुड़ी? क्या बाद में भी राजकारण ही प्रथम और मुख्य व्यवसाय नहीं बना रह गया? क्या नागरिक मूल्य प्रतिष्ठित हुए? भ्रष्टाचार कम हुआ?

कहना होता है कि द्वन्द्व और प्रतिद्वन्द्व की ही भावना को लेकर चलनेवाली

राजनीतिक प्रवृत्तियों से अभीष्ट की सिद्धि नहीं होगी। उस विधि दल-द्वन्द्व नागरिक और सार्वजनिक जीवन के ऊपर छाया रहेगा और उसके नीचे जनमानस क्षुब्ध ही बना रहेगा, व्यक्ति अपने-अपने भाग में आये काम के प्रति स्वस्थ रचनात्मक भाव अर्जित नहीं कर पाएगा।

[दिसम्बर, '77]

गाँधी और नेहरू : निजी जीवन

महात्मा गाँधी और पण्डित नेहरू पर निकली दो किताबों पर इधर खासा विवाद उपस्थित हुआ है। लिखनेवाले दोनों भारतीय हैं, भाषा दोनों की अँग्रेजी है। इससे अनुमान हो सकता है कि लेखकों की निगाहें दुनिया के बाजार पर थीं। निगाह बाजार पर हो तो प्रेरणा में सस्तापन आ ही जाएगा। दृष्टि तत्त्वानुसन्धान की रही, यह कहना कठिन होगा।

नेहरू ने इतना लिखा पर अपने निजी जीवन के बारे में लगभग कुछ नहीं कहा। वह यह पसन्द न करते कि कोई उनके उस जीवन में झाँके या उस सम्बन्ध में उत्सुकता भी रखे। निजी जीवन व्यक्ति का अपना है, समाज के लिए उसमें जिज्ञासा रखने या दखल देने का कोई अवकाश नहीं है। सार्वजनिक जीवन अलग है, निजी अलग और प्राइवेसी व्यक्ति का बुनियादी हक रहना चाहिए।

गाँधी और नेहरू

पण्डित नेहरू के सम्बन्ध में उनकी जीवनी के लेखक को भी सामान्यत: यह ध्यान रखना चाहिए। अनुसन्धान की वृत्ति भिन्न है और उसके लिए कोई क्षेत्र निषिद्ध नहीं है। गाँधी नेहरू से इस विषय में एकदम अलग हो जाते हैं। जीवन में निजी और सार्वजनिक ऐसे दो खण्ड वे मान ही नहीं सकते। कोई दोष नहीं है जो उन्होंने अपने में पाया और बाहर सबके प्रति उजागर नहीं कर दिया। जीवन उनके निकट सत्य के लिए प्रयोग क्षेत्र रहा और अपने प्रयोगों के निष्कर्ष वे बराबर सबके सामने खुलकर रखते आये।

वेद मेहता ने उनके ब्रह्मचर्य के प्रयोगों के सम्बन्ध में लिखा तो है पर उसकी भूमिका गहरी हो सकती थी। गाँधीजी स्वयं इस बारे में खुले थे और अपनी ओर से अनेक से उस सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार चलाते रहे थे। क्या वैज्ञानिक अपने प्रयोगों के परिणाम को जगत के सामने रखकर ही विज्ञान को सम्पन्न नहीं करता है? गाँधी भी सत्य के प्रयोक्ता थे और जीवन को उसी साधना के विभिन्न प्राप्त हुआ मानते थे; अर्थात् यहाँ गोपनीय रखने के लिए कुछ भी नहीं है और जीवन

के विज्ञान को कभी समग्र होना है तो हमें खुली पुस्तक के रूप में जीना सीखना होगा।

गाँधी महात्मा थे और उनकी महात्मायी की रक्षा में बहुतों ने उनके ब्रह्मचर्य के प्रयोग के प्रसंगों को दबाए रखना आवश्यक समझा है। हितकामना में किये गये ऐसे आचरण को मैं श्लाघनीय नहीं समझ सकता। जिसको समाज-प्रतिष्ठा की कामना हो, उसके इस पक्ष को सचमुच हठात उभारने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। किन्तु अर्द्ध सत्य को लेकर ज्ञान-विज्ञान का उत्कर्ष हो नहीं सकेगा। प्रेम और काम के प्रश्नों को एक तरफ करके जीवन को सम्पूर्णता में समझना सम्भव नहीं होगा। व्यक्तित्व की कुंजी भी उस ममता में हाथ न आ सकेगी। अश्लीलता का स्थान बाहर जगत में नहीं है, मनुष्य के मन में है। इसलिए जगत और जीवन के आकलन के प्रयास में इस शब्द को आड़े नहीं आने देना होगा। समाज की रक्षा के निमित्त हम शुभाशुभ का बँटवारा कर सकते हैं; पर मनुष्य, जिसमें गुण और अवगुण दोनों देखे जाते हैं, अपने में एक है। उसमें फाँक डालकर गुण को अवगुण से परे रखने से मनुष्य को पूरा नहीं समझा जा सकेगा।

गाँधीजी के महात्मापन की कुंजी मुझे प्रतीत होता है, बाहर घटनात्मक जगत में घटनेवाले उनके स्थूल कार्यक्रमों में उतनी नहीं मिलेगी, जितनी इन प्रयोगों में तत्त्वावगाहन की दृष्टि से उतरने के साहस के द्वारा प्राप्त हो सकेगी। देवोपम रूप में अपने इतिहास के चरित नायकों को मानकर हम अपनी श्रद्धा अखण्ड बनाए रखना चाह सकते हैं। हो सकता है कि मानव के स्तर पर लाकर उन्हें दिखाने की चेष्टा हमें चोट पहुँचाए, पर स्वयं मनुष्य होकर हम तभी उनसे अपने विकास में सच्ची सहायता प्राप्त कर सकते हैं जब देख सकें कि एक ओर से वे हम जैसे भी थे। उत्तीर्णता और उत्कृष्टता वे कितनी भी प्राप्त कर सकें, पर मानव की मूल भूमिका से वे उच्छिन्न नहीं थे।

व्यवस्थापक-बुद्धि समाज-व्यवस्था की रक्षा में नकार-निषेध की प्रक्रिया अपना सकती है और अशिष्ट एवं अश्लील की रोकथाम के लिए कुछ निर्णय भी ले सकती है, पर चौमुखी जीवन-गवेषणा के अपने कर्तव्य से साहित्य को विरत नहीं कर सकती।

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध

स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का प्रश्न सार्वजनिक चर्चा के लिए सही तौर पर नाजुक समझा जाता है। नाजुक वह रहना भी चाहिए। लेकिन देखा जाता है कि सब काल और सब देश के साहित्य में मानो वही प्रश्न मध्यवर्ती रीढ़ के समान व्याप्त है। ब्रह्म वही है जो ब्रह्माण्ड में सर्वात्म भाव से व्याप्त है। ब्रह्मचर्य क्या इसी

की चर्या नहीं है? ब्रह्माण्ड का समस्त रहस्य केवल एक परस्पराकर्षण के तत्त्व पर टिका है। व्यक्तियों की परस्परता में आकर वही प्रेम और काम का रूप धारण करता है। इसलिए जीवन के इस पक्ष को हलकेपन से लेना दुर्भाग्यपूर्ण होगा। किन्तु उसके डर से किनारा लेकर निकल जाना उससे भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण होगा। कारण, उस प्रकार सब आधा और अधूरा रह जाएगा और हमारे सब प्रयत्न अक्रत-कार्य होने को विवश हो पड़ेंगे।

हिन्दुत्व : मीमांसा और सम्भावना

एक सज्जन कृपा एवं आशापूर्वक गोपाल गोडसे की पुस्तक मुझे दे गये : गाँधीवाद और मैं। आशा कदाचित यह रही हो कि मैं सही परिप्रेक्ष्य में नाथूराम गोडसे के कृत्य को देख सकूँगा और उन गाँधी के प्रति भी मेरी श्रद्धा में अन्तर आएगा जिनको महात्मा माना जाता है।

राजनीतिक हत्या को सामान्य हत्या से अलग मानना आवश्यक है। इसमें निजी वैर-विरोध का स्थान नहीं रहता है। वहाँ भाव रहता है उचित दण्ड देने का उसको, जो देशद्रोह का अपराधी है। अपराध के निर्णय के लिए अमुक आदर्शवादी व्यक्ति किसी न्यायाधिकरण की प्रतीक्षा में नहीं रहता, वह उस दायित्व को अपने हाथ में लेता और पुण्य कृत्य मानकर उसे सम्पन्न करता है। वह अपनी जान पर खतरा लेता है और शासन की ओर से आनेवाले दण्ड को सहर्ष स्वीकार करता है। भगतसिंह को इसलिए भारतवासी शहीद मानते और उनका सम्मान करते हैं। नाथूराम के विषय में वध्य अँग्रेज न होकर गाँधी है तो क्या केवल इस कारण उस कृत्य के मूल्य में बहुत अन्तर माना जाना चाहिए? इस प्रकार का तर्क उपस्थित करने के कारण में स्वयं गालियाँ खा चुका हूँ।

अर्थात गोपाल के भाई नाथूराम गोडसे के बारे में मुझ में कभी संशय नहीं रहा कि उन्होंने गाँधी का वध हिन्दुत्व की रक्षा में अमुक मतादर्श के अधीन होकर ही किया था। यह भी मैं मानता रहा हूँ कि वध हुआ अवश्य महात्मा गाँधी का था, पर किया गया वह राक्षस गाँधी का ही था। गोडसे के मन में जो जम चुका था, उस भूत का ही वध हुआ था। राजनीतिक हत्याओं में यही होता है। एक औचित्य पड़ जाता है और पाप ही पुण्य बन रहता है। इसलिए उस सम्बन्ध में सामान्य विचार पर्याप्त न होकर गहरे विचार की आवश्यकता है। किसी प्रकार के क्रान्तिवाद में अगर हत्या का अधिकार अपने माथे ले लिया जाता है तो वहीं इस गहन विचार की आवश्यकता उपस्थित हो जाती है। गाँधी के राग और अँग्रेज के द्वेष के कारण एक को उचित और दूसरे को अनुचित ठहरा देना कहाँ तक संगत माना जा सकता है? क्रान्ति का पन्थ जो ऐसी हत्याओं को उत्कर्ष देता है,

अपने में क्या गरिमामय माना जाना चाहिए?

राजनीतिक हत्या के अनन्तर दूसरा प्रश्न जो वह पुस्तक सामने लाती है—हिन्दुत्व और हिन्दुत्व की रक्षा का।

काँग्रेस नेताओं ने विभाजन जो माना उससे गाँधी को बाहर रखा गया। मन से पाकिस्तान बनने के बाद भी गाँधी ने इस अर्थ में उसे स्वीकार नहीं किया जब कहा कि वहाँ जाने के लिए क्या मैं कोई पासपोर्ट लेनेवाला हूँ? लेकिन हाँ, काँग्रेसी सरकार को अपने अनशन से उन्होंने विवश अवश्य किया कि पाकिस्तान को जो 55 करोड़ रुपया हिसाब से देना आता है, वह उसे चुकता करना ही चाहिए। यहीं से नाथूराम के मन में निर्णय बन गया कि गाँधी जैसे हिन्दू-विरोधी को आगे जीने देना नहीं होगा। गोडसे के मन में निश्चय था कि मुस्लिम तुष्टीकरण की गाँधी-नीति हद पार कर चुकी है। इस अन्याय को, इस कायरता को अवसर नहीं दिया जा सकता।

गोडसे, जैसा पुस्तक से मालूम हुआ, धर्मनिष्ठ हिन्दू थे। उधर गाँधी की धर्म-निष्ठा के बारे में भी किसी संशय का स्थान नहीं है। उनसे गीता-पाठ में और प्रार्थना में मरते दिन तक भी चूक नहीं हो पायी। फिर जो इन दोनों में भारी प्रतिकूलता का निर्माण हुआ सो क्यों? एक ने मारना आवश्यक समझा, दूसरे ने स्वेच्छा से मरना स्वीकार किया। इसमें हिन्दुत्व का आदर्श सिद्ध हुआ तो कहाँ, और क्यों? हिन्दुत्व की गरिमा विश्व के निकट इतिहास में आत्म-प्रतिष्ठ मानी जाएगी तो किसके द्वारा? गोडसे के या गाँधी के?

मैं मानता हूँ, गाँधी देश के लिए, धर्म के लिए जीते थे। देश को तो अपना मानकर काँग्रेस ने दो टूक हो जाने दिया, पर धर्म तो उस तरह दो टूक किया नहीं जा सकता। भारत धर्म से च्युत होगा अगर 55 करोड़ के मोह में, या पाकिस्तान के द्वेष में, उस ऋण की अदायगी में वह चूकेगा। यह धर्म की और हिन्दू आदर्श की निष्ठा की दृढ़ता थी कि उन्होंने सारे राजनीतिक मानस के विरोध में अपनी जान जोखिम में डालकर धर्म-रक्षा में सत्याग्रह ठाना और अपनी आत्माहुति दी। सरकार में साहस नहीं हुआ कि गाँधी की आत्माहुति को स्वीकार कर सके। यह परम साहसिक कार्य करके दिखाया गोडसे ने। गोपाल गोडसे ने सरदार पटेल की पुस्तक में स्तुति की है। पटेल भी जिसमें समर्थ नहीं हो सके, वह सामर्थ्य नाथूराम गोडसे ने प्रदर्शित किया कि गाँधी को अपराध का दण्ड मिलने ही नहीं दिया, प्रत्युत आगे बढ़कर अपने हाथों वह दण्ड दिया!

इस काण्ड में गाँधी ने हिन्दुत्व की आत्मा को, उसके धार्मिक आदर्श को, सर्वोपरि रखा और गोडसे ने उस आत्मा को और उस आदर्श मूल्य को नष्ट करना आवश्यक माना उस धर्म के शरीरवत सम्प्रदाय की रक्षा में। हम आत्महीन शरीर

को शव मानकर जला देते हैं। गोपाल गोडसे को एक दिन पहचानना होगा कि हिन्दू समाज और सम्प्रदाय को बचाने की चिन्ता में उनके भाई ने जिसको मुक्त और समाप्त किया, वह जाज्वल्यमान प्रतीक था आत्मस्थ हिन्दुत्व का। और वह हिन्दुत्व इतिहास में एवं विश्व में कभी सर्वमान्य होगा तो वह गाँधी की आहुति के प्रकाश में ही सम्भव हो सकेगा।

धर्मों में एक मात्र हिन्दू धर्म है जिस पर परिधि नहीं है; जो न किसी व्यक्ति से, न ग्रन्थ से, न तत्त्ववाद से बँधा है। इसलिए वही है जो सम्प्रदायातीत हो सकता है और जिसमें सब मत और सब जन समा सकते हैं। हिन्दूवाद आज संकीर्ण बन गया है, पर उसकी आत्मा आकाश की भाँति असीम है। वह ब्रह्ममय है। आत्मवन्त होकर हिन्दू धर्म सबको शरण दे सकता है। इससे बड़ी दूसरी विडम्बना नहीं हो सकती है कि वही एक सम्प्रदाय तक सिमटकर रह जाए और मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करने की जगह राष्ट्र-जीवन को आकीर्ण करने के काम आने लग जाए।

[जनवरी, '78]

गाँधी और गाँधीवादिता

इस 30 जनवरी को गाँधीजी की स्मृति में इस दिल्ली में श्रद्धापूर्वक गाँधी-दिवस मनाया गया है। देश के और नगरों से भी उसके मनाए जाने की सूचना है। हाल में अभी विदेश से आये कार्टर, कैलहन, हिलेरी जैसे अपने-अपने देशों के सर्वोच्च राष्ट्र-पुरुषों ने गाँधीजी के सम्बन्ध में जो उद्‌गार प्रकट किये हैं, उनसे प्रमाणित है, अगर प्रमाण की आवश्यकता थी, कि गाँधीजी की मान्यता और स्वीकारता देश में और दुनिया में गहरी होती जा रही है। उनमें आशाएँ केन्द्रित हो रही हैं और उनके जीवन के सन्देश का प्रभाव बढ़ रहा है।

किन्तु गाँधी-संस्थाएँ कम नहीं हैं। गाँधीवादियों का वर्ग भी विशेष छोटा नहीं है। गाँधी स्वयं जब कि सबके चित्त में गहरे उतर रहे हैं, तब क्या बात है कि ये सब निष्प्रभ दिखाई दे रहे हैं?

मुझे भय है कि गाँधी का राजनीतिकरण हुआ जा रहा है। निश्चय ही स्वतन्त्रतापूर्व भारत की राजनीति में उनका प्रभावी और यशस्वी नेता दूसरा नहीं था। परन्तु उन्होंने कहा कि वह तो धार्मिक हैं। मूलतः वह राजनीतिक नहीं थे, यह इसी से प्रमाणित है कि देश की स्वतन्त्रता के स्वागत में वह दिल्ली के आसपास कहीं न थे और भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के सदस्य तो थे ही नहीं। विभाजन के समय उस काँग्रेस के लिए आवश्यक तक नहीं रह गये थे।

राजनीतिकरण का परिणाम ही यह माना जाएगा कि गाँधीवादिता से गाँधीवादी व्यक्ति शिक्षक और निर्देशक बनता है, वह सेवक नहीं रह जाता है। गाँधी ने कहा, मेरा सन्देश मेरा जीवन है। प्रतीत होता है कि गाँधीवादी का सन्देश शब्द द्वारा तो मिलता होगा, जीवन द्वारा नहीं मिल पाता है। जीवनगत शब्द जब कि मनुष्य के मर्म को छूता है तब बाहर का शब्द दूसरे के सिर पर पड़ता है। वह कराता है, जगाता नहीं।

असल में गाँधी का सबसे बड़ा दान है—सत्याग्रह। मूल में सत्याग्रह की धारणा धार्मिक है। यह मताग्रह से सर्वथा भिन्न है। मत तो व्यक्ति का अपना स्वत्व बन जाता है। हम जाने-अनजाने अपने स्वत्व के आग्रह पर जिया करते

हैं। स्वत्व के अधिकार और आग्रह पर ही समस्याएँ खड़ी होती हैं। बहुत ही दुष्कर है यह कि आग्रह हमारा स्वत्व से हटकर और उठकर सत्य पर आरूढ़ हो जाए। कारण, सत्य में फिर स्वत्व की आहुति देनी पड़ जाती है। सत्याग्रह में स्वत्व विसर्जन आप ही गर्भित है।

गाँधी ने अपना कोई वाद नहीं माना और न ही चलाया। वादपूर्वक इसलिए जब गाँधी को लिया जताा है तो मानो उन पर अपना स्वत्वाधिकार स्थापित किया जाता है। वह मत-स्वत्व फिर व्यक्ति को मुक्त कैसे कर सकता है? वह स्वत्व उसका परिग्रह और बन्धन हो जाता है। इस स्वत्वाग्रही की भूमिका से सच्चे सत्याग्रही की सृष्टि कैसे हो सकती है?

भारत आध्यात्मिक देश माना जाता रहा है, पर वह अध्यात्म देश को परतन्त्र और पराधीन होने से बचा नहीं सका। वह सांसारिक से किनारा लेकर आत्मिक में लीन रहा। उस आत्मलीनता की शर्त थी पर के प्रति नितान्त अनाग्रह और सहनशीलता। गाँधी ने अध्यात्म में आवश्यक अंग के रूप में आग्रह और असहिष्णुता का योग दिया। आग्रह सत्य के प्रति और असहिष्णुता अन्याय के प्रति। यह सर्वथा नयी चीज थी। अन्याय से लड़ने का काम सांसारिक माना जाता था। और इस तरह तमाम कर्म-प्रवृत्ति अधार्मिक हो जाती थी। अध्यात्म की उस धारणा के अधीन लोगों ने सहज रूप से प्रचण्ड प्रवृत्तिशील गाँधी को धार्मिक की जगह राजनीतिक नेता मान लिया और उनका वही रूप समक्ष लिया जा रहा है। परिणाम है कि कर्मशील गाँधीवादियों के विचार के केन्द्र में बाह्यसत्ता से संलग्न प्रश्न ही मुख्य प्रश्न बन जाने हैं। सत्ता का केन्द्रीकृत रूप न रहे, वह विकेन्द्रित हो जाए, इस बात पर सविशेष ध्यान है। बड़ी केन्द्रित हुकूमतशाही की जगह अगर गाँव-गाँव में हुकूमतशाह बन जाए तो क्या उससे चल जाएगा? गाँधी हुकूमत को ही जड़ से नहीं चाहते थे; अर्थात राजसत्ता को एक दिन आत्मसत्ता में परिणत हुआ देखना चाहते थे यानी पार्थिव शक्ति के समक्ष एक नैतिक शक्ति जगा उठाना चाहते थे, जिसका स्रोत हर व्यक्ति में पड़ा हुआ है।

केवल हमारा पृथक-पृथक स्वत्वभाव उसके उदय को रोके हुए है। आशय कि नैतिक शक्ति का उदय व्यक्ति में उसी मात्रा में होगा जिस मात्रा में उसके जीवन से स्वार्थ का विसर्जन प्रकट होगा। स्वार्थ-विसर्जन का आरम्भ अपरिग्रह से होता है और विकास आकिंचन्य में सम्पन्न होता है।

गाँधी के समस्त रचनात्मक कार्यक्रम के मूल में यह दृष्टि थी। अपरिग्रह का धर्म अपनी संस्थाओं के लिए भी उन्होंने अनिवार्य बनाया। उनकी स्वदेशी के नीचे भी गहरे में वही अभिप्राय था। अर्थनीति के केन्द्र में यदि उन्होंने चरखे पर बल दिया तो उसका ही यही रहस्य है। आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन और

वितरण ग्रामगत सहज परस्परता में से सम्पन्न हो जाएँ तो मुद्रा की शोषण शक्ति समाप्त हो जाएगी। केन्द्रीय सत्ता का बल मुद्राधारित होता है। अगर बल का अधिष्ठान मुद्रा से हटकर उत्पादक श्रम में आ जाता है तो केन्द्र जीवन का फिर राजतन्त्र नहीं रहता, मानव व्यक्ति स्वयं उस समाज तन्त्र का केन्द्र बन आता है।

गाँधीजी के सामाजिक एवं आर्थिक आदि चिन्तन को गाँधीवादिता ने राजनीतिक चौखटे में जड़कर मानो उसे आत्महीन और निश्चेतन बना डाला है। यही कारण है कि समस्त गाँधीवादिता मानो राज्य के और राजनेता के तले आ गयी है।

गाँधी में लौकिक और आत्मिक ये दो पक्ष हैं ही नहीं। वहाँ समग्रता और संयुक्तता है। लेकिन गाँधीवादिता इस समय मानो एक त्रिकोण बन गयी है। विनोबा सूक्ष्म में प्रवेश कर गये हैं और कर्म से नितान्त विरत हो चुके हैं। जयप्रकाश नारायण राजतन्त्र में नहीं हैं और उस तन्त्र के समक्ष एक लोकतन्त्र का निर्माण चाहते हैं। तीसरे कोण हैं मोरारजी देसाई, जो राजतन्त्र के शीर्ष पर हैं।

भारत में अगर गाँधी इस प्रकार त्रिभुजाकार मूर्ति का रूप ही प्रस्तुत कर पाते हैं तो कैसे आशा की जा सकती है कि गाँधी से विश्व को वह प्रकाश प्राप्त होगा जिसकी उसे अपेक्षा है? हिंसा का मार्ग आगे अणु-आयुधों से बन्द है। दूसरा मार्ग कहीं दीखता नहीं। इसलिए आणविक प्रयोगों के बन्द करने की कोशिशों के बावजूद अणु बमों का निर्माण ज्यों-का-त्यों जारी है।

युद्ध नीति के विकल्प के रूप में गाँधी ने सत्याग्रह की नीति का आविष्कार किया। सत्याग्रह भी एक युद्ध ही है, किन्तु उसमें प्रतिपक्ष और प्रतिपक्षी के नाश की बात तक नहीं सोची जाती है, सिर्फ अपने और अपनों के मरने की तैयारी रखी जाती है। सत्याग्रह भारतीय इतिहास में एक अमोघ अस्त्र साबित हो चुका है। उसकी भूमिका में गाँधी का समस्त रचनात्मक दर्शन है। इसलिए सत्याग्रह का विचार भी सर्वथा रचनात्मक ही है। उसमें से मित्रता की रचना होती है, और शत्रु मिटता नहीं है, मिटती शत्रुता है। और आज जब कि दुनिया छोटी हो गयी है और सारे राष्ट्र परस्पर युक्त और निर्भर अनुभव कर आये हैं तब आवश्यकता इस शत्रुता के ही नाश की है। दुनिया को और मानवता को हर हाल एक होना है, क्योंकि महासंहारक शस्त्रास्त्र के निर्माण के बाद इससे दूसरी सम्भावना मात्र महाप्रलय की ही रह जाती है और यदि सब मानने को विवश हैं कि निस्तार उसी मार्ग में है जिसके प्रतीक गाँधी थे तो तीन अवयवों में विभक्त गाँधी नहीं, वह तो आत्म में सर्वथा संयुक्त और अद्वितीय गाँधी ही हैं।

[फरवरी, '78]

लोकतन्त्र, अनुशासन और अहिंसा

अलीगढ़ काण्ड के बाद अब यह आगरा की खबर है। विद्यार्थियों की क्रुद्ध भीड़ ने चढ़कर ट्रेन रोक ली, पेट्रोल छिड़का और चार बोगियों को जला डाला। यात्री जैसे-तैसे बचे, बहुतों का सामान जल गया। खैरियत हुई कि ड्राइवर होशियारी से काटकर बाकी ट्रेन को आगे ले गया।

क्रोध का कारण था कि नहीं, बड़ा था कि छोटा था, इत्यादि जाँच से मालूम होता रहेगा। खबर है कि संबद्ध विद्यार्थी की मृत्यु पुलिस की लाठी से नहीं, पेट में पाये गये जहर से हुई थी।

मान भी लीजिए कि मौत पुलिस की लाठी से हो गयी, तो भी क्या जनतन्त्र में छात्रों के लिए ऐसे व्यवहार का स्थान हो सकता है? क्या इसे क्षम्य माना जा सकता है?

हिंसा का अवश्य उपयोग है। लेकिन जनतन्त्र स्वेच्छा से उसके अधिकार को सीमित कर देता है। उस तन्त्र में शासन पर वे पहुँचते हैं, जिनको आम चुनाव से उस दायित्व पर भेजा जाता है। दूसरे शब्दों में हिंसा के अधिकार के उपयोग के योग्य कौन है, इसके निर्णय का अधिकार समाज के हाथ में रहता है। यह अधिकार पूरी तरह अहिंसात्मक है। इस अहिंसक सर्वसत्तात्मक अधिकार की अनुमतिपूर्वक निर्णय होता है शासन का और शासनकर्ताओं का। आशय, सर्वोपरि मूल्य रूप अहिंसा को स्वीकार किया जाता है और तदाधीन शासन भी उसी मूल्य को अपने लिए निदेशक सिद्धान्त अंगीकार करता है। यदि शासन दण्ड और दमन के अधिकार में अति कर जाता है तो अगले निर्वाचन द्वारा लोकतन्त्र इस अर्थ में उसे अहिंसात्मक दण्ड देता है कि उसे अयोग्य और अगले चुनाव में अमान्य ठहरता है।

आज आम शिकायत है कि अनुशासन ढीला हो गया है और लोग इमरजेंसी के समय की डिसिप्लिन की याद करते हैं। निश्चय ही वह अनुशासन का पालन प्रशासन की कठोरता के भय के कारण था। पर कुछ भी हो, लोगों को लगता है कि आखिर था तो सही डिसिप्लिन।

हुकूमतशाही को दण्ड दिया लोकशक्ति ने और तब की तानाशाह इन्दिरा गाँधी को लोकसभा तक भेजने से इनकार कर दिया। प्रधान मन्त्री को साधारण सदस्यता से भी चुनाव में वंचित होना पड़ गया, यह दण्ड असाधारण ही है। फिर भी भारतीय जनमानस में क्षोभ की भावना इतनी तीव्र थी। उसने जैसे एक स्वर से कहा कि भारत की प्रकृति लोकतान्त्रिक है, कोरा कानूनी शासन उसके लिए पर्याप्त न हो सकेगा।

और इस निर्णय के साथ उसने नयी देसाई सरकार को परीक्षा पर भेजा। उसके प्रधान मन्त्री ने ऊँची घोषणा के साथ बार-बार दोहराया कि लोग निर्भय बनें, भय को एकदम मन से निकाल दें। याद रखें कि शासकों के शासक वे हैं। मैं प्रधान मन्त्री हूँ, लेकिन कहता हूँ कि भटकूँ तो मेरा कान पकड़ें। घातक गलती हो तो बाहर निकाल दें।

यह सचमुच लोकतान्त्रिक नेता के योग्य वचन थे। लेकिन इसमें सन्देह है कि शासक को हक है कि वह राज्य का डर न रखने की बात कह सके। उसका बल इतना ऊँचा नहीं है। उसके बल की प्रकृति कानूनी है, नैतिक नहीं है। इसलिए उसके पास प्रशासन की शक्ति से अतिरिक्त दूसरी शक्ति नहीं है जो व्यक्ति में परमात्मा का या अन्तःकरण का भय उत्पन्न कर सके। उस भय में से अनुशासन आता है। वह भय रचनात्मक है, और लाख कोशिश करने पर भी उससे बचना नहीं हो पाता है। राजनीति अथवा राजनीतिज्ञ उस मामले में सर्वथा असमर्थ हैं। यह ईश्वरीय भय आदमी में जगे नहीं, दूसरा भय स्वयं शासक के द्वारा निकाल दिये जाने का हठ हो, तो क्या परिणाम आ सकता है? जो आ सकता है, वही परिणाम सामने दिखाई दे रहा है।

शासनाधिपति को अपने नैतिक स्तर को ऊँचा मान लेने का साहस नहीं करना चाहिए। शायद मोरारजी देसाई से यही भूल हुई। यह कदाचित भूल गये कि वह कट्टर गाँधीवादी नहीं, प्रधान मन्त्री हैं, और उस नाते कानून का भय रखना और देना ही उनका सम्बल है। असली निर्भीकता न वह पाल सकते हैं और न जगा सकते हैं।

हिंसा का उपाय सरकार के पास ही रहे, यह कुछ लोगों को मान्य नहीं है। यह वर्ग उन आदर्शवादी विचारकों का है जो विद्रोह का, क्रान्ति का, अराजकता का समर्थन करते हैं। उनका तर्क है कि मनुष्य के त्राण के निमित्त कहीं पर भी रुके रहना सच्चे मनुष्य के लिए सम्भव नहीं होना चाहिए। अन्तिम त्राण क्या मनुष्य को ऊपर लदे हुए शासन की मनुष्यता से, उसके दम्भ और दर्प से ही पाना नहीं रह जाता है? अन्त में तो प्रशासन की दृढ़ता एक प्रकार का बलात्कार ही है। हर शासन और प्रशासन में तानाशाही का बीज रहता है। बल के तर्क में ही उसका

डर है। उस डर के नीचे दबे रहना मानव-धर्म नहीं हो सकता। जनतन्त्रता के नाम पर अहिंसा अगर इसी को पनपाना चाहती है तो मानव प्रकृति इस कायरता को स्वीकार नहीं करेगी। इसलिए विदेशों को छोड़ दीजिए, भारत के उग्रवादी राजनीतिक दल भी हिंसा-अहिंसा के तत्त्व नैतिक विचार के पचड़े में पड़कर ठिठक नहीं रहना चाहते। वे 'डायरेक्ट एक्शन' के प्रकृत अधिकार को अपने से कभी छूटने नहीं देंगे।

मैं स्वीकार करता हूँ कि यह वस्तु विद्यार्थियों की क्षुब्ध और क्रुद्ध हिंसा से आगे चली जाती है। इसमें वह हिंसा भी गर्भित हो जाती है जो खूब सोची-विचारी गयी है और आदर्श, सत्य एवं न्याय के नाम पर आवश्यक मानी गयी है।

निश्चय ही सीधी कार्यवाही का अधिकार जनता के पास न रह जाए तो जनतन्त्र का फिर अर्थ ही कुछ शेष नहीं बचता। अगर पाँच वर्ष बाद आनेवाला आम निर्वाचन ही जनता के पास बचा-खुचा साधन है, तो इस आधार पर खड़ा लोकतन्त्र सदा लचर रहेगा। इसीलिए इधर एशिया के कई देशों में लोकतान्त्रिक प्रयोग विफल हुए हैं और तानाशाही ने उनकी जगह ली है। 'डायरेक्ट एक्शन' की कुछ ऐसी विधि निकालनी होगी जो लोकतन्त्र की विधि के साथ संगत ही न हो, प्रत्युत उसके लिए आधारभूत हो।

और यह बुनियादी ऐतिहासिक आविष्कार गाँधी ने किया। उन्होंने सत्याग्रह के अस्त्र का निर्माण किया। सत्याग्रह अहिंसा की शर्त के बिना हो नहीं सकता और अहिंसा लोक जीवन और लोकतन्त्र की श्वास-प्रणाली है। सत्याग्रह वह सीधी कार्यवाही है जो शासन को विचलित करने, उसके अमन को डिगा देने से कतराती नहीं है। केवल उसका लक्ष्य रचनात्मक रहता है और प्रकृति भी रचनात्मक ही रहती है।

अनियमित और अनियन्त्रित हिंसा का ही नहीं, बल्कि राजनीतिक हिंसा का भी स्वेच्छापूर्वक परित्याग नहीं किया जा सकेगा, तो जनतन्त्र में स्वस्थता और स्थिरता न आएगी, वास्तविकता तक न आ पाएगी।

यह भी राजनीतिज्ञों द्वारा पूरा इसलिए नहीं सध सकेगा कि वे सत्ता के पद और बल पर भरोसा रखते हैं। यह उन सांस्कृतिक वर्गों और व्यक्तियों का काम है जो समाज-जीवन में से उस दबावी बल को ही सर्वथा अनुपयुक्त और निर्मूल बना देने की दिशा में सोचते हैं।

[फरवरी, '78]

मोरारजी देसाई : भारत के शान्ति प्रयत्न

क्या विश्व की राजनीति में एक नयी शक्ति का उदय होने जा रहा है? उक्त राजनीति का केन्द्र है अमेरिका में स्थापित राष्ट्र संघ। स्वयं अमेरिका की दिलचस्पी उसमें कम हो रही है, कारण कि छोटे-छोटे राष्ट्रों का बहुमत उसे, और कभी दूसरे बड़े राष्ट्रों को भी, असुविधाजनक प्रतीत हो आता है।

दुनिया की सबसे बड़ी समस्या है आज महासंहारक अणु शस्त्रों के निर्माण, विस्फोट और उनके परीक्षण की विभीषिकाओं की। राजनीति में भी सिद्धान्ततः जन को धन के ऊपर माना जाता है, लेकिन व्यवहार में देखते हैं कि धनाढ्य और सशस्त्र देश ऊपर है, जन-बहुलत देशों को उनके चलाए चलना पड़ता है। नकेल हाथ में है कतिपय उन राष्ट्रों के जिनके पास साधन की बहुलता है। और जहाँ जनसंख्या विशेष है, वे देश अविकसित और विकासशीलों की गिनती में आने को रह जाते हैं यानी उत्तर-पश्चिम की प्रमुखता है, दक्षिण के अफ्रीकी और एशियाई देश उनके मुखापेक्षी हैं।

यह स्थिति अप्राकृतिक होने से वैसे भी बहुत काल चल नहीं सकती। साधन जीवन पर तभी तक हावी रह सकते हैं जब तक मनुष्य के आगे अपना साध्य स्पष्ट नहीं हो पाता है। अब पता चलता जा रहा है कि राजनीति की भाषा साध्य की दृष्टि से विश्वसनीय नहीं है। देश पूँजीवादी हो या समाजवादी, सब जगह साधनों से सम्पन्न राज सत्ता के ऊपर है और जिसके नाम पर राज शासन करता है, वह मानव (सत्ता) दमित और दलित है। धन शासक है, जन अधीन है।

अणु शक्ति के निर्माण के विज्ञान का विस्तार नहीं होने देना चाहिए, यह वे राष्ट्र तय करते हैं जो स्वयं अणु शस्त्रों की तैयारी की होड़ में पड़े हैं। इस मामले में अमेरिका और रूस एक हैं, दूसरों को ताकीद में रखने की आवश्यकता तक। स्वयं उनमें कोई अणु बमों के और दूसरे उनसे भी घातक नये-नये शस्त्रों के बनाते जाने के वेग में कमी लाने को तैयार नहीं है। दूसरों पर पाबन्दी लाने में चौधरायत करने को वे आगे आते हैं। लेकिन स्वयं अपने पर कोई पाबन्दी आने देने का मौका किसी को नहीं देते।

भारत गाँधी का देश है और इसके प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई हैं—पक्के गाँधीवादी। उन्होंने साहस के साथ साफ कहा कि हम किसी हालत में अणु शक्ति से बम तैयार करनेवाले नहीं हैं। पर जो देश इस सम्बन्ध में निरीक्षण का अधिकार चाहते हैं, वे पहले खुद तो कुछ उस बारे में अपने इरादों की प्रामाणिकता सिद्ध करके दिखाएँ। इस दृढ़ता की सराहना हुई है और भारत का गौरव बढ़ा है।

अभी उन्हीं मोरारजी देसाई की पहल के कारण गुटनिरपेक्ष देशों की ओर से यह प्रश्न राष्ट्र संघ की आगामी बैठक में उठाया जानेवाला है। माँग की जानेवाली है कि बलशाली राष्ट्र बम-निर्माण के वेग में कमी लाएँ, अपने शस्त्रागार में कटौती करें और निशस्त्रीकरण की दिशा में व्यावहारिक कदम उठाएँ।

इस समय दुनिया के उत्पादक श्रम का तीन-चौथाई भाग सीधे सुरक्षा के नाम पर युद्धोद्योगों में खप रहा है। सिर्फ अमेरिका और सोवियत रूस के पास उन शस्त्रों का इतना जमाव है कि दुनिया की सारी आबादी को उससे बारह बार खत्म किया जा सकता है। तीस करोड़ रुपया हर घण्टे अस्त्र-शस्त्र बनाने पर खर्च हो रहा है। शस्त्रों के बेच-खरीद का व्यापार आज राष्ट्रों के बीच सबसे प्रमुख व्यापार है।

यह हालत कब तक चल सकती है? अगर अणु युद्ध से बचना है तो राजनीति को तत्काल नया मोड़ देना होगा और वह मोड़ यह होगा कि जन-बहुल और साधनहीन अधिसंख्य छोटे-छोटे देश मिलकर जनाभिमुख एक उस नयी शक्ति को उदय में लाएँ। उसके समक्ष जनघातक बल से बली बने देश उतने सर्व-समर्थ न रह जाएँ।

वर्तमान राष्ट्र संघ सच्चे अर्थों में विश्व की अधिकृत जन-पंचायत बने, यह आवश्यक है। अभी तो बड़े राष्ट्रों के विवाद-संवाद के नीचे छोटे राष्ट्रों की आवाज वहाँ सुनी-अनसुनी-सी हो जाती है। राष्ट्र संघ का निर्माण भी कुछ ऐसा है कि बहुमत का निर्णय व्यवहार में अमान्य भी कर दिया जा सकता है। किन्तु इस बार आशा है कि मोरारजी देसाई जैसे पक्के नेता का साथ और सहारा पाकर गुट-निरपेक्ष देश अपने बहुमत के बल को किसी अन्य धन-साधन-बल से हेटा नहीं समझेंगे और सैन्य-सत्ता बल के सम्मुख एक नवीन मानव-बल को खड़ा करके दिखा सकेंगे।

आशा यह बड़ी है, लेकिन मानव-विकास की दिशा का संकेत उसी ओर है। पाशव बल मानव पर हावी होता रहा है, पर अब वह अपने उस चरम पर आ गया है कि जहाँ वह स्वयं अपना पराभव बुला रहा है। मानव-व्यवस्था में उस प्रकार का बल अब तक साधक रहा भी हो, लेकिन अब तो नितान्त बाधक

ही सिद्ध होनेवाला है। समय है कि नीचे से मानव बल उभरे कि जिसका स्वरूप नैतिक ही हो सकता है। भारत के गाँधी ने उस बल को निर्विवाद सिद्ध करके दिखा दिया है। आशा की जा सकती है कि भारत देश पहल लेगा और विश्व की राजनीति को यह ऐतिहासिक नया मोड़ देगा।

आशा यह एकाएक विक्षिप्त-सी मालूम हो सकती है। यहाँ अनेक पार्टियाँ हैं। नये चुनावों से बना चित्र सामने है। जनता दल में अपने ही अन्तर्विरोध और तनाव हैं। भारत वह है कहाँ जिससे आशा की जाए?

बेशक यहाँ की राजनीति के तल पर उस भारत का निशान भी कहीं दीखेगा नहीं। पर वह राजनीति फट रही है और नीचे से वह भारत की मूल शक्ति उभरकर आये बिना नहीं रहनेवाली है जिसके प्रतीक गाँधी थे। अपनी पार्टी ही नहीं, बल्कि अपने राष्ट्र की आत्मा के बल को मोरारजी देसाई अपने साथ समझ सकते और उस आधार पर राष्ट्र संघ में भारत की ओर से पूरे विश्वास के साथ अपने शान्ति प्रयत्न में सावित-कदमी से आगे बढ़ सकते हैं।

[मार्च, '78]

विशेषाधिकार और मानवाधिकार

पटना में श्री जयप्रकाश नारायण के पचहत्तर वर्ष पूर्ति के उपलक्ष्य में होनेवाला अमृत महोत्सव हंगामे के बीच समाप्त किया गया। कुछ वर्गों में रोष था इस बात पर कि परिगणित और दलित जातियों के लिए सरकारी सेवाओं में विशेष सीटों का आरक्षण कानूनन क्यों बढ़ाया गया?

अमेरिका के प्रेसीडेण्ट श्री कार्टर ने मानवाधिकार के प्रश्न पर बल दिया है और उस पर विश्व में कुछ विवाद भी उपस्थित हुआ है।

मानव के सामान्य अधिकार के सन्दर्भ में अल्पसंख्यकों को विशेषाधिकार मिलने का अर्थ हो जाता है अन्य के सामान्य अधिकार में कटौती।

घटना बहुत पुरानी नहीं है। अमेरिका के एक श्वेत वर्ण पुरुष ने अदालत में दावा दायर किया कि रंगभेद के कारण उसके मानवाधिकार का हनन हुआ है। अमेरिका में काले रंग के नीग्रो वर्ण को, उनकी दलित अवस्था के कारण, अनेक संस्थाओं में विशेष आरक्षण दिया गया है। अमेरिका को इस सहानुभूतिपूर्ण विचार पर किंचित गर्व भी हो सकता है। लेकिन उस गोरे आदमी की शिकायत थी कि योग्यता के अंक प्राप्त करने पर भी उसे सिर्फ इस कारण जगह पाने से क्यों वंचित रखा गया कि उसका रंग काला नहीं, गोरा है!

सभी देशों में अल्पसंख्यकों का प्रश्न समस्या पैदा करता है। यहाँ दलित वर्ग के अलावा मुस्लिम अल्पसंख्यकों की समस्या कम जटिल नहीं है। उस धार्मिक अल्पसंख्या के कारण देश की राजनीति में ऐसा तनाव पैदा हुआ कि अन्त में देश के विभाजन के द्वारा ही उसका वास्तविक हल पाया जा सका। हल गम्भीर होकर भी रहा तात्कालिक ही और वह प्रश्न अब भी कम निबिड़ नहीं है।

अल्पसंख्यक वर्गों के अधिकार और विशेषाधिकार का अन्तिम निपटारा आखिर किस प्रकार होगा? धर्म, रंग या जातिभेद के अनुसार मनुष्यों में अगर फर्क किया जाएगा तो शिकायत बनी ही रहनेवाली है। अल्पमत को रियायत दी जा सकती है तो बहुमत में से काटकर। अधिकार की प्रकृति में ही यह गर्भित है कि वह दूसरे के प्रति ही नहीं, बल्कि विरोध में होता है। इसलिए विवेकीजन

का बल अधिकार की बजाय कर्तव्य पर रहता है। विलायत के एच.जी. वेल्स ने मानवाधिकार का एक दस्तावेज तैयार किया और जगत के गिने-चुने मनीषियों को सम्मति और समर्थन के लिए भेजा। भारत के गाँधी ने उन्हें लिखा कि शायद मैं इससे बढ़िया दस्तावेज बना सकता हूँ। लेकिन अच्छा हो कि आप मनुष्य के कर्तव्य की बात सोचें और कहें। उन गाँधी ने यह भी बताया कि अधिकार की सृष्टि कर्तव्य के पालन से होती है। कानून से जब-जब अधिकार दिया जाता है, तभी उसके दुरुपयोग की सम्भावना बन जाती है। उससे प्रतिस्पर्द्धा उपजती है और द्वन्द्व-भाव बढ़ता है।

आखिर पिछड़े वर्ग क्या पिछड़े ही रहेंगे? जिनको सुविधाएँ प्राप्त हैं, क्या उन्हीं की सुविधाएँ बढ़ती जाएँगी? इसलिए राज्य को, जिस पर सब वर्गों के बीच समता और सन्तुलन बनाए रखने का दायित्व आता है, क्या यथास्थिति को सहते ही जाना है? क्या इस तरह अधिकृत को समर्थन ही नहीं मिलता और वंचित को वंचित ही नहीं रह जाना पड़ता? अर्थात राज्य को अपने धर्म के प्रति सजग रहना हो तो कानून को दलित और दमित के पक्ष में मोड़ देना ही होगा। यह सदभिलाषा स्तुत्य है और यही राजनीति की मर्यादा है; अर्थात समता के आदर्श के लिए भी उसे अपनी तरफ से एक नयी प्रकार की विषमता कानूनन उत्पन्न करनी पड़ती है!

गाँधी ने अन्त्योदय की बात उठायी। सर्वोदय का आरम्भ अन्त्योदय से है, यह मानना ही पड़ता है। किन्तु यह काम उन्होंने ऊपर से नहीं किया। उनके लिए आवश्यक हुआ कि वह पहले समाज के अन्तिम आदमी के साथ स्वयं समता पर आएँ। ऊँची स्थितिवालों में यह भाव पैदा करने की कोशिश की कि दूसरों को नीचे रखकर कहीं पाप तो वे नहीं कमा रहे हैं। दोनों ओर उन्होंने अन्त:करण को जाग्रत किया और अपने-अपने कर्तव्यों की ओर ध्यान दिलाया। हरिजनों का प्रश्न आज तक बेहद काँटेदार बना हुआ है। हिन्दू धर्म और समाज पर यह कलंक है। किन्तु बाहर से इसका इलाज नहीं हो सकता। ब्रिटिश सत्ता ने कर्ताओं के उस वर्ग को हिन्दू समाज से अलग काटकर उसे पृथक निर्वाचन का अधिकार देना चाहा तो गाँधीजी ने इस पर सत्याग्रह में आमरण उपवास ठान दिया। इसके विपरीत डॉ. अम्बेडकर ने पृथक्ता चाही और प्रश्न को आन्दोलनात्मक रूप दिया। यह इतिहास के निर्णय की बात है कि उस पददलित वर्ग की सेवा किससे अधिक बन सकी!

मुझे प्रतीत होता है कि समाज में वर्गों की विषमता के प्रश्न का आर्थिक पहलू ही है जिसके सम्बन्ध में सरकार कुछ कर सकती है। जहाँ तक परस्पर मनोभावों के सुधार का प्रश्न है, वहाँ राज्य और राजनीति सर्वथा असमर्थ है। यह

सांस्कृतिक नेताओं के भाग का काम है। गाँधी-उपवास का यही आशय था कि हिन्दू समाज चेते और अपने कलंक को दूर करे। रोग के कारण समाज के अंग-भंग का उपाय, उपाय नहीं है; न तनाव की सृष्टि द्वारा सामंजस्य बनाने में सहायता मिल सकती है। वर्ग चेतना, वर्ग संगठन और वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त के प्रति भी गाँधी का यही रुख था।

सच में तो मानवाधिकार और मानवीय कर्तव्य को मूल में ध्रुव मानकर यदि हम चल सके तो शेष आनुषंगिक प्रश्नों का समाधान उसमें से अनायास मिलते जाना चाहिए।

[मार्च, '78]

यह राजनीति नहीं चलेगी

हमारी व्यवस्थाएँ जिस राजनीति के द्वारा चलती हैं, वह पक्षग्रस्त पड़कर एकदम दूषित हुई जा रही हैं। संसद और धारा सभाओं के भवन अखाड़े बने दीखते हैं। इस राजनीति की विषैली हवा जरा और घनी हुई, जिसकी कि पूरी आशंका है, तो देश का दम उसी तरह घुटने लग जाएगा, जैसे इमरजेंसी के समय घुट गया था। वह तो निर्वाचन का योग आ गया था और देश खुलकर अपना आत्म-निर्णय प्रकट कर सका था। तब हवा अगर रुक गयी थी तो अब वह विषैली होकर देश के शरीर को क्षीण कर रही है। उस समय बताया गया कि विकल्प दो ही हैं, अराजकता या हाकिमशाही। मानो आज भी धीरे-धीरे देश के समक्ष ये ही दो विकल्प छूटे जा रहे हैं। अराजकता से राष्ट्र को बचना और बचाना हो तो देखना होगा कि आज की शासक पार्टी पहले की काँग्रेस पार्टी से क्या दूसरी तरह का शासन दे सकती है?

क्या इस प्रकार भारत देश को पक्षगत राजनीतिक नेताओं के भरोसे पर रहना और जीना होगा? जनता को जनता ने चुनकर इसलिए नहीं भेजा कि वह सिर्फ पार्टी रह जाएगी। उसके पीछे राष्ट्र का बल था और अपेक्षा थी कि इसके द्वारा राष्ट्रीय भूमिका निबाही जाएगी, पर आज की समूची राजनीति दल-द्वन्द्व में चकरा रही है और राष्ट्र मानो केन्द्रहीन हुआ-सा पड़ा है। तरह-तरह के खिंचाव पैदा हो रहे हैं और संशय होने लगा है कि भारतवर्ष के पास कोई अपनी एक ऐकात्मकता भी है कि नहीं।

जयप्रकाश निर्माता थे जनता के और इस नयी जनक्रान्ति के। यह सही भी हो लेकिन उनसे सम्पूर्ण क्रान्ति की आवाज अब भी सुनी जा सकती है यानी देश स्वस्थ है और सोया नहीं है। राजनीति और राजनीतिकों को यह भ्रम पोसने की आवश्यकता नहीं है कि उनके चलाए ही देश को चलना है, उनके संकेत पर उसको जीना है। राजसत्ता पर एक दिन जो गर्विष्ठ नेतृत्व था, उसको एक करवट से देश ने परे फेंक दिया। वह क्षमता देश में पड़ी है और समय पर जागे बिना न रहेगी। हम उस पर विश्वास रख सकते हैं। लेकिन क्या उस लोकशक्ति के

प्रकट होने के लिए निर्वाचन के समय की प्रतीक्षा करते रहना होगा! या कुछ वह भी उपकरण हो सकता है जिसके द्वारा वह निरन्तर सक्रिय और सबल रहे और उसके होते राजनीति किसी प्रकार निरंकुश न हो सके।

जिस शक्ति से राजनीति में काम लिया जाता है, वह अपने अन्तर्गत तर्क से ही केन्द्रीकृत और निरंकुश होने को विवश रहती है। यह व्यक्ति का प्रश्न नहीं है। इन्दिरा अथवा देसाई से इसमें अन्तर नहीं आता है। राजनीति की बुनियाद में ही राज की स्पर्द्धा-प्रतिस्पर्द्धा का बीज पड़ा हुआ है। वह परस्पर संघर्ष और युद्ध की परिस्थिति को उपजाए बिना रहनेवाला नहीं है। इसलिए आवश्यकता रहती है समाज को सदा उस तत्त्व की भी जिसे शासक बनना नहीं है, सेवक ही बने रहना है। इस तत्त्व के साथ सहयोग हो सकता है उसका, जो सेवा-कृत्य और चरित्र से नहीं, केवल शब्द से कर सकता है। इसको बुद्धिजीवी वर्ग कहिए। इसके पास उपकरण हैं—प्रेस और प्लेटफार्म। आज की सभ्यता की विडम्बना यह है कि ये दोनों साधन राजनीति के अधीन आ गये हैं। इनको अपनी स्वायत्तता और स्वाधीनता अर्जित करनी होगी।

स्थिति में आज अन्धेर है। विद्यालय राजनीति से छाए हैं। व्यासपीठ गायब हैं। धर्म पारलौकिक हुआ पड़ा है। प्रेस न्यस्त स्वार्थों के अधीन है। और कुल मिलाकर राजसत्ता सर्वव्याप्त और सर्वोपरि है।

इस घोरता के बीच प्रकाश जगाना होगा अपने भीतर से। लोकशक्ति मुक्त और व्याप्त शक्ति है। मुक्तत्ता ही उसकी विशेषता है। संगठन पर जोर देने से हमको शक्ति का जो स्वरूप प्राप्त होगा, वह प्रकट या प्रच्छन्न सैन्य-स्वरूप ले चलेगा। किन्तु नागरिक और सैनिक शक्ति में अन्तर है। नागरिक अनिवार्यतया नैतिक शक्ति होगी। दबाव और आतंक से काम लेना उसे कभी स्वीकार न होगा। परमेश्वर अपने ब्रह्माण्ड की व्यवस्था आखिर घट-घट को निजी आत्मकेन्द्र देकर ही न इतने निराकुल भाव से कर पाते हैं। गाँधी ने अपने समय में इसी आत्म जागरण द्वारा देश का कायापलट किया था।

गाँधी के बाद विनोबा कितने भी सूक्ष्मनिष्ठ बने हों; देश के प्रति सोए नहीं हो सकते। इमरजेंसी के समय उन्होंने आचार्य-सम्मेलन बुलाया। आचार्य शक्ति को राजशक्ति पर वे प्रधान मानते हैं। क्या आचार्य-सम्मेलन फिर नहीं बुलाया जा सकता, कि जहाँ आत्ममंथन द्वारा आविष्कृत और प्रकाशित हो कि भारत विश्व को क्या प्रस्तुत करना चाहता है?

[मार्च, '78]

चेतावनी और आह्वान

बिहार, आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश—इन सभी राज्यों में कहीं-न-कहीं हुए दंगा-फसादों में जानें गयी हैं, गोलियाँ चली हैं और करोड़ों की सम्पत्ति लूटी और नष्ट हुई है। कारण हो सकते हैं वर्गीय, जातीय, साम्प्रदायिक या अन्य। लेकिन बीमारी एक है और फैलती लगती है।

मेरी प्रतीति है कि इस रोग के कीटाणु राजनीति में से उपजते हैं। राजनीति वही न, जिसके द्वारा समाज-व्यवस्था के शीर्ष पर पहुँचा जाता है! माना जाता है कि ऊपर प्रभु-पद पर पहुँचने की वृत्ति व्यक्ति में स्वाभाविक और आदिम है। किन्तु इस महत्त्वाकांक्षा के साथ आदर्शों का मिश्रण होता है तो इसको एक अनुपम गौरव मिल जाता है। अँग्रेजी साम्राज्य भारत पर आया तो उसके साथ ब्रिटिश जाति के पास यह भाव भी था कि उस पर भारत जैसे पिछड़े और असभ्य देश को सभ्य और सुसंस्कृत बनाने का दायित्व है।

आदर्श तो सर्वथा साध्य ही हुआ करता है। इसलिए उस साध्य को सिद्ध करने के लिए यदि राजनीति सब साधनों को उपयुक्त मान ले तो इसमें तर्क का क्या दोष कम है? जैसे यही कि अमुक ने शोषणपूर्वक धन कमाया है और इसलिए वह धन छीन लेना समाज के प्रति दायित्वशील व्यक्ति के लिए पुण्य कृत्य है। अवश्य युवक हैं जो साहसपूर्वक ऐसा मान सकते और कर सकते हैं और उस लगन की प्रशंसा करनी होगी। वे जान पर खेलते हैं और बलिदान से पीछे नहीं हटते हैं।

लेकिन निर्णय को हाथ में लेने का यह तरीका अब ज्यादा सम्भव नहीं है। उन दिनों शासन सिर्फ शासन था और राजा सिर्फ राजा था। संविधान जैसी चीज आवश्यक नहीं होती थी और परम्परा थी कि जो पहले का सिर काटेगा, वह अगला राजा बनेगा। और फैसला इस तरह सीधे हिंसक पराक्रम के हाथ रहता और आसानी से युद्ध द्वारा पा लिया जाता था। पर अब सब कहीं शासक के आसपास संविधान रहता है और राजतन्त्र को किसी-न-किसी मात्रा में लोकतन्त्र का रूप ओढ़ना पड़ता है। हिटलर तानाशाह सीधे नहीं बन गये, अपनी पार्लियामेण्ट के

द्वारा बने। कुछ भी कहिए, इन्दिरा गाँधी को भी अपने ढंग के लोकतन्त्र का बल प्राप्त था। निरी और नंगी शक्ति अब नहीं चलती, उसको एक सैंक्शन (Sanction) और समर्थन प्राप्त करना पड़ता है।

इस स्थिति में आज दुनिया जी रही है। फिर भी राजनीति के क्षेत्र में द्वेष-विद्वेष हैं और समय-समय पर उत्कट हो जाते हैं। उसी की प्रेरणा में विज्ञान ने उन्नति की है और अणु शक्ति का आविष्कार कर डाला है। उस शक्ति के रचनात्मक रूप का किसी को पता नहीं है, पर विध्वंसात्मक रूप तो प्रकट और प्रमाणित हो चुका है। उस भीषण रूप की ही आज परम उपयोगिता यह बन आयी है कि बड़ा युद्ध नहीं छिड़ सकता; अर्थात हिंसक शक्ति के विकास ने ही उस शक्ति को मनुष्य जाति के लिए अनुपयुक्त और निषिद्ध सिद्ध कर दिया है।

इसलिए यह कहना आज अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि हिंसा-अहिंसा का प्रश्न तात्त्विकों और धार्मिकों के लिए उतना आत्यन्तिक और विचारणीय नहीं भी हो सकता है जितना कि वह कार्मिकों और राजनीतिकों के लिए अत्यन्त तात्कालिक और अनिवार्य बन गया है। स्पष्ट हो जाना चाहिए कि यदि लोकतन्त्र ने न्यायोपकरण के रूप में पुलिस और सैन्य के साधन सरकार को सौंपे हैं तो उसका आशय मात्र इतना है कि अन्य किसी को वैसे साधन अपनाने का हक नहीं रह गया है यानी लोकतन्त्र उस व्यवस्था का नाम है जिसमें समाज स्वेच्छापूर्वक हर जोर-जबरदस्ती के उपाय को तजता और संविधान के शासन को अपने ऊपर स्वीकार करता है। दूसरे शब्दों में वह व्यवस्था अहिंसा के धर्म को अपने लिए आत्म निर्णय के रूप में मान्य करती है। वह धर्म टूटता है तो निश्चय ही लोकतन्त्र टूटा है और तानाशाही को हमने अपने बीच आवश्यक बनाना शुरू कर दिया है।

अशान्ति, असुरक्षा और आतंक का वातावरण उत्पन्न करके अमुक राजनीति अपने सामयिक हित-साधन की बात सोच सकती है। लेकिन ध्यान रहे कि सार्वजनिकता के लिए इसमें गहरा खतरा समाया है। देश जाग जाए कि वह खतरा उसके सिर पर आ मँडराया है। फिर भी राजनीति की यही चाल रही तो वर्ग-विग्रह और दल-विग्रह नहीं, सीधा गृह-विग्रह हो निकलेगा और जो परिणाम आएगा, उसकी कल्पना में जाने की आवश्यकता नहीं है!

धृष्टता क्षमा की जाए। जयप्रकाशजी के आन्दोलन ने सरकार बदल डाली है। तानाशाही की ओर जानेवाली सरकार को उखाड़कर उसकी जगह जनता सरकार को रोपने में सफलता पायी है। पर सरकार तो बदली, कुछ और भी बदला? मूल्य बदले? व्यवस्था बदली? राजनीति के रूप में कुछ अन्तर आया? यदि नहीं, तो क्यों? मैं कहना चाहता हूँ कि गाँधी ने अहिंसा पर, उसकी ही बलिदान शक्ति

पर जो नितान्त बल दिया, वह सावधानी जे.पी. आन्दोलन में नहीं बरती गयी। संख्या के दबावी बल पर भी कुछ भरोसा बाँध लिया गया। परिणाम यह कि जिसे नैतिक रहना चाहिए था, अन्त तक वह राजनीतिक बन गया। राजनीति को उससे संस्कारिता नहीं मिली, उत्कटता-भर मिलकर रह गयी। भारत जैसे महादेश के स्वराज्य के प्रश्न के सामने चौरी-चौरा की तुच्छ घटना की क्या बिसात थी? देश का जागरण उत्कर्ष बिन्दु पर आ गया था। स्वराज्य द्वार तक आ पहुँचा दीखता था। लेकिन गाँधी थे कि पूरा आन्दोलन वापस खींच लिया। कहना आवश्यक है कि आतंकवाद के उत्तर में ऊपर से तानाशाही न आए, यह असम्भव है। इन्दिरा गाँधी अगर भयभीत बनीं तो वहाँ से इमरजेंसी आने के सिवा दूसरा हो क्या सकता है? अब सार्वजनिकता में वही स्थिति पैदा की जाएगी तो देसाई कितने भी गाँधी-भक्त हों, दूसरा कुछ हो नहीं सकता है। दलनीति उस मार्ग को अपने लिए स्वीकार करती है तब निश्चय रखिए कि इससे सीधा पोषण असामाजिक तत्त्वों को प्राप्त होता है। अपराधों का सिलसिला बढ़ता है तो नीचे उसके उस राजनीति की उत्तेजना है जो नैतिक विचार को अपने लिए अनावश्यक मानती है।

अतः सावधान हो वह धर्म-प्राण, अध्यात्म-परायण भारत देश कि क्या उसकी प्रकृति में से कोई ऐसी नैतिक शक्ति का स्फुरण नहीं हो सकता जो बलिदान के बल पर प्रचलित राजनीति पर अंकुश ला सके और गाँधी को पुनर्जीवित करके विश्व के समक्ष एक नया उदाहरण प्रस्तुत कर सके।

[अप्रैल, '78]

देश में कानून की (बिगड़ती) स्थिति

प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने देश में घटी हिंसात्मक घटनाओं पर चिन्ता व्यक्त करते हुए लोकसभा में कहा, और ठीक कहा कि उन्हें राजनीतिक दृष्टि से देखना या उनसे राजनीतिक लाभ उठाना उचित नहीं है। प्रश्न गहरा है, वह राष्ट्रीय है और शासन के साथ प्रतिपक्ष को भी इस सम्बन्ध में मिल-बैठकर सोचना और उपाय निकालनाा होगा।

किन्तु उसी सदन में विरोध पक्ष के नेता श्री सी.एम. स्टीफन ने कहा, और उन्होंने भी ठीक कहा, कि जनता के असन्तोष को ऊँची आवाज देना नहीं तो प्रतिपक्ष का दूसरा कर्तव्य क्या है? अर्थात राजनीति जनता और शासन के बीच के मामलों को सदा गरम ही रखना चाहती है। विरोध पक्ष का हथियार एकान्त विरोध है, तो शासन पक्ष के पास उपकरण दमन ही रहता है।

अगर इन दो प्रतिकूल लक्ष्यों और प्रवृत्तियों के बीच कोई मर्यादा नहीं रह जाती है तो ऐसी राजनीति का अन्तिम परिणाम व्यापक विग्रह और अराजकता की स्थिति के सिवा दूसरा क्या हो सकता है?

संक्षेप में राजनीति के पास दूसरा उपचार नहीं है। कानून अपनी रक्षा खुद नहीं कर सकता। राजनीति में से कानून नये से नया अवश्य बनाया जा सकता है, लेकिन भाग्य उसका निर्भर है उन पर जिन्हें उसका पालन करना है। सरकार स्वयं लोक सम्मति पर टिकी है और इसलिए सब राजनीतिक दल, जैसे भी हो, अपने लिए लोक समर्थन पाने की कोशिश किया ही करेंगे।

अतः हिंसक प्रवृत्ति की रोकथाम के लिए जो आवश्यक है, वह यह कि लोकमानस में राजनीतिक से रचनात्मक को प्राथमिकता मिले। प्रसन्नता की बात है कि जनता पार्टी के एक मुख्य सचिव नानाजी देशमुख ने देश का इधर ध्यान खींचा है और जयप्रकाश नारायण का उन्हें अनुमोदन मिला है।

उस दिन भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री चन्द्रचूड़ ने कहा कि इमरजेंसी के वक्त नागरिक स्वतन्त्रता पर प्रशासन के अधिकार के प्रश्न पर चार-एक के बहुमत में सहभागी होकर उन्होंने जो निर्णय दिया, वह चाहे देश के कानून के

हिसाब से सही और जायज हो, लेकिन उन्हें अफसोस है कि क्यों उनमें साहस नहीं हुआ कि वैसा निर्णय देने की बजाय वह न्यायाधीश के पद को ही छोड़ देते? यह स्थिति है न्याय की और कानून की!

ऐसी स्थिति में राज्य के कानून से किसी बड़े कानून को खोजकर पा लेना होगा और उसकी आस्था लोकमानस में गहरी उतार देनी होगी। यह काम सबसे महत्त्व का और सबसे पहला समझा जाना चाहिए।

गाँधी ने सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा के बल से देश को एकाएक जगा डाला था। इतिहास के सबसे बड़े साम्राज्य के समक्ष यह राष्ट्र छाती खोलकर उठ खड़ा हुआ था। किन्तु ताकीद रही कि अवज्ञा होगी कानून की, पर विनय का भंग न होगा; अर्थात् अहिंसा के और मानवीय न्याय के बड़े कानून की आज्ञा के पालन में ही अमूक सरकारी कानून की अवज्ञा हो सकेगी। और इस तरह सत्य और अहिंसा के दोहरे सूत्र से उन्होंने भारत की राजनीति को वह संस्कार दिया जो इतिहास में कभी कोई नहीं दे सका था।

जनता पार्टी सं जनता को बहुत-बहुत आशाएँ थीं। पर पार्टी के घटक जिस लक्ष्य को लेकर मिले वह बुनियाद में सत्तामूलक था। सत्ता पाने के बाद उस सत्ता को बनाए रखने की आवश्यकता ही उन्हें अब एक और इकट्ठा रख रही है, अन्यथा गहरे में वह पार्टी एक नहीं है और इसलिए गहराई पर देश को भी वह एकता नहीं दे सकती। आवश्यकता उसे एक महद्भाव की है जो देश को एक उद्यम और एक आकांक्षा में एकत्र ले आये और आपसी राजनीतिक विवाद को अवसर न रहे कि राष्ट्र को वह फटा रखें।

स्वार्थ का अर्जन फाड़ता है, उसका विसर्जन मिलाता है। देश को राजनीतिक स्वाधिकार, यानी स्वराज प्राप्त हुआ तो गाँधी ने राष्ट्रीय काँग्रेस को सलाह दी कि उसके श्रेष्ठ पुरुष सत्ता के लिए ऊपर न जाएँ, बल्कि सेवा में नीचे उतरें। उन्होंने कहा कि रचनात्मक कामों में स्वराज का सार पड़ा है। चालीस करोड़ (अब साठ करोड़) लोग जगते हैं और अस्सी करोड़ हाथ काम में लगते हैं तो फिर क्या है जो असाध्य रह जानेवाला है? पर नेहरू-काँग्रेस उस राह नहीं आ सकी और अन्त में इन्दिरा गाँधी तक आकर वह टूट गयी। अगर जयप्रकाश की समग्र क्रान्ति की रचनात्मकता को जनता राजनीति आज भी प्राथमिकता देने से चूकती है तो आगे-पीछे इस पार्टी का भी वही हाल हो तो अचरज नहीं है। राजनीति हाथ को काम नहीं दे सकती और न भूखे पेट के लिए अनाज जुटा सकती है। यह काम आन्दोलन का नहीं, निर्माण का है। राजनीति जितनी छाएगी, निर्माण उतना शिथिल और मन्द होगा।

श्री स्टीफन और उनके दल के रुख को उत्तर राजनीतिक बहसों में से नहीं

मिलेगा। संसद में विवाद हो तो होता रहे, किन्तु जिन्हें राज्य से अधिक राष्ट्र का ध्यान है, उनके काम करने का क्षेत्र दिल्ली में खड़े राज्य के गढ़ नहीं है, उनके लिए क्षेत्र यहाँ-से-वहाँ तक फैली भारतभूमि और उसका देहात है।

स्वार्थों में तनाव होगा और उनमें संघर्ष उकसाया और भड़काया जाएगा। अन्तिम शमन और समाधान उस तरह उनको नहीं मिलनेवाला है। राज्य और उसके कानून के तल पर आम अनुभव है कि संघर्ष की राह में दबते-मरते एक हैं, फलते-फूलते दूसरे हैं। उस रास्ते समुदायों या वर्गों में सामंजस्य आनेवाला नहीं है। वह आएगा तो उन नि:स्वार्थ सेवकों द्वारा आएगा जो धरती में अपने को सींच देने निकलेंगे! तब देखा जाएगा कि एक सवर्ण हरिजनों के बीच और भी हरिजन बन गया है और जातीय संशय काफूर हो गया है। अन्यथा खुद मन्त्रिमण्डल में सवर्ण-अवर्ण का शक-सवाल हो निकलेगा और इस तरह एक दरार ऊपर से नीचे तक राष्ट्र-शरीर में व्याप जाएगी।

कानून की स्थिति को मजबूती कानून की ओर से दी जाने से नहीं मिलेगी। वैसा होगा तो वह उलटे बिगड़ेगी। मजबूती मिलेगी उस शिक्षण से जो लोकमानस को राजसत्ता से लोक-सेवा की ओर मोड़ सकेगा।

[अप्रैल, '78]

हम (राष्ट्र) को क्या अपना पता है ?

उत्तर प्रदेश के तीनों उपचुनावों में हरेक में जनता प्रत्याशी हारा है, इन्दिरा काँग्रेस जीती है। इसमें पक्का संकेत है, लोक मानस में जनता पार्टी का भरोसा टूट रहा है और इन्दिरा गाँधी की सम्भावना में फिर से नयी आशा जाग रही है।

यह इस सच्चाई का भी प्रमाण है कि सुशासन न सही, जनता के लिए मजबूत शासन की तो आवश्यकता है ही। जनता सरकार से आशा बँधी थी सुशासन की, पर शासन मिला तो वह ढीला-ढाला। और इस पर असन्तुष्ट और क्षुब्ध वही लोकमत, जिसने जनता दल को शासन पर भेजा था, मानो अब उसे उतार देना चाहता है।

प्रश्न यह राजकीय नहीं है, राष्ट्रीय है। जनता पार्टी की ताकत टूट रही है, इन्दिरा दल की शक्ति बन और बढ़ रही है। तो प्रश्न है कि क्या इन और ऐसी ताकतों की बदाबदी के बीच ही भारत का भाग्य सदा झूलता रहेगा? भारत की राजनीति में से तो किसी अन्य विकल्प के दर्शन नहीं होते हैं। अगर लोकतन्त्र के नाम पर ले-देकर हमारे पास बस चुनाववाली पार्टी या पार्लियामेण्टरी पद्धति ही बची रहती है तो सचमुच भारत के भाग्य के लिए कोई उज्ज्वल विकल्प नहीं ही दीखता है। चुनावी लोकतन्त्र आगे जाकर लोकतन्त्र का सिर्फ लिफाफा भर सिद्ध हो सकता है। तानाशाही पर बस परदे का काम दे तो वैसे लोकतन्त्र का न रहना ही अच्छा है। इसी कारण आसपास दिखाई देता है कि लोकतन्त्र नीचे गिरा है और सेनाशाही ऊपर आयी है।

लेकिन भारत में वैसा नहीं हुआ। यह भीतर की अपनी परम्परा में ही सम्भव हो सकता था कि जो हुकूमत गिरे, उसके नेता का बाल भी बाँका न हो और सामान्य नागरिक से एक-डेढ़ वर्ष के भीतर उसको अपने लिए फिर राजनीतिक महत्त्व और बल कमा लेने दिया जाए; अर्थात भारतीय समाज और भारतीय मानस राजकारण तक सीमित नहीं है, यह आत्मनिर्णय में सदा खुला और स्वतन्त्र है। एक-दूसरे को नष्ट करने की परम्परा को यहाँ की राजनीति ने अब तक नहीं अपनाया है। किन्तु यह भारतीय उदारता आगे चल सकेगी? जनता पार्टी के नेतृत्व

ने शायद वह उदारशयता बरतने की कोशिश की, या हो सकता है कि उस पार्टी में उतनी एकता न थी और इसलिए उसमें इतनी हिम्मत भी न हो सकी। वह जो हो, भारतीय राजनीति का रिकॉर्ड अब तक अपना अलग रहा है और इसके नीचे भारतीयता के मूल्यों की महिमा और गरिमा देखी जा सकती है।

हमारे यहाँ राजशक्ति से अलग और ऊपर एक लोकशक्ति की धारणा ही नहीं रही है, वरन् वास्तविकता भी रहती आयी है। पूर्वजों की बात छोड़िए, अभी हाल के भारतीय इतिहास में गाँधी की वही स्थिति थी। राष्ट्रीय काँग्रेस सत्ता पाकर राजतन्त्र का रूप चाहे ले सकी, किन्तु यह गाँधी की अनुमति के बिना सम्भव नहीं हो सकता था। यह भारत की लोकशक्ति से भी अधिक आत्मशक्ति थी जिसने राजनीति को हिंसा के मार्ग पर बढ़ने से सदा बचाए रखा।

सामान्यतया राजनीति में सामुदायिक आवेश-विद्वेष चहके रहते और मानो प्रतीक्षा में रहते हैं कि कब चिनगारी मिले और वे फट पड़ें। और यहाँ की वर्तमान राजनीति कुछ उसी उत्कट बिन्दु तक आती, या आ गयी दीखती है।

प्रश्न है कि भारत देश और राष्ट्र क्या अपने राजनीतिक दलों तक ही सिमटा हुआ माना जा सकता है? क्या उस राष्ट्र में राजनीतिक से अतिरिक्त सांस्कृतिक और नैतिक ऐसा सत्त्व शेष ही नहीं बचा है जो उठे और राजनीतिक अपवादों और अभिनिवेशों को लगाम दे? क्या यहाँ भी वैसे खेल होंगे जैसे आसपास घटित हुए हैं?

ग़नीमत है कि राष्ट्र के पास जयप्रकाश नारायण हैं। लेकिन कहीं वे भी तो जनता पक्ष के अन्तर्गत नहीं हो जाते हैं? और फिर क्या उस पक्ष तक को वे सर्वथा मान्य हैं? अर्थात जनता पार्टी के अन्दरूनी संकट का उपाय क्या उनके वश का होगा? उसके आगे जनता-इन्दिरा के तीखे बने साम्मुख्य का उपचार किसी भी तरह क्या उनके पास से आ सकेगा?

नहीं, ऐसी कोई सम्भावना नहीं दीखती है।

तो फिर?

यह बड़ा प्रश्न और बड़ी चुनौती है। इस घड़ी राष्ट्र के सम्बन्ध में आशा रखना चाहता हूँ कि भारतीय प्राणों में अब भी वह सत्त्व और तत्त्व है जो राजनीति को निरंकुश होकर हिंसा में भड़क पड़ने नहीं देगा; वरन् समय पर वह अवश्य कुछ या कोई अंकुश निर्माण कर दिखाएगा। कारण, मैं जानना चाहता हूँ कि गाँधी भारत भूमि पर पूरी तरह मरा नहीं है, काफी मात्रा में जीवित है।

बर्तानी सरकार रौलेट बिल का आयुध लेकर निरंकुश होने की तरफ बढ़ी तो गाँधी ने राष्ट्र को असहयोग का मन्त्र दिया। बताया कि शासित के सहयोग के बिना कौन शासक शासन कर सकता है? क्या यह नहीं हो सकता कि आज

के दिन अत्यन्त विषम बनी राजनीति में से कुछ सात्त्विक और श्रद्धावान तत्त्व बाहर आएँ और घोषित करें कि वे राज्य के प्रति नहीं, राष्ट्र के प्रति अर्पित होंगे और उनकी क्षमताएँ अब राष्ट्र के भीतर साहस की और संकल्प की रचना के ही काम में लगेगी।

लोगों ने असहयोग के आन्दोलन में धारा सभाएँ छोड़ी थीं, वकालतें छोड़ी थीं, विद्यालय छोड़े थे, और विदेशी राज्य इस तरह राष्ट्र को उठता हुआ देखकर काँप गया था। क्या उस तरह कुछ श्रेष्ठ जन अपना पद और शासन छोड़कर फिर उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर सकते?

मैं मानता हूँ कि समय आ गया है कि राष्ट्र अनुभव करे कि वह राज्य के अधीन नहीं, बल्कि सारा राज्य और उसका तन्त्र उसके अधीन है।

[मई, '78]

गाँधी-संस्थाएँ और गाँधी-सम्भावनाएँ

लोकसभा के लिए चुने गये जनता के प्रतिनिधियों ने अपनी सरकार बनाए जाने से पहले गाँधी समाधि पर शपथ ली कि वे गाँधी के मार्ग पर चलेंगे। वातावरण में उत्साह था, शपथ जयप्रकाश नारायण ने दिलायी थी और निस्सन्देह शपथ लेने वालों में सच्चाई थी।

प्रयत्न भी जनता पार्टी के नेतृत्व की ओर से कम नहीं हुए; लेकिन उस दल की स्थिति नाजुक है और गाँधी-मार्ग दूर ही छूटा रह गया है।

गाँधी अपने युग में राजनीति में थे ही नहीं, उसके नेता और निर्माता भी थे। लेकिन फिर भी न काँग्रेस के लिए यह सम्भव हो सका, और न आगे किसी दल के लिए सम्भव हो सकेगा, कि वे सही अर्थों में गाँधी के मार्ग को अपना सकें। कारण के लिए हमें राजसत्ता के साथ उनके सम्बन्ध को समझना होगा। समझना होगा कि क्यों स्वराज्य आने के समय उन्होंने काँग्रेस को सलाह दी कि वह अपने वर्तमान राजनीतिक स्वरूप को समाप्त कर दे और लोकसेवक संघ में परिणत हो जाए।

भारत की स्वतन्त्रता के युद्ध के सर्वोच्च सेनानी होकर राजसत्ता के प्रति उनका यह रुख एकाएक समझ में नहीं आएगा। समझ में नहीं आया नेहरू के और पटेल के। लेकिन सत्ता पर आने के बाद काँग्रेस के और उसके शासन के बुरी तरह गिरते जाने और अब जनता शासन के कठिनाई से पन्द्रह महीने के सत्ता-भोग के अनन्तर लड़खड़ा जाने की घटना के प्रकाश में उस कारण की पहचान आसान हो सकती है। स्वराज्य भारत का संसदीय प्रणाली से आरम्भ हो—इसको तो गाँधी की अनुमति मिली। लेकिन स्वयं वह उससे दूर रहे और काँग्रेस को भी उस दायित्व से बचे रहने की सलाह दी, तो कारण यह कि भारतीय स्वराज्य को राजनीतिक-भर ही नहीं रह जाना है। उसको फैलकर और गहरे उतरकर गाँव-गाँव व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँच जाना है। गाँधी की स्वराज्य की और स्वस्थ समाज की कल्पना अपनी थी। पूँजीवादी के उत्तर में समाजवादी या साम्यवादी हो चलने की आवश्यकता उनके लिए न थी। मार्क्स ने कल्पना की थी कि एक दिन राज्य अनावश्यक हो

जाएगा। गाँधी को मात्र उस कल्पना से चैन न था। उनमें प्रण जगा कि उस आदर्श को यहीं से सम्भव बनाने में लग जाना होगा, अर्थात समाज को उत्तरोत्तर स्वायत्ता, स्वावलंबी और सत्तानिरपेक्ष रूप से विकसित करने का उपाय करना होगा। उनके रचनात्मक कार्यक्रम का यही आशय था।

वर्तमान सभ्यता में राजसत्ता के अधिकाधिक सघन, सबल, व्यापक और केन्द्रित होते जाने के अतिरिक्त कोई और विकल्प नहीं है। लोकतान्त्रिक अथवा कि समाजवादी—सभी राष्ट्र जाने-अनजाने उसी केन्द्रित सत्ता के रूप की ओर बढ़ रहे हैं। इसी का अवश्यंभावी परिणाम है कि सब राष्ट्रों का शस्त्रास्त्र और सुरक्षा का व्यय बढ़ता जा रहा है। युद्ध का व्यवसाय मानव-जाति का मुख्य व्यवसाय बन आया है और मनुष्य के ज्ञान-विज्ञान की सारी क्षमता मानो उसी महोद्योग में खप जाने को रह गयी है।

गाँधी राजसत्ता के साथ निरन्तर संघर्ष में रहे और उस संघर्ष में ही समाप्त हुए। संघर्ष वह मनुष्य और तिस पर अन्तिम मनुष्य की ओर से था और उसकी आवश्यकता कभी समाप्त होनेवाली नहीं है। गाँधी उसी सतत क्रान्ति और समूल क्रान्ति के प्रतीक थे।

गाँधी गये और गाँधी-संस्थाएँ मौजूद हैं। गाँधी अपरिग्रह सिखाते-सिखाते सेवाग्राम की फूस की कुटिया में जा बसे और निपट अकिंचन बन गये। संस्थाएँ धनजीवी और अनुदानजीवी बनकर अपना संसार फैला रही हैं। गाँधी का आह्वान था कि जो अपना संसार अपने हाथों उजाड़ सके, वह मेरी राह पर आये। यह राह मुक्ति की थी। भोग की नहीं, यज्ञ की थी, और इसी से उनके जमाने की राजनीति जेल और तप-त्याग की बनी रही। किन्तु काँग्रेस की राजनीति स्वराज्य आने पर उनसे उलटी राह चल पड़ी।

कृपया कोई न माने कि सत्ताभिमुख होकर कोई राजनीतिक दल सही मायने में गाँधी-मार्ग पर चल सकता है। कारण, इस चलने का अर्थ होगा कि शासक तनिक अपने को शासक न माने, सर्वथा सेवक बने और सेवक की तरह ही अपना रहन-सहन रखे।

यह सम्भव नहीं है। कहीं नहीं है, भारत में भी नहीं है। क्योंकि वह दर्शन ही राजनीतिक मानस को प्राप्त नहीं है जो गाँधी को चला रहा था। मेरा विश्वास है कि उस दर्शन से ही गाँधी की वे सम्भावनाएँ खिल सकती हैं, कि मनुष्य और विश्व को जिनकी अपेक्षा और प्रतीक्षा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठक होनेवाली है और वहाँ निरस्त्रीकरण पर विचार होगा। दुनिया में घबराहट है और घबराहट उन देशों में और भी विशेष है जहाँ आणविक शस्त्रों का अम्बार लगा हुआ है, यद्यपि उन शस्त्रों का उपयोग 'डेटरेण्ट'

भर रह गया है। लेकिन दूसरे में भय पैदा करने से क्या अपना भय कभी दूर हो सका है? फिर भी संसार की सरकारें इसी चक्र में हैं और यह चक्र तब तक खत्म नहीं होगा जब तक मानव जाति की ओर से सरकारें ही बोला करेंगी और मनुष्य की आवाज सुनी-अनसुनी रह जाएगी।

गाँधी वही आवाज था। मनुष्य की अन्तरात्मा का वह प्रतीक था और आज जो आवश्यक है, वह यही कि सरकारों के सब प्रचारों के ऊपर मनुष्य के मन के भीतर की सिसकी उठे और घोष बन आए। मानव समाज अपने को अपने हाथ में ले, अपने बीच उन व्यवस्थाओं का निर्माण करे कि जिनकी अनुमति सत्ता के लिए आवश्यक हो और जो उसको निरंकुश न होने दें।

कहना पड़ रहा है कि गाँधी की ये सम्भावनाएँ गाँधी-संस्थाओं से उलटी रुकी हुई पड़ी हैं। वे उनके बावजूद तब प्रकट होंगी जब गाँधी को राष्ट्र और राज्य के सन्दर्भ से आगे मनुष्य और विश्व के सन्दर्भ में देखा और समझा जाएगा; अर्थात् राजकारण की आच्छन्नता से गाँधी को मुक्ति मिलेगी और उनको अपने आराध्य अन्तिम मनुष्य तक पहुँचने दिया जाएगा।

[मई, '78]

निरस्त्रीकरण की माँग : एक भावी दिशा संकेत

राष्ट्रों की मुख्य पंचायत में इस बार सवाल उठाया जानेवाला है निरस्त्रीकरण का। जिस तर्क से और तत्परता से यह माँग की जाएगी, उससे माना जा सकता है कि मानव सभ्यता का इतिहास एक नये चरण में प्रवेश करने की तैयारी में है।

अब तक शस्त्र-बल अन्तिम और निर्णायक सिद्ध होता आया है। उन्नति के मार्ग में कोई विघ्न बनता तो शस्त्र उसे समाप्त कर सकता और मार्ग को निष्कंटक बना दे सकता था। विवाद को युद्ध से समाप्त कर दिया जा सकता था। इस सदी में दो विश्व युद्ध हुए और मित्र पक्ष जीता, शत्रु परास्त हुआ। दूसरे विश्व युद्ध में जापान पर गिरे अणुबम ने विजय को और आसान कर दिया।

लेकिन तब से अब तक उन्नति बहुत ऊपर आयी है। हिरोशिमा के बम की अब कुछ बिसात नहीं रह गयी है। शस्त्र की विनाश-शक्ति यही नहीं कि हद पार कर गयी है, उसका ज्ञान-विज्ञान सब तरफ फैलता भी जा रहा है। हार-जीत अब सम्भव नहीं है और अणु शक्ति के उद्‌भव के बाद युद्ध होगा तो विनाश सम्पूर्ण होगा, शत्रु-मित्र का कोई भेद वहाँ नहीं रह जाएगा।

निरस्त्रीकरण की दिशा में विशेष तो आज की परिस्थिति में राष्ट्र संघ में क्या किया जा सकेगा! किन्तु इतना अवश्य होगा कि शस्त्र-बल से महाबली बने देश अनुभव कर आएँगे कि वे ही सब कुछ नहीं हैं। शस्त्रास्त्र की प्रतिस्पर्धा से अलग कोई तीसरी शक्ति भी है और मानो इस अनुभव के कारण विश्व की कूटनीति के व्यूह में तनिक फेर-बदल आ सके।

बल-सन्तुलन के आधार पर आज दुनिया कुछ चैन में है कि शीत युद्ध भले हो, रक्त-युद्ध नहीं हो सकता। किन्तु शीत युद्ध की परिस्थिति भी क्रमशः असह्य होती जा रही है और परस्पर सन्धियों का दौर वेग पकड़ रहा है। शस्त्र-बल का उपयोग इस घड़ी भी युद्ध उकसाने से अधिक उसको थामे रखने में हो रहा है, ऐसा माना जा रहा है। पर यह रोकथाम विश्वसनीय नहीं हो सकती। निरस्त्रीकरण की बात उठते ही जो सूझता है, वह यह कि किसी पलड़े को भारी न होने दिया जाए और जिस नाजुक सन्तुलन पर दुनिया टिकी हुई है, वह टूटे नहीं।

किन्तु शस्त्र के सम्बन्ध में उसकी उपयोगिता के प्रति यह रुख बना रहा तो निरस्त्रीकरण सही तौर पर कभी आएगा नहीं और मनुष्य को अपने भवितव्य के आतंक से कभी छुटकारा नहीं मिलेगा। आज विश्व-भर में उत्पादक श्रम का बहुत बड़ा भाग उस आतंक का पेट भरने में खप जाता है। डर से छुटकारा जरूरी है और वह मानो सामने के पक्ष को डराए रखने के द्वारा हासिल किया जाता है।

सच में देखा जाए तो शस्त्र की विनाशक शक्ति उत्कर्ष के जिस बिन्दु पर पहुँच गयी है, वहाँ से विनाश-नीति का आधार ही सदा के लिए असिद्ध और निषिद्ध बन जाता है। किन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय भी नहीं सूझता है। विवाद तो उत्पन्न होंगे ही। निपटारे का उपाय विवाद के एक पक्ष को अस्तित्वहीन बना देने का जो अब तक अपनाया जाता रहा है, उससे तत्काल काम तो सध गया है, जिसकी स्थिति दूर हुई है और राह खुल गयी है।

आदर्शवादी कुछ हैं जो कहते हैं कि हिंस्र उपाय मानवोचित नहीं है और हिंसा का क्रम किसी भी हाल आगे चल नहीं सकता है। दूसरी ओर अन्य आदर्शवादी हैं, जो मानते हैं कि प्रकृति के नियम अटल हैं और नैतिकता आदि खाली दिमाग की उपज है। ये क्रान्तिकारी हिंसा के शब्द से घबराने को तैयार नहीं हैं, साध्य की सिद्धि के लिए सब साधन उपयुक्त मानते हैं।

सच है कि अहिंसा बचती रही है, उसने कभी कोई काम नहीं साधा है। विवाद उठने से पहले उपदेश सार्थक हो, उपजने पर अहिंसा किनारा ले जाती है और विवादी पक्ष आपस में जूझने को छूटे रह जाते हैं। इस तरह युद्ध आदिम से वर्तमान काल तक अनिवार्य रहता आया है और अहिंसा की ओर से इस अनिवार्यता का कोई उत्तर नहीं आया है। किन्तु युद्ध के विज्ञान एवं विकास ने उस युद्ध की सार्थकता को समाप्त कर दिया है। इसलिए जो बड़ी आवश्यकता है, वह यह कि शस्त्र-बल का विकल्प कुछ पाया जाए। जब तक किसी नये और भव्य रूप का आविष्कार और उदय नहीं होता है तब तक निरस्त्रीकरण का लक्ष्य अमल में कभी आनेवाला नहीं है।

वक्यूम तो रह नहीं सकता। शस्त्र-बल टल जाए और उसकी जगह भरने को नयी शक्ति आए नहीं, यह असम्भव कल्पना है। समय की चुनौती यही है और मनुष्य को इसका उत्तर प्रस्तुत करना होगा।

निरस्त्रीकरण की दिशा में सोचनेवालों के समक्ष साहसपूर्वक मैं कहना चाहता हूँ कि उत्तर है और वह है गाँधी-उत्तर : गाँधी का सत्याग्रह।

सत्याग्रह में आप स्वयं एक पक्ष बनते हैं, अर्थात स्वयं आप वस्तुस्थिति में एक नया विवाद, कहिए कि संकट, उत्पन्न करते हैं; और इस सत्याग्रह में मारने का अधिकार स्वेच्छापूर्वक दूसरे पक्ष को देते हैं। अपने पास अपने सत्य पर

बलि जाने मात्र का अधिकार अपने पास रख लेते हैं।

हथियार यही तो करता है कि विवाद में से एक पक्ष को खत्म कर देता है। सत्याग्रह में स्वयं मुख्य पक्ष विपक्ष को अपनी ओर से इसकी सुविधा देता है। केवल इतना है कि विपक्ष को यह सन्तोष नहीं प्राप्त होता कि वह जीत सका है और सत्याग्रही हार गया है। इसमें से अनिवार्य या जो प्रक्रिया शुरू होती है, वह जेता की जीत को खट्टा बना देती है और लोकमत सत्याग्रही के पक्ष में हठात् प्रबलतर हो उठता है।

ईशु ख्रीस्त ने इस उपाय को सिद्ध किया और उसे क्रॉस कहा गया। कोई दल-बल उनके पास न था लेकिन कालान्तर में रोमन साम्राज्य ढह गया और उसकी जगह ख्रीस्त की मूर्ति ने ली।

प्रकट राजनीति में अणु आयुध से भी अधिक विकट और भीषण अस्त्र का उपयोग गाँधी ने किया और परिणाम जगत से सामने आया।

दुस्साहसपूर्वक आशा करना चाहता हूँ कि गाँधी के सत्याग्रह को भारत में और बाहर इस सन्दर्भ और प्रकाश में देखा जा सकेगा।

[जून, '78]

विश्व-समस्या का उठा फण

अमेरिका जाकर भारत के प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई अध्यक्ष कार्टर के साथ अपनी वार्ता में मतैक्य प्राप्त नहीं कर सके। हाँ, दोनों के बीच एक सु-संवादिता सिद्ध हुई अवश्य मानी जा सकती है। मतैक्य सम्भव न था, न उसके लिए किसी और से आग्रह रहा होगा। पर निरस्त्रीकरण के मुख्य प्रश्न के बारे में निश्चय ही कुछ विशेष प्रगति भी नहीं की जा सकी।

वह प्रश्न ज्यों-का-त्यों विश्व के भाग्य पर छाया हुआ है। बड़ी शक्तियाँ भूमण्डलीय भाषा में सोचती और अपनी कूटनीतियाँ चलाती हैं और मालूम होता है कि कोई तीसरी दुनिया इतनी समर्थ होकर नहीं उभर सकी है कि इस शक्ति-समीकरण में कोई भेद ला सके। असल में विश्व की स्थिति में एक गहरा अन्तर्विरोध समाया हुआ है जो निरस्त्रीकरण को एक साथ आवश्यक और असम्भव बना देता है।

मान्यता यह है कि दुनिया के सब राष्ट्र अपने में सम्प्रभुता-सम्पन्न हैं और कोई एक-दूसरे के मामलों में दखल नहीं दे सकता है। इस मान्यता में से सह-अस्तित्व और स्वायत्तता का सिद्धान्त निकलता है। किन्तु विज्ञान के प्रसार, वाणिज्य के विस्तार और संचार एवं आवागमन के साधनों के द्रुत वेग के कारण कोई देश अपने को सर्वथा स्वाधीन नहीं मान सकता है। परस्परता और परस्पराधीनता बढ़ती ही जा रही है। दुनिया चाहे-अनचाहे निकट आ रही है और छोटी पड़ रही है। हर देश को आयात-निर्यात के समीकरण की चिन्ता है और वह पाने को बाध्य है कि दुनिया में छायी हुई राजनीति और कूटनीति के जाल से वह बाहर नहीं है। डॉलर, स्टर्लिंग, मार्क, येन जैसे बड़े सिक्कों में गहरी होड़ चल रही है और वैश्विक अर्थनीति भँवर में जी रही है। किसी के लिए अलग-थलग रहना सम्भव नहीं है। नेशनल इकोनॉमी और नेशनल पालिटी की धारणाएँ अपर्याप्त हुई जा रही हैं। फिर भी साँचा दुनिया के पास उसके सिवा दूसरा नहीं है।

अर्थ नीतियाँ और राष्ट्र नीतियाँ आपसी प्रतिस्पर्द्धा में ही चलने को जब तक

बाध्य रहेंगी तब तक प्रत्येक राष्ट्र शस्त्रास्त्र की आवश्यकता के अधीन रहेगा और उन्हें बढ़ाते जाने की विवशता से मुक्त नहीं हो सकेगा।

यथार्थ यह है कि सब राष्ट्र बराबर नहीं हैं, यद्यपि राष्ट्र संघ की बुनियाद में स्वीकृत सिद्धान्त यही है कि सब राष्ट्र बराबर हैं। इस अन्तर्विरोध को पेट में रखकर दुनिया की स्थिति विस्फोटक नहीं होगी तो दूसरा क्या होगा? यह बड़ा प्रश्न है और राजनीति के बस का नहीं है। राजनीति के पास अन्तिम आधार है शस्त्र-सामर्थ्य का। निरस्त्रीकरण की माँग मानो उस आधार पर ही चोट करती है। आर्थिक समानता यह सह नहीं सकती। निरस्त्रीकरण को यदि वह मूल में स्वीकार कर लेती है तो उस सभ्यता का सारा भवन ही एक साथ ढह जाता है।

मेरा मानना है कि जिस गाँधी को लेकर भारत राष्ट्र अपना निर्माण करना चाहता है, उसने सभ्यता के आर्थिक और स्वार्थिक आधार पर ही प्रहार किया। उसने राजनीति और अर्थ नीति का पारमार्थिक आरम्भ करके दिखाया। इकोनॉमी राष्ट्रीय से आगे मानवीय क्या हो सकती है, इसका पहली बार संकेत गाँधी ने अपने चरखे के द्वारा दिया था; अर्थात मनुष्य श्रम को लेकर रहे और सिक्के की शोषण शक्ति से मुक्त बने। पूँजी के सहारे श्रम से आदमी बच जाता है। पूँजी की इस शक्ति का बोलबाला क्या साम्राज्यवादी और क्या लोकतान्त्रिक—सभी व्यवस्थाओं में देखा जा सकता है। गाँधी ने उत्पादक श्रम और ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त से जैसे पूँजी की इसी विषैली शक्ति को दूर कर देना चाहा था।

धन में अगर यह शोषण की शक्ति कायम रहने दी जाती है तो देश वही पूजा जाएगा, बड़ा और महान माना जाएगा जिसके पास जितना सांघातिक शस्त्रों का अम्बार होगा। आज की स्थिति इसका प्रमाण है। अमेरिका और रूस महाशक्तियाँ नहीं तो और किस कारण हैं? मोरारजी भाई ने कहा और ठीक कहा कि आप लोग हम जैसे विकासशील देशों को आणविक अस्त्रों के बारे में किस हिम्मत से कुछ कहने को चलते हो, जब कि खुद उन भयानक शस्त्रों का खजाना दिन-दिन बढ़ाए ही जा रहे हो?

लेकिन वह चक्र टूटेगा नहीं। राज्य प्रधान रहेगा और उसी की नीतियाँ प्रधान रहेंगी तो यह अनिष्ट स्थिति खत्म न होगी कि राष्ट्र हित मानव हित से विरोधी बन आया करे। व्यवस्थाओं का अपना स्वतन्त्र हित हो रहता है जिसको एक स्थापित स्वार्थ ही कहिए। लोकतन्त्र से अपेक्षा यह है कि वह तन्त्राबद्ध कम हो, लोकाभिमुख अधिक हो। लोग सब जगह के एक हैं। आदमी-आदमी में फर्क नहीं है; लेकिन जो ऊपरी फर्क है, उसी को लेकर व्यवस्थाएँ अपने गढ़ तैयार करती हैं और सरकारें मानव जाति के हित पर अपना एकाधिकार मान लिया करती हैं।

यह स्थिति भयावह है यद्यपि वर्तमान स्थिति यही है। मैं समझता हूँ कि

समस्या का फण है यह और जो इस फैले और उठे हुए फण को देख सकते हैं, उन्हें तात्कालिक राजनीति और राजसत्ता में लोभ न रहेगा और वे रचनात्मक माने जानेवाले कामों को इस गहराई से जोड़ेंगे। वे उस क्रान्ति को लाने में योग देंगे जिसका आभास किंचित जयप्रकाश नारायण अपने सम्पूर्ण क्रान्ति के घोष द्वारा दिया चाहते हैं।

[जून, '78]

लोकतन्त्र और गाँधी की शर्त

काफी दिनों से चले आये जनता पार्टी के अन्तरंग विवाद को समाप्त किया गया दो वरिष्ठ मन्त्रियों के त्यागपत्र माँगकर और कुछ अन्य राज्य मन्त्रियों के त्यागपत्र स्वीकार करके। यह वैध तरीका था, लेकिन था प्रशासनात्मक। क्या उससे विवाद समाप्त हुआ, या कि यथार्थ में वह और धारदार बन गया?

अब शासन लोकतन्त्र होने तक आ गया है। लेकिन कृपया हम इस पर गर्व न करें। यह न मान लें, जिसकी लाठी उसकी भैंसवाले सिद्धान्त से हम आगे आ गये हैं। लाठी का रूप-रंग बदला हो सकता है, उसकी उपयोगिता खत्म नहीं हो गयी। लाठी पैसे की और कानून की भी हो सकती है। आज का उसका स्वरूप वही है। इसलिए भूल हो जाती है और आदमी मान लेता है कि वह सामन्त-युग से सभ्यता के युग में आ पहुँचा है।

प्रश्न बीच में अनुशासन का था। हल उसे किया गया प्रशासन के बल से। चरणसिंह और राजनारायण मन्त्री नहीं रह गये। विकल्प था कि इस घटना पर वे टूट जाते। प्रशासकीय बल से अधिकांश यही घटित हुआ करता है और मान लिया जाता है कि समाधान प्राप्त हो गया। पर वह समाधान टिकता नहीं है, बल्कि समस्या उलटे और विकट बन आती है।

वही हुआ है। हटाए गये मन्त्रियों में जिद पैदा हुई है। उनमें अपने बल-संचय और बल-प्रदर्शन की नियत पक्की हुई है। 17 जुलाई को इधर पार्लियामेण्ट जुड़ेगी और उधर रैली चलेगी। कोशिशें हो रही हैं कि सन्धि हो जाए, पर बल-प्रयोग का जो चक्र चला है, वह रुकता नहीं दिखता है।

प्रश्न है कि राजनीति क्या कभी अपने द्वन्द्वात्मक स्वरूप को बदल सकेगी? क्या कभी होगा कि विकट प्रश्न बल से नहीं, विवेक से सुलझाए जाएँगे? प्रस्तुत और प्रचलित राजनीति में तो यह होता नहीं दीखता है। लोकतान्त्रिक राजनीति भी तो आखिर संख्या-बल पर निर्भर है। चुनाव में मत अधिक पा गये इसलिए आप सत्ता के पति हो गये। मत कम हो गये तो वैध पतित्व में तो अवश्य विफल रहे, पर अपनी जगह उसके दावेदार और आकांक्षी तो ज्यों-के-त्यों बने रहे। आखिर

अगले चुनाव तक पाँच बरस की ही तो बात है। आगे तो फिर वह सत्ता अपनी ही होनेवाली है! बस, ध्यान इस बीच अपनी लाठी की जगह तलवार की धार को पैनी बनाते जाने पर जमाए रखना है!

उदाहरण भद्दा है फिर भी यथार्थ है। आज के अखबार में ही है कि पत्नी के पति को प्रेमी ने मार दिया। वैधता का दावा पति का था, स्त्री प्रेम के दावे को वरीयता देती थी। लीजिए, बल बीच में आया और पति का निपटारा हो गया।

इन छोटे मामलों के ऊपर तो अदालत बैठी है और वह कर सकती है, जिसे न्याय कहते हैं, पर उस राजसत्ता के स्तर पर क्या हो जहाँ से खुद न्यायालयों का निर्माण होता है? उस परम बल की ऊँचाई तक विवेक पहुँचे तो कैसे पहुँचे?

सवाल पार्टी तक सीमित नहीं है। समक्ष बड़ी पार्टियाँ दो हैं—काँग्रेस और कम्युनिस्ट। दोनों आपस में बँटी और फटी पड़ी हैं। शासनस्थ जनता पार्टी भी फट जाए तो कोई बड़ी अनहोनी बात नहीं होगी। सवाल देश का है। प्रस्तुत जनतावाला शासक दल टूटता है तो देश के आगे विकल्प क्या होगा? साफ है कि सिर्फ सत्ता का लोभ या उसके जाने का भय अन्त तक किसी दल को मिलाए नहीं रख सकता है। दलीय स्वार्थ घटकीय स्वार्थों को कब तक दबाए रख सकेंगे? इसलिए मोरारजी, चरणसिंह और चन्द्रशेखर, राजनारायण के बीच क्या है, इससे किसी को क्या लेना-देना है? पार्टियाँ भी आती हैं और जाती हैं। जो चिन्ता है, वह देश और मनुष्य के भविष्य की है। अब भी इन्दिरा काँग्रेस की कुछेक राज्यों में प्रभुता है। दो राज्य तो प्रादेशिक पार्टियों के हाथ में हैं, तो क्या अगला विकल्प इन्दिरा काँग्रेस का देश के लिए अधिक वरणीय होगा? जनता पार्टी के प्रति जो भाव जनता में उभर रहे हैं, उसको देखते जनता का विकल्प भी शुभ नहीं दिखाई देता। देश के सामने प्रश्न है कि उस विकल्प को भी खोना है या बचाना है।

पिछला चुनाव डेमोक्रेसी बनाम डिक्टेटरशिप के मुद्दे पर लड़ा गया था। जयप्रकाश नारायण ने उसी को खूब उठाया और चमकाया था। वह मुद्दा अब मलिन पड़ता जा रहा है। लोगों को लगता है कि ये शब्द शासन के रूपक-भर हैं, कसौटी नहीं हैं। अगले चुनाव में यह मुद्दा केन्द्रीय बुनियाद के तौर पर जमनेवाला नहीं है। सारी राजनीतिक शब्दावली ही संदिग्ध बनी जा रही है। डेमोक्रेसी के साथ और शब्द थे सोशलिज्म और सेक्युलरिज्म। वे भी जनमानस को निस्सार प्रतीत होने लगे हैं। लगता है कि सत्य के समक्ष जीवन की यथार्थताएँ खुल गयी हैं और इन और ऐसे शब्दों की प्रभुता टूट रही है। राजनीतिक नेतागण नारों का सहारा अब अधिक लेते नहीं रह सकते हैं। शब्द छिलके हैं, उनके भीतर क्या है, लोग इसको अपने सुख-दुःख की कसौटी पर कसकर देख लेना चाहते हैं।

चरणसिंह को मन्त्रिपद छोड़ने का संताप नहीं है, बल्कि उनके शब्द हैं कि

उन्हें इससे राहत मिली है। वह मानते हैं कि अगले चुनाव पर सब निर्भर है और उस चुनाव का मुद्दा होनेवाला है गाँधी या नेहरू। मैं नहीं जानता कि चौधरी साहब कितने कैसे गाँधीवादी हैं। लेकिन यह अवश्य मानता हूँ कि भारतवर्ष को देर-सवेर निर्णय कर लेना होगा कि उसे इनमें से किस मार्ग को अपनाना है। दोनों का घोल ज्यादा नहीं टिकेगा। अब तक ये दोनों नाम साँस में एक साथ लिये जाते रहे हैं। सदभिलाषी जन मार्क्स, लेनिन, माओ को भी गाँधी के साथ एक कोष्ठक में बिठा दिखाने का यत्न करते रहे हैं। वह सब सुखकर लीपापोती काम नहीं देगी। गाँधी के मन में आज की इस सारी आर्थिक सभ्यता का ही अस्वीकार था जब कि नेहरू उसी में देश को बढ़ा-चढ़ा देखना चाहते थे।

गाँधी के विचार का केन्द्र बिन्दु था कि वर्तमान बल के आधार पर अब तक चीजें चली हैं, पर अणुशक्ति के उद्घाटन के बाद अब आगे और नहीं चल सकेंगी। वह बल अपनी विधायकता खो बैठा है। पार्थिव की जगह अब मनुष्य को नैतिक बल का आधार लेना सीखना चाहिए।

देश आज काफी क्षोभ और अनिश्चय की स्थिति में है। वह केन्द्र देश के पास नहीं रह गया है जिसे अन्तःकरण कहा जा सकता है। गाँधी के उत्तराधिकारी विनोबा का आशीर्वाद इन्दिरा काँग्रेस के कार्यक्रम को मिला बताया जाता है। इधर जयप्रकाश की छत्रछाया जनता पार्टी को प्राप्त मानी जाती है। मोरारजी गाँधी का नाम लेते हैं तो चरणसिंह तो उस नाम पर कम बल नहीं देते। लेकिन क्या गाँधी का यही उपयोग है कि वे राजनीतिकों के अलग-अलग चूल्हों पर ईंधन की तरह जलाए जाते हैं? क्या यह नहीं हो सकता कि उनके नाम पर हम लोकतन्त्र को अहिंसक राजनीति से चलाना सीखें? निश्चय रखना चाहिए कि अगर द्वन्द्वात्मक आधार पर ही लोकतन्त्र को चलाया जाएगा तो पार्टियों की बाहरी प्रतिस्पर्द्धा के साथ घटकों और गुटों की आन्तरिक तोड़-फोड़ से भी बचा नहीं जा सकेगा। इसीलिए लोकतन्त्र के अधिकांश प्रयोग टूटते हैं और केवल उसकी दुहाई से भारतीय लोकतंत्र को टिकाए रखा नहीं जा सकेगा। आवश्यक है कि समय रहते राजनीति में एक नागरिक संस्कारिता का उदय हो और दलीय प्रतिबद्धता नकारात्मक और प्रहारात्मक स्वरूप से छूटे।

[जुलाई, '78]

मानवाधिकार और सत्याग्रह

रूस में सोवियत शासन ने अलेक्जेण्डर गिन्सबर्ग, विक्टोरस स्पेक्टस और अनातोले शेरेनस्की को भारी सजाएँ देकर मानो अमेरिका और पश्चिम के देशों के सामने अपने इस पक्के संकल्प को उजागर किया है कि 'मानवाधिकार' के प्रश्न के आयुध से उसे दबाया या धकेला नहीं जा सकता। इन तीनों को दण्ड दिया गया है शासन-तन्त्र से असहमति और असन्तोष खुलकर व्यक्त करने के अपराध पर।

अमेरिका के राष्ट्रपति कार्टर मानवाधिकार के प्रश्न को मानो धार्मिक आग्रह के साथ उठाना चाहते हैं। यों तो यह शुभ निर्णय है, लेकिन इसमें संशय है कि मनुष्य के अधिकारों की प्रतिष्ठा किसी भी राजतन्त्र द्वारा पूरी तरह निभायी जा सकती है। राज्य के अपने अधिकार हैं जिनमें पहला है—अपनी सत्ता की रक्षा का। इस तरह राजद्रोह कोई भी राजतन्त्र बर्दाश्त नहीं कर सकता।

तो क्या व्यक्ति राज्याधीन और राज्यानुगत बनकर ही जी सकेगा? तब तो फिर स्वतन्त्रता का अर्थ क्या रह जाएगा? इस तरह स्पष्ट है कि स्वाधीन तन्त्र और राज्यीय तन्त्र में किसी बिन्दु पर संघर्ष अनिवार्य ही हो पड़ेगा। व्यक्ति आत्मवान है और राज्य को वैसा आत्मवान कहना कठिन है। राज्य का तन्त्र यान्त्रिक हो चलता है और कहा जा सकता है कि समाज और संस्कृति के विकास में आत्म-चेतना जब कि गति के लिए दायी है तब राजयन्त्र स्थिति का प्रतीक है। इस तरह प्रश्न स्थिति और गति के उस सामंजस्य का हो रहता है, जो उनमें के अनिवार्य संघर्ष को अपने में समा ले सके।

इतिहास में राज्य बदले हैं और बदलाव की माध्यम राज्यक्रान्तियाँ हुई हैं। जिन्हें आरम्भ में विद्रोही कहा गया, उन्हीं के हाथ में बाद में शासन के सूत्र आये और इस प्रक्रिया में अधिकतर पहले के शासकों का खून बहाया गया है।

माना जाता है कि शासन का धर्म समाज को असामाजिक तत्त्वों से सुरक्षा पहुँचाना है। समाजवाद और लोकतन्त्रवाद इस तथ्य के सूचक हैं कि राज्य की स्वयं में कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है, समाज का और लोक का वह प्रतीक-उपकरण मात्र है। जिसको राजद्रोह कहा जाता है, उसमें समाज नीति और लोक नीति की

यदि अधिक सही झलक दीखे, तो क्या ऐसा राजद्रोह वरेण्य ही नहीं माना जाना चाहिए?

साम्यवाद के विचार के मूल में यह कल्पना थी कि आगे जाकर समाज आत्मशासित हो सकेगा, अलग ऊपर से किसी शासन करनेवाले तन्त्र की आवश्यकता नहीं रहेगी। व्यक्तियों, वर्गों और सम्प्रदायों की परस्परता ही एक साथ उन्हें स्वतन्त्र और नियमित रखेगी। तब अधिकार का प्रश्न, प्रश्न पैदा नहीं करेगा, क्योंकि समाज के विविध तत्त्व आत्मनिहित कर्तव्य भाव से आपस में अनुबन्धित रह सकेंगे।

समाज सम्बन्धी यह कल्पना अब निरा सपना बन गयी दिखती है। लगता है कि राजनीति द्वन्द्वात्मक भाव से ही चल सकती है और मानव भाग्य राजनीति के हाथ से कभी बाहर नहीं जानेवाला है। राज्य को ही दमन के बल से व्यवस्था को बनाए रखना होगा, और मानवाधिकार की सीमा वही होगी जो तात्कालिक राजन्य वर्ग निश्चित करेगा।

किन्तु साथ ही यह भी हम देखते हैं कि मानव की विकास यात्रा में राष्ट्र का घटक अपने में अपर्याप्त सिद्ध हुआ जा रहा है। राष्ट्रों में आपसी सम्बन्ध फैलकर सघन हो रहे हैं और दुनिया मानो छोटी पड़ रही है। उनके बीच की सशस्त्र सीमाएँ समाधान से अधिक समस्याएँ उपजाती हैं और बार-बार हरेक को यह विश्वास दिलाना पड़ता है कि हमारे शस्त्र आक्रमण के लिए नहीं, केवल आत्म रक्षा के लिए हैं। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धाएँ हैं, तो प्रतिसन्धियाँ भी हैं और मालूम होता है कि परस्पर सम्बन्धों में हिंसा का तेवर सहायक नहीं, बाधक ही हो पाता है।

कोई राज्य और कोई राजनीति मानवाधिकार को अपरिसीम रूप में स्वीकार नहीं कर सकती। पहली बार इतिहास में भारत के शासन ने मनुष्य के बुनियादी अधिकार सत्याग्रह को स्वीकार करने की हिम्मत दिखायी है, अर्थात भारतीय राज्य ने मान्य किया है कि यदि सत्य साथ है, तो मनुष्य का मूल्य व्यवस्था से ऊँचा है।

अच्छा होता अगर मानवाधिकार का प्रश्न बल प्रदर्शन और बल परीक्षण का अवसर न बनता। अखाड़े में उतरकर मानो उस सवाल ने सोवियत रूस को और तैयार कर दिया कि दिखाए कि वह ऐसी धमकियों से डरनेवाला नहीं है। उसने नारा दिया है कि हर राष्ट्र स्वायत्त है और किसी के अंदरूनी मामले में दूसरा कोई दखल नहीं दे सकता। कार्टर महाशय अगर दखलंदाजी करना चाहते हैं, तो नतीजा आपसी तनाव ही हो सकता है, दूसरा नहीं। और महाशक्तियों के बीच यह तनाव बढ़ चला है। इधर सजाएँ मिली हैं, उधर प्रतिरोध में निर्यात पर कुछ बन्धन डाल दिया गया है। ऐसे मानवाधिकार का प्रश्न गुत्थी में पड़कर

और उलझ गया है।

सच यह है कि असहमति दण्डनीय नहीं हो सकती है, न उसका प्रदर्शन दण्ड होना चाहिए। असहमति शर्त है लोकतन्त्रात्मक जीवन-पद्धति की। वैविध्य प्रकृति की देन है और सृष्टि की सम्पदा है। मानव क्षेत्र में उसकी रक्षा हो सकी तभी समाज समृद्ध होगा। यदि किसी भी कारण उससे भय माना गया, तो आगे-पीछे युद्ध आएगा और जो उद्यान हो सकता था, वह समाज उजाड़ और वीरान हो जाएगा।

क्या मानव जाति की ओर से कुछ ऐसी योजना नहीं हो सकती कि कोई राष्ट्र-राज्य, जब तक हिंसा का अभियोग किसी पर सिद्ध न हो तब तक, असहमति और असन्तोष की अभिव्यक्ति को दण्डित नहीं कर सके? विश्व-लोकमत जैसी एक वस्तु धीरे-धीरे उभर रही है। अन्तरराष्ट्रीय प्रेस शायद उसका माध्यम है, किन्तु उसका आकार-प्रकार अभी वह स्वरूप नहीं प्राप्त कर पाया है कि अपनी शक्ति से वह राजतन्त्रों को बाधित कर सके।

समय आ गया है कि, कितने भी संक्षिप्त रूप में सही, एक विश्व नागरिकता का उदय हो। अब भी सब देशों में ऐसे जन हैं जो मानवता से जुड़े हैं। वे राष्ट्र की सीमा और सन्दर्भ में आबद्ध नहीं हैं और उनके आपसी वैमनस्य का अंग बनने को कतई तैयार नहीं हैं। राष्ट्रगत अभिनिवेशों से वे पार देख सकते हैं और हिंसा के साधन को हर स्तर पर अमान्य मानते हैं। संस्कारशील राष्ट्रीयता के लिए कठिन नहीं होना चाहिए कि वह अहिंसा की शर्त के साथ सत्याग्रह को झेल ले जाए और उसके द्वारा समाज को उचित संस्कार मिलने दे। 'अहिंसा' में अधिकार समाप्त हो जाता है दूसरे का अहित सोचने तक का, केवल अधिकार रह जाता है स्वयं मृत्यु के मोल अपने सत्य के पालन का। मैं मानता हूँ कि वस्तुस्थिति यदि अपने भीतर सत्याग्रह-रूपी इस गति तत्त्व को अंगीकार कर लेती है तो मानवाधिकार की गुत्थी उलझने की बजाय सुलझनी शुरू हो सकती है।

[जुलाई, '77]

समझौता और सिद्धान्त

मोरारजी-चरणसिंह के बीच का झमेला उनके ही बीच का नहीं रह गया है। देश-भर को उसमें दिलचस्पी है और दोनों सदनों को यह जानने की बड़ी उत्सुकता है कि उनके बीच हुए पत्राचार में क्या कुछ भेद भरा हो सकता है।

समझौते की आशा बनती है तो तभी टूट भी जाती है। सुलह करानेवाले चिन्तित हैं कि जनता पार्टी का क्या होगा? और इसलिए वे कटिबद्ध होते हैं कि जैसे हो, दल को एक रखना ही होगा, अन्यथा राजनीति की आधारभूत इकाई समुदाय है। वर्तमान जनता पार्टी पाँच घटकों के बलिदान से बनी है, पर घटकवाद वहाँ ज्यों-का-त्यों है। एकता के लिए एक अन्त:केन्द्र, अन्त:करण चाहिए। पर अन्त:करण को लेकर व्यक्ति हमेशा अकेला बना करता है। समुदाय समझौते पर खड़े होते हैं—समझौता अन्यान्य के साथ और पहले अपने अन्त:करण के साथ। इसलिए समुदाय के नीचे आधार आवश्यक है। स्वार्थ का यह स्वार्थ सूक्ष्म होते-होते वैचारिक और आइडियोलॉजिकल (विचारधारात्मक) हो जा सकता है। स्पष्ट है कि दो स्व-अर्थ यदि एक होंगे तो अपनी अपेक्षा किसी परम-अर्थ में ही एक हो सकेंगे। अन्तिम परम-अर्थ की साधना में एकाकी से पहले पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि स्वार्थों को परमार्थ मानकर वहाँ अपनी निजता को कृतार्थ अनुभव कर लिया जाता है, पर देखा गया है कि यह परमार्थ बीच में टूटते हैं और परिणामस्वरूप सब देशों और कालों की राजनीति सदा अस्थिर रहती चली जाती है। शक्तियों के समीकरण बदलते हैं और मित्रगण अपने ही बीच से शत्रु, और मित्रताएँ अपने ही बीच शत्रुताएँ उपजाने लगती हैं।

इस प्रकार जीवन एक सतत द्वन्द्व है। यहाँ चलना मिल-जुलकर ही हो सकता है, लेकिन हर समय आपको भान रहता है कि आप केवल स्वयं हैं और अन्य अन्य हैं।

समझौता जीवन-निर्वाह के लिए एकदम आवश्यक है। उसमें संघर्ष टल जाता है और अवसर सध जाता है। लेकिन अकसर इससे गति सुलभ होती है तो गति की दिशा संदिग्ध बनने लग जाती है। दिशाबोध जीवन के लिए बाहर

से नहीं, व्यक्ति को भीतर अन्त:करण में से प्राप्त होता है। जो इसके बारे में सावधान नहीं हैं और समझौते की कला में चतुर हैं, वे इस जगत में बहुत कुछ फल प्राप्त कर ले जाते हैं। वे सफल बन गये हैं, अर्जन कर गये हैं धन का, मान का, यश का। वे संग्राहक बनते हैं, उनके साथ दल चलता है, और वे दल के साथ चलते हैं। यह अहिंसक वैश्य-वृत्ति संघर्ष से बच जाती है और कभी घाटे में नहीं रहती।

किन्तु इतिहास में वे भी पुरुष हुए हैं जिन्होंने हठात् संघर्ष छेड़ा है और उसी के काम आये हैं। इन स्वयं होकर रहने और संग साथ रहने की दो प्रकार की वृत्तियों में सामंजस्य साधना आसान नहीं होता। यह सामंजस्य इतना असम्भवप्राय है कि जिस व्यक्ति में वह सिद्ध दीखता है, उसे अवतारी पुरुष मानना पड़ जाता है। आस्तिक व्यक्ति मानता है कि समस्त सृष्टि जिस एक नियम और नियन्ता से चल रही है, वह है ईश्वर। उसका ही उपलब्ध रूप है प्रेम। प्रेम में से परस्परता का सृजन होता है, किन्तु उसी में से एकात्म सिद्धि के पूर्व संघर्ष की भी सृष्टि होती है।

कृष्ण महाभारत के रण से जूझे, राम के हाथ रावण का वध हुआ, क्राइस्ट सूली पर चढ़े, गाँधी गोलियों से मरे और हजरत मुहम्मद जीवन-भर युद्ध में से गुजरे।

इन विभूतियों के निकट हर द्वैत अद्वैत में स्वाहा हुआ है और संघर्ष में से प्रेम को ही कृतार्थ किया गया है। लेकिन गाँधी के बाद ऐक्य द्वैत में फट गया, सहयोग विनोबा के पास सुरक्षित रहा तो संघर्ष जे.पी. ने उठाया। फलत: राजनीति आज वह है जो है, अर्थात् वह 'बनाम' की बन गयी है। जनता बनाम काँग्रेस, मोरारजी बनाम चरणसिंह, सी.पी.आई. बनाम सी.पी.एम., जन संघ बनाम सोशलिस्ट, बाम बनाम दक्षिण। बस, बनाम, बनाम।

गाँधी ने एक शब्द दिया—सत्याग्रह। उसके अन्त के आग्रह में ही गर्भित है कि हर कीमत पर बन-बनाव सदा अपेक्षित नहीं है। एक जगह संग-साथ छूटे तो उसे सह जाना होगा।

पाँच पाण्डव एक थे, पर अन्तिम आरोहण के मार्ग पर एक-एक का साथ छूटता गया और युधिष्ठिर अकेले रह गये। राजनीति में विपक्ष को एकदम काला बनाकर पेश करना उपयोगी और जरूरी होता है। एक को सफेद और दूसरे को स्याह बना देकर फिर दो पक्षों में निर्णय करना कठिन जो नहीं रह जाता। पर यह उपाय तात्कालिक ही काम देता है, समाधान नहीं दे सकता। मोरारजी और चरणसिंह के सम्बन्धों में परस्पर संशय का छींटा पड़ गया है तो उन्हें अपने अलग-अलग मार्ग स्वीकार करने में घबराना नहीं चाहिए। लोकतन्त्र की यही विशेषता है। कोई दल जन-विश्वास का आधार खोने पर पद से चिपका क्यों रहे? आखिर देश बड़ा

है और उसके हाथ में निर्णय पहुँचने देने में आनाकानी क्यों? मुझे प्रतीत होता है कि स्वराज्य के बाद की भारतीय राजनीति ने किसी निश्चित दिग्बोध का परिचय नहीं दिया। निश्चिन्तता देखी गयी थी इन्दिरा-शासन में, किन्तु वह किसी दिशा बोध की नहीं, मात्र सत्ता बोध की थी। चरण सिंह की एक बात स्पष्ट है, वह यह कि देश के हित का मार्ग नेहरूवाला नहीं है, गाँधी प्रणीत ही हो सकता है। अपने इस आग्रह को लेकर स्वतन्त्र रचनात्मक प्रवृत्ति में वे क्यों न लगें? क्यों न देश के समक्ष अपना संकल्प और स्वप्न रखें और उसे अवसर दें कि वह विवेक से अपने यथायोग्य मार्ग चुने?

रैली की राजनीति तो रचनात्मक सिद्ध होनेवाली है नहीं। रचनात्मक वृत्तिवाले व्यक्ति के लिए जोर-शोर, गुहार-गुंजार फिर जरूरी भी क्यों रह जाना चाहिए?

[अगस्त, '78]

संख्या की राजनीति और भ्रष्टाचार

प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई के पुत्र कान्ति देसाई और भूतपूर्व गृह मन्त्री चरण सिंह के परिवार पर भ्रष्टाचार के आरोपों का सवाल उनके आपसी पत्र-व्यवहार से उठा, कांग्रेस (ई) के यत्नों से उछला और अन्त में उन आरोपों पर जाँच बिठाए जाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए पन्द्रह व्यक्तियों की समिति नियुक्त करने का प्रस्ताव राज्य सभा में पारित हो गया। लोक सभा में उस बहस का परिणाम प्रतिकूल न हो, कदाचित इस भय से काँग्रेस (ई) ने निश्चित किया कि ऐन वक्त पर प्रस्ताव को वापस खींच लिया जाए। सरकार अब उलझन में है कि वह क्या करे? प्रस्ताव की भाषा सिफारिशी है, यह सरकार कह और मान तो सकती है, लेकिन उस पर अमल नहीं हुआ तो जनता सरकार की स्थिति और छवि और बिगड़नेवाली है। भ्रष्टाचार का सवाल राजनीति के हाथ में आसान हथियार अवश्य बन सकता है, लेकिन इससे अधिक बस राजनीति का नहीं है। भ्रष्टाचार उससे अभी हटा नहीं और न ही कभी हटने की सम्भावना है। पहले तो उस तरफ ध्यान था ही नहीं। क्षत्रप के लिए सब भोग जायज ही नहीं थे, उसके लिए गर्व और गौरव के लक्षण भी थे। समझा जाता है कि सामन्ती दिन गये, अब लोकतन्त्र में राजनीति के मूल्य बदले होंगे। तलवार से नहीं, अब राजा मतदान से बनता है और इसलिए वह राजा नहीं, मन्त्री कहलाता है। आसन वह जीवन काल के लिए नहीं, बस सीमित अवधि के लिए होता है। मतदान द्वारा पाँच-छह वर्ष में जनता उसे बदल भी सकती है।

बात ठीक है। लेकिन राजा बनने के तरीके के बदलाव से मूल्य भी बदल गये हैं, यह मान लेना जल्दी करना होगा। सत्ता पहले शस्त्र से मिलती थी, अब संख्या से मिलती है। शस्त्र हो भी सकता है कि उतना धन-निर्भर न हो, पर जनमत के बारे में यह मान लेना आसान नहीं है। हर चुनाव के लिए धन चाहिए। पार्टी के आधार पर चुनाव लड़ा जाए तो धन का और भी ढेर चाहिए। लोकतन्त्र जो हमने प्राप्त किया है, यानी अपने बीच में से विकसित नहीं किया है, वह यही तो है कि विपक्ष को हर हालत में उनचास के भीतर सीमित रखा जाए और

खुद अपने को इक्यावन से ऊपर जैसे हो, वैसे बनाये रखा जाए! तो यह काम नीचे धन का मजबूत आधार माँगता है। स्वराज्य से पहले अवश्य भारतीय राजनीति में चरित्र का मूल्य था, लेकिन तब वह सत्ता की राजनीति भी नहीं थी। स्वराज्य आते समय गाँधी ने काँग्रेस को सलाह दी कि वह अपनी राजनीति को सेवा से जुड़ा रखे, सत्ता से नहीं जुड़ने दे, पर वह नहीं हो सका। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने राजपाट सँभाला और बाद का इतिहास समक्ष है। इतिहास वह यह है कि राजनीति में निरन्तर चरित्र का मूल्य घटता गया है और तुलना में पैसे का मूल्य बढ़ता गया है। स्वतन्त्रता के युद्ध के जमाने में भी एक समय आया था कि परस्पर विश्वासपूर्वक राजा-प्रजा के बीच कुछ समय के लिए सन्धि हुई थी। धारा सभाओं के चुनाव हुए थे और जन-प्रतिनिधि मन्त्री बने थे। तब हालत थी कि काँग्रेस को नाम-भर बता देना काफी था, आगे कुछ खर्च करना नहीं होता था और ऐरा-गैरा भी आसानी से चुन लिया जा सकता था। काँग्रेस संस्था को पुण्य की वह शक्ति प्राप्त हुई थी आत्म बलिदान से। वह सम्पदा उसके पास से लुटती चली गयी और अब तो जनमत बटोरने के लिए बड़े धन-बल की आवश्यकता होती है। नेता का और मतदाता का सम्बन्ध पारस्परिक श्रद्धा का अब आवश्यक नहीं है।

संक्षेप में आज की सत्ता और संख्या से जुड़ी राजनीति में देखा जाए तो भ्रष्टाचार का प्रश्न असंगत बनकर रह गया है। उसे राजनीतिक अस्त्र के रूप में अवश्य इस्तेमाल किया जा सकता है, वरना राजनीति भ्रष्टाचार को शिष्टाचार का रूप देने में ही काम आती है। नेता का मूल्य उतना ही अधिक है जितना वह पैसा जमा कर सकता है। ऐसी अवस्था में भ्रष्टाचार राजनीति का आधार तो हो सकता है, किन्तु भ्रष्टाचार मिटने का खतरा उससे बिलकुल नहीं हो सकता।

आज भ्रष्टाचार से बचना बहुत कठिन है। उससे भी कठिन है किसी पर भ्रष्टाचार का आरोप साबित कर सकना। राज्य सभा की तत्सम्बन्धी बहस में श्री पीलू मोदी ने कहा था, और एकदम सही कहा था, कि प्रधान मन्त्री और भूतपूर्व गृह मन्त्री की बात क्या है, हर किसी के बारे में भ्रष्टाचार का लम्बा कच्चा चिट्ठा तैयार किया जा सकता है। कोई राजनीतिज्ञ अपने भीतर टटोलकर देखे तो क्या वह नहीं पाएगा कि वर्तमान सत्ता की राजनीति अर्थ की सत्ता से अभिन्न भाव से जुड़ी हुई है? जो देश लोकतन्त्र शब्द से चिपटे दीखते रहना नहीं चाहते, वे सीधे कहते हैं कि अर्थ शक्ति राजसत्ता की मुट्ठी से अलग हो ही क्यों? इस स्थिति को टोटेलिटरियन और मानव-स्वतन्त्रता से विरोधी स्थिति माना जाता है। किन्तु यह सोचने की बात है कि इतर और अन्यान्य देशों में राज शक्ति और अर्थ शक्ति का आपसी सम्बन्ध क्या स्वस्थ और शुभ है?

इस जगह मुझे प्रतीत होता है कि राष्ट्र के लिए अब तक अपनाए जाते रहे 'गाँधी और नेहरू' के सूत्र से हटकर अब 'गाँधी या नेहरू' के विकल्प पर राष्ट्र को विचार करना होगा। पैसा बढ़े तो अच्छा ही है, लेकिन वह बढ़ता जाए और कुछेक हाथों में ऐसा सिमटता जाए कि अन्तिम और सामान्य आदमी तक उसे पहुँचने की सम्भावना ही समाप्त दीखे, तो धन की ऐसी बढ़वारी समाधान की ओर ले जाने के बदले उलटे देश को भयंकर विषमता की समस्याओं में पटक सकती है। पैसा तब इतना सब कुछ बन सकता है कि चरित्र का मूल्य शून्य हो जाए; यहाँ तक हो सकता है कि चरित्रहीनता ही राजनीतिक कुशलता का प्रमाण और सोपान बन जाए; अर्थात अमुक या तमुक की जाँच-परख पर आयोग बिठा देने से भ्रष्टाचार के निरसन का उपाय नहीं बन जाएगा। उसके लिए सामाजिक और सार्वजनिक, फलतः राजनीतिक, जीवन की बुनियादों को बदलना होगा। पश्चिम के देश तथाकथित विकास की दिशा में भागे चले जा रहे हैं, यद्यपि वहाँ भी मनीषी जन इस अन्धी दौड़ के प्रति सशंक हैं। वहाँ से आयातित राजनीति को ज्यों-का-त्यों लेकर हम भारत में मनुष्य की समस्या से निपट नहीं सकते। यह देश कुछ भिन्न है और यहाँ अब तक अपरिग्रह की प्रतिष्ठा है। ऋषि राजन्य से बढ़कर भारत में आज भी मान-प्रतिष्ठा पा जाता है।

जनता पार्टी का क्या भाग्य होता है, यह भारत के लिए इसी कारण चिन्ता का विषय है कि दूसरे इन्दिरा-काँग्रेस के विकल्प में भी उसे आश्वासन का कारण नहीं दीखता। यदि काँग्रेस (ई) की मुहिम को जनता पार्टी के कुछ तत्त्वों का भी बल और योग मिल जाता है तो स्थिति राष्ट्र के लिए विकट हो जाती है। हरिजन बनाम किसान-बनाम-सामन्त का प्रश्न जिस रूप में उठ रहा है, वह भयावह है। स्वस्थ राजनीति वर्गगत चेतना को बढ़ावा नहीं दे सकती, न किसी दबाव के आगे ही झुक सकती है। यह है जहाँ देश आज खड़ा है। क्या सब अपने-अपने अधिकार चाहने और इसलिए दबाव डालने के रास्ते पर ही चलेंगे; या कि राजनीति की इस दिशा को किसी ओर से मोड़ भी प्राप्त हो सकेगा? कहाँ से संस्कार उसे प्राप्त होगा? कहाँ से? और कब?

पुनश्चः इन पंक्तियों की स्याही सूखी न होगी कि इस बीच राजनीति के पट पर कुछ और घटनाएँ घट गयीं। एक क्षण मालूम हुआ कि जनता पार्टी का संकट टल गया है, समाधान मिल गया है। अखबारों में मोटे हरफों में खबर छप गयी और जयप्रकाश को शाबाशी मिल गयी। लेकिन अगले क्षण पता चला कि वह समाधान ही समझौतों की सम्भावना को और दूर डाल गया और खाई को चौड़ा कर गया है। यह परिणाम आया जनता में एकता बनानेवालों के भ्रम का। उधर कर्नाटक भवन में श्री अर्स ने काँग्रेसी एकता की कोशिश की और व्यर्थता

हाथ आयी। उलटे काँग्रेस की अध्यक्षा श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने इस प्रयत्न को जारी रखने का काम जिन अधिकृत प्रतिनिधियों को सौंपा है, उस गिनती से अर्स बाहर हैं, तो यह चरित्र है लोकतन्त्रीय कही जानेवाली राजनीति का! देश को सोचना होगा कि क्या उसका भाग्य ऐसे ही वाद-विवाद और दल-विग्रह के बीच झूलता रहेगा?

[अगस्त, '78]

राजनीति और भ्रष्टाचार

राजनीति में भ्रष्टाचार के प्रश्न को तूल देना वृथा है। लाभ कुछ नहीं, अलाभ यह है कि उससे अस्थिर राजनीति और अस्थिर होती है।

एक बड़े अँग्रेजी पत्र के सम्पादक ने राज्य सभा में उठाए गये भ्रष्टाचार के प्रश्न पर अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है। हर समझदार व्यक्ति इस तथ्य की वास्तविकता को स्वीकार करेगा। राजनीति शक्ति का खेल है और अशान्त है वह, जो आगे बढ़कर सफलता पाने की राह में नीति की बातें सोचने लग जाता और ऐसे रुका रह जाता है। राजनीति में आने और चलनेवाला व्यक्ति शक्ति और नीति के इस सम्बन्ध को नहीं जानेगा तो वह विफल होगा और अधबीच ही उसका व्यक्तित्व टूटकर रह जाएगा। इतिहास-भर में इसके प्रमाण हैं और किसी देश की राजनीति को इसका अपवाद नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

नैतिकता के विचार में गहरे उतरें तो मालूम होगा कि उसकी जड़ें अध्यात्म में हैं। भारतीय अध्यात्म राम को मर्यादा पुरुषोत्तम स्वीकार करता है, किन्तु नैतिक जन उनके चरित्र पर भी लाँछन लगाते हैं। लाँछन को अपने ऊपर राम इस रूप में स्वयं स्वीकार करते हैं कि धोबी की बात पर सीता को निर्वासन दे डालते हैं। राम से भी चार कला ऊपर अवतार रूप में माना जाता है कृष्ण को और ऐसा कुछ भी नहीं है जो कृष्ण के चरित्र में नहीं पाया जाता। नीति-अनीति का सारा सवाल जैसे कृष्ण की ऊँचाई नापने में ओछा पड़कर बीच में असंगत हो रहता है। राम और कृष्ण दोनों युद्ध के नेता हैं और कृष्ण की तो महिमा ही इसमें है कि जो अर्जुन नैतिकता के नाम पर अपने सगे सम्बन्धियों का युद्ध में वध करने से इनकार करता है, गीता के उपदेश द्वारा वह उसी अर्जुन को अन्त में अपने धनुष गांडीव को उठाने और युद्ध में आगे बढ़कर संहार करने के प्रति उद्यत और तत्पर कर देते हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' भारत के अनुपम धर्म ग्रन्थ हैं और भगवद्गीता तो उनमें भी मानो धर्म के अध्यात्मसार की सहस्त्रों वर्ष से कुंजी बनी हुई है।

तो क्या भ्रष्टाचार की धर्म विचार में पूरी गुंजाइश है? और कुछ लोग हैं

जो बुद्धि के बल से सचमुच यह सिद्ध कर ले जाते हैं। सफल और सर्वज्ञ राजनीतिज्ञ को अपने भीतर यह सिद्ध कर ले जाने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। कठिनाई होती भी नहीं है। सिर्फ इतना है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ अपने या अपने पक्ष में नहीं, भ्रष्टाचार को सदा दूसरे में या दूसरे के पक्ष में देखता है। भ्रष्टाचार का शब्द इस तरह राजनीति के हाथ में वह हथकण्डा है, जो दूसरे की छवि को बिगाड़ने में बड़े काम आता है। और बस।

राजनीति सदा से कुछ खास लोगों की चीज रही है। उस वर्ग को विशिष्ट या उच्च वर्ग माना जाता रहा है। नीति जैसी चीज की आवश्यकता न निम्न को होती है, न महिम्न को। यह तो मध्यम श्रेणी के जन हैं, जिनको अनिवार्यतया उस सहारे की जरूरत रहा करती है।

लेकिन कठिनाई यह है कि समय आगे बढ़ता है। जो सिर्फ खास लोगों की चीज थी, वह सब लोगों की चीज बनती जा रही है। लोकतन्त्र शब्द ईजाद हुआ है और सदा-सदा लोक वह रहनेवाला है, जिसमें 'खास' थोड़े हों, 'आम' ही ज्यादा हों। यह सही कि लोकतन्त्र में भी खास ही होंगे, जो राज तक पहुँचेंगे। प्रतिनिधित्व के मार्ग से उस सामान्य को भी विशिष्ट हो जाना होगा जो दल के टिकिट पर वोट पाएगा और चुन लिया जाएगा। किन्तु इस लोकतन्त्र पर आवश्यक रूप से अभिशाप रहेगा कि वहाँ भ्रष्टाचार का प्रश्न उठे, उठता ही रहे, और नेता में जनता चरित्र के छिद्र देखने से कभी बाज न आये। अनिवार्य यह इसलिए है, और रहनेवाला है, कि शासक जब मुट्ठी भर हों, तब उनके नीचे बहुत-बहुत बहुतायत शासितों की होगी। प्रजाजन और राजन्यजन के बीच की यह विषमता खटके बिना रहेगी नहीं और असम्भव होगा यह सिद्ध कर सकना कि जो ऊपर राजन्य बनकर बैठा है, वह भ्रष्टाचार के अतिरिक्त किसी भी और पद्धति से वैसा बन गया हो सकता है।

और जगहों की राजनीति में तो यह खटका उतनी समस्या नहीं भी पैदा करता है। विशेषकर विकसित और सम्पन्न माने जानेवाले देशों में यह मान्यता और यह अनुभूति गहरी उतर गयी है कि राजसत्ता के आधार में अर्थ सम्पन्नता का होना अनिवार्य है। मार्क्स ने चाहे कितना भी प्रकट कर दिया हो कि अर्थ-वैभव के मूल में मानव-शोषण अवश्यंभावी है, तो भी क्या पूँजीवादी और क्या समाजवादी, सब विकास-प्राप्त देश स्वीकृत मानते हैं कि राजनीति में जो भी जन हों, उनके पास धन की अतिरिक्त सुविधा होनी चाहिए।

अब भारत विकासशील देश है और सचेष्ट है कि जल्दी ही विकसितों की गणना में आ जाए। उसके पास यथेष्ट बुद्धि बल है, वैज्ञानिक दक्षता है, और भी सब कुछ है। इसलिए उसकी राजनीति उत्तरोत्तर धनाधारित होती जाए, इसमें

तर्क की कोई त्रुटि नहीं है। और यदि वैसा होता दीखता है तो बड़े अँग्रेजी पत्र के बड़े सम्पादक उस अवश्यंभाविता और वास्तविकता का समर्थन ही कर सकते हैं।

किन्तु उनका और भारत का दुर्भाग्य है कि यहाँ राजनीति का एकच्छत्र नेता एक ऐसा भी हो गया जिसने राज की नीति को मानव की नीति से अभिन्न माना और अपनी राजनीतिक प्रभुता की रचना नैतिक मूल्यों की बुनियादों पर ही की। पुरानी बातें पुरानी समझी जा सकती थीं और उनको टाल दिया जा सकता था, लेकिन इस बीसवीं सदी में गाँधी ने आकर राजनीति को असंग्रह, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सेवा और आत्मोत्सर्ग के मूल्य दिये और उनकी ही नींव पर एक सफल और सबल राजनीति के रूप को मूर्त कर दिखाया। स्वराज्य के काँग्रेसी राज्य ने क्रमशः उस गाँधी को, काफी मात्रा तक, हुए से अनहुआ करने की चेष्टा की, पर वह सम्भव न हो सका, न भारत-भूमि पर आगे सम्भव हो सकेगा; अर्थात जो मान-मूल्य गाँधी ने दिये, यहाँ के राजनेताओं को जनता उन मानों से तौलने-परखने से कभी चूक नहीं सकेगी। भारत के राजनीतिक जनों का यह दुर्भाग्य है कि यहाँ गाँधी जनमा और यह भूमि उसे भुला नहीं पाएगी। देखा जाए तो जड़ में यह गाँधी-परम्परा का ही प्रताप है कि राजनीति यहाँ की वह रूप नहीं ले पायी है जो आसपास के देशों में देखा जाता है। किन्तु यदि उन मानों की विडम्बना राजपुरुषों में ही होती चली गयी, आर्थिक भ्रष्टाचार को राजनीति में समाविष्ट कर लिया गया, और उस प्रश्न के प्रति देखी-अनदेखी की गयी तो अनैतिकता को समाज के शरीर में स्थायी स्थान मिल चलेगा और जो अब तक जैसे-तैसे रुकी हुई है, नीचे से वह हिंसा ऊपर फूटे बिना नहीं रहेगी और दलयुद्ध क्रमशः गृहयुद्ध में परिणत होता जाएगा।

आशा है, समय रहते असामाजिक तत्त्वों को नैतिक शक्तियाँ उभरने और भड़कने नहीं देंगी, यद्यपि आज जो विधि और व्यवस्था की दशा है, उससे यह आशा विशेष उज्ज्वल प्रतीत नहीं होती। क्या नेताजन चेतेंगे, या आत्मघात को आमन्त्रण देंगे?

[सितम्बर, '78]

संघर्ष, संघर्षवाद और साहित्य

जैनेन्द्र के उपलक्ष्य से लिखी गयी एक साहित्यिक टिप्पणी से मालूम ऐसा हुआ कि धर्म साहित्य का शत्रु है और संघर्ष के समर्थन के स्वर के बिना साहित्य है तो वह समय से पिछड़ा हुआ है। अर्वाचीन और यथार्थ साहित्य संघर्षवादी ही हो सकेगा।

स्वीकार करना चाहिए कि संघर्ष शब्द की लोकप्रियता फैल रही है। संघर्ष-वाहिनियों का निर्माण स्वयं जयप्रकाश नारायण के आदेश-निर्देश के तले हुआ है और युवाशक्ति के लिए आह्वान है कि वह ललकार दे और संघर्ष में आगे आए।

कौन है जो संघर्ष को स्वीकार नहीं करेगा? जीवन में संघर्ष अनिवार्य है। हमारे यहाँ तो प्रमुख धर्मग्रन्थ 'रामायण' और 'महाभारत' हैं, जो संघर्ष की गाथाएँ हैं। संघर्ष मामूली नहीं, संहारक संघर्ष। और उनके नेता राम और कृष्ण हैं जो दोनों भगवतावतार के रूप में पूजे जाते हैं।

किन्तु इन दोनों नामों के साथ उस कड़ी में कोई चंगेज खाँ, नेपोलियन, हिटलर की याद नहीं करेगा। किस कारण यह सम्भव नहीं हो सकेगा? युद्ध इन सभी के साथ लगा देखा जा सकता है। संघर्ष से इनमें कोई पीछे नहीं हटा है। अन्तर है तो केवल यह कि एक जगह संघर्ष भरसक टाला गया है और अन्त में ही उसे झेला गया है। दूसरे उदाहरण में संघर्ष छेड़ा जाता है, युद्ध उभारा जाता है; अर्थात संघर्ष एक चीज है और संघर्षवाद इससे एकदम दूसरा है।

धर्म में बेशक संघर्ष के वाद के लिए जगह नहीं हो सकती है। इसी तरह मेरी प्रतीति है कि साहित्य में भी संघर्ष के वाद के लिए स्थान नहीं है। धर्म में खोज उसकी है जो अद्वैत है और अखण्ड है। प्रक्रिया उस खोज की द्वन्द्व में से है, पर खोज का लक्ष्य पार और द्वन्द्वातीत है। साहित्य में जीवन का चित्रण है जो यहाँ-से-वहाँ तक द्वन्द्व से परिपूर्ण दीखता है। किन्तु इस द्वन्द्व में ही जिसकी सार्थकता समाप्त दीखे, वह साहित्य कैसे हो सकता है? राजनीति का लक्ष्य अवश्य सत्ता का लाभ है और सत्ता के लिए द्वन्द्व सदा-सदा अपरिहार्य रहनेवाला है। साहित्य के लिए भी यदि सत्ता ही अन्तिम और अभीष्ट हो तो फिर सत्य के

सन्धान के लिए क्या शेष रह जाएगा? सत्ता तो कभी इतिहास में स्थिर रही नहीं है। एक की सत्ता दूसरे को दबाकर ही टिक पाती है। किन्तु दूसरा दबकर, कुचलकर, मरकर फिर जन्म पा जाता है। सत्ता और शक्ति के संघर्ष में हार-जीत का यही खेल देखा जाता है। लगता है, शत्रु हारकर समाप्त हो गया, लेकिन फिर जाने कहाँ से उदय में आकर नया शत्रु सामने आ खड़ा होता है। इस शत्रुतापूर्ण संघर्ष में अपनी सार्थकता समाप्त देखें तो वह सत्य तो हो नहीं सकता है जो समूचे इतिहास को धारण करता है। संघर्ष इतिहास की सामग्री तो है किन्तु इस इतिहास का वह अभीष्ट नहीं है। अभीष्ट है विकास और विकास की दिशा सामंजस्य, समन्वय और ऐक्य की ही हो सकती है। मानवता एक के बाद एक विकराल युद्धों में से गुजरती आयी है और आज हम देखते हैं कि राष्ट्र कोई अपनी इकाई में पूरा नहीं है। सब परस्पर निर्भर हैं और दुनिया को जल्द-से-जल्द आपसी युद्ध की प्रक्रिया से उभर आना है, यदि उसे जीवित रहना है।

राजनीति नहीं सोच सकती है कि कैसे कोई देश अपने लिए अधिकाधिक युद्ध-सामग्री जमा करते जाने से बचे और अधिकतम विकसित देश अपने अणु बमों का भण्डार बढ़ाते जाने को विवश हैं। मालूम होता है कि तत्काल की समस्या राजनीति को तत्काल के पार जाने और सोचने की इजाजत नहीं देती है। क्या साहित्य को भी यह विवशता अपने ऊपर स्वीकार कर लेनी चाहिए? मुझे मानना होता है कि जिसका परिप्रेक्ष्य इस प्रकार तत्काल से सीमित हो रहता है, वह साहित्य नहीं है। राजनीति का अनुगत होकर साहित्य अपने धर्म के प्रति ईमानदार होकर जी नहीं सकता है।

सत्ता के नीचे आधारभूत साधन के रूप में सम्पदा अनिवार्य है। धन साधन है राजनीति का। क्या वही धन साध्य होगा साहित्य का? अगर ऐसा होता है, और आज यह होता हुआ खूब दीख रहा है, तो मानना यही होगा न कि साहित्य सत्ता के साधन का भी साधन और उपकरण है और उसके पास जैसे उसके आगे होनेवाला कोई साध्य नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कि संघर्ष के प्रति साहित्य का फिर क्या रुख होगा? वह उससे बचेगा? उससे किनारा लेकर चलेगा? नहीं, यह सम्भव नहीं है। किन्तु जनता पार्टी का संघर्ष समाप्त हो गया जब पार्टी निर्वाचित होकर शासन पर आ गयी। ऐसा जल्दी समाप्त हो जानेवाला संघर्ष साहित्यिक न होगा। वह गहरा होगा, भीतरी होगा, परिमाणात्मक से अधिक गुणात्मक होगा। क्रान्ति उसकी स्थिति और स्थान परिवर्तन तक सीमित होकर न रह जाएगी। क्रान्ति मूल्यों में होगी, मूलगामी होगी और वह मूल्य होगा ऐक्य। शक्ति और शासन का अन्तिम तर्क भी उसी एकता तक ले जाता है। लेकिन वह एकता परस्परता के शव पर खड़ी होती है।

वहाँ बस एक वह रह जाता है जिसको तानाशाह कहते हैं। उसके नीचे बाकी सब शून्य बने रहते हैं। संघर्षवाद इस तरह जाने-अनजाने तानाशाही को आमन्त्रण देता है। उसमें संख्या और संगठन पर बल रहता है। व्यक्ति स्वयं में आत्मवान न होकर मानो किसी बड़ी राशि का मात्र अंक बनकर रह जाता है। साहित्य को राष्ट्र या राज्य का अथवा कि जीवन का यह स्वरूप मान्य नहीं हो सकता है।

संघर्ष साहित्य में परस्परता को नष्ट नहीं करता, बल्कि उसे अधिकाधिक प्रतिष्ठ करने में विश्वास रखता है। राजनीतिक संघर्ष परस्पर में अविश्वास उपजाता है। संघर्ष की वह उन्नत अवस्था भी है जहाँ भूमिका लड़ते हुए भी परस्पर विश्वास की रहती है। संघर्ष की इस उत्कृष्ट अवस्था का भोग भारत ने पाया था गाँधी के युग में। यह सत्याग्रही संघर्ष था, जिसमें जनरल स्सट्स और लॉर्ड इर्विन की जेलों में रहकर अन्त में गाँधी उनके उपास्य तक बन आये। संघर्ष की विवशता थी, लेकिन गहरे में पक्ष-विपक्ष के बीच परम विश्वसनीयता की धरती भी कायम रह सकी थी।

संघर्षवाद की प्रतिष्ठा यदि किसी कारण साहित्य में भी होती चली गयी तो साहित्य के हित में यह बड़ी दुर्भाग्य की बात होगी। दुर्भाग्य यह कि साहित्य तब राजनीति का अनुचर और चारण बनकर रह जाएगा और सार्वजनिक जीवन में एक दिशाहीनता व्याप्त हो चलेगी।

साहित्य को अपनी ऐक्य की निष्ठा में विचलित नहीं होना है और उस सब द्वेष-दुर्भाव के साथ अपने संघर्ष में शिथिल नहीं होना है जिसका आज बोलबाला है। मैं मानता हूँ कि प्रेम की प्रेरणा में से अमित संघर्ष की शक्ति प्राप्त की जा सकती है और साहित्य के लिए एकमात्र वही वरेण्य होगी।

[सितम्बर, '78]

यथार्थता और साहित्य

एक उपन्यास के नायक अपनी कथा के बीच में कहते हैं, "भारत में रहता हुआ कोई भारतीय क्या यह कहानी कह रहा है? यहाँ-से-वहाँ तक व्यापी हुई भारत की यथार्थता है—भूख और गरीबी। इन दोनों के तो कहीं कहानी में दर्शन ही नहीं हुए हैं। फिर इन पेट भरे लोगों के चोंचलों-तमाशों के आख्यान से क्या होता है?...कहानी यह वास्तव नहीं है। इस अवास्तव को आप सहते आये हैं, यही बहुत है। सचमुच पात्र सब कल्पित हैं।"

इस व्यंग्य के बावजूद एक समीक्षक का आग्रह है कि भूख और गरीबी का यथार्थ ही साहित्य का भी यथार्थ है, अन्यथा साहित्य अयथार्थ है।

यथार्थ की इस धारणा को सामने रखकर आधुनिक राजनीति चल रही है और राजनीतिक चल रहे हैं। पर उनसे भूख और गरीबी कितनी मिटी या कटी है यह देखने की बात है। 'गरीबी हटाओ' का नारा काँग्रेस राज्य में बुलन्द था तो अब जनता सरकार में वह कम प्रबल नहीं है। नेताजन उसी में व्यस्त हैं, उसी से जूझ रहे हैं और अनायास स्वयं सत्तापति बने जा रहे हैं!

पड़ोस में ही हमारे एक उदारमना दानवीर लाला महोदय हैं। वर्षों से इधर रोज कम-से-कम सौ भूखे लोगों को नियम से रोटी बाँटते आये हैं। अपने धर्म में उन्हें एक ही चिन्ता है, भूखों की भूख मिटाने की। इसी निमित्त उन्हें सेठ बनना पड़ गया है।

भूख और गरीबी के सवाल को राजनीति और राजनीतिज्ञों के हाथों अगर ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया जाता है, जैसे कि समीक्षक करते मालूम होते हैं, तो निश्चय है कि साहित्य कर्मी-जनों का उपजीव्य ही बना रह जाएगा; स्वयं उनके लिए जीवन्त और प्रेरक वह नहीं हो सकेगा। परिस्थिति की यथार्थता से ही जिसको सदा लेना-देना रहता है वह राजनीतिज्ञ, निश्चय रखिए, परिस्थिति के परिचय के लिए प्रेमचन्द के उपन्यासों को टटोलनेवाला नहीं है। उसका अपना 'इण्टेलिजेंस' है जो सही और यथार्थ स्थिति का परिचय उसे देता रहता है। सारी स्थितियाँ वहाँ आँकड़ों में जड़ जाती हैं। उन स्थितियों को इस तरह राजनीतिज्ञ के समक्ष मानविक

बनने की आवश्यकता नहीं रहती, वे इतनी आंकिक बन जाती हैं।

अर्थ और काम

विज्ञ समीक्षक के लिए क्या यह अभी तक जानना शेष है कि सतह के ऊपर जो 'अर्थ' है, वही भीतर मूल में 'काम' है? सब देशों और कालों के साहित्य में अगर काम का प्रश्न केन्द्र में दिखाई देता है तो यह संयोग नितान्त व्यर्थ और अनर्थक नहीं है। अर्थपरायणता के आधार पर खड़ी राजनीति और जीवन-नीति ही हैं जिनके कारण गरीबी बनती और हीन भावना फैलती है। तमाशा देखिए कि गरीबी उतनी ही बढ़ती है जितनी सम्पन्नता बढ़ रही है। क्या यह देखना बहुत कठिन है कि सम्पदा और समृद्धि बढ़ाने के निरन्तर किये जानेवाले उपायों के द्वारा ही दुःख-दैन्य में अभिवृद्धि हो रही है। एक बड़े नेता को अगर आसपास पच्चीसों चाकर-अनुचर चाहिए तो एक सेठ को भी अपने नीचे दसेक नौकरों का काफिला रखने की जरूरत है। यह है अर्थपरायण अैर अर्थावलंबी सभ्यता का स्वरूप अर्थात नीचे गरीबों की बहुतायत वहाँ इसलिए चाहिए कि ऊपर कुछ अमीर मौज-आराम में रह सकें।

यदि आप भूख और गरीबी की यथार्थता को सीधे पकड़ते हैं तो आपके पास दो ही निष्कर्ष रह जाते हैं : या तो अर्थदान से उसके उपचार की बात सोचिए; या तथाकथित क्रान्ति द्वारा ऊपरवाले को पाँव के तले लाइए और नीचेवालों को सिर पर चढ़ाइए। और इन दोनों दिशाओं में बराबर प्रयत्न होते रहे हैं। इधर धनी और सत्ताधारियों की ओर से दान और अनुदान की प्रक्रिया चली है और उधर क्रान्तिवादियों की ओर से क्रान्तियाँ मचायी और की गयी हैं। क्रान्तियों का फल देखा गया है कि नीचे से ऊपर पहुँचे जन सत्ताधीश बने हैं और फिर उनके निकट औसत मानव निरा गिनती का अंक बनकर रह गया है। वे मानवता को विराट योजनाओं के चिमटे से पकड़ते हैं और इस प्रक्रिया में अगर लाखों-लाख गोली से या भूख से मरते हैं तो उन्हें चिन्ता का कारण नहीं है।

सार्थक साहित्य

इसलिए वह साहित्य वृथा नहीं है, प्रत्युत अधिक सार्थक है, जो अन्तर्वृत्तियों के तल तक जाता और कर्म-जगत से अधिक कारण-जगत में प्रश्न का निदान खोजता है। प्रेरणा में स्वार्थ होगा तो आपका बृहत कर्म उतना ही बृहत अनिष्ट करनेवाला सिद्ध होगा। प्रेरणाओं के संस्कार का प्रश्न राजनीति के लिए जिस प्रकार अप्रासंगिक बन जाता है, मुझे प्रतीत होता है कि स्थूल और बाह्य कर्म का प्रश्न साहित्य के लिए उतना ही अवान्तर बन जाना चाहिए। अन्तर्वृत्तियों से अलग कर्म-प्रवृत्तियों को उत्तेजन

देने का काम यदि साहित्य से लिया जाने लगेगा तो वह राजनीति का पूरक, प्रेरक और दिग्दर्शक नहीं हो सकेगा, उसका अंग और अनुगत मात्र बनकर रह जाएगा।

स्पष्ट है कि अर्जन स्वार्थ में से होता है। प्रेम में से विसर्जन की सृष्टि होती है। काम प्रेम का वह रूप है जो स्वार्थ से संपृक्त है। धनाढ्य और विकसित समझे जानेवाले वर्गों में और देशों में अर्थ-सम्पन्नता के साथ काम-विकृतियाँ क्यों उग और बढ़ चलती हैं? इसीलिए कि भीतर इन दोनों में गहरा अन्तर्सम्बन्ध है।

आज उस स्तर पर अनेकानेक प्रवाद सतह पर तैर रहे हैं। सतह के भीतर की बात जाने दीजिए। कान्ति-सुरेश आदि की कहानियों के राजनीतिक उपयोग के विरोध में स्वर उठता तो है, पर यह देखने से क्यों आँखें मूँदी जाती हैं कि जहाँ सत्ता-सम्पदा है वहाँ अर्थ और काम-विषयक उच्छृंखलता भी है। अतिशयता और उच्छृंखलता के सम्बन्ध की गवेषणा में साहित्य ही नहीं जाएगा तो कौन जाएगा?

साहित्य और राजनीति

बहुत अहम सवाल है यह कि साहित्य का राजनीति के प्रति क्या नाता और क्या दायित्व है? राजनीति के पास समूह है, उसके पास अधिकार है, साधन है और दबदबा है। स्थिति के सुधार और संस्कार का उसके पास वही वह उपाय है : दबाव और दण्ड। और दबाव लाने और दण्ड देने के अधिकृत स्थान पर पहुँचने के लिए मार्ग है : अर्थ-संग्रह, शक्ति-सम्भार और गुटबन्दी। उस सब काम के लिए आवश्यक है कि आवेश उपजे और उत्तेजना जनमे। उसमें आदमी का विवेक तत्काल के लिए लुप्त हो जाए और वह प्रश्न के गहरे निदान में उतरने में असावधान और असमर्थ बन जाए। 'गरीबी हटाओ' ऐसा ही नारा था और वह सदा अमीरों के काम आता रहेगा। करोड़ों की राशि निकलेगी गरीबी दूर करने के नाम पर और गरीब तक पहुँचते-पहुँचते बीच में अधिक भाग उसका निबट चुका होगा। यह है जो होता है उस यथार्थवादी समस्या को सीधे लेने और देने से।

साहित्य इस चक्कर में पड़ेगा तो वह पर-दृष्टि और पर-धर्म अपना रहा होगा, अर्थात तब वह व्याधि का अंग बन जाएगा, उसका उपचार बन सकने में अक्षम रह जाएगा। मनुष्य की अन्त:प्रेरणाओं से राजकारण तो कोई अपना वास्ता रखनेवाला है नहीं। साहित्य भी उस ओर से निरपेक्ष रहे और केवल बाह्य की अपेक्षा में लिप्त बन जाए तो फिर आशा किधर से शेष रह जाएगी? यथार्थ के नाम पर अर्थपरायणता साहित्य में भी यदि प्रवेश पाने लगे, तो इसको शुभ लक्षण नहीं माना जा सकेगा।

[अक्टूबर, '78]

विकेन्द्रीकरण और अनर्थ

राजनीति की भाषा में विकेन्द्रीकरण का शब्द उत्तरोत्तर मान्यता पाता जा रहा है। आवाज पहले तमिलनाडु में स्वायत्तता की उठी थी और अब पंजाब में अकाली दल ने वैसा प्रस्ताव स्वीकार किया है। और भी संघ और राज्यों के सम्बन्धों को लेकर सत्ता के विकेन्द्रीकरण की बात उठायी जाती रही है। जयप्रकाश नारायण के निकट तो वह एक खास मुद्दा पहले से रहता आया है।

शब्द यह भारत में चला है मुख्यता से गाँधी के कारण। पर गाँधी का विकेन्द्रीकरण राष्ट्र के एकीकरण में सहायक होने के लिए था, खतरा बनने के लिए नहीं; अर्थात् वहाँ ग्राम सत्ता राष्ट्र सत्ता की आधारभूत भूमि बननेवाली थी। कल्पना यह नहीं थी कि राष्ट्र इतने स्वायत्त ग्रामों में बिखरा रहेगा। प्रत्युत अभिप्राय था कि केन्द्रीय सत्ता को मजबूत लोकतान्त्रिक आधार प्राप्त होगा और शासन का स्वरूप दबाव का कम-से-कम रह जाएगा और अधिक-से-अधिक अपनी जड़ों से रस प्राप्त करके निर्विघ्न फलता-फूलता रहेगा। फलने-फूलने का मतलब कि नागरिक उसकी छाया में सश्रम सन्तुष्ट, सुखी और परस्पर संयुक्त होते जाएगा। राजनीति तब मानव नीति से निरपेक्ष नहीं रह जाएगी और सब नीतियों के केन्द्र में मनुष्य और उसका सुख-दुःख होगा।

अगर जीवन-जगत सम्बन्धी विचार के केन्द्र में मनुष्य प्रतिष्ठ हो, इससे पहले ही विकेन्द्रीकरण की आवाज उठती और प्रक्रिया शुरू हो जाती है तो सत्ता के स्वरूप में अन्तर नहीं आता है। केवल उस सत्ता के मोह को रोग के कीटाणु भीतर तक समाज-शरीर में घर करते चले जाते हैं।

लोकतन्त्र को निर्वाचन-निर्भर मात्र मान लेने से क्या दलद्वन्द्व की व्याधि गाँव-गाँव पहुँची ही नहीं दीख रही है? मान लीजिए ऐसी अवस्था में राजनीतिक शब्दावली के लोभवश पंचायती तन्त्र में हम त्राण देखने लग जाते हैं तो क्या आप समझते हैं कि सचमुच दीन-हीन औसत आदमी अपने दुःख-कष्ट से त्राण पा जाएगा? क्या अनुभव कर आएगा कि वह स्वयं में शासन का अंग है? लोकतन्त्र शब्द में से अपेक्षा यही झलकती है। लेकिन स्पष्ट है कि दलतन्त्र से वह अपेक्षा

झुठलायी ही जा सकी है, तनिक भी मात्रा में पूरी नहीं की जा सकी।

चिकमंगलूर में चुनाव का घमासान चला। प्रत्येक वयस्क के पास मत का अधिकार है और निर्वाचन उन मतों की गिनती से होगा। कोई जीते, किन्तु क्या वह जीत नागरिक की होगी? यह जीत दरअसल दल की होगी और नागरिक उसमें आधारभूत बना समझा जाएगा।

इस तथ्य के प्रकाश में विकेन्द्रीकरण शब्द में बड़ा खतरा भी दीख सकता है। मानव-सभ्यता का यह विकास ही माना जाएगा कि हम राष्ट्र जैसी व्यापक इकाई तक आ पहुँचे हैं, रक्त और शीतयुद्धों के बावजूद अन्तरराष्ट्रीय समवायों की तरफ प्रगति कर रहे हैं। ईस्टर्न ब्लॉक हैं, वेस्टर्न ब्लॉक हैं। गुटनिरपेक्षवाद है और नाना प्रकार के आपसी पैक्ट हैं। क्या सुख, शान्ति, सन्तोष के लिए हमें इतिहास की इस गति से पीछे मुड़ना और वहाँ जाना होगा जहाँ गाँव अपने में स्वयं पूर्ण था और मानव-जाति कबीलों में बँटकर रहती थी? जिस विकेन्द्रीकरण की निगाह उस दिशा में है, वह निश्चय ही प्रगतिशील नहीं, प्रतिगामी है। लोग होंगे जो मानते हैं कि गाँधी का लक्ष्य उसी प्रिमिटिव दिशा में था। बेशक गाँव ही नहीं, हर मनुष्य को वे स्वावलम्बी बना देखना चाहते थे। लेकिन मानते थे कि ऐसा ही व्यक्ति होगा कि जिसका समष्टि के और समाज के साथ स्वच्छ, स्वस्थ समर्पण का सम्बन्ध हो सकेगा। स्वार्थोत्तीर्ण होने के कारण वह विराट से तत्सम होता जाएगा। यह कल्पना हर प्रकार की संकीर्णता को समाप्त कर देती है। यहाँ तक कि राष्ट्र को भी अपने में स्वयं पूर्ण मान लेने की चेष्टा से बचा देती है।

अभीष्ट वह विकेन्द्रीकरण है जिससे केन्द्र कमजोर नहीं, मजबूत बनता है; केवल औपचारिकता की जगह विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया से उसे वास्तविकता प्राप्त होती है। केन्द्रहीनता या केन्द्र की शिथिलता से व्यक्ति के शरीर के अंगोपाँगों की स्वायत्तता क्या बढ़ जाती है? नहीं, केवल व्यक्ति का व्यक्तित्व दुर्बल रह जाता है। स्वस्थ व्यक्ति के अंगोपाँग अनायास और सहज वर्तन करते हैं और स्वस्थ वह जो अपने स्व के केन्द्र में स्थित है। वह केन्द्र का विकेन्द्रीकरण सम्भव नहीं है, अभीष्ट तक नहीं है; क्योंकि उस केन्द्र और परिधि के साथ के सम्बन्ध में किसी दबाव आदि का प्रश्न नहीं उठता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि केन्द्र यदि उत्तरोत्तर नैतिक स्वरूप प्राप्त करता जाता है तो एक्जीक्यूटिव (कार्यकारी) सत्ता अपने-आप परिधि की ओर फैलती जाती है। प्रश्न इस तरह सत्ता के केन्द्रित होने से भिन्न और पहले नैतिक सत्ता के उदय का हो आता है। यदि राज्य को प्रजा की सम्पूर्ण श्रद्धा का बल प्राप्त हो तो प्रजाजन स्वयं उसके अंगोपाँग बनकर काम करने लग जाते हैं। अलग

से राज्य को अपने पास कोई भीमकाय यन्त्र-तन्त्र बनाकर रखने की आवश्यकता तब नहीं रहती है।

प्रतीत होता है कि भारत में पश्चिम के देशों की नकल में ज्यों-की-त्यों स्वीकार कर ली गयी 'पार्लियामेण्टरी' पद्धति उस दिशा में हमें नहीं बढ़ा पाएगी। दूसरे शब्दों में आज की भारतीय राजनीति उतने महत्त्व की वस्तु नहीं रह जानी चाहिए जितना महत्त्व उसे दिया जा रहा है। विकेन्द्रीकरण की माँग के भीतर यदि हेतु राजनीतिक है, जैसा कि है, तो उसमें से किसी श्रेयस की सिद्धि नहीं हो सकेगी। खासकर आज के दिन, विश्व की वर्तमान परिस्थिति में, भारत को एकीकृत और बलवान राष्ट्र के रूप में समक्ष आना है। उनके लिए अधिकारों के बँटवारे की भाषा उपयुक्त नहीं होगी—अधिकार प्रदेशों के, अल्पमतों के, भाषाओं के, समुदायों के, परिगणित या विशिष्ट वर्गों के। जो राजनीति अधिकार माँगने और देने-दिलाने की भाषा में जीती और चलती है, वह राष्ट्र को बाँट-बिखेर रहेगी, उसको सामर्थ्य नहीं दे सकेगी। अधिकारार्थी दलों और वर्गों की तुष्टि देते रहने में ही जो अपना मार्ग देखती है वह नीति स्थिरता नहीं ला सकती। पराजित इन्दिरा गाँधी को यदि फिर नये सिरे से लोकप्रियता प्राप्त हो रही है तो क्या इसीलिए नहीं कि अन्यान्य दोषों के रहते हुए भी उनके शासन में एक दृढ़ता थी। गाँधी के अनुगमन में विकेन्द्रीकरण के नाम पर अगर जनता सरकार दबावों के नीचे आती और समझौतों की राह चलती है, जैसा कि देखा जा सकता है, तो जनप्रियता उसे प्राप्त नहीं होनेवाली है।

राजनीति में बोलबाला एजीटैशन का हुआ करता है। पार्लियामेण्ट में सरदार लॉबी बनाइए और काम अपना बना ले जाइए। यदि राजनीति का यही हाल रहा तो राष्ट्र में उन तत्त्वों को जगना और उठना होगा जो दलों की प्रतिबद्धता से मुक्त हैं और मूल नागरिक की हैसियत से राष्ट्र की भाषा में सोच सकते हैं। समय है कि वे चेतें और राष्ट्र के भाग्य को दलों के हाथों खेले जाने से बचाएँ।

[अक्टूबर, '78]

राजनीति अपर्याप्त, राष्ट्रनीति आवश्यक

चिकमंगलूर के संसदीय उपचुनाव का निर्णय सर्वथा असंदिग्ध है। यह मानना कि वह निरी छुट-पुट घटना है, जैसा कि जयप्रकाश नारायण मानते हैं, या यह कहना है कि उसमें कोई विशेष राजनीतिक संकेत नहीं है, जैसा कि मोरारजी देसाई का कहना है, किसी मोहासक्ति का ही परिणाम हो सकता है। मतों में पौन लाख का अन्तर होना आकस्मिक नहीं है, न वह कोई चुनावी चालबाजी का परिणाम है। मैं मानता हूँ कि उस घटना में गहरी सूचना है और भूल होगी अगर जनता पार्टी उस सूचना को ध्यान में नहीं ले पाएगी।

उस चुनाव की जीत अगर इन्दिरा गाँधी की अपनी है तो हार वीरेन्द्र पाटिल की नहीं, जनता पार्टी की है। इन्दिरा गाँधी के तानाशाह के रूप से अनजान किसी को नहीं छोड़ा गया। कमीशनों की कार्यवाहियों का प्रचार अगर नाकाफी था तो चुनाव-अभियान में जनता पार्टी ने उसके प्रसार-प्रचार में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी अर्थात एक-एक को मालूम हो गया कि इन्दिरा गाँधी को वोट देने का मतलब आगे क्या हो सकता है। सन् '77 के आम चुनावों में मतदाता ने भारी बहुमत से कहा कि हमें, यानी देश को, तानाशाही नहीं चाहिए, लोकशाही चाहिए। परिणाम में इमरजेंसी के सहारे चलनेवाली तानाशाही गिरी और उसकी जगह नयी जनता पार्टी की लोकशाही आयी। इस लोकशाही के उन्नीस महीने के भोग के बाद चिकमंगलूर चुनाव द्वारा मानो उसी जनता ने कहा कि हाँ, तानाशाही हमें नहीं चाहिए थी, लेकिन इस अर्से में जो लोकशाही हमने देखी और भोगी, वह तो हमें और भी नहीं चाहिए। नंगी शक्ति की सरकार गलत है तो हिजड़ी सरकार हमें कहने दो कि और भी गलत है।

यह है जो कि नये चुनाव का मन्तव्य है। डेमोक्रेसी और डिक्टेटरशिप के शब्द सामान्य मनुष्य के लिए अब विशेष अर्थ नहीं रखते हैं। सुव्यवस्था के लिए यदि शासन आवश्यक है तो यह भी आवश्यक है कि वह सु-शासन हो। निस्सन्देह सु-शासन स्वशासन का पर्याय नहीं हो सकता है। लोकतन्त्र का आशय अन्ततः यह स्व-शासन ही है, लेकिन पश्चिम से आयातित लोकतन्त्र दलशासन से आगे

नहीं जाता है। समाज को आत्म-शासन की ओर ले जाने की युक्ति का बीज तक उसमें नहीं है। स्वशासन में गलतियाँ हो सकती हैं। असल में स्वतन्त्रता गलती करने के अधिकार से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। शायद समाज इस प्रकार के स्वशासन के प्रयोगों में से निकलकर ही निखरेगा। आत्मानुशासन ही समाज में अन्तर्व्याप्त नहीं हो जाता तब तक ऊपर के शासन की आवश्यकता रहने ही वाली है। स्वप्न मार्क्स का था, गाँधी का तो संकल्प ही था, कि शासन श्रेणी-मुक्त समाज तक पहुँचना है; बीच में ऊपर के शासन की अनिवार्यता रहने ही वाली है। यह शासन अमानुषिक न हो सके, जैसा कि तानाशाही शासन हो चलता है, इसकी देखभाल रखनी है। लेकिन शासन को शासन तो रहना ही है। जनता पार्टी की शिथिलता ने, उसकी विद्या ने, उसके अनिश्चय ने, उसके अन्तर्द्वन्द्व ने उसके शासन को मानो शासनहीन बना छोड़ा। नपुंसक शब्द के प्रयोग के लिए सरकार ने चरण सिंह से तो आसानी से छुट्टी पा ली लेकिन यदि इस शब्द के अनुरूप निर्णय मतदाता की ओर से आता है तो पार्टी को उससे सहज छुट्टी मिल जानेवाली नहीं है।

लोकतन्त्र के प्रचलित स्वरूप में दो दल एक-दूसरे को सन्तुलित रखते हैं और विपक्ष राजपक्ष को मनमानी करने से बचाए रखता है। ऐसा माना जाता है और पश्चिम के देशों में इस पद्धति से अपेक्षाकृत स्थायित्व बना भी रह सका है। यद्यपि यह विवादग्रस्त है कि भारत के लिए वह पार्लियामेण्टरी पद्धति पर्याप्त और अनुकूल हो सकेगी तो भी जनता पार्टी के समक्ष यदि समान बल का कोई दल उदय में आता है तो यह शुभ ही है। मुझे भय है कि इन्दिरा गाँधी को मानो हौवा बना देकर जनता पार्टी ने उनकी शक्ति को अनावश्यक तौर पर अनुपात से कहीं अधिक बढ़ा डाला है। आरम्भ से सारे प्रचार के केन्द्र में रखकर इन्दिरा गाँधी के व्यक्तित्व को इस प्रकार बनाया और बिगाड़ा गया है कि सामान्य से बहुत अधिक महिमा उसकी मिल गयी है। इस दुर्घटना का अपरोक्ष एक लाभ भी हुआ और वह लाभ यह कि राष्ट्र को नेतृत्व के एकीकरण के लिए एक बिन्दु प्राप्त हो गया। यदि दल-द्वेष से राष्ट्र-चेतना किसी प्रकार ऊपर आकर स्वरूप पा सके तो इस संयोग का बड़ा लाभ उठाया जा सकता है। उसकी सम्भावना वर्तमान राजनीतिक वातावरण में सम्भव नहीं दीखती। इसलिए प्रतीत होता है कि देश को अगले चुनाव तक कुछ विषम स्थितियों का सामना करना होगा। मध्यावधि चुनाव की परिस्थितियाँ भी पैदा की जा सकती हैं। नाना प्रकार के तनाव आज मौजूद हैं और इन्दिरा गाँधी के सदन में आने के बाद भय है कि उन तनावों को बढ़ावा ही मिलनेवाला है। कुछ प्रश्न बहुत ही उत्कट बन गये हैं। वर्गों, वर्णों और सम्प्रदायों की आपसी अनबन उत्ताप के बिन्दु तक आ गयी है। अल्प मतों का प्रश्न बेहद कँटीला हो गया है। यदि दलों के राजनीतिक स्वार्थ जड़ों में पहुँचकर

इन विवादों को और दहका देते हैं तो भविष्य के लिए यह शुभ संकेत नहीं है।

राष्ट्र आज कोई सर्वथा स्वाधीन नहीं रह सकता है। अन्तरराष्ट्रीयता सघन हो गयी है और बड़ी शक्तियाँ, अपने स्वार्थ के नाते ही सही विश्व-योजना की भाषा में सोचने लगी हैं। भारत उस सम्बन्ध में असावधान नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ में प्रतीत होता है कि उस वर्ग की आवश्यकता है जो राज्य की भाषा में न रुककर राष्ट्र की भाषा में सोचे। सत्ता के लिए होनेवाली ऊपर की उखाड़-पछाड़ के नीचे अब भी भारतीय जीवन में एक प्रकार की स्वस्थता है। उस संस्कृति का मूलाधार पूरी तरह उच्छिन्न नहीं हो गया है जिसने हजारों वर्षों की ऊँच-नीच में भारत को थामे रखा है। उसमें निष्ठा रखनेवाले तत्त्वों को गम्भीरता से सोचना है कि क्या केवल दलों की द्वन्द्वात्मक नीतियों के हाथों ही भारत का भाग्य पड़ा रह जाएगा, या कि अब भी भारत अपनेपन में आ सकता और विश्व के समक्ष कुछ दे सकता है? शायद गाँधी उसी नूतन नीति के प्रतीक थे जिसकी संसार को प्रतीक्षा और आवश्यकता है।

[नवम्बर, '78]

राजनीति और भ्रष्टाचार

राजनीति में भ्रष्टाचार के प्रश्न को तूल देना वृथा है। लाभ कुछ नहीं, अलाभ यह है कि उससे अस्थिर राजनीति और अस्थिर होती है।

एक बड़े अँग्रेजी पत्र के सम्पादक ने राज्यसभा में उठाये गये भ्रष्टाचार के प्रश्न पर अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है। हर समझदार व्यक्ति इस तथ्य की वास्तविकता को स्वीकार करेगा। राजनीति शक्ति का खेल है और अशक्त है वह जो आगे बढ़कर सफलता पाने की राह में नीति की बातें सोचने लग जाता और रुका रह जाता है। राजनीति में आने और चलने वाला व्यक्ति शक्ति और नीति के सम्बन्ध को नहीं जानेगा तो वह विफल होगा और अधबीच में ही उसका व्यक्तित्व टूटकर रह जाएगा। इतिहास भर में इसके प्रमाण हैं और कभी कहीं किसी देश की राजनीति को इसका अपवाद नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

नैतिकता के विचार में गहरे उतरें तो मालूम होगा कि उसकी जड़ें अध्यात्म में हैं। भारतीय अध्यात्म राम को मर्यादा पुरुषोत्तम स्वीकार करता है। किन्तु नैतिक जन उसके चरित्र पर भी लांछन लगाते हैं। लांछन को अपने ऊपर श्री राम इस रूप में स्वीकार भी करते हैं कि धोबी की बात पर सीता को दण्ड देते हैं। राम से भी चार काल ऊपर अवतार रूप में माना जाता है श्रीकृष्ण को और कुछ नहीं है जो उनके चरित्र में नहीं पाया जाता। नीति अनीति का सारा सवाल जैसे कृष्ण की ऊँचाई नापने में ओछा पड़कर बीच में असंगत हो रहता है। राम और कृष्ण दोनों युद्ध के नेता हैं। और कृष्ण की महिमा तो इसमें हैं कि जो अर्जुन नैतिकता के नाम पर अपने सगे सम्बन्धियों का युद्ध में वध करने से इनकार करता है तो गीता के उपदेश द्वारा वह उसी अर्जुन को अन्त में अपने धनुष गाण्डीव को उठाने और युद्ध में आगे बढ़कर संहार करने के प्रति उद्यत और तत्पर कर देते हैं। रामायण और महाभारत भारत के लिए अपूर्व धर्मग्रन्थ हैं और भगवद्गीता तो उनमें भी मानो धर्म के अध्यात्म-सार की सहस्रों वर्षों से कुंजी बनी हुई है।

तो क्या यह मतलब कि भ्रष्टाचार की धर्माचार में पूरी गुंजाइश है? और

कुछ लोग हैं जो बुद्धि के बल से सचमुच यह सिद्ध कर ले जाते हैं। सफल और सार्थक राजनीतिज्ञ को अपने भीतर यह सिद्ध कर ले जाने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। कठिनाई होती भी नहीं है। सिर्फ इतना है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ अपने या अपने पक्ष के नहीं, भ्रष्टाचार को सदा दूसरे में या दूसरे के पक्ष में देखता है। भ्रष्टाचार का शब्द इस तरह राजनीति के हाथ में वह हथकण्डा है जो दूसरे की छवि को बिगाड़ने में बड़ा काम देता है। और बस।

राजनीति सदा से कुछ खास लोगों की चीज रही है। उस वर्ग को विशिष्ट या उच्च वर्ग माना जाता रहा है। नीति जैसी चीज की आवश्यकता न निम्न को होती है, न महिम्न को। यह तो मध्यम श्रेणी के जन हैं जिनको अनिवार्य उस सहारे की जरूरत रहती है।

लेकिन कठिनाई यह है कि समय आगे बढ़ता है। जो सिर्फ खास लोगों के लिए थी वह सब लोगों की चीज़ बनती जा रही है। लोकतन्त्र शब्द का ईजाद हुआ है और सदा-सदा लोक वह रहने वाला है जिसमें 'खास' थोड़े हों, 'आम' ही ज्यादा हों। यह नहीं कि लोकतन्त्र में भी खास ही नहीं होंगे जो राज पर पहुँचेंगे। प्रतिनिधित्व के मार्ग से उस सामान्य को भी विशिष्ट हो जाना होगा जो दल के टिकट पर वोट पाएगा और चुन लिया जाएगा। किन्तु इस लोकतन्त्र पर आवश्यक रूप से अभिशाप रहेगा कि वहाँ भ्रष्टाचार का प्रश्न उठे, उठता ही रहे, और नेता में जनता चरित्र के छिद्र देखने से कभी बाज न आए। अनिवार्य यह इसलिए है, और रहने वाला है, कि शासक जब मुट्ठी भर होंगे, तब उनके नीचे बहुत-बहुत बहुतायत शासितों की होगी। प्रजाजन और राजन्यजन के बीच की यह विषमता खटके बिना रहेगी नहीं और असम्भव होगा यह सिद्ध कर सकना कि जो ऊपर राजन्य बनकर बैठा है वह भ्रष्टाचार के अतिरिक्त किसी भी और पद्धति से वैसा बन गया हो सकता है।

और जगहों की राजनीति में तो यह खटका उतनी समस्या नहीं भी पैदा करता है। विशेषकर विकसित और सम्पन्न माने जाने वाले देशों में यह मान्यता और यह अनुभूति गहरी उतर गयी है कि राजसत्ता के आधार में अर्थ सम्पन्नता का होना अनिवार्य है। मार्क्स ने चाहे कितना भी प्रकट कर दिया हो कि अर्थ-वैभव के मूल में मानव शोषण अवश्यम्भावी है, तो भी क्या पूँजीवादी और क्या समाजवादी, सब विकास-प्राप्त देश स्वीकृत मानते हैं कि राजनीति में जो भी जन हो उनके पास धन की अतिरिक्त सुविधा होनी चाहिए।

अब भारत विकासशील देश है और सचेष्ट है कि जल्दी ही विकसितों की गणना में आ जाए। उसके पास यथेष्ट बुद्धिबल है, वैज्ञानिक दक्षता है और भी सब कुछ है। इसलिए उसकी राजनीति उत्तरोत्तर धनाधारित होती जाए इसमें तर्क की कोई त्रुटि नहीं है। और यदि वैसा होता दीखता है तो बड़े अँग्रेजी पत्र के बड़े सम्पादक उस अवश्यम्भाविता और वास्तविकता का समर्थन ही कर सकते हैं।

किन्तु उनका और भारत का दुर्भाग्य है कि यहाँ राजनीति का एकच्छत्र नेता एक ऐसा भी हो गया जिसने राज की नीति को मानव की नीति से अभिन्न माना।

[नवम्बर, '78]

साम्प्रदायिकता : उद्गम, आरोप और उपचार

साम्प्रदायिकता का कोई समर्थक नहीं है। सब मानते हैं कि राष्ट्र की एकता के उदय में यह सबसे बड़ी बाधा है। फिर भी यह विघ्न कट नहीं रहा है, बढ़ता ही दीखता है। राजनीतिकों की ओर से मिलता है सीधा सेक्युलरिज्म का नुस्खा, पर रोग उससे कटता नहीं है, उलटे और फैलता हो तो मुझे अचरज न होगा।

सेक्युलरिज्म के हिसाब से साम्प्रदायिकता का उद्गम है धर्म; अर्थात जहाँ धर्म की उपेक्षा है, वहाँ तो है स्वास्थ्य और जहाँ उसकी अपेक्षा है, वहाँ है रोग की जड़।

इस तरह गाँधी कच्चे और नेहरू सच्चे सेक्युलरिस्ट सिद्ध होते हैं। साम्प्रदायिकता की समस्या के हल के लिए इन दोनों के रुख में भी भेद रहा है। इस भेद का परिणाम अन्त में यह आया कि इस्लाम सम्प्रदाय के नाम पर भारत-विभाजन माँगा गया तो नेहरू ने उसे मान्य किया, और गाँधी ने अ-मान्य। सिर्फ नेहरू के नेतृत्व को बचाए रखने के लिए गाँधी ने काँग्रेस को सलाह दी कि अपने नेताओं के किये को अनकिया करके अपने लिए वह कठिनाई पैदा न करें और स्वयं वे उस विभाजन के दुष्ट परिणाम से जूझने के लिए उद्यत हो गये।

मैं मानता हूँ कि शब्द के सही अर्थ में नेहरू से भी बढ़कर सेक्युलर थे कायदेआजम जिन्ना। यानी धर्म से जितना उनका सम्बन्ध नहीं था, उतना ही धर्म की दुनियादारी से गहरा था। सम्प्रदाय को दुनियादार अवश्य हिसाब में लेगा। उसके लिए अलग प्रतिनिधित्व वह माँग सकता है, आरक्षण माँग सकता है, उसके विशेषाधिकार माँग सकता है, अर्थात् इस प्रकार उस सम्प्रदाय के अस्तित्व की पृथकता को बल प्रदान कर सकता है। यह सब राजनीतिज्ञ कौशल और सुविधा के लिए आवश्यक हो सकता है। सिर्फ उपेक्षा और अवज्ञा उसके भीतर रह सकती है धर्म के प्रति। सम्प्रदाय उसके निकट सत्य है, धर्म असत्य।

भारत के साम्प्रदायिक इतिहास को देखें। अँग्रेज को न हिन्दू और न मुस्लिम धर्म से कुछ लेना-देना था। लेकिन भारत पर राज तो हर हालत में करना था, इसलिए उसे दोनों के साथ पूरा-पूरा न्याय करने की चिन्ता खूब सताती रही। भारत

में मुस्लिम अल्प मत में हैं इसलिए उनकी सुरक्षा का दायित्व शासक के तौर पर उसका हो, अन्यथा और वह चूक नहीं सकता था। हिन्दू और मुस्लिम बँटकर नहीं रहेंगे तो शासन यों भी मुश्किल हो सकता है। इसलिए उनके हित एक नहीं, अलग-अलग हैं, बल्कि आपस में विरोधी हैं—यह थी साम्प्रदायिकता जिसकी नींव सेक्युलर और अँग्रेज ने डाली और जिसकी जड़ को सेक्युलरिस्ट मानस बराबर सेंता और सींचता आ रहा है। वह विष-बेल अगर हिन्दुस्तान के पाकिस्तानी विभाजन के बाद भी हरी है तो उस सियासत के कारण जिसको धर्म से कुछ भी लेना-देना नहीं है और इसलिए जो पूरे तौर पर दुनियासाज बनी रह सकती है।

गाँधीजी ने हिन्दू को कहा कि अपने धर्मशास्त्रों की ओर सच्चे बनो। मुसलमान को कहा कि इस्लाम के वसूलों के पाबन्द बनो। ऐसे अपने-अपने धर्म के प्रति सच्चे रहकर दोनों सच्चे इंसान बनेंगे और सही नागरिक सिद्ध होंगे। लेकिन सेक्युलरिस्ट सियासतदान ने कहा कि धर्म की जकड़ तोड़ो और स्वाधिकारों को समझो। धर्म है जो तुम्हें तरक्की की तरफ जाने नहीं दे रहा है। इस आवाज में से वह राजनीति निकली जिसे नैतिक होने की कोई जरूरत नहीं थी। उसके लिए तरक्कीपसन्द होना काफी था और तरक्की इसमें थी कि कौन आगे बढ़कर ऊँचे ओहदों को हथियाता है।

मुसलमानों में मजहब का खयाल रखनेवाली भी एक जमात थी—जमियत उल उलेमा। लीगी नेता नमाज़ी न थे और पाकिस्तान उन्हीं के लिए जरूरी था। ज़मियत बँटवारे के हक में न थी, अगर सिर्फ इसलिए कि वह मज़हबी थी।

इसलिए जरूरी है कि साम्प्रदायिकता के निदान के लिए जरा हम गहरे उतरें और नारों की बहक से बचें। मैजोरिटी-माइनोरिटी, वर्ग, मत-सम्प्रदाय—इनकी आपसी खींचतान के बीच राजनीति कुछ फौरी पैचअप करके छुट्टी पा ले सकती है, पर राष्ट्र को उन व्याधियों से ऐसी आसानी से छुट्टी मिल नहीं जाती। धर्म को जाननेवाले जानते हैं कि सब धर्मों का साराशय एक है। किन्तु हर धर्म की आत्मा को मत का शरीर देना होता है। इससे नाना मतवाद और सम्प्रदाय खड़े होते हैं। ध्यान रखना चाहिए कि हर मतवाद अन्तिम निदान में एक सम्प्रदायवाद ही है। मूल राजनीतिक होने मात्र से साम्यवादी साम्प्रदायिकता कुछ कम कठोर नहीं हो जाती। द्रविड़, अकाली, हरिजन, अथवा भाषायी या प्रादेशिक साम्प्रदायिकताएँ भी राष्ट्रीय एकात्मकता के उदय में उतनी ही कठिनाई उपस्थित कर सकती हैं।

अन्त में वह राजनीति, जो सामुदायिक अहम वादों को उभारती और पनपाती है, साम्प्रदायिक समस्या को निविड़ ही करती है, उसका कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकती है।

समाधान के लिए हमें सतह पर चलनेवाले द्वन्द्वों की दुनिया से तनिक गहरे में जाकर उन मूल्यों को प्रतिष्ठा देनी होगी जहाँ अपने स्वत्व के आग्रह को उभारा नहीं बल्कि मन्द किया जाता है। जहाँ परस्परता के द्वारा एकता को खोजा जाता और उसके निमित्त अपने स्वत्व भाव को विसर्जित तक होने दिया जाता है। इन्हीं को नैतिक मूल्य कहा जाएगा।

आदत पड़ गयी है जब तब आर.एस.एस. को अभियुक्त के रूप में पेश कर देने की। इस आदत की जड़ में यह स्वीकृत है कि संघ का बल बढ़ रहा है और बल का भय बढ़ रहा है। उस भय के कारण संघ का बल कम होने से उलटे बढ़ेगा ही। भय के आधार पर उठने और उठाए जानेवाली राजनीति रचनात्मक न हो सकेगी, प्रतिक्रियात्मक ही रहेगी। सच पूछिए तो मुस्लिम राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान को जन्म देनेवाली काँग्रेसी नीति ने हिन्दू राष्ट्र के घोष को जन्म दिया। पर हिन्दू राष्ट्र को लक्ष्य के तौर पर मान देनेवाला संघ अपने जन्म से अब तक बहुत आगे आ गया है। तदनुसार उसके मनोभावों में भी परिवर्तन और विकास हुआ है। हिन्दू शब्द के साथ अब उसके मन में कोई संकीर्ण भाव नहीं जुड़ा है। हिन्दू शब्द को और उसके सारतत्त्व को गाँधी बेधड़क अपने लिए स्वीकार करते हैं तो इस कारण क्या कोई संकीर्णता उन पर छा गयी देखी जा सकती है? इस हिन्दू शब्द के प्रति हठात यदि किसी अरुचि का निर्माण हो गया है तो यह सेक्युलरिज्म की दुहाई का अभिशाप है। हिन्दू में स्वयं अनेक सम्प्रदाय समा गये हैं। इसलिए देखा जाए तो वह शब्द स्वयं में साम्प्रदायिक हो नहीं सकता है। सदा से वह समावेशी रहा है और समावेशी रह सकता है। बीच में अँग्रेज के आ जाने के कारण उसकी समावेशी क्षमता में कुछ अन्तर आया। लेकिन यदि संघ महात्मा गाँधी के हिन्दुत्व की परम्परा में अपने लिए अहिंसा की नीति को और धर्म को स्वीकार कर लेता है तो मैं कह सकता हूँ कि आज राज्य और उसकी सत्ता से ऊपर उठकर राष्ट्र की भाषा में सोचने और करनेवाला राष्ट्रव्यापी कोई वर्ग या संगठन है तो वह है। उसके पास समर्पित व्यक्तित्व उत्पन्न कर सकने योग्य निष्ठा और क्षमता है और कल्पनाशील नेतृत्व संघ के बल का लाभ लेकर भारत जैसे विशाल राष्ट्र को एकात्मकता प्रदान कर सकता है।

[दिसम्बर, '78]

विघटन, विघटन : सावधान!

लोकसभा ने दुगुने से अधिक बहुमत से श्रीमती इन्दिरा गाँधी को दण्ड दिया है : कारावास और निष्कासन।

परस्पर प्रतिस्पर्धी और विरोधी दलोंवाली लोकतान्त्रिक राजनीति जो भारत ने अपने बीच आयातित की है, मालूम नहीं कब वह सन्तुलन प्राप्त करेगी और उसका वर्तमान दुष्चक्र समाप्त होगा। मुझे सन्देह है कि वह पद्धति भारत में फल सकेगी। कारण, एक तो उसकी असह्य गरीबी; दूसरे, उसकी धर्मपरायणता। अन्त में तो उसे अपने ही रूप के संविधान का निर्माण करना होगा। किन्तु इस अन्तराल में क्या गाँधी की परम्परा में हम देश की राजनीति को तनिक संस्कार और स्वास्थ्य भी नहीं दे सकेंगे?

संसद में इन्दिरा गाँधी की गिरफ्तारी और निष्कासन को लेकर हंगामे हो रहे हैं और बाहर उग्र प्रदर्शन सँजोए रहे हैं।

आरक्षण का मामला बिहार में उठा है, तब से उफन ही रहा है। उसके पीछे सवर्ण-असवर्ण के तनाव का पहले से चला आया इतिहास है।

श्री चरण सिंह जनता पार्टी के स्वरूप को फिर घटकों के मिले-जुले अर्थात बँटे हुए में बदला देखना चाहते हैं।

23 दिसम्बर को किसान रैली होनेवाली है, जो आगे क्या रूप पकड़ेगी, नहीं कहा जा सकता।

यह दल, घटक, गुट और गिराहों का हाल है। इनमें पन्थ और सम्प्रदाय और जोड़ दीजिए और भारत की बिखरती हुई स्थिति का पूरा खाका सामने आ जाता है।

सम्प्रदाय के नाम पर यों अनायास हिन्दू-मुस्लिम समस्या चित्त में आ उभरती है। लेकिन सम्प्रदायिकताओं के प्रकार तो और भी हैं। पर नयी चीज है : पन्थ। आनन्द मार्ग का किस्सा अब अपेक्षाकृत शान्त है, किन्तु पन्थों की सम्भावनाओं की सीमा नहीं बाँधी जा सकती।

दूर देश गुयाना के मन्दिर-पन्थ के एक हजार व्यक्तियों की एकजुट आत्महत्या

की कहानी अभी हाल की है। आनन्द मार्ग के आनन्द मूर्ति और मन्दिर मार्ग के जिम जोन्स प्रतिभावान अध्यात्म पुरुष ही माने जाएँगे। प्रतीत होता है कि पान्थिक अध्यात्म की महिमा का अन्त नहीं है।

चलता हुआ युग विज्ञान का है और उसी में से अनुपम आकर्षण उपज रहा है इन नये-से-नये उदय में आनेवाले अध्यात्म गुरुओं के प्रति! आर्थिक सभ्यता मानो अपनी सीमा पर आकर प्रतिक्रिया के खेल दिखा रही है। हिप्पी लोग हैं और भक्तजन हैं और वे अपने में मग्न और मस्त रहने का गुर पा गये हैं। नागरिकता के दायित्व से वे मुक्त हैं और यदि जीवन-निर्वाह के लिए मुद्रा आवश्यक है तो वह मुद्रा जिस-तिस पद्धति से उनके पास बहती ही चली आती है।

पहले महेश योगी आये, अब खबरों में इधर रजनीश उछले आ रहे हैं। भगवान के बिना उनका नाम लेना कहीं अशुभ न हो। उनकी वक्तृता में सम्मोहन है, पुस्तकों में बाँध लेने की शक्ति है। एक अद्‌भुत चमत्कार उन्होंने किया है कि यह प्राच्य के अध्यात्म और पाश्चात्य के सेक्स का सामंजस्य उपस्थित कर दिया है। इसलिए मर्यादा और दायित्य से घिरे जीवन से त्रस्त जनों को उनके पास जाकर मुक्ति मिल जाती लगती है। यों उनका पन्थ खूब फूल रहा, फल रहा, और फैल रहा है। सरकार को उनकी धमकी है कि मेरी राह में बाधा डाली कि मैंने देश छोड़ा।

और-और भी धर्म गुरु हैं और उनकी भी सफलताएँ और विशेषताएँ किसी से कम अद्‌भुत नहीं हैं। किन्तु नामों की गिनती का यहाँ प्रयोजन नहीं है। आदमियों को आकृष्ट और संघटित कर लेनेवाले ये सम्प्रदाय, पन्थ, दल, घटक, गुट या समुदाय अन्त में क्या नागरिक तल पर परस्पर विघटन ही नहीं पैदा करते हैं?

आज भारत राष्ट्र में नाना दिशाओं से यह विघटन की व्याधि फूटती दीखती है। नागरिक-जीवन ध्वस्त और छिन्न-भिन्न हुआ जा रहा है। वह तत्त्व क्रमशः सूख रहा है जो आपसी सम्बन्धों को स्निग्धता, शुचिता और शुभता देता था; अब उन सम्बन्धों में तनाव और जलन की सृष्टि हो रही है। यदि सौमनस्य है परस्पर तो इस शर्त पर कि आप हमारे दायरे के अन्दर आ रहते हैं। हर दायरे के बाहर से बस मानो स्पर्धा और शत्रुता शुरू हो जाती है!

इन वृत्तों में भी सम्प्रदायों और पन्थों के वृत्त अधिक चिन्तनीय इसलिए हैं कि वे आदमी की अस्मिता हर लेते हैं और उसकी जगह एक थोथी मग्नता भर देते हैं। यह अन्धी शक्ति फिर अपने भक्त से जो न करा बैठे, वह थोड़ा है।

असल में नाना नामों पर बने ये दायरे जीवन-प्रवाह में पड़े भँवर हैं, बन गयी गाँठें हैं, जो सार्वजनिक जीवन को कुण्ठित करती और उसे समरस नहीं होने देती हैं।

मानव जीवन में वह समरसता का प्रवाह कैसे खुले? मनुष्य बेशर्त कैसे एक-दूसरे का बने? यह प्रश्न है, जो बड़ा और एक मात्र प्रश्न कहा जा सकता है। राजनीति तो प्रश्न को घोरतर ही कर पाती है।

हिंसा और अहिंसा के सवाल को तात्त्विक कहकर आसानी से अपने से परे कर दिया जाता है। किन्तु यदि अहिंसा को परम मूल्य के तौर पर स्वीकार कर लिया जाता है तो सब घटक अपनी जगह पर आ जाते और समर्थित बन जाते हैं—तब न सम्प्रदाय की, न दूसरी कोई सीमितता बाधा बन पाती है।

अहिंसा मानो उस असीम की स्वीकृति है जिसमें सब अनेक एक हैं। धर्म उसी एक की अटूट निष्ठा का नाम है। धर्म वह धरती है जो सब पन्थों और मतों को अपने ऊपर धारण करती है, या वह आकाश है जो स्वयं धरती को धारण करता है। उस धर्म की निरपेक्षता हो नहीं सकती है। निरपेक्षता हो सकती है उन तमाम वृत्तों के प्रति, जो आपको उस या इस मत में रोकते हैं। आधुनिक भाषा में इसे मात्र आदर्शवाद कहिए। धर्म आदर्शवाद नहीं है। आदर्शवाद में से प्रतिपादन आ सकता है, और फ़लतः हठ। धर्म में अपने ही उत्सर्ग और विसर्जन की माँग है।

यह कहने की आवश्यकता यदि उनके लिए है जो दलगत राजनीति में त्राण देख सकते हैं, तो साथ ही यह उनके लिए भी है जो किसी अध्यात्म के नाम पर अपने-अपने पन्थों में से मनुष्य की मुक्ति का उपाय बता बैठते हैं। ये दोनों वर्ग नैतिकता के बाद दे देते हैं और इस प्रकार अपने से इतर के प्रति हर मान-सम्भ्रम का भाव खो देते हैं। फिर वे ही एक-दूसरे के नाश पर तुल आते हैं।

आवश्यक है कि समाज-जीवन में परस्पर सौमनस्य और समादर के मूल्य की पुनः प्रतिष्ठा हो। घर्षण तो यों सर्वथा समाप्त नहीं हो सकता। सत्याग्रह के नाम पर गाँधी ने जीवन में उसकी अनिवार्यता स्वीकार की। किन्तु सत्य के साथ, सत्य के आग्रह के साथ मन-वचन-कर्म की अहिंसा के आग्रह को जोड़ देने से मानो संघर्ष को भी उन्होंने एक रचनात्मक रूप दे दिया।

आज के दिन यदि अहिंसा के इस परमत्व को स्वीकार नहीं किया जाता तो अणु शक्ति के उदय के इस युग में निश्चय रखिए कि महाध्वंस से बचने का कोई उपाय नहीं रह जाता है। बड़ी-बड़ी हिंसाओं के बारे मे हम न सोचें तो भी कदाचित् चल सकता है, पर आपस के नित्य-प्रति के जीवन-व्यवहार में छोटी-मोटी हिंसाओं को हम नजरअन्दाज कर जाएँगे तो भारी भूल होगी। कारण, यही है जो इकट्ठी होकर अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर युद्ध के रूप में फूटती और महासंहार का कारण होती हैं।

[दिसम्बर '78]

राजघाट पर 30 जनवरी का समागम

गाँधी की निर्वाण तिथि, इसी 30 जनवरी, को बापू-समाधि, राजघाट पर हजार से ऊपर की संख्या में वे स्त्री-पुरुष एकत्र होनेवाले हैं, जो देश के जीवन में एक आमूल क्रान्ति की आवश्यकता अनुभव करते और वर्तमान जनता सरकार को उसमें योग देते देखना चाहते हैं। वे अपने उद्यापन का आरम्भ उपवास और प्रार्थना से करेंगे और राजपालकों को उन वचनों और आश्वासनों की सुध दिलाएँगे जो उन्होंने सत्ता का आसन ग्रहण करने से पूर्व देशवासियों को दिये थे।

है यह सही कि जनता में एक वर्ग रहे जो जागरूक हो और व्यवस्थापकों को अपने दायित्वों के प्रति चेताता रहे। पर राजकारण और राजसत्ता की अपनी सीमाएँ और उलझनें होती हैं। इसलिए अपेक्षित क्रान्ति की दिशा में शासन से अपेक्षाएँ रखना शायद ही फलप्रद हो सके।

लोकतन्त्र शब्द 'लोक' से आरम्भ होता है। इसलिए मन में कुछ भ्रम उपजा देता है। लगता है कि अब ठीक है और लोकनायक उस लोकतन्त्र का भी नायक सिद्ध हो सकेगा। पर ऐसा होता नहीं है। कभी हुआ नहीं है। नायक जनश्रद्धा में से बनता है। शासक मतों की गिनती के आधार पर पद-सत्ता पर पहुँचता है। एक की शक्ति नैतिक है, दूसरे की भौतिक और तान्त्रिक। इसलिए इतिहास में देखा जाता रहा है कि क्रान्ति के स्रष्टा ही अन्त में उस क्रान्ति के भक्ष्य हुए हैं। क्रान्ति के फलस्वरूप नये सत्ताधीश को एक-एक कर उन्हें समाप्त करके स्वयं निष्कंटक होना पड़ा है।

इतिहास का यह क्रम, मैं नहीं समझता, बदल सकेगा। जो लोग बापू की याद में अपनी व्यथा व्यक्त करने के लिए राजघाट पर एकत्रित होनेवाले हैं, उन्हें राजकारण की प्रकृति को समझ रखने में भूल नहीं करनी चाहिए। राजघाट की गाँधी समाधि ठीक है, उपवास और प्रार्थना भी ठीक है। लेकिन उस व्यथा की अभिव्यक्ति के लिए सत्तानगरी दिल्ली विशेष ठीक नहीं है। इससे लग सकता है कि उपवासियों की दृष्टि लोकाभिमुख से कहीं राज्याभिमुख तो नहीं है!

गाँधी अहिंसात्मक शक्ति की बात करते थे। कहते थे कि राज्य की शक्ति

का अन्तिम समर्थन और आधार शस्त्रास्त्र है। इसलिए समाज और देश की सच्ची उन्नति का माप होगा यह विचार कि वहाँ शासन-प्रशासन कितना कम है। अनुशासन की मात्रा जितनी होगी, ऊपरी शासन की आवश्यकता उतनी ही कम होती जाएगी; अर्थात शासन तन्त्र के पास का काम लगातार घटते जाना चाहिए। 'दैट गवर्नमेण्ट इज द बेस्ट व्हिच गवर्न्स द लेस्ट'।

हम देखते हैं कि यह यहाँ नहीं हो रहा है। जनता सरकार ने आवश्यक वस्तुओं के वितरण को योजनाबद्ध रूप से अपने हाथ में लेने की घोषणा की है। जाने कितनी लाख उचित-दर दुकानें खुलेंगी और कोशिश जारी रहेगी कि हर गाँव में ऐसी दुकान पहुँच जाए। इस योजना और संकल्प पर सरकार ने अपने को शाबाशी दी है और कुछ वर्गों में आशा भी बढ़ी है कि महँगाई का दुःख-कष्ट इससे दूर होगा। पर देखना है कि कितना दूर होता है। इसमें संशय का कारण यह नहीं है कि सरकार की ओर से कोई कोताही होगी। कारण यह है कि सरकारी काम सदा धनाधारित होता है और धनार्थीजन का जमघट इस प्रकार उसके प्रयोजन को ही भ्रष्ट कर देता है। मैं डरते-डरते एक बन्धु को कह रहा था कि ऊपर से निकले रुपये के साठ पैसे नीचे तक पहुँचते-पहुँचते बीच में ही गायब हो जाते है, कि उन विज्ञ बन्धु ने कहा कि नहीं, नब्बे पैसे।

अगर सरकार को कल्याणकारी सरकार बनना है तो कल्याण का सारा-का-सारा दायित्व लेनेवाली एकाधिकारी सरकार ही क्यों न यहाँ बन जाने दी जाए? क्यों लोकतान्त्रिक का पचड़ा साथ रहे? और क्या देखते नहीं हैं हम आसपास कि वैसा हो रहा है? शासन केन्द्रित और सेनाधिकृत होते जा रहे हैं।

यदि हिंसक सत्ता-शक्ति के सामने किसी अहिंसक लोकशक्ति के उदय की बात में तनिक भी तथ्य और सार हो तो गाँधी विचारनिष्ठ बन्धुओं को दिल्ली की बजाय सेवाग्राम की ओर मुँह करना होगा; अर्थात् महलों और शहरों की तरफ नहीं, गाँव और झोंपड़ियों की तरफ अहिंसक शक्ति के उदय का माध्यम रचनात्मक कार्य के सिवा दूसरा हो नहीं सकता। और वह काम जनाधारित हो तो ही जनोत्साह और जनाभिक्रम को उपजानेवाला होगा।

मार्क्स ने बताया कि सिक्के का मूल्य श्रम है, किन्तु उस आधार पर श्रम की प्रतिष्ठा की बजाय प्रतिष्ठा हुई 'प्रोलेतारियत' के नाम पर 'डिक्टेटरशिप' की। गाँधी ने आगे बढ़कर उपचार दिया कि शरीर श्रम हर नागरिक का धर्म बने। उद्योग के वाद के दौर ने मनुष्य का मूल्य शून्यवत कर दिया और सिक्के का भूत उसके सिर लाद दिया है। ऊपर के धनवर्षण और धनवितरण के बल पर मनुष्य में मनुष्यता नहीं जागेगी, बल्कि उससे तो दीन का दैन्य और गहरा होगा।

गरीबी स्वराज्य के आदि दिन से हटायी जा रही है। स्वराज के इन बत्तीस

वर्षों से आगे और सौ साल भी क्यों न हो जाएँ, इस रास्ते कभी गरीबी दूर न होगी। अमीरी का आप चाव चढ़ाएँ और सोचें कि गरीबी दूर हो जाएगी तो इससे बड़ी प्रवंचना भला क्या होगी? बेशक रचनात्मक कार्य का प्रारम्भ इससे है कि भूखे को अन्न मिले, बेघर को घर और बेरोजगार को काम। लेकिन यह काम उनसे नहीं होनेवाला है जो दुखीजन की भूख और बेहाली को दूरबीन से देखते हैं और उसे लाखों-करोड़ों की योजनाओं से छूते हैं।

इस काम के लिए आवश्यकता होगी उन समर्पित सेवकों की जो सत्ता-सम्पत्ति के भ्रमजाल का भेद समझ गये हैं और लौटकर सेवा-धर्म अपनाने को तैयार हैं। राजकारण असमर्थ है और असमर्थ राज-सत्ता है कि ऐसे सेवाभावी पुरुषों का निर्माण कर सके। इसलिए 30 जनवरी को पुण्य-तिथि पर गाँधी समाधि पर एकत्रित समागम यदि सरकार की शिकायतों से मुक्त बनकर सेवाग्राम की ओर मुँह रखे और देश की दशा की चुनौती स्वीकार करके पूरी तरह विधायक कामों में जुट जाए तो हो सकता है कि देश में और विश्व में बढ़ती हुई हिंसा को कुछ अहिंसक उत्तर मिलने का मार्ग बने।

[जनवरी, '79]

शक्ति, पंचायत और विकेन्द्रीकरण

इधर माँग की जा रही कि लोकतन्त्र को यदि सार्थक और सक्षम होना है तो केन्द्रित सत्ता को विकेन्द्रित करना होगा और शासन-शक्ति को ग्राम पंचायत तक पहुँचाना होगा। अशोक मेहता कमेटी ने इस सम्बन्ध में विचार और विवेचन किया था। लेकिन उसकी सिफारिशें अमल में नहीं लायी जा सकीं। अब जनतन्त्र परिषद, लोक सेवक संघ, सरवेण्ट ऑफ पीपुल्स सोसाइटी आदि का आग्रह है कि इस बारे मे संसद के अगले ही सत्र में कानून बन जाना चाहिए और प्राथमिक निर्णयाधिकार पंचायत के हाथ में आ जाना चाहिए।

विचार ठीक है, किन्तु जिस शक्ति का विकेन्द्रीकरण चाहा जा रहा है, उसका स्वरूप क्या है? यों सत्ता लोकमत के आधार पर बनती है और राज्य के पास शक्ति उतनी ही मात्रा में पहुँचती है जितनी लोक प्रतिनिधित्व के द्वारा उसे सौंपी जाती है। प्रभुसत्ता या सम्प्रभुता गर्भित है समस्त देशवासियों में जिसको जनता कहा जाता है। सिद्धान्त में इस स्वीकृति के बाद यथार्थ में चुनाव के अनन्तर जनता निरुपाय रह जाती है और राज की शक्ति फिर जननिरपेक्ष होकर कानूनी बनती है और जनमानस के लिए दमनकारी सिद्ध होने लगती है। केवल जनसंख्या का आधार शक्ति के इस स्वरूप को संस्कार देने में अपर्याप्त रहता है और परिणाम में जन धन के नीचे आ जाता है। धन असल में जीवन के उपयोग में आनेवाली वस्तुओं की बोधक संज्ञा है। लेकिन वस्तुओं के विनिमय के साधन-रूप मुद्रा या करेंसी में धन का सार पड़ जाता है? इस तरह राजनीति और अर्थ नीति एकमेक हो जाती है और उनके हाथों मानव नीति मात्र परास्त होने के लिए रह जाती है।

नीचे से सदा आन्दोलन चलते रहते हैं भ्रष्टाचार के खिलाफ और राजनेतृत्व की ओर से आश्वासन दिये जाते रहते है कि भ्रष्टाचार दूर होकर रहेगा। किन्तु राजसत्ता और अर्थसत्ता जुड़ी और अभिन्न है और वह योग टूट तभी सकता है जब मानव नीति में राज की नीति पर सीधा दबाव लाने की क्षमता हो।

इसलिए मूल और मुख्य प्रश्न यह हो रहता है कि क्या वर्तमान आर्थिक संरचना को नैतिक संस्कार दिया जा सकता है? यदि आर्थिक प्रणालियों में अभीष्ट

परिवर्तन नहीं आता तो शक्ति का स्वरूप वही दमनकारी बना रहता है और जिसके पास धन साधन है, या आतंक के उपकरण हैं, वे तत्त्व समाज पर छाए रहते हैं और नैतिक मूल्य आर्थिक दबावों के नीचे मूर्च्छित पड़े रहने को बाध्य होते हैं।

पंचायतों का चुनाव वर्तमान परिस्थिति में क्या उससे भिन्न फल ला सकेगा जो आम चुनावों का हुआ करता है? राजनीति में गुटवाद या घटकवाद चलता है तो क्या पंचायती चुनावों में उससे बचा जा सकेगा? परिस्थिति जिन कारणों से विषम है, वे समक्ष हैं। घटकवाद और दलवाद के अलावा जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद, वर्णवाद आदि को लेकर निहित स्वार्थ उभर रहे हैं। यदि शक्ति वह है जो इन्हीं तत्त्वों के आपसी समीकरण में से प्राप्त की जाती है तो ऐसी सत्ता का सिर्फ पंचायतीकरण कुछ विशेष लाभप्रद सिद्ध नहीं हो सकता। उलटा फल यह आ सकता है कि पंचायतों के चुनाव के बहाने ऐसी गुटबाजियाँ गाँव-गाँव में और गहरी घर कर जाएँ और समाज का ढाँचा भी छिन्न-भिन्न हो जाए।

आवश्यक है उस आधार का उदय में आना जिस पर अपना सार्वजनिक जीवन अधिक सुसंवादी और सौहार्दपूर्ण बन सके। वह आधार नहीं बनता है, तब तक किसी राजनीतिक शब्दावली के अधीन समाजीकरण, विकेन्द्रीकरण, राष्ट्रीयकरण आदि संज्ञाएँ राष्ट्र को स्वास्थ्य और क्षमता दे सकनेवाली सिद्ध नहीं होंगी।

वैसा बुनियादी जनाधार उत्पन्न हो सकेगा तो केवल उस कार्यक्रम के बल पर जिसे गाँधी ने रचनात्मक कहा था। भीतर वह रचनात्मक तत्त्व यदि अनुपस्थित रहेगा तो ऊपरवाली राजनीति उत्ताप और आवेश उत्पन्न करके रह जाएगी, देश को आगे नहीं बढ़ा सकेगी। तब देखा जाएगा कि राजकारण अव्वल तो आपसी झगड़ों से ही छुट्टी नहीं निकाल पाता, और फिर बाहर चारों तरफ निपटने के लिए कानून और व्यवस्था के प्रश्न खड़े होते रहते हैं। हिंसा व्याप्त होती और हिंसा का भरोसा ही एक मात्र सहारा लोगों के पास रह जाता है। हड़तालें होंगी, प्रदर्शन होंगे, फैसला सड़कों पर होने की बातें होंगी और व्यवस्था को एक क्षण के लिए चैन से बैठने नहीं दिया जाएगा।

राष्ट्र कोई आज सिर्फ अपने में या शून्य में नहीं रहता। विश्वशक्तियों से निरपेक्ष होकर कोई राष्ट्र जी नहीं सकता। आसपास देखा जा रहा है कि व्यवस्था टूटती है तो बाहरी ताकतें आकर समस्या को और निविड़ बना देती हैं। भारत को अगर टूटना नहीं है और ऐसे बाहरी शक्तियों के चपेट में भी नहीं आना है तो जरूरी है कि समय रहते देश के सार्वजनिक जीवन में कुछ अहिंसात्मक शक्ति प्रकट हो। राजनीतिक वृत्ति इसके उदय में सहायक नहीं हो पाएगी। शुद्ध रचनात्मक वृत्ति इसके लिए चाहिए जो किसी स्पर्धा में न पड़े और जो सबके प्रति सद्भाव रखे। आज भारत में लोकशक्ति और राजशक्ति के द्वन्द्व का भी समय नहीं है।

आखिर राजसंस्था लोकसत्ता का ही एक अवयव है। उसी लोकसत्त्व को जगाना है और वह तब हो सकेगा जब राज्य से आगे राष्ट्र की भाषा में सोच सकनेवाले तत्त्व समवेत होकर रचनात्मक कार्य में लगेंगे और देश की प्राथमिक इकाई अर्थात ग्राम को यथेष्ट स्वावलम्बी स्थिति तक ला सकेंगे। ऐसा होने पर देखा जाएगा कि ग्राम पंचायत केन्द्रीय सत्ता की प्रार्थी रहने की आवश्यकता में नहीं है, बल्कि प्राथमिक अधिकार अपने-आप उसके हाथ में आ गये हैं।

[जनवरी, '79]

□□□

जैनेन्द्र रचनावली

जैनेन्द्र कुमार
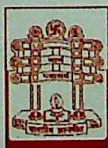
भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003

संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन